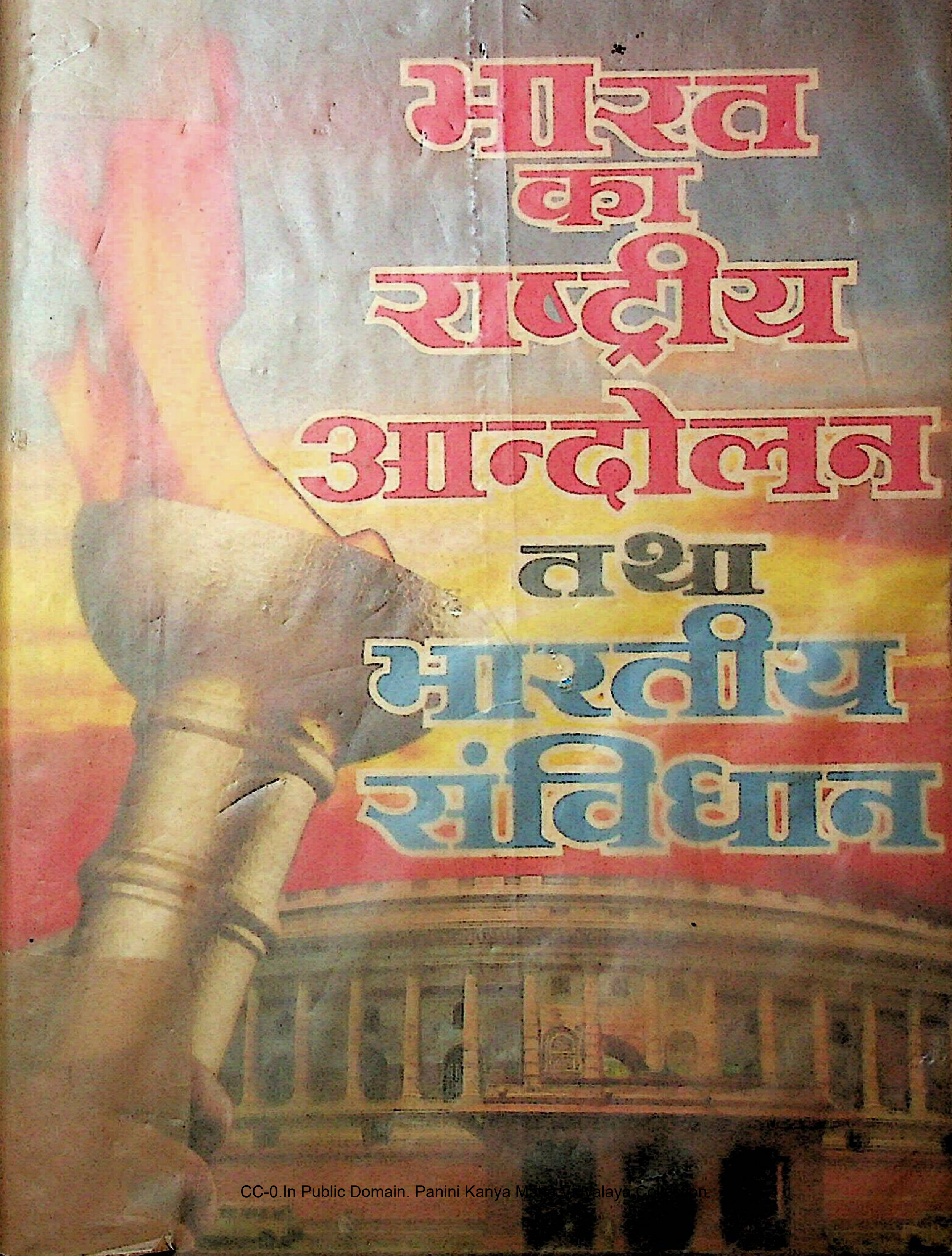
साहित्य भवन पब्लिकेशन्स

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारतीय संविधान



-: ओ३म् :-

Shanti

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन
एवं
भारतीय संविधान

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन
एवं
भारतीय संविधान

[NATIONAL MOVEMENT OF INDIA & INDIAN CONSTITUTION]

वस्तुनिष्ठ, दीर्घ उत्तरीय, लघु उत्तरीय एवं अति लघु उत्तरीय प्रश्नों सहित

डॉ. पुखराज जैन
पूर्व प्राचार्य
राजकीय मीरा कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उदयपुर

2009

Estd. 1960

साहित्य भवन पब्लिकेशन्स : आगरा

Code : 000

Price : Rs. 175/-

Published by : SAHITYA BHAWAN PUBLICATIONS
HOSPITAL ROAD, AGRA-282 003
Tel. 2851665, 2853400, 2460905. Fax : 0562-2851568
Email : rsvbansal@hotmail.com

Printed at : Bhawan Printers, Agra

Note : Due care and diligence has been taken while editing and printing the book, neither the author nor the publisher of the book hold any responsibility for any mistakes that may have inadvertently crept in.

भूमिका

पुस्तक की रचना **'भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं भारतीय संविधान'** प्रश्न-पत्र के लिए निर्धारित नवीन संशोधित पाठ्यक्रम तथा नवीन परीक्षा प्रश्न-पत्र के स्वरूप को पूर्णतया दृष्टि में रखते हुए की गई है।

पुस्तक की रचना में **जुलाई** 2004 ई. (चौदहवीं लोकसभा के चुनाव, मनमोहन सिंह सरकार के गठन और प्रारम्भिक कार्यकरण और दलीय व्यवस्था तथा चुनावी राजनीति के निरन्तर बदलते परिदृश्य) तक की स्थिति को पूर्णतया दृष्टि में रखा गया है। भारतीय संविधान में अब तक **92 संवैधानिक संशोधन** हुए हैं। इन सभी संवैधानिक संशोधनों के विभिन्न प्रावधानों का पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में यथास्थान उल्लेख किया गया है। भारतीय राजनीति अभी हाल ही के वर्षों में व्यापक परिवर्तनों के दौर से गुजरी है। उन सभी घटनाओं की यथास्थान और आवश्यक विस्तार के साथ विवेचना की गई है। पुस्तक अपनी समस्त अध्ययन सामग्री में **'पूर्णतया अद्यतन'** (Most Uptodate) है।

इसके साथ ही समस्त विवादास्पद राजनीतिक घटनाचक्र के सम्बन्ध में निष्पक्ष और सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाने की चेष्टा की गई है। नवीनतम राजनीतिक स्थिति की विवेचना और उदाहरणों के आधार पर समस्त अध्ययन विषय को रोचक बनाने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया गया है।

आशा है अपने वर्तमान स्वरूप में यह पुस्तक पाठकों के लिए श्रेष्ठतम पुस्तक सिद्ध होगी। पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए प्राप्त सुझावों का सदैव ही स्वागत किया जाएगा।

● **लेखक**

विषय सूची

राष्ट्रीय आन्दोलन

संवैधानिक विकास

भारतीय संविधान

1

राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

[RISE OF INDIAN NATIONAL MOVEMENT AND FOUNDATION OF INDIAN CONGRESS]

16वीं सदी में भारत अपनी समृद्धि और गौरव के चरमोत्कर्ष पर था और भारत की इस समृद्धि से प्रभावित होकर यूरोप के विभिन्न देश भारत के साथ व्यापार करने के लिए लालायित थे। लन्दन के कुछ व्यापारियों ने भारत तथा पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए **'ईस्ट इण्डिया कम्पनी'** (East India Company) की स्थापना की और 31 दिसम्बर, 1600 को ब्रिटिश साम्राज्ञी एलिजाबेथ ने अंग्रेज व्यापारियों की इस कम्पनी को भारत के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्रदान किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा बहुत तेजी के साथ प्रगति की गयी और व्यापारिक प्रतियोगिता में पुर्तगाली, डच तथा फ्रेंच व्यापारिक कम्पनियों को पराजित कर भारत के व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया गया।

व्यापारिक कम्पनी के रूप में स्थिति सुदृढ़ कर लेने के बाद 1750 ई. से कम्पनी ने भारत में **'शक्ति राजनीति का खेल'** (Game of Power Politics) प्रारम्भ किया। भारत की विशेष परिस्थितियों के कारण कम्पनी को अपने इस कार्य में भी सफलता मिली और 1850 ई. तक भारत के बहुत बड़े भाग पर कम्पनी का शासन स्थापित हो गया।

1857 ई. का स्वतन्त्रता संग्राम और कम्पनी के शासन की समाप्ति—कम्पनी के शासन के लगभग 100 वर्षों में राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और सैनिक क्षेत्र में अनेक ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हुआ, जिन्होंने भारतीय जनता को कम्पनी के शासन का प्रबल विरोधी बना दिया। लार्ड डलहौजी के द्वारा अपने शासनकाल में कम्पनी के भारतीय क्षेत्र में विस्तार के सभी सम्भव प्रयत्न किए गए थे और उसने अपनी हड़प नीति को कठोरतापूर्वक अपनाकर तथा देशी शासकों के साथ दुर्व्यवहार कर उनमें से अनेक को भारत में ब्रिटिश शासन का घोर शत्रु बना दिया था। अंग्रेजों द्वारा भारतीयों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप तथा उन्हें ईसाई बनाने के कार्यों ने साधारण भारतीयों में तीव्र असन्तोष को जन्म दिया। भारत के निरन्तर आर्थिक शोषण से कृषक, श्रमिक तथा व्यापारी सभी वर्गों की स्थिति बहुत अधिक बुरी थी। सैनिक क्षेत्र में अंग्रेज और भारतीय सैनिकों में भेदभाव किया जाता था और भारतीय सैनिकों के साथ अंग्रेज अधिकारियों का व्यवहार खराब था। अतः काफी समय पहले से भारतीय सैनिक असन्तुष्ट थे। इसी समय उनको जो कारतूस दिए गए, उन्हें चिकना करने के लिए गाय और सूअर की चर्बी का प्रयोग किया गया था। अतः उन्होंने स्वाभाविक रूप से यह सोचा कि उन्हें धर्मभ्रष्ट करने की चेष्टा की जा रही है। इस प्रकार जीवन की चतुर्मुखी परिस्थितियां ऐसी हो गयी थीं कि इन परिस्थितियों में विद्रोह का न होना अत्यधिक आश्चर्यजनक होता।[1]

उपर्युक्त परिस्थितियों ने 1857 में जिस स्वतन्त्रता संग्राम को जन्म दिया था, उसका प्रसार तेजी से हुआ, लेकिन परिणाम आशा के अनुकूल नहीं हुए। आधुनिक शस्त्र सामग्री तथा आर्थिक साधनों के अभाव, क्रान्तिकारियों की सेना में एकबद्धता और संगठन के अभाव, अनेक भारतीय शासकों तथा वर्गों के असहयोग तथा विरोधी व्यवहार आदि कारणों ने स्वतन्त्रता संग्राम को असफल कर दिया।

1 "If mutiny is ever justifiable, no stronger justification could be given than that of the sepoy troop."
—W. E. H. Lecky, *The Map of Life*, pp. 103-104.

1857 का स्वतन्त्रता संग्राम एक साधारण घटना थी। इस असफल संग्राम के परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन का ध्यान भारत में कम्पनी के शासन की बुराइयों की ओर गया। परिणामस्वरूप नवम्बर 1958 ई. के **'सत्ता हस्तान्तरण और भारत के श्रेष्ठतर शासन हेतु कानून'** के आधार पर ब्रिटिश सम्राट ने भारत में कम्पनी के शासन का अन्त कर भारतीय शासन अपने हाथ में ले लिया। लेकिन सत्ता के इस हस्तान्तरण से भारतीय जनता के कष्टों और उनकी विदेशी शासन विरोधी भावनाओं में कोई कमी नहीं हुई और इन्हीं भावनाओं ने कालान्तर में भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय और उसके कारण

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय का उल्लेख 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना के साथ किए जाने का एक विशेष कारण है। यद्यपि **'कांग्रेस का इतिहास'** के लेखक **पट्टाभि सीतारमैया** और कुछ अन्य लेखकों के इस विचार को तो ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता कि **"कांग्रेस का इतिहास ही भारत की स्वतन्त्रता के संघर्ष का इतिहास है, क्योंकि कांग्रेस की स्थापना के पूर्व और पश्चात् दूसरी अनेक शक्तियों के द्वारा भी इस उद्देश्य से कार्य किया गया था, लेकिन कांग्रेस ने भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष में सदैव ही केन्द्र का कार्य किया। यह वह धुरी थी जिसके चारों ओर स्वतन्त्रता की महान् गाथा की विविध घटनाएं घटित हुईं।"**[1] स्वतन्त्रता आन्दोलन में कांग्रेस के इस प्रमुख भाग के कारण ही भारत में राष्ट्रीयता के उदय का उल्लेख कांग्रेस की स्थापना के समय अर्थात् 1885 ई. से किया जाता है।

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन विश्व के किसी भी दूसरे देश में इसी प्रकार के आन्दोलन की तरह राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विविध शक्तियों और कारणों के संयोग का परिणाम था। इसमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारणों और तत्वों की विवेचना निम्नलिखित रूपों में की जा सकती है :

(1) **1857 का स्वतन्त्रता संग्राम**—**"1857 का विद्रोह सैनिक विद्रोह से कहीं अधिक था। वह भारत में इतनी तीव्र गति से फैला कि उसने जनविद्रोह तथा भारतीय स्वतन्त्रता के युद्ध का रूप धारण कर लिया।"** यह विद्रोह कुछ कारणोंवश असफल रहा किन्तु ब्रिटिश शासन ने विद्रोह का दमन करने में जिस अमानुषिक कार्यवाही का आश्रय लिया था, उससे जनता का असन्तोष बहुत अधिक बढ़ गया। ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए दमन के सम्बन्ध में सर चार्ल्स डिल्के अपनी पुस्तक **ग्रेटर इण्डिया** (*Greater India*) में लिखते हैं कि **"अंग्रेजों ने अपने कैदियों की बिना न्यायिक कार्यवाही के और ऐसे ढंग से हत्या कर दी जो सभी भारतीयों की दृष्टि में पाशविकता की चरम सीमा थी।........दमन के दौरान गांव के गांव जला दिए गए। निर्दोष ग्रामीणों का वह कत्लेआम किया गया कि मुहम्मद तुगलक भी उससे शरमा जाएगा।"**[2]

अंग्रेजों की वदला लेने की उपर्युक्त भावना ने इस असन्तोष को और भी बढ़ावा दिया। विद्रोह ने अंग्रेजों में भारतीयों के प्रति और भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति घृणा की भावना को और अधिक बढ़ा दिया।

(2) **राजनीतिक एकता की स्थापना**—ब्रिटिश शासन के पूर्व भारत में राजनीतिक एकता का अभाव था। अशोक और अकबर जैसे महान् शासकों को भी यातायात के साधनों के अभाव और अपनी विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था के कारण भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने में पूरी सफलता नहीं मिली थी। लेकिन ब्रिटिश शासन सम्पूर्ण देश को एक केन्द्रित शासन के अन्तर्गत लाने में सफल हुआ और आवागमन के साधनों ने उन्हें इस कार्य में पूर्ण सहायता प्रदान की। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ सम्पूर्ण भारत में सर्वत्र एकसी शासन-व्यवस्था स्थापित हो गयी और इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से भारत एक रूप हो गया।

ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारत में राजनीतिक एकता उत्पन्न करना नहीं था, लेकिन पूरे देश में एक ही प्रकार की शासन व्यवस्था और यातायात के साधनों के विकास के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देश पहली बार राजनीतिक दृष्टि से एक इकाई बन गया। पं. नेहरू के शब्दों में, **"ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की राजनीतिक एकता सामान्य अधीनता की एकता थी लेकिन उसने सामान्य राष्ट्रीयता की एकता को जन्म दिया।"**[3]

1 R. C. Mazumdar, *History of the Freedom Movement in India.*

2 रामगोपाल, भारतीय राजनीति, पृ. 37 से उद्धृत।

3 "The Political unity of India brought about by the British was unity of common subjection, but it gave rise to a unity of Common Nationalism."
—Pt. Nehru, *Autobiography*, p. 437.

(3) धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण—डॉ. जकारिया ने अपनी पुस्तक 'रिनेसेण्ट इन्डिया' (Renascent India) में ठीक ही लिखा है कि **"भारत की पुनर्जागृति मुख्यतया आध्यात्मिक थी तथा एक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण करने के पूर्व इसने अनेक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया।"** 19वीं सदी के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन राष्ट्रीयता के विकास में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए। इस प्रकार के सुधार आन्दोलनों में **ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसॉफिकल सोसायटी** का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

धार्मिक और सामाजिक सुधारकों—राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ सेन, के. सी. सेन, पी. सी. सरकार, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती, एनीबेसेण्ट, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द ने भारतीयों को भारत की महानता को समझने और उसे पुनः प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। **राजा राममोहन राय को पुनर्जागरण का अग्रदूत कहा जा सकता है।** भारत में धर्म और समाज सुधार कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने अगस्त 1828 ई. **में ब्रह्म समाज की स्थापना की।** सती प्रथा का अन्त, स्त्रियों का उद्धार और अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार आदि सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों के साथ-साथ राजा राममोहन राय अपने देशवासियों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी संघर्ष करते रहे।

धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण में स्वामी दयानन्द का योग भी बहुत अधिक महत्वपूर्ण है, जिनका सन्देश था—**'वेदों की ओर लौटो'** (Back to Vedas)! वे एकही साथ सन्त, समाज सुधारक और देशभक्त थे और 1875 ई. में बम्बई में उनके द्वारा स्थापित **"आर्य समाज एक साथ ही धार्मिक, राष्ट्रीय नवजागरण का आन्दोलन था। इसने भारत और हिन्दू जाति को नवजीवन प्रदान किया।"** स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ **'सत्यार्थ प्रकाश'** में निर्भीकतापूर्वक लिखा कि **"विदेशी राज्य से चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो स्वदेशी राज्य चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियां क्यों न हों अच्छा है।"**

धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण में थियोसॉफिकल सोसायटी और श्रीमती एनी बेसेण्ट का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क में एक रूसी महिला **मेडम ब्लैवेट्स्की** तथा अमरीकी **कर्नल अल्काट** द्वारा 1875 ई. में की गयी थी। 1879 ई. में ये दोनों भारत आये और मद्रास प्रान्त के अडयार नामक स्थान को उन्होंने अपना मुख्यालय बनाया। विदेशी व्यक्तियों की इस संस्था द्वारा हिन्दू धर्म का गुणगान किए जाने से हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। श्रीमती बेसेण्ट इस संस्था की मुख्य कार्यकर्ता बन गयीं और ब्लैवेट्स्की, कर्नल अल्कॉट तथा श्रीमती बेसेण्ट ने अपने जोरदार लेखों और कार्यों द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित किया। स्वामी रामकृष्ण और उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित **'रामकृष्ण मिशन'** ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। इस श्रेणी के अन्य सुधार आन्दोलनों में राधास्वामी आन्दोलन, देवसमाज आन्दोलन, बहावी आन्दोलन तथा अलीगढ़ आन्दोलन का नाम लिया जा सकता है।

इन धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने की दिशा में अपूर्व कार्य किया। इन सुधार आन्दोलनों ने एक पृष्ठभूमि तैयार की और वातावरण निर्मित किया, जिसके आधार पर राष्ट्रीयता की भावना विकसित हो सकी और भारतीय स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सका। इन आन्दोलनों ने धर्म व समाज की एकता के आधार पर देशव्यापी एकता और संगठन को जन्म दिया। श्री ए. आर. देसाई ने इन सुधार आन्दोलनों के सम्बन्ध में लिखा है कि **"ये आन्दोलन कम-अधिक मात्रा में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक समानता के लिए संघर्ष थे और इनका चरम लक्ष्य राष्ट्रवाद था।"**[1]

(4) ऐतिहासिक अनुसन्धान—ऐतिहासिक अनुसन्धानों ने भी भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय को गति प्रदान की। साहित्य, धर्म और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान **सर विलियम जोन्स, मैक्समूलर, जैकोबी, कौलब्रुक, रौथ, ए. बी. कीथ, डा. भण्डारकर** और **हरप्रसाद शास्त्री** आदि ने भारतीयों के सम्मुख भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का एक ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जो किसी भी रूप में समकालीन यूरोपियन सभ्यताओं से हीन नहीं था। मध्य एशिया में कार्य कर रहे यूरोपियन विद्वानों ने इस तथ्य को भी प्रकट किया कि भूतकाल में भारत का सांस्कृतिक साम्राज्य पामीर, मलाया, इण्डोनेशिया और मैकांग की

1 A. R. Desai, *Social Background of Indian Nationalism*, p. 210.

उपजाऊ घाटी तक विस्तृत रहा है। इन ऐतिहासिक अनुसन्धानों ने स्वाभाविक रूप से भारतीयों में अपनी पुरातन सभ्यता और संस्कृति के प्रति गौरव की भावना और उज्ज्वल भविष्य का चित्र भी प्रस्तुत किया। श्री मजूमदार के अनुसार, **"यह खोज भारतीयों के हृदय में चेतना उत्पन्न करने में असफल नहीं हो सकती थी जिसके परिणामस्वरूप उनके हृदय राष्ट्रीयता की भावना व देश-भक्ति से भर गए।"**[1]

(5) **पाश्चात्य शिक्षा—"भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा पाश्चात्य शिक्षा प्रारम्भ किए जाने का उद्देश्य यह था कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का पूर्णरूप से लोप हो जाए और एक ऐसे वर्ग का निर्माण हो, जो रक्त और वर्ण से तो भारतीय हो, किन्तु जो रुचि, विचार, शब्द और बुद्धि से अंग्रेज हो जाए।"**[2] कुछ सीमा तक अंग्रेज इस मनोरथ में सफल हुए, क्योंकि कुछ शिक्षित भारतीयों ने प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति से विमुख होकर स्वयं को पाश्चात्य रंग में ढालना प्रारम्भ कर दिया। लेकिन पाश्चात्य शिक्षा का एक दूसरा पक्ष भी था कि अंग्रेजी साहित्यं स्वतन्त्रता की उदात्त भावना से परिपूर्ण है अतः इससे राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन मिला। इस दृष्टि से पाश्चात्य शिक्षा भारत के लिए एक ईश्वरीय देन सिद्ध हुई।

पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतीय सर्वोत्तम अंग्रेज विचारकों के सम्पर्क में आये। उन्हें **मिल्टन, बर्क, मिल, मैकाले और हरबर्ट स्पेंसर** आदि विचारकों की कृतियों का ज्ञान प्राप्त हुआ, जिनके द्वारा उनमें स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और स्वराज्य की जीवनदायिनी भावनाओं का संचार हुआ। उनके संकीर्ण विचारों में परिवर्तन हुआ और उनका दृष्टिकोण व्यापक हो गया। इन सबके परिणामस्वरूप उनका तत्कालीन राजनीति से असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था। भारतीयों पर पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव के सम्बन्ध में ए. आर. देसाई लिखते हैं कि, **"शिक्षित भारतीयों ने अमरीका, इटली और आयरलैण्ड के स्वतन्त्रता संग्रामों के सम्बन्ध में पढ़ा। उन्होंने ऐसे लेखकों की रचनाओं का अनुशीलन किया जिन्होंने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रचार किया है। ये शिक्षित भारतीय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के राजनीतिक और बौद्धिक नेता हो गये।"**[3] इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि राजा राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, वोमेश चन्द्र बनर्जी, फिरोज शाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले और दीनशा वाचा भारतीय राष्ट्रीयता के ये सभी सन्देशवाहक अंग्रेजी शिक्षा की देन थे।

भारतीयों को राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के सर्वोत्तम विचारों का ज्ञान प्रदान करने के अतिरिक्त पाश्चात्य शिक्षा ने अंग्रेजी भाषा के रूप में सम्पूर्ण भारत के व्यक्तियों को पारस्परिक विचार-विनिमय का साधन प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप भारतवासी एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आये। अंग्रेजी भाषा ने भारतीयों को एक मंच पर लाने, सामान्य समस्याओं पर विचार करने और कार्य की सामान्य योजना के निर्माण का पथ प्रशस्त किया।

इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा उदयमान भारतीय राष्ट्रवाद को नवजीवन प्रदान किया गया। लार्ड मैकाले ने कहा था कि **"उस दिन को जब यूरोपियन ज्ञान प्राप्त भारतीय यूरोपियन संस्थाओं की मांग करेंगे, मैं ब्रिटिश इतिहास का सर्वाधिक गौरवपूर्ण दिवस समझूंगा।"**[4] मैकाले का यह **"स्वप्न बहुत शीघ्र सार्थक हो गया, इतना शीघ्र जिसकी उसने कभी कल्पना भी न की होगी।"**

(6) **भारतीयों का विदेश गमन**—19वीं सदी से अनेक भारतीय शिक्षा प्राप्ति तथा अन्य कार्यों से विदेश जाने लगे। उन्होंने वहां प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों तथा संगठन को कार्यरता देखा और स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का पाठ पढ़ा। वे इन विचारों और सिद्धान्तों से प्रभावित हुए और उस दिन का स्वप्न देखने लगे जब भारत में भी प्रजातान्त्रिक विचारों और संस्थाओं को मूर्त रूप प्राप्त होगा। **श्री गुरुमुख निहालसिंह** का कथन है कि, **"इंगलैण्ड में उन्हें स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं की कार्यविधि का गहरा ज्ञान प्राप्त हो जाता था, वे स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का मूल्य समझ जाते थे तथा उनके मन में जमी हुई दासता की मनोवृत्ति घट जाती थी।"**[5]

1 R. C. Mazumdar, *History of the Freedom Movement in India*, Vol. I, p. 327.
2 R. Plame Datt, *India—Today*, p. 283.
3 A. R. Desai, *Social Background of Indian Nationalism*, p. 299.
4 In 1833 A. D. Macaulay said "It would be the proudest day in English history, when having become instructed in European knowledge, the Indians shall demand European institutions."
5 G. N. Singh, *Landmarks in Indian Constitutional and National Development*, p. 109.

(7) **भारतीय समाचार-पत्रों तथा देशी साहित्य का विकास**—मुनरो ने लिखा है कि, **"एक स्वतन्त्र प्रेस और विदेशी राज एक-दूसरे के विरुद्ध हैं और ये दोनों एक साथ नहीं चल सकते।"**[1] भारतीय समाचार-पत्रों पर भी यह बात पूरी उतरती है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से देश में प्रेस का विकास हुआ और समाचार-पत्रों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। भारतीय समाचार-पत्रों ने अंग्रेजी पत्रों में भारत-विरोधी प्रचार का करारा उत्तर दिया और भारतीयों को विदेशी शासन की त्रुटियों से परिचित कराया। इस श्रेणी के समाचार-पत्रों में **सम्वाद कौमुदी** (1821), **बॉम्बे समाचार** (1882), **बंगदूत** (1831), **रास्त गुफ्तार** (1851), **अमृत बाजार पत्रिका** (1868), **ट्रिब्यून** (1877) का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

इस काल में कुछ ऐसे लेखक भी हुए, जिनकी रचनाओं ने राष्ट्रीयता के विकास में बहुत योग दिया। **बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' तथा 'वन्देमातरम्'** की रचना की जिन्होंने बंगाल में क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की पाठ्य-पुस्तक का कार्य किया। बंगला भाषा के अतिरिक्त हिन्दी, गुजराती, मराठी और तमिल में भी ऐसे साहित्य का सृजन हुआ, जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय में योग दिया।

(8) **आर्थिक असन्तोष**—मि. गैरट का विचार है कि, **"राष्ट्रीयता में शिक्षित वर्ग का अनुराग, हमेशा ही कुछ हद तक धार्मिक और कुछ हद तक आर्थिक कारणों से हुआ है।"**[2] यह कथन भारतीय राष्ट्रीयता पर पूरे-पूरे रूप में घटित होता है। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना का उद्देश्य भारत के साथ व्यापार करते हुए इस देश का आर्थिक शोषण करना था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बाद में ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए इस देश के आर्थिक शोषण का ही यह परिणाम था कि जिस भारत को 17वीं सदी तक **'सोने की चिड़िया'** कहा जाता था, उसी भारत के सम्बन्ध में 1900 ई. में **सर विलियम डिग्बी** ने लिखा, **"करीब 10 करोड़ मनुष्य ब्रिटिश भारत में ऐसे हैं, जिन्हें किसी समय भी भर-पेट अन्न नहीं मिलता—इस अधःपतन की दूसरी मिसाल इस समय किसी सभ्य और उन्नतिशील देश में कहीं पर भी दिखायी नहीं दे सकती।"**[3] इस आर्थिक शोषण के राजनीतिक परिणाम उत्पन्न होने स्वाभाविक थे।

कम्पनी ने भारत के उद्योग-धन्धों को प्रायः समूल नष्ट कर दिया और व्यापार पर उसका पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया, जिससे भारतीय जनता निर्धनता और भुखमरी का शिकार होती गयी। उद्योग-धन्धों के विनाश का स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि उद्योग-धन्धों में कार्य करने वाले व्यक्ति कृषि की ओर झुके, जिससे भूमि पर दबाव बहुत अधिक बढ़ गया। सरकार ने कृषि की उन्नति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जिससे किसानों की दशा शोचनीय होनी प्रारम्भ हो गयी। आये दिन के अकालों ने स्थिति को और भी अधिक दयनीय बना दिया। ब्रिटिश शासन ने औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश इंगलैण्ड और पिछड़े हुए देश भारत के बीच स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनायी जिससे गिरते हुए भारतीय उद्योग-धन्धे पूर्णतया समाप्त ही हो गये। भारतीयों ने इस सत्य को समझ लिया कि उनकी इस दयनीय स्थिति का दोष विदेशी शासन पर है और उसका अन्त करने की दिशा में प्रयत्न किए जाने चाहिए। अंग्रेजी शासन की आर्थिक नीतियों से असन्तुष्ट होकर ही **भोलानाथ चन्द्र** ने 1877 में लिखा, "ब्रिटिश शासन का विरोध करने के लिए हमारे द्वारा 'विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की नीति' अपनायी जानी चाहिए।"

(9) **भारतीयों को उच्च पदों से अलग रखने की नीति**—1833 के अधिनियम में कहा गया था कि सरकारी नौकरियों में प्रवेश योग्यता के आधार पर ही दिया जाएगा और किसी भी भारतीय को धर्म, जन्मस्थान, वंश और वर्ण के कारण कोई पद प्रदान करने में बाधा नहीं उपस्थित की जाएगी। इसी प्रकार की नीति को 1858 की साम्राज्ञी की घोषणा में भी दुहराया गया था, लेकिन व्यवहार में इस नीति का पालन करने के स्थान पर इसे भंग ही किया गया।

भारतीयों को उच्च पदों विशेषतया **'भारतीय नागरिक सेवा'** (I. C. S.) से अलग रखने के विधिवत् प्रयत्न किए गए। इस सेवा में प्रवेश की आयु 21 वर्ष थी, परीक्षा केवल इंगलैण्ड में होती थी और परीक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा ही थी। ऐसी स्थिति में भारतीयों के लिए नागरिक सेवा में प्रवेश करने हेतु ब्रिटेनवासियों

---

1 "A free press and the domination of strangers are things, which are quite incompatible and cannot long exist together." —Munro (Quoted from Dr. I. Prasad, *History of Modern India*, p. 308)

2 Garrat, *An Indian Commentary*, p. 119.

3 **सुन्दरलाल, भारत में अंग्रेजी राज, पृ. 1।**

से प्रतियोगिता करना अत्यधिक कठिन था। इतना सब कुछ होने पर भी यदि सुरेन्द्र नाथ बनर्जी या अरविन्द घोष जैसे मेधावी विद्यार्थी परीक्षा में सफल हो जाते तो घुड़सवारी जैसी गौण बात के आधार पर उन्हें सेवा में प्रवेश से रोक दिया जाता था (अरविन्द घोष के साथ ऐसा किया गया) या सेवा में प्रवेश कर लेने के बाद मामूली सी गलती के आधार उसे अलग कर दिया जाता था (सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के साथ ऐसा ही किया गया)।

सन् 1877 में नागरिक सेवा में प्रवेश की आयु 21 वर्ष के स्थान पर 19 वर्ष कर दी गयी, जिससे भारतीयों के लिए इस प्रतियोगिता में शामिल होना असम्भव ही हो गया। ऐसी स्थिति में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने ब्रिटिश सरकार के इस कार्य का विरोध करने और इस प्रश्न पर राष्ट्रीय जनमत के निर्माण हेतु सम्पूर्ण देश का दौरा किया तथा 1876 में **इण्डियन एसोसियेशन** (Indian Association) की स्थापना की, जिसे कांग्रेस की पूर्ववर्ती संस्था कहा जा सकता है। इस प्रकार भारतीयों को उच्च पदों से अलग रखने की नीति ने प्रभावशाली शिक्षित भारतीयों में असन्तोष की ज्वाला उत्पन्न कर दी।

(10) **जाति विभेद नीति**—सन् 1857 के विद्रोह के पूर्व भारत स्थित अंग्रेजों और भारतीयों के सम्बन्ध पर्याप्त अच्छे थे, किन्तु विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासन ने जाति विभेद की जो नीति अपनायी, उसके परिणामस्वरूप इस मधुरता का स्थान पारस्परिक घृणा और कटुता ने ले लिया।

अव वे (अंग्रेज) भारतीयां को **'आधे वनमानुष और आधे जंगली'** (Half Gorilla, Half Negro) कहने लगे। भारत में जब वे अपने देशवासियों के सम्पर्क में आते थे, जिन्हें विद्रोह के भयंकर अनुभव थे, तो भारतीयों के प्रति उनकी घृणा की भावनाएं दृढ़तर हो जाती थीं। ऐसे व्यक्तियों के लिए भारतीयों के साथ घुलना-मिलना या मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव था। मि. गैरट के अनुसार, **"उन्होंने अपने लिए एक विचित्र व्यवहार नीति अपनायी, जिसके तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त थे। प्रथम, यह कि एक यूरोपियन का जीवन अनेक भारतीयों के जीवन के बराबर है। द्वितीय, प्राच्य देशवासियों पर केवल भय के आधार पर ही शासन किया जा सकता है। तृतीय, वे यहां लोकहित के लिए नहीं वरन् अपने निजी लाभ और ऐश्वर्य के लिए आये हैं।"**[1]

भारत स्थित ब्रिटिश सरकार और अंग्रेजों की मनमानी तथा आतंकपूर्ण नीति भारतीयों को विशेष रूप से खटकती थी। 1872 के **मालेरकोटला उपद्रवों** में, बिना अभियोग निर्णय किए 49 सिखों को तोप से उड़वा दिया गया था। इसके नितान्त विपरीत, अंग्रेजों के भारतीयों के साथ बर्बरतापूर्वक व्यवहार या भारतीयों की हत्या की जो घटना घटित होती थी, उनमें अंग्रेज अपराधियों को छोड़ दिया जाता था या मामूली-सी सजा दे दी जाती थी। जाति विभेद की उपर्युक्त नीति और इन सभी घटनाओं का परिणाम था जातीय कटुता में वृद्धि। इस सम्बन्ध में गैरट ने ठीक ही कहा है कि, **"भारतीय राष्ट्रीयता की बढ़ोत्तरी में उपर्युक्त कटुता की भावना एक बड़ा कारण थी।"**

(11) **यातायात तथा संचार के साधनों का विकास**—1860-70 के वर्षों में सड़कों, रेलों, डाक और तार, यातायात तथा संचार के द्रुत साधनों के विकास से भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि में सहायता मिली। इन साधनों के कारण भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले देश के शुभचिन्तक आपस में बार-बार मिलकर देश हित में कार्य करने की योजना बना सकते थे और जनता से व्यक्तिगत तथा सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकते थे। **श्री गुरुमुख निहालसिंह के शब्दों में, "संचार के इन साधनों ने सारे देश को गूंथकर एक कर दिया और भौगोलिक एकता को एक मूर्त वास्तविकता बना दिया।"** यातायात के इन साधनों के कारण ही श्री बनर्जी का नागरिक सेवा सम्बन्धी अखिल भारतीय दौरा सम्भव हो सका। इन साधनों के विकास से राष्ट्रीय आन्दोलनों को वल प्राप्त हुआ।

(12) **विदेशी आन्दोलनों का स्वस्थ प्रभाव—इटली, जर्मनी, रूमानिया और सर्विया के राजनीतिक आन्दोलन, फ्रांस में तृतीय गणतन्त्र की स्थापना और इंगलैण्ड में सुधार कानूनों का पारित होना** आदि घटनाओं ने भारतीयों के मस्तिष्क पर प्रभाव डाला। इन आन्दोलनों ने भारतीयों को दृढ़ता प्रदान की और उन्हें अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता हेतु संघर्ष के लिए प्रेरित किया। **मजूमदार के शब्दों में, "भारतीय सीमा के बाहर घटित इन घटनाओं ने भारतीय राष्ट्रवाद की धारा को स्वाभाविक रूप से प्रभावित किया।"**[2]

1 Garrat, *An Indian Commentary*, p. 44.
2 R. C. Mazumdar, *History of Freedom Movement in India*, p. 328.

(13) लार्ड लिटन की दमनात्मक रीति—सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि, **"राजनीतिक प्रगति के विकास में बुरे या क्रूर शासक एक गुप्त वरदान के रूप में आते हैं। उनके कारण समाज में ऐसी जागृति उत्पन्न होती है जैसी वर्षों के प्रचार और आन्दोलन से भी उत्पन्न न हो।"**[1] बनर्जी का यह कथन भारत में लार्ड लिटन के सम्बन्ध में पूर्ण अंशों में घटित होता है।

लार्ड लिटन नें अपने शासनकाल (1876-80) में ऐसे कार्य किए जिनसे भारतीय राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिला। भारतीय नागरिक सेवा की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष करने का कार्य 1876 में ही हुआ। इसके बाद लार्ड लिटन ने, 1 जनवरी, 1877 को विक्टोरिया को **'भारत की महारानी'** घोषित करने के लिए दिल्ली में एक विशाल दरबार का आयोजन किया। यह शानशौकतपूर्ण दरबार उस समय किया गया था, जबकि दक्षिणी भारत में बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा था। भारतीय समाचार-पत्रों ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी। एक समाचार-पत्र ने तो यहां तक लिख दिया कि, **"जब रोम जल रहा था, तब नीरो बांसुरी बजा रहा था।"**[2] यह दरबार एक और रूप में भारतीय राष्ट्रीयता के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इस दरबार में बनर्जी एक प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुए और यहीं उनके मस्तिष्क में यह भावना जागृत हुई कि, **"यदि एक स्वेच्छाचारी वायसराय की प्रशंसा के लिए देश के राजा तथा अमीर-उमरावों को एकत्र किया जा सकता है तो देशवासियों को न्यायसंगत ढंग से, स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए क्यों नहीं संगठित किया जा सकता।"** इसी वर्ष जब भारतीय जनता भूखों मर रही थी, भारत से इंगलैण्ड को 80 **लाख पौण्ड के अन्न का निर्यात** किया गया। इधर घोर दुर्भिक्ष, उधर शाही दरबार और अन्न के निर्यात का यह दृश्य भारतीयों के हृदय को वेधने वाला था।

लार्ड लिटन की अफगानिस्तान पर आक्रमण की नीति ने भी भारतीयों को असन्तुष्ट किया, क्योंकि अफगानिस्तान पर आक्रमण करने में जो दो करोड़ स्टर्लिंग का खर्च हुआ, वह भारत की निर्धन जनता पर पड़ा। 1878 में भारतीय सेना को सायप्रस भेजने के कार्य का भी भारतीय जनता ने विरोध किया। 1878 में लिटन शासन द्वारा **'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट'** पारित किया गया, जिससे भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों पर कठोर नियन्त्रण स्थापित हो गया। भारत के शिक्षित वर्ग ने इसे **'गैगिंट एक्ट'** का नाम दिया। समस्त देश में और विशेषतया बंगाल में इस कानून का इतना प्रबल विरोध हुआ कि अन्त में बाध्य होकर लार्ड रिपन को यह कानून रद्द करना पड़ा।

लार्ड लिटन का एक अन्य कुत्सित कार्य **'भारतीय शस्त्र अधिनियम'** था। इस अधिनियम के अनुसार भारतीय बिना लाइसेंस कोई भी शस्त्र लेकर नहीं चल सकते थे जबकि यूरोपियनों या ऐंग्लो-इण्डियनों पर इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न था। स्वाभाविक रूप से भारतीय जनता ने इस कानून को अपना घोर अपमान समझा।

लॉर्ड लिटन की आर्थिक नीति भी असन्तोष उत्पन्न करने वाली थी। उसने अपनी परिषद् के अधिकांश सदस्यों की राय के विरुद्ध लंकाशायर के उद्योगपतियों के हितों की रक्षा के लिए विदेशी सूती कपड़े पर से आयात कर हटा दिया जिससे भारत के सूती वस्त्र उद्योग को बहुत हानि पहुंची। इससे भारत सरकार की आय का एक बहुत बड़ा साधन भी समाप्त हो गया। लॉर्ड लिटन के उपर्युक्त कार्य देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी नियुक्ति ही वे सभी अप्रिय और गन्दे कार्य करने के लिए हुई थी, जिन्हें उनके पूर्ववर्ती लॉर्ड नार्थब्रुक ने करने से इन्कार कर दिया था। लॉर्ड लिटन के इन कार्यों के परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय जनता का असन्तोष बहुत उग्र हो गया। **सर विलियम वैडरबर्न ने ब्लंट से** कहा था कि **"लार्ड लिटन के शासनकाल के अन्त में स्थिति विद्रोह की सीमा तक पहुंच गयी थी।"**

(14) इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद—अब तक जातीय भेद की नीति के कारण भारतीय जज अंग्रेजों के मुकदमे नहीं सुन सकते थे। लार्ड लिटन के बाद लार्ड रिपन के शासनकाल में 1883 में तत्कालीन विधि सदस्य मि. इल्बर्ट ने व्यवस्थापिका परिषद में एक विधेयक रखा, जिसमें भारतीय जजों को अंग्रेजों के विरुद्ध मुकदमे सुनने का अधिकार देने का प्रस्ताव था। परन्तु इस विधेयक के पेश होते ही भारत के समस्त अंग्रेजों ने इसका विरोध किया और विधेयक के विरुद्ध संगठित रूप में आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। यह झगड़ा कई

1 "In the evolution of political progress, bad rulers are often blessing in disguise. Lord Lytton stirred community into life, a result that years of agitation would perhaps have failed to achieve."

—S.N. Banerjee, *A Nation in Making*, p. 63.

2 "When Rome was burning, Nero was fiddling."

महीनों तक चलता रहा और अन्त में समझौता हुआ, जिसके आधार पर भारतीय जजों को अंग्रेजों के मुकदमे सुनने का अधिकार तो दिया गया, परन्तु यह शर्त लगा दी गयी कि भारतीय जज उस मुकदमे की सुनवाई ऐसी जूरी की सहायता से ही कर सकते हैं, जिसके कम से कम आधे सदस्य अंग्रेज हों।

इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने भारतीयों को दो बातें सिखायीं : एक तो यह कि बिना संगठित रूप से आन्दोलन किए उनकी मांगें पूरी नहीं हो सकतीं और दूसरी यह कि इस प्रकार का आन्दोलन कैसे किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में **सर हैनरी कॉटन** ने लिखा है कि "इस विधेयक और इसके विरोध में किये गये आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्रीयता पर जो प्रभाव डाला, वह प्रभाव विधेयक के मूल रूप में पारित होने पर कभी नहीं हो सकता था।"

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

उपर्युक्त तत्वों के परिणामस्वरूप भारत के लोगों में इस चेतना का विकास हुआ कि उनकी दयनीय स्थिति के लिए ब्रिटिश शासन ही उत्तरदायी है और इस चेतना ने ही **'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस'** (Indian National Congress) को जन्म दिया।

कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठन—1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना का कार्य विचारों या संगठन की दृष्टि से आकस्मिक नहीं था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पूर्व भी कुछ राजनीतिक संगठन स्थापित किए गए थे और उनके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया जा रहा था। कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठनों में प्रमुख थे—**ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन** (1851), **इण्डिया लीग** (1875), **इण्डियन एसोसियेशन** (1876), **पूना सार्वजनिक सभा** (1867), **बॉम्बे प्रेसीडेंसी एसोसियेशन और महाजन सभा** (1881), आदि।

कांग्रेस की स्थापना—उपर्युक्त संस्थाओं के द्वारा विभिन्न प्रान्तों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का कार्य किया जा रहा था। 1876 के बाद लार्ड लिटन के अविवेकपूर्ण कार्यों और उसके बाद लार्ड रिपन के शासनकाल में इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने अखिल भारतीय लक्षण के राजनीतिक संगठन की आवश्यकता स्पष्ट की। इन परिस्थितियों में सर्वप्रथम सम्भवतया एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज अधिकारी एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम (Allan Octavian Hume) के मस्तिष्क में कांग्रेस की स्थापना के विचार का उदय हुआ। अतः ह्यूम को ही इस संस्था का जन्मदाता समझा जाता है। ह्यूम की योजना सम्भवतया एक ऐसे संगठन का निर्माण करने की थी, जो प्रमुख रूप से सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में कार्य करते हुए भारत की स्थिति में सुधार लाता। ह्यूम ने जब यह योजना नये गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन के सामने रखी तो लार्ड डफरिन ने प्रस्तावित संगठन के कार्यक्षेत्र को बढ़ाने का सुझाव देते हुए कहा कि इस संगठन के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में कार्य किया जाना चाहिए।

ह्यूम ने अपनी योजना में वायसराय के निर्देश के अनुसार परिवर्तन किया और वे इंगलैण्ड पहुंचे। इंगलैण्ड में उन्होंने वहां के प्रमुख व्यक्तियों **लार्ड रिपन, डलहौजी, जॉन ब्राइट और स्लेग** आदि से विचार विनिमय किया। इंगलैण्ड से वापस आने पर यह निश्चित किया गया कि कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन पूना में 25 से 28 सितम्बर, 1885 तक होगा। लेकिन पूना में हैजा शुरू हो जाने पर अधिवेशन पूना के स्थान पर बम्बई में किया गया। **28 दिसम्बर, 1885 को दिन के 11 बजे गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज** के भवन में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन आरम्भ हुआ, जिसकी अध्यक्षता कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर वोमेशचन्द्र बनर्जी द्वारा की गयी। अधिवेशन में भारत के अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति—दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दीनसा एदलशी वाचा, काशीनाथ तैलंग, नारायण गणेश चन्द्रावरकर, पी. आनन्दाचार्लू, वी. राघवाचार्य, सुब्रह्मण्यम् आदि उपस्थित थे। यह समस्त कार्य सरकारी आशीर्वाद से किया गया था। **कूपलैण्ड** ने लिखा है, "**भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की शिशु थी और ब्रिटिश अधिकारियों ने उसके पालने को आशीर्वाद दिया।**" अधिवेशन में विलियम वैडरबर्न और रानाडे जैसे सरकारी अधिकारी भी उपस्थित थे।

कांग्रेस के उद्देश्य

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सभापति श्री वोमेशचन्द्र बनर्जी ने कांग्रेस की गुरुता की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान आकर्षित करते हुए इसके उद्देश्य इस प्रकार बतलाये थे :

(1) साम्राज्य के विभिन्न भागों में देशहित के लिए लगन से कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच घनिष्ठता और मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करना।
(2) समस्त देशवासियों में वंश, धर्म और प्रान्त सम्बन्धी दूषित संस्कारों को मिटाकर राष्ट्रीय ऐक्य की भावनाओं का पोषण और परिवर्द्धन करना।
(3) महत्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक प्रश्नों पर भारत के शिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के बाद प्राप्त परिपक्व सम्मतियों का संग्रह करना।
(4) उन तरीकों और दिशाओं का निर्णय करना, जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देशहित के कार्य करें।

कांग्रेस की स्थापना के आधारभूत कारण से सम्बन्धित विवाद (Controversy concerning the Birth of Congress)—श्री ए. ओ. ह्यूम तथा उनके सहयोगियों के कांग्रेस को संगठित करने के वास्तविक उद्देश्य क्या थे इस सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो व्याख्याएं प्रस्तुत की जाती हैं :

अभयदीप की धारणा—पहली धारणा के अनुसार कांग्रेस की स्थापना व्याप्त व्यापक असन्तोष के लिए **अभयदीप** (Safety Valve) के रूप में की गयी अर्थात् कांग्रेस का जन्म ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए हुआ था। लार्ड लिटन के दमनकारी शासन की समाप्ति पर भारत क्रान्ति के बहुत अधिक समीप पहुंच चुका था। भारतीय जनता की दयनीय दरिद्रता और शिक्षित नवयुवकों का घोर असन्तोष क्रान्ति का रूप ग्रहण करने वाला था। ह्यूम को विश्वसनीय सूत्रों से इस बात का ज्ञान हो गया था कि राजनीतिक अशान्ति अन्दर ही अन्दर बढ़ रही है। दक्षिण के कृषक विद्रोह ने, बंगाल के उग्र क्रान्तिकारियों की गतिविधियों ने दूरदर्शी ह्यूम को भावी खतरे की पूर्वसूचना दे दी थी। ह्यूम साहब जन आन्दोलन की इस क्रान्तिकारी भावना से बहुत चिन्तित थे। अतः उन्होंने जनता के असन्तोष को क्रान्ति का रूप ग्रहण करने से रोकने के लिए 'अभयदीप' को जन्म दिया, जो कि कांग्रेस थी। ह्यूम के जीवनी लेखक सर विलियम वेडरबर्न के अनुसार ह्यूम ने एक बार कहा था कि "**भारत में असन्तोष की बढ़ती हुई शक्तियों से बचने के लिए 'अभयदीप'** (Safety Valve) **की आवश्यकता है और कांग्रेस आन्दोलन से बढ़कर अभयदीप दूसरी कोई चीज नहीं हो सकती।**"[1]

लाला लाजपतराय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'यंग इण्डिया'** में उपर्युक्त धारणा का ही प्रतिपादन करते हुए लिखा कि "**भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि इस संस्था के संस्थापक ब्रिटिश साम्राज्य की संकटों से रक्षा करना और उसको छिन्न-भिन्न होने से बचाना चाहते थे।**"[2] डॉ. नन्दलाल चटर्जी ने भी अपने एक लेख में यही विचार व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में **रजनी पामदत्त** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '*India Today*' में यहां तक कह दिया है कि "**कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश सरकार की एक पूर्व-निश्चित गुप्त योजना के अनुसार की गयी थी।**"

यह स्पष्ट है कि कांग्रेस ने मि. ह्यूम और उन ब्रिटिश अधिकारियों की आशाओं को जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में योग दिया था, पूर्ण किया। वह शिक्षित भारतीयों के असन्तोष का आकर्षण केन्द्र बन गयी। कांग्रेस के मंच से इस बैचेनी और असन्तोष को वैधानिक रूप में व्यक्त किया जाने लगा और इस प्रकार कांग्रेस राष्ट्रीय असन्तोष को व्यक्त करने का शान्तिमय साधन बन गयी।

राष्ट्रीय संस्था के रूप में स्थापना—कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में **दूसरी इस धारणा** का प्रतिपादन किया जाता है कि कांग्रेस की स्थापना भारतवासियों के हितार्थ एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में की गयी। यदि कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में प्रतिपादित **'अभयदीप की धारणा'** को स्वीकार कर लिया जाय, तो यह न केवल ह्यूम वरन् उन भारतीय नेताओं पर भी आक्षेप होगा, जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में सहयोग दिया था। **सुश्री एनी बेसेण्ट** लिखती हैं कि "**राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म मातृभूमि की रक्षा के हित में 17 प्रमुख भारतीयों तथा ह्यूम साहब के द्वारा हुआ था।**" यहां पर श्री गुरुमुख निहाल सिंह के विचार का उल्लेख करना भी उचित होगा, जिन्होंने यह लिखा है कि "**यह सम्भव है कि ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने तथा कांग्रेस का प्रयोग एक अभयदीप**

1 "A safety-valve for the escape of great and growing forces was urgently needed and no more efficacious safety-valve than one Congress movement could possibly devise."
—Sir William Wedderburn, *Allan Octavian Hume*, p. 71.

2 "The main reason for founding the Indian National Congress was the anxiety of the originators to prevent the disruption of the Empire."
—Lala Lajpat Ray, *Young India*, p. 135.

की तरह करने के विचार ह्यूम तथा वेडरबर्न के हृदयों में हों किन्तु इस बात पर विश्वास करना असम्भव है कि दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता और रानाडे जैसे भारतीय नेता इनके हाथों में साधन मात्र थे या वे भी ब्रिटिश साम्राज्य को क्रान्ति के खतरे से बचाने का विचार रखते थे।"[1]

इसके अतिरिक्त ह्यूम को भी जिनके द्वारा अपने जीवन का काफी बड़ा भाग भारतीय जनता के कल्याण में ही लगाया गया था, कोरा साम्राज्यवादी नहीं कहा जा सकता। **यंग इण्डिया** के लेखक **लाला लाजपतराय** भी ह्यूम के उच्च आदर्श को स्वीकारते हुए लिखते हैं **"ह्यूम स्वतन्त्रता के पुजारी थे और उनका हृदय भारत की निर्धनता और दुर्दशा पर रोता था—वे इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि कोई भी शासन चाहे देशी अथवा विदेशी, बिना किसी दबाव के जनता की मांगों को पूरा नहीं करता। इसलिए वे यह चाहते थे कि भारतीयों के द्वारा स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए। इस दिशा में प्रथम प्रयत्न संगठित होना था इसलिए उनके द्वारा संगठन का परामर्श दिया गया।"** इन बातों के आधार पर इतिहासकार **डॉ. ईश्वरीप्रसाद** लिखते हैं कि "राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीयों के हित की दृष्टि से ही की गयी थी।"[2]

वास्तविक स्थिति—कांग्रेस की स्थापना के उद्देश्य के सम्बन्ध में जो उपरोक्त दो दृष्टिकोण व्यक्त किए हैं, वे दोनों आंशिक रूप से ही सत्य हैं। कांग्रेस की स्थापना की सही व्याख्या इसी रूप में की जा सकती है कि कांग्रेस की स्थापना में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा की भावना तो विद्यमान थी, किन्तु इसके साथ ही कांग्रेस की स्थापना के मूल में भारतीयों के हित का विचार और भारतीयता की भावना भी विद्यमान थी। भारतीय राजनीति में उस समय दो प्रमुख धाराएं थीं। पहले मत के लोग हिंसा के द्वारा ब्रिटिश राज्य का अन्त कर देना चाहते थे। दूसरे मत के लोग ब्रिटिश राज्य का अन्त, कम से कम तत्काल अन्त, नहीं चाहते थे। वे भारतीय शासन में भारतीय जनता का ऐसा प्रतिनिधित्व चाहते थे जो बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाय कि भारत, ब्रिटिश ताज के अन्तर्गत स्वशासन प्राप्त कर ले। मि. ह्यूम और कांग्रेस की स्थापना में उनके सहयोगी भारतीय राजनीति की इस दूसरी धारा से सम्बद्ध थे और **कांग्रेस की स्थापना देश को वैधानिक प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए ही की गयी।**

कांग्रेस : एक राष्ट्रीय संगठन—1885 में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अखिल भारतीय स्वरूप का संगठन था। इसका उद्देश्य जाति, धर्म या वर्ण के किसी भेदभाव के बिना सभी भारतवासियों का प्रतिनिधित्व करना था। कांग्रेस का राष्ट्रीय स्वरूप इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इसके प्रथम अध्यक्ष **वोमेशचन्द्र बनर्जी** भारतीय ईसाई थे, दूसरे **दादाभाई नौरोजी** पारसी थे, तीसरे **बदरुद्दीन तैय्यबजी** मुसलमान थे और चौथे तथा पांचवें अध्यक्ष **जॉर्ज यूल** तथा **सर विलियम वेडरबर्न** अंग्रेज थे।

इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस के अधिकांश सदस्य और पदाधिकारी हिन्दू थे। इसका एक कारण यह है कि भारत की अधिकांश जनता हिन्दू है। कांग्रेस में आनुपातिक रूप में मुसलमानों की संख्या कम होने का कारण यह भी था कि सर सैयद अहमद जैसे प्रभावशाली व्यक्ति मुसलमानों को कांग्रेस के बाहर रखने का पूरा प्रयत्न कर रहे थे। लेकिन कांग्रेस ने सदैव ही मुसलमानों सहित सभी वर्गों के हितों की रक्षा का पूरा-पूरा प्रयत्न किया और इस प्रकार अपने राष्ट्रीय स्वरूप को बनाये रखा।

कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति—1885 में कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में केवल 72 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे लेकिन समय और परिस्थितियों के अनुकूल होने तथा भारतीय जनता के बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्साह के कारण राष्ट्रीय कांग्रेस की शक्ति में तेजी से और निरन्तर वृद्धि होती गयी। दूसरे, तीसरे और चौथे अधिवेशन में क्रमशः 436, 607 तथा 1248 प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने 1888 से ही कांग्रेस को निर्बल करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए थे, लेकिन कांग्रेस की शक्ति में कमी होने के बजाय वृद्धि ही होती गयी और इसने शीघ्र ही अखिल भारतीय संस्था का रूप ग्रहण कर लिया।

कांग्रेस के प्रति सरकार का दृष्टिकोण—यह तथ्य है कि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश शासन के सहयोग से की गयी थी। प्रारम्भ के तीन वर्षों में कांग्रेस के प्रति शासन का दृष्टिकोण सहयोग और सहानुभूति से पूर्ण

1 गुरुमुख निहाल सिंह, **भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास**, पृ. 108।
2 Dr. I. Prasad, *History of Modern India*, p. 311.

रहा। यह स्थिति इस कारण थी कि ब्रिटिश शासन कांग्रेस को अपने लिए एक सहायक संगठन समझता था और 1887 तक यह नहीं सोच पाया था कि कांग्रेस उसके लिए कभी कोई चुनौती बन सकती है।

परन्तु जब कांग्रेस की शक्ति में तीव्र गति से वृद्धि होने लगी, कांग्रेस उच्च वर्ग के साथ-साथ सामान्य जनता से जुड़ने लगी और कांग्रेस के द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक सुधारों की सबल रूप में मांग की जाने लगी तव कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार के रुख में परिवर्तन होने लगा। कांग्रेस की स्थापना में सहयोग देने वाले स्वयं लार्ड डफरिन ने अपने कार्यकाल की समाप्ति पर कांग्रेस की निन्दा करते हुए कहा कि, "मुझे उसका भारतीय जनता के प्रतिनिधित्व का दावा बेबुनियाद लगता है। कांग्रेस तो नगण्य अल्पमत का प्रतिनिधित्व करती है।"[1]

शासन द्वारा इस बात की असफल कोशिश की गयी कि 1888 के कांग्रेस अधिवेशन के लिए कांग्रेस को कोई उपयुक्त स्थान ही न मिले। सरकारी कर्मचारियों का कांग्रेस-अधिवेशन में दर्शक रूप में उपस्थित होना भी निषेध कर दिया गया। मुसलमानों को कांग्रेस के विरोध में संगठित होने की प्रेरणा दी गयी[2] और शिक्षित भारतीयों में मतभेद उत्पन्न करने के भी प्रयत्न किए गए। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि लार्ड कर्जन (1898-1905) की सरकार ने धनी और कुलीन व्यक्तियों पर कांग्रेस से अलग रहने के लिए बहुत दबाव डाला था। रेम्जे मेकडॉनल्ड के शब्दों में, "कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण प्रारम्भ में मित्रतापूर्ण था, लेकिन बाद में इसने कटु विरोध का रूप ले लिया।" शासन के इस रवैये ने कांग्रेस की लोकप्रियता में वृद्धि ही की।

प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के मूलभूत कारणों की विवेचना कीजिए।
2. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के प्रमुख कारणों का परीक्षण कीजिए।
3. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के मूलभूत कारणों की विवेचना कीजिए। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि कांग्रेस की स्थापना एक 'अभयदीप' (Safety-Valve) के रूप में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए की गयी थी।
4. कांग्रेस का जन्म कब और किन उद्देश्यों से हुआ?

1 A. C. Mazumdar, *Indian National Evolution*, p. 79.

2 रामगोपाल, भारतीय राजनीति, पृ. 114।

2

उदारवादी राष्ट्रवाद

[MODERATE NATIONALISM]

कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप : उदारवादी राष्ट्रवाद

कांग्रेस के इतिहास के तीन काल—1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना के पूर्व भी भारत में ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन, इण्डियन एसोसिएशन, बॉम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन और पूना की सार्वजनिक सभा आदि संस्थाओं द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में कार्य किया जा रहा था लेकिन इनमें से कोई भी संस्था अपने कार्य और स्वरूप की दृष्टि से राष्ट्रीय नहीं थी। कांग्रेस ही ऐसी प्रथम संस्था थी, जिसके सम्बन्ध में **पं. मदन मोहन मालवीय** के शव्दों में कहा जा सकता है कि **'भारत ने अपनी आवाज इस महान् संस्था में पायी।'** अतः इस समय से ही वहुत कुछ अंशों में कांग्रेस का इतिहास ही भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास बन गया।

1885 से लेकर 1947 ई. तक भारतीय स्वतन्त्रता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस द्वारा जिन विभिन्न रूपों में कार्य किया गया, उसके आधार पर कांग्रेस के इतिहास या भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन को निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) **उदार या नरम राष्ट्रीयता का काल** (1885-1905)—कांग्रेस के 20 वर्षों के इस प्रारम्भिक काल में उदार अथवा नरम राष्ट्रीयता की प्रधानता रही। इस युग में कांग्रेस किसी भी प्रकार एक क्रान्तिकारी संस्था नहीं थी। इसके नेताओं ने ब्रिटिश सम्राट के प्रति विश्वास तथा सहयोग की नीति अपनायी तथा वे याचना, स्मृति-पत्रों और प्रतिनिधि मण्डलों के आधार पर भारतीय जनता को राजनीतिक अधिकार दिलाने के प्रयत्न करते रहे। कांग्रेस के इस काल की सबसे बड़ी सफलता 1892 का भारतीय परिषद् अधिनियम है।

(2) **उग्र राष्ट्रीयता का काल** (1906-1919)—कांग्रेस ने अपने प्रथम काल में ब्रिटिश शासन की आधारभूत न्यायप्रियता में विश्वास रखते हुए प्रार्थना-पत्रों, स्मृति-पत्रों और प्रतिनिधि मण्डलों की जो नीति अपनायी थी, भारतीय जनता को उनके वांछित परिणाम प्राप्त न हुए। अतः कांग्रेस के एक बहुत बड़े वर्ग विशेषतया नव-युवकों में इस नीति के प्रति विश्वास नहीं रहा और 1906 तक कांग्रेस का नेतृत्व उग्र-राष्ट्रवादियों के हाथ में आ गया। उग्र-राष्ट्रवादियों ने कहा कि कांग्रेस को याचना की पद्धति छोड़कर अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए और ब्रिटिश शासन पर दबाव डालकर शासन व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करवाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। सन् 1907 में 'सूरत विच्छेद' हुआ, जिससे कांग्रेस दो पक्षों—नरम दल तथा गरम दल में बंट गयी और दोनों दलों के मध्य समझौता 1915 ई. में ही हो सका। इस काल के आरम्भ में मुसलमानों ने **'मुस्लिम लीग'** के रूप में अपनी अलग राजनीतिक संस्था का निर्माण किया।

(3) **राष्ट्रीय आन्दोलन का गांधी युग** (1920-1947)—कांग्रेस का तीसरा काल 1920-1947 तक का है। 28 वर्षों के इस काल में महात्मा गांधी न केवल कांग्रेस, वरन् राष्ट्रीय गतिविधियों के केन्द्र बने रहे। अतः इसे **'राष्ट्रीय आन्दोलन का गांधी युग'** कहा जाता है। इस काल में कांग्रेस ने पहले तो ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग और फिर अहिंसात्मक संघर्ष की नीति अपनायी, जिसके तीन निरन्तर प्रगतिशील चरण—**असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत छोड़ो आन्दोलन थे।** इस काल के प्रारम्भ में ही नरम दल के लोग कांग्रेस से पृथक् हो गये तथा उन्होंने अपनी अलग संस्था **"अखिल भारतीय उदार संघ"** (All India Liberal Federation) की स्थापना कर ली। इस काल में हिन्दू-मुस्लिम मतभेद अपने चरम स्तर पर पहुंच गये। मि. जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने 1940 में पाकिस्तान की मांग की और 1947 में भारतीय स्वतन्त्रता के साथ-साथ भारत का विभाजन भी हो गया।

उदारवादी राष्ट्रीयता या कांग्रेस का उदारवादी पक्ष (1885-1905)

उदार राष्ट्रीयता के इस काल में कांग्रेस के ध्येय, दृष्टिकोण और कार्य-पद्धति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन वर्षों में कांग्रेस के कार्यक्रम और क्रियाकलापों का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है।

उदारवादी क्रमशः सुधार की नीति में विश्वास करते थे। इसलिए उनके द्वारा व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए वहुत ऊंची मांगें नहीं की गयीं। उदारवादी राष्ट्रीयता के 20 वर्षों में कांग्रेस द्वारा की गयी प्रमुख मांगें थीं—भारतीय शासन की जांच, भारत-मन्त्री तथा भारत-परिषद् का अन्त, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार तथा सुधार, भारतीयों की उच्च नागरिक तथा सैनिक पदों पर नियुक्ति और इंगलैण्ड से आने वाले कपड़े पर आयात कर लगाना आदि। कांग्रेस के द्वारा मांगों के लिए इंगलैण्ड में भी प्रचार कार्य किया गया।

उदार राष्ट्रवादियों (कांग्रेस के उदारवादी पक्ष) की विचारधारा और कार्य-पद्धति

1885-1905 के काल में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर उदारवादियों का प्रभाव और नियन्त्रण बना रहा। इन उदारवादियों की विचारधारा का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) **ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति**—इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस का संचालन करने वाले उदार राष्ट्रवादी उच्चकोटि के देशभक्त थे, लेकिन वे अपनी देशभक्ति के बावजूद ब्रिटिश शासन के बड़े प्रशंसक थे। ब्रिटिश राज्य के उपकारों के प्रति उनके हृद य में कृतज्ञता का भाव था और वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजभक्ति भी रखते थे। दूसरे अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी अपने सहयोगियों की सामान्य भावना को ही व्यक्त कर रहे थे, जवकि उन्होंने यह घोषणा की थी कि, **"आओ हम पुरुषों की तरह बोलें और घोषणा कर दें कि हम आचूड़ राजभक्त हैं।"** इन नेताओं के सम्बन्ध में, **एनीबेसेण्ट** ने कहा था कि, **"इस काल के नेता अपने को ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा मानने में गौरव का अनुभव करते थे।"**

(2) **अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास**—उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास था और वास्तव में इस विश्वास ने ही उनमें राजभक्ति की भावना को जन्म दिया था। **डॉ. पट्टाभि** के अनुसार, उदारवादी नेता इस बात पर विश्वास करते थे कि अंग्रेज स्वभाव से न्यायप्रिय होते हैं तथा यदि उन्हें भारतीय दृष्टिकोण का सही ज्ञान करा दिया गया, तो वे इसे स्वीकार कर लेंगे। 12वें अधिवेशन के सभापति पद से रहमतुल्ला सयानी ने घोषित किया था कि **"अंग्रेजों से बढ़कर सच्चरित्र तथा सच्ची जाति इस सूर्य के प्रकाश के नीचे नहीं बसती।"**[1] अन्य उदारवादी नेताओं की भी यही भावना थी।

(3) **ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध भारत के हित में समझना**—अधिकांश प्रारम्भिक राष्ट्रीय नेता पश्चिमी शिक्षा के परिणाम थे और उनका विचार था कि ब्रिटिश शासन ने अंग्रेजी साहित्य, शिक्षा पद्धति, यातायात और संचार की व्यवस्था और स्थानीय स्वायत्त शासन के रूप में हमें एक प्रगतिशील सभ्यता प्रदान की है और ब्रिटिश शासन ही आन्तरिक अशान्ति और बाहरी आक्रमण से भारत की रक्षा करने में समर्थ है। फिरोजशाह मेहता ने कांग्रेस के छठे अधिवेशन के सभापति पद से कहा था, **"इंगलैण्ड और भारत का सम्बन्ध इन दोनों देशों और समस्त विश्व की आने वाली पीढ़ियों के लिए वरदान होगा।"**

(4) **क्रमिक सुधार में विश्वास**—उदारवादी राजनीतिक क्षेत्र में क्रमबद्ध विकास की धारणा में विश्वास करते थे और इन तथ्य से परिचित थे कि एकदम ही प्रतिनिध्यात्मक शासन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तात्कालिक रूप में वे प्रशासन में आवश्यक सुधारों, विधायी परिषदों, सेवाओं, स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं और रक्षा सेवाओं में सुधार से ही सन्तुष्ट थे, और वे क्रान्तिकारी परिवर्तन के विरुद्ध थे।

(5) **उदारवाद का लक्ष्य—राजनीतिक स्वशासन की प्राप्ति**—उदारवादी नेता यद्यपि सुधार में विश्वास करते थे लेकिन इन वैधानिक सुधारों का अन्तिम लक्ष्य भारतीयों के लिए स्वशासन की प्राप्ति था। वे ब्रिटिश शासन

1 **"A more honest or Sturdy Nation does not exist under the sun than this English Nation."**
—**Quoted from Annie Beasant, *How India Wrought for Freedom*, p. 232.**

के अन्तर्गत स्वशासन की स्थापना चाहते थे। **श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी** ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में ही स्वशासन की बात कही थी और 1906 के कांग्रेस अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस द्वारा स्वशासन के इस लक्ष्य को स्पष्ट रूप से अपनाया गया।

(6) उदारवादियों की कार्य-पद्धति—संवैधानिक साधनों में विश्वास—उदारवादी हिंसा और संघर्ष के विरोधी थे तथा वे संवैधानिक साधनों में विश्वास करते थे। उनके द्वारा वैधानिक सुधार के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए **प्रार्थना-पत्रों, स्मृति-पत्रों और प्रतिनिधि मण्डलों** (Prayer, Petition and Deputation) का मार्ग अपनाया गया था, जिसे उनके आलोचकों ने **'राजनीतिक भिक्षावृत्ति'** (Political Mendicancy) का नाम दिया था। इन उदारवादियों को क्रान्ति या आन्दोलन की अपेक्षा निवेदन की पद्धति में अधिक विश्वास था।

उदारवादियों का मूल्यांकन

दुर्बलताएं—1885 से लेकर 1905 तक जिन उदार राष्ट्रवादियों के हाथ में कांग्रेस का नेतृत्व रहा, उनकी अनेक आधारों पर आलोचना की जा सकती है। वस्तुतः न तो उनकी राजनीतिक मनोवृत्ति सही थी और न उनके द्वारा अपनाये गये साधन प्रभावदायक थे। उदार राष्ट्रवादिता को देशभक्ति और ब्रिटिश राजभक्ति का एक अपूर्व समन्वय कहा जाता था। लेकिन वास्तविक स्थिति यह है कि साम्राज्यवादी ब्रिटेन के द्वारा जब भारत पर शासन किया जा रहा हो, तो व्यक्ति राजभक्ति या देशभक्ति में से किसी एक ही मार्ग को अपना सकता था। उनकी देशभक्ति का राजभक्ति से मेल हो जाने के कारण देशभक्ति आंशिक होकर रह गयी थी। उनका यह सोचना गलत था कि ब्रिटिश राज स्वयं भारत के हित में है। अपने स्वयं के स्वार्थों के कारण किन्हीं सीमित क्षेत्रों में ब्रिटेन के द्वारा भारत को भले ही भौतिक प्रगति प्रदान की गई हो, सामूहिक रूप से तो ब्रिटिश राज भारत के चतुर्मुखी विनाश का ही कारण था। अंग्रेजों की न्यायप्रियता में भी उनका विश्वास निर्मूल था। जैसा कि बाद की घटनाओं ने सिद्ध किया, साम्राज्यवादी अंग्रेज सत्य और न्याय के स्थान पर शक्ति और दवाव की भाषा ही समझते थे।

इसके अतिरिक्त उदार राष्ट्रवादियों द्वारा अपनायी गयी वैधानिक पद्धति प्रभावदायक नहीं थी। सन् 1918 तक उनकी अनेक प्रार्थनाओं और याचनाओं के बावजूद भी अंग्रेजी शासन ने उनकी नितान्त उचित एवं वैध मांगों के प्रति कोई रुचि नहीं दिखायी थी। उन्हानें जिन साधनों का प्रयोग किया, वे अत्यन्त साधारण कोटि के थे तथा ब्रिटिश शासन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। बाद के उग्रवादियों के द्वारा उदारवादियों के साधनों को **'राजनीतिक भिक्षावृत्ति'** का अपमानजनक नाम दिया गया था।

इन सबके अतिरिक्त उदार राष्ट्रवादिता की धारा का नेतृत्व करने वाले व्यक्ति जन-नेता नहीं थे। इनका साधारण जनता से कोई सम्पर्क नहीं था, जैसा कि, **गुरुमुख निहालसिंह** लिखते हैं, **"सम्भवतः गोखले को छोड़कर कांग्रेस के नरम नेताओं में स्वतन्त्रता के लिए व्यक्तिगत बलिदान करने और आपत्तियां सहने को कोई तैयार नहीं था।"**[1] स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक त्याग भावना का उनमें अभाव था।

उदारवादियों की सफलताएं और भारतीय राजनीति में उनका स्थान

वर्तमान समय में उदार राष्ट्रवादियों के कार्यों की चाहे कैसी ही आलोचना क्यों न की जाए, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उन परिस्थितियों में उनके द्वारा अपनाया गया मार्ग नितान्त औचित्यपूर्ण और व्यावहारिक था। भारतीय जनता में अपनी जड़ें गहरी जमा लेने के पहले ही यदि उनके द्वारा ब्रिटिश राज के अन्त या भारतीय स्वतन्त्रता की बात कहना प्रारम्भ कर दी जाती तो यह बचकाना बात तो होती ही, सम्भवतया इससे इस संस्था के अस्तित्व पर ही कुठाराघात हो जाता। उनके द्वारा अपनाया गया मार्ग नितान्त स्वाभाविक और विवेकपूर्ण था और उदारवादी समय की गति के अनुसार आगे बढ़ने में पीछे नहीं रहे।

उदारवादियों के कार्यों के महत्व का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) ब्रिटिश शासन के दोष स्पष्ट करना—कांग्रेस के द्वारा अपनी स्थापना के समय से ही ब्रिटिश शासन की बुराइयां बताने और उसे जनहितकारी रूप प्रदान करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए गए। नौकरशाही की बुराइयां बताने के क्रम में उन्होंने विदेशी शासन के दोष स्पष्ट कर दिए और उग्र राष्ट्रवादी तत्वों को विदेशी

1 जी. एन. सिंह, **भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास**, पृ. 121 ।

शासन के विरुद्ध लड़ने के लिए शक्तिशाली शस्त्र प्रदान किया। इस प्रकार शुरू के दिनों में भी कांग्रेस, **"सरकार का एक प्रतिपक्ष बन गयी, ऐसा प्रतिपक्ष जिसने सरकार की हैसियत और अधिकार को चुनौती दी।"**[1]

(2) भारतीय राष्ट्रीयता के कारण—उदारवादियों के कार्य तात्कालिक रूप में अधिक महत्वपूर्ण न होते हुए भी ऐसे थे, जिनके सुदूरव्यापी और अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम हुए। भारत में राष्ट्रीयता के जनक ये उदार राष्ट्रवादी ही थे। उन्होंने देशवासियों को शिक्षा दी कि वे साम्प्रदायिक और प्रान्तीय धरातलों से उठकर सामान्य राष्ट्रीयता की भावना को अपने हृदय में विकसित करें। **श्री गुरुमुख निहाल सिंह** के शब्दों में, **"प्रारम्भिक कांग्रेस ने राजभक्ति की प्रतिज्ञाओं, नरम नीति, आवेदन ही नहीं अपितु भिक्षावृत्ति के बावजूद भी उन दिनों राष्ट्रीय जागरण, राजनीतिक शिक्षा, भारतीयों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने तथा उनमें सामान्य राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण करने में कठिन परिश्रम किया था।"**[2]

(3) भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा—राष्ट्रीय आन्दोलन को उनकी एक अन्य देन यह है कि उन्होंने भारतीय जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान की और उसमें प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्रता के आदर्शों को प्रसारित किया। उन्होंने सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार-विमर्श के लिए एक संगठन प्रदान किया और इस प्रकार शासन से सम्बद्ध प्रमुख प्रश्नों पर प्रबल जनमत का निर्माण किया। उन्होंने भारतीय जनता को व्यक्तिगत स्वाधीनता, प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना, आर्थिक और सामाजिक सुधार और अन्त में स्वशासन की मांग करने के लिए प्रेरित किया। जनमत को प्रभावित करने और भारतीयों को राष्ट्रीय जीवन की ओर आकर्षित करने की दिशा में उनके कार्य के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके द्वारा भारतीय प्रश्नों के सम्बन्ध में इंगलैण्ड के जनमत को प्रभावित करने में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की गयी।

(4) भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का आधार तैयार करना—यद्यपि उदारवादियों के द्वारा स्वयं गम्भीरतापूर्वक स्वतन्त्रता की मांग या इस हेतु कोई आन्दोलन नहीं किया गया, लेकिन एक पृष्ठभूमि तैयार की, जिसके आधार पर ही भविष्य में स्वतन्त्रता हेतु विभिन्न आन्दोलन किए जा सके। **श्री के. एम. मुन्शी** लिखते हैं कि **"यदि पिछले 30 वर्षों में कांग्रेस के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था देश के राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत न होती तो ऐसी अवस्था में गांधीजी का कोई महान् आन्दोलन सफल न होता।"**[3] प्रारम्भिक कांग्रेसियों की भीरुता और भिक्षावृत्ति को उपहास की दृष्टि से देखना अत्यन्त सुगम है, परन्तु जैसा कि **डॉ. पट्टाभि** लिखते हैं कि, **"जिस समय भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया, उस समय वे अकेले थे। उन्होंने जो नीतियां अपनायीं, उनके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। किसी भी आधुनिक इमारत की नींव में 6 फुट नीचे जो ईंट, चूना और पत्थर गढ़े हैं, क्या उन पर कोई दोष लगाया जा सकता है ? क्योंकि वही तो आधार है जिसके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। सर्वप्रथम औपनिवेशिक स्वशासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होम रूल, उसके बाद स्वराज्य तथा सबके शीर्ष पर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिलें एक के बाद एक ही बन सकी हैं।"**

(5) भारतीय परिषद् अधिनियम, 1892—उदारवादी राष्ट्रीयता की तात्कालिक सफलता 1892 का भारतीय परिषद् अधिनियम था। यद्यपि यह भारतीयों को सन्तुष्ट न कर सका, लेकिन फिर भी देश के वैधानिक विकास की दिशा में यह एक निश्चित प्रगतिशील चरण था।

इस प्रकार उदार राष्ट्रवादी आन्दोलन अपनी समस्त कमियों के बावजूद भारत में राष्ट्रीय जागृति की दिशा में महत्वपूर्ण कदम रहा।

उदार राष्ट्रीयतावादी युग के नेता

उदार राष्ट्रीयतावादी युग के नेताओं में प्रमुख थे—ए. ओ. ह्यूम, दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता और गोपालकृष्ण गोखले, आदि। इनमें भी गोपालकृष्ण गोखले निश्चित रूप में सबसे प्रमुख थे।

प्रश्न

1. 1885-1905 युग में भारतीय उदारवादियों के प्रमुख प्रयोजनों एवं साधनों का परीक्षण करें।
2. भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में उदारवादी धारा के योगदान की आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

1 McDonald, *Government of India.*

2 भारत का वैधानिक और राष्ट्रीय विकास, पृ. 121 ।

3 "If there had not been an all India organization functioning for more than 30 years, none of the great movements led by Gandhiji would have had any chance of success." —K. M. Munshi, *Advent of Independence*, p. 8.

3

उग्रवादी राष्ट्रवाद

[EXTREMIST NATIONALISM]

उग्र राष्ट्रवादी आन्दोलन का विकास (1906-1919)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जिन उदार राष्ट्रवादियों के प्रभाव में थी, उनका लक्ष्य भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में क्रमिक सुधार करना था और वे इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु संवैधानिक साधनों के प्रयोग में विश्वास रखते थे। लेकिन 1885 ई. से 1905 ई. के बीच के काल में भारत और विदेशों में कुछ ऐसी घटनाएं घटित हुईं और कुछ ऐसी शक्तियां क्रियाशील हुईं जिन्होंने भारतीय राष्ट्र के अपेक्षाकृत युवा वर्ग को पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग करने के लिए प्रेरित किया और संवैधानिक साधनों, विशेषतया नरम संवैधानिक साधनों के प्रति अविश्वास की भावना को जन्म दिया। **पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग और उसकी प्राप्ति हेतु जन-आन्दोलन के मार्ग को अपनाने वाली इस धारा को ही 'उग्र राष्ट्रीयता' के नाम से जाना जाता है।**

उग्र राष्ट्रीयता (उग्रवादी राष्ट्रवाद) के उदय के कारण

उग्र राष्ट्रीयता का उदय न तो आकस्मिक था और न ही अन्य परिस्थितियों से अलग एक पृथक् परिवर्तन, वरन् यह तो विभिन्न घटनाओं, परिस्थितियां और शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम था। उग्र राष्ट्रीयता के उदय के कारणों की व्याख्या निम्नलिखित रूपों में की जा सकती है :

(1) **सन् 1892 के सुधार कानून की अपर्याप्तता**—संवैधानिक सुधार की दिशा में राष्ट्रीय कांग्रेस के 7 वर्षों के प्रयत्नों का परिणाम 1892 का भारतीय परिषद् अधिनियम था लेकिन यह अधिनियम स्वयं में निहित कमियों और त्रुटियों के कारण राष्ट्रीय कांग्रेस या सामान्य भारतीयों को सन्तुष्ट नहीं कर सका। अधिनियम में निर्वाचन की व्यवस्था को बहुत घुमा-फिराकर रखा गया था, गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या कम थी और परिषदों के कार्य तथा अधिकार बहुत सीमित थे। अधिनियम की उपर्युक्त त्रुटियों के कारण संवैधानिक पद्धति के आधार पर कुछ प्राप्त करने की आशा समाप्त हो गयी और अब कांग्रेस के अन्दर तथा बाहर एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो क्रमिक परिवर्तन के स्थान पर आधारभूत परिवर्तन और प्रार्थना के मार्ग के स्थान पर आन्दोलन के मार्ग को अपनाने पर जोर देने लगा।

(2) **धार्मिक पुनरुत्थानवाद और सांस्कृतिक नवजागरण**—कांग्रेस के प्रारम्भिक नेता पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित थे और अपनी मानसिक पृष्ठभूमि के कारण ब्रिटिश शासन को भारत के हित में मानते थे लेकिन कालान्तर में धार्मिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप कांग्रेस में ही एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ, जो भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के गौरव से परिचित था और जिसका विश्वास विदेशी शासन की समाप्ति में था।

स्वामी विवेकानन्द ने 1893 के शिकागो सर्व-धर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म की विजय दुन्दुभी बजायी थी और अरविन्द घोष तथा तिलक आदि उग्र राष्ट्रवादी नेता धार्मिक पुनरुत्थान के ही परिणाम थे। अरविन्द घोष ने कहा था : **"स्वाधीनता हमारा लक्ष्य है और हिन्दुत्व ही हमारी यह आकांक्षा पूरी कर सकता है।"** धार्मिक पुनरुत्थान से प्रभावित होने के कारण ही तिलक ने भारत की स्वाधीनता के लिए हिन्दू उत्सवों और हिन्दू संगठन पर बल दिया था। ये उग्र राष्ट्रवादी नेता भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति अपना परम-पवित्र धार्मिक कर्तव्य समझते थे।

(3) **प्राकृतिक प्रकोप**—19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत को अभूतपूर्व प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करना पड़ा। 1876 से 1900 तक के 25 वर्षों में देश में 18 अकाल पड़े, जिनमें सबसे अधिक भीषण 1896-97 का अकाल था जिसका प्रभाव 7 करोड़ आबादी और 70 हजार वर्गमील क्षेत्र पर पड़ा। इस भयानकतम अकाल में शासन द्वारा किए जाने वाले सहायता कार्य वहुत अधिक अपर्याप्त और धीमे थे। शासन का रुख कितना उपेक्षापूर्ण था, इसका प्रमाण यह है कि जनता तो भूखों मर रही थी किन्तु शासन ने रानी विक्टोरिया का जयन्ती उत्सव मनाने के लिए 1897 में ही दिल्ली में शानदार दरवार कर पानी की तरह धन लुटाया था।

अकाल की यातना से अभी मुक्ति मिली भी नहीं थी कि बम्बई प्रान्त के दक्षिणी भाग में भयंकर प्लेग फैल गया। अकाल का सामना करने में सरकार ने जितनी निष्क्रियता दिखायी थी, प्लेग का सामना करने में उतनी ही अधिक अविवेकपूर्ण और निर्दयी सक्रियता अपनायी गयी। प्लेग कमिश्नर रैण्ड और सेना के द्वारा बीमारी वाले मकानों को जवरदस्ती गिराने और बीमारों के बिस्तर और कपड़े जलाने, रसोईघर, पूजाघर और स्त्रियों के कमरे में घुस-घुसकर लोगों को घसीटने का मनमाना व्यवहार किया गया। **रामगोपाल** के अनुसार, **"सारा काम इस ढंग का था जैसे दुश्मन द्वारा जीते गये किन्हीं शहरों को फूंका जा रहा हो।"**[1] इस तरह के व्यवहार को जनता सहन नहीं कर सकती थी और इसके परिणामस्वरूप जनता में रोष इतना फैल गया कि रैण्ड और उसके एक साथी अर्यस्ट को एक नवयुवक द्वारा गोली से उड़ा दिया गया।

(4) **आर्थिक असन्तोष**—लॉर्ड बेकन का यह कथन भारत के उग्र राष्ट्रवाद पर पूरे तौर से लागू होता है कि **"अधिक दरिद्रता और आर्थिक असन्तोष क्रान्ति को जन्म देता है।"** सरकार द्वारा निरन्तर भारत विरोधी नीति अपनायी जा रही थी। शासन के द्वारा 1894 में विदेशी माल पर आयात-कर समाप्त कर दिया गया, इससे देशी सामान महंगा हो गया और विदेशी सामान सस्ते दामों पर बिकने लगा। सरकार की इस नीति के कारण ही **'स्वदेशी आन्दोलन'** चला। इसके अलावा शिक्षण संस्थाओं में वृद्धि के साथ-साथ शिक्षित भारतीयों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही थी, लेकिन शासन द्वारा शिक्षित भारतीयों को उनकी योग्यता के अनुसार पद प्रदान नहीं किए जा रहे थे। इससे भी उनमें निराशा और तीव्र असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई। **श्री ए. आर. देसाई** के अनुसार, **"भारत में उग्रवाद के उदय का प्रमुख कारण शिक्षित भारतीयों में वेकारी से उत्पन्न राजनीतिक असन्तोष था।"**[2]

(5) **भारतीय कटुता और अंग्रेजों का अहंकारयुक्त व्यवहार**—उग्र राष्ट्रवादिता के उदय का एक अन्य कारण था—**अंग्रेजों का भारतीयों के प्रति अहंकारयुक्त व्यवहार और आंग्ल-भारतीय पत्रों का भारत विरोधी दृष्टिकोण तथा प्रचार।** दिन-प्रतिदिन के जीवन में भारतीयों के साथ अपमानजनक व्यवहार ही किया जाता था, अनेक बार ब्रिटिश सैनिकों और अन्य व्यक्तियों ने भारतीयों के साथ घातक मारपीट की और कई बार आहत व्यक्ति मर भी गये, लेकिन अंग्रेज अधिकारी दण्ड से बच गये या उन्हें बिल्कुल साधारण-सा दण्ड दिया गया। **लॉर्ड रोनाल्ड** अपनी पुस्तक में इस प्रकार की दो घटनाओं के उदाहरण देते हैं।[3] इन अपराधों और हत्याओं से भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण वात यह थी कि आंग्ल-भारतीय समाचार-पत्रों द्वारा इस प्रकार के व्यवहारों को प्रोत्साहित किया जाता था। लाहौर से प्रकाशित आंग्ल-भारतीय दैनिक **'दी सिविल एण्ड मिलिट्री गजट'** तो भारतीयों को जी खोलकर गालियां देता था और पढ़े-लिखे भारतीयों को **'बलबलाते बी. ए., वर्णसंकर बी. ए., गुलाम, दास-जाति और कलंकी जाति'** जैसे अपमानजनक शब्दों से सम्बोधित करता था। इस अपमानजनक व्यवहार की भारतीयों में प्रतिक्रिया होना नितान्त स्वाभाविक था।

(6) **विदेशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार**—ब्रिटिश उपनिवेशों विशेषकर नेपाल और दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार असन्तोष का एक अन्य कारण था। इस दुर्व्यवहार के कारण 1903 में दक्षिणी अफ्रीका से लौटकर डॉ. बी. एस. मुंजे ने दुःखपूर्वक कहा था कि **"हमारे शासक इस बात**

1 Ram Gopal, *Lokmanya Tilak*, p. 137.
2 A. R. Desai, *op. cit.*, p. 183.
3 Ronaldshy, *Life of Lord Curzon*, Vol. II, p. 145.

पर विश्वास नहीं करते कि हम भी मनुष्य हैं।"[1] भारतीयों के द्वारा यह अनुभव किया गया कि उन भारतीयों के साथ भारत राष्ट्र की पराधीनता के कारण ही दुर्व्यवहार किया जा रहा है और इसकी समाप्ति का एकमात्र उपाय भारत के लिए स्वतन्त्रता की प्राप्ति है।

(7) **पश्चिम के क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव**—जब भारतीयों ने अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के माध्यम से मैजिनी, वर्क, गैरीबाल्डी और वाशिंगटन के स्वतन्त्रता के लिए प्रेरित करने वाले भाषण पढ़ें; अमरीका का स्वतन्त्रता युद्ध, आयरलैण्ड का संघर्ष, इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति का इतिहास पढ़ा तो वे स्वतन्त्रता की ओर वढ़े और उनके द्वारा उग्र राष्ट्रीयता का मार्ग अपना लिया गया।

(8) **भारत के बाहर होने वाले विशेष परिवर्तन**—19वीं सदी तक पूर्व में यह धारणा प्रचलित थी कि पश्चिम के किसी संघर्ष में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। लेकिन 1896 में अफ्रीका के एक छोटे-से देश एबीसीनिया द्वारा यूरोप के विशाल देश इटली और 1904-05 में जापान के द्वारा रूस को पराजित कर दिया गया। ये असम्भव समझी जाने वाली घटनाएं थीं और इन्होंने भारतीयों में यह विचार उत्पन्न किया कि ब्रिटेन के विरुद्ध स्वाधीनता के संघर्ष में सफलता प्राप्त की जा सकती है। **पर्सिया, चीन, टर्की और आयरलैण्ड** में इसी काल में चल रहे स्वतन्त्रता आन्दोलन ने भारतीयों को और अधिक प्रोत्साहित किया।

(9) **बाल, लाल और पाल का नेतृत्व**—उग्र राष्ट्रीयता के उदय में बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल का नेतृत्व एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण था। ये नेता अटूट देशभक्त और ब्रिटिश शासन के कट्टर शत्रु थे। **तिलक कहा करते थे, "स्वतन्त्रता मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा। हमारा उद्देश्य आत्म-विश्वास है, भिक्षावृत्ति नहीं।" लाला लाजपतराय ने अपनी सशक्त वाणी में कहा, "अंग्रेज भिखारी से सबसे अधिक घृणा करते हैं और मैं सोचता हूं कि भिखारी घृणा का पात्र है भी। अतः हमारा यह कर्तव्य है कि हम सिद्ध कर दें कि हम भिखारी नहीं हैं।"** इन नेताओं ने भिक्षावृत्ति का मार्ग त्यागकर आन्दोलन का मार्ग अपनाने पर जोर दिया और महाराष्ट्र, पंजाब, वंगाल तथा अन्य क्षेत्रों में जागृति की अपूर्व लहर उत्पन्न कर दी।

(10) **लार्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी शासन**—भारत में उग्रवाद के उदय के लिए यदि कोई एक कारण सबसे अधिक प्रमुख रूप से उत्तरदायी कहा जा सकता है तो वह है लार्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी शासन। इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में "1898 से 1905 तक भारत के गवर्नर जनरल के रूप में नौकरशाही के साक्षात् प्रतिरूप लॉर्ड कर्जन ने ब्रिटिश साम्राज्य के लिए वही कार्य किया, जो मुगल साम्राज्य के लिए औरंगजेब ने किया था।"[2]

लार्ड कर्जन ने 1891 में "**कलकत्ता कॉरपोरेशन अधिनियम**' पास कर कॉरपोरेशन में भारतीयों की संख्या घटाकर आधी कर दी। इसी प्रकार 1904 में 'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम' (Indian Universities Act) पास कर विश्वविद्यालय की सीनेट और सिण्डीकेट में भारतीयों का प्रतिनिधित्व कम कर दिया गया। लॉर्ड कर्जन विजयों और शानशौकत में विश्वास करते थे, इसलिए उन्होंने निर्धन जनता पर ज्यादा से ज्यादा कर लगाये और इस धनराशि को सेना पर व्यय किया गया तथा सप्तम एडवर्ड को भारत का सम्राट घोषित करने के लिए जनवरी 1903 में दिल्ली में विराट दरबार किया गया। 1904 के '**प्रशासकीय गुप्तता अधिनियम**' (Official Secrets Act) के द्वारा उन्होंने समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता को और सीमित कर दिया। इसके अलावा लार्ड कर्जन का भारत और भारतीयों के प्रति व्यवहार बहुत अधिक अपमानजनक था। एक अवसर पर भारतीयों की योग्यता में अविश्वास व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि '**भारतीय लोग शासन का उत्तरदायित्व सम्भालने के सर्वथा अयोग्य हैं।**' 1905 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति पद से दिए गए दीक्षान्त भाषण में उन्होंने कहा कि "**भारतवासियों में सत्य के प्रति आस्था नहीं है और वास्तव में भारतवर्ष में सत्य को कभी आदर्श माना ही नहीं गया है।**" उन्होंने कहा कि '**भारत राष्ट्र नाम की कोई वस्तु नहीं है।**' लॉर्ड कर्जन द्वारा व्यक्त किए गए इन अपमानजनक शब्दों का विरोध करने के लिए ऐनी बेसेण्ट के शब्दों में, '**सारा भारत राष्ट्र एक व्यक्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ।**'

---

1 **'Our rulers do not believe that we are men.'**

—Dr. B. S. Moonje, Quoted from Dr. Pattabhi's *History of I. N. C.*, Vol. I, p. 47.

2 **इन्द्र विद्यावाचस्पति, भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ. 10 ।**

बंगाल विभाजन, 1905 (Partition of Bengal)—लार्ड कर्जन का सबसे बड़ा मूर्खतापूर्ण कार्य 16 अक्टूबर 1905 को किया गया बंगाल का विभाजन था। यद्यपि इस विभाजन के पक्ष में सरकार का तर्क था कि बंगाल जैसे बड़े प्रान्त पर एक ही केन्द्र से शासन नहीं किया जा सकता और सुशासन के हित में उसका विभाजन आवश्यक है लेकिन वास्तव में, जैसा कि **जकारिया** लिखते हैं, **"उद्देश्य और प्रभाव की दृष्टि से बंगाल के विभाजन का कार्य नितान्त धूर्त्ततापूर्ण था।"**[1] वास्तव में बंगाल का यह विभाजन **'फूट डालो और राज करो'** की नीति के अनुरूप किया गया था। बंगाल के विभाजन का विरोध करने के लिए बंगाल में तीव्र आन्दोलन शुरू हो गया जो शीघ्र ही लगभग सम्पूर्ण भारत में फैल गया। यद्यपि बंगाल के विभाजन में कर्जन का उद्देश्य बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को कुचल देना था, लेकिन व्यवहार में इस कार्य के परिणामस्वरूप न केवल बंगाल वरन् सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीयता की अभूतपूर्व भावना को जन्म मिला।

उपर्युक्त सभी कारणों के परिणामस्वरूप भारत में उग्र राष्ट्रवाद और कांग्रेस में उग्र राष्ट्रवादी पक्ष का उदय नितान्त स्वाभाविक ही था।

कांग्रेस में फूट का आरम्भ—उदारवादी और उग्रवादी

1905 का बनारस अधिवेशन—भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय से कांग्रेस संगठन का प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था। 1905 के बनारस अधिवेशन में बाल गंगाधर तिलक ने व उग्र राष्ट्रवादियों के एक वर्ग ने उदारवादियों की 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' (Political Mendicancy) की नीति की तीव्र निन्दा की और इस बात का प्रतिपादन किया कि संगठित निष्क्रिय प्रतिरोध के मार्ग को अपनाकर ही भारत के राष्ट्रीय जीवन पर विदेशी नौकरशाही के प्रभुत्व का अन्त किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश माल और सरकारी शिक्षण संस्थाओं का भी संगठित और निरन्तर बहिष्कार किया जाना चाहिए, लेकिन उदारवादी निष्क्रिय प्रतिरोध को कम-अधिक रूप में अव्यावहारिक मानते थे और उनका विचार था कि इससे राष्ट्रीय प्रगति अवरुद्ध ही होगी। उदारवादियों को अब भी ब्रिटिश राष्ट्र की न्याय-भावना और संवैधानिक साधनों की प्रभावदायकता में विश्वास था। कांग्रेस के दोनों वर्गों में स्वराज्य की व्याख्या में भी भेद था।

उदारवादियों तथा उग्रवादियों के उपर्युक्त मतभेद के कारण 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस विधिवत् रूप से दो वर्गों में बंट गयी—उदारवादी कांग्रेस तथा उग्रवादी कांग्रेस।

उग्र राष्ट्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा और साधन (कांग्रेस के उग्र राष्ट्रवादी पक्ष की राजनीति)

उग्र राष्ट्रवाद उदारवाद के विरुद्ध भी उतना ही बड़ा विद्रोह था, जितना कि स्वयं साम्राज्यवाद के विरुद्ध। उग्र राष्ट्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा उदारवादियों से नितान्त भिन्न और बहुत कुछ अंशों में विपरीत थी। उदारवादी समझते थे कि ब्रिटेन और भारत के अन्तिम हित समान हैं और ब्रिटिश साम्राज्य स्वयं भारत के हित में है लेकिन उग्रवादियों के अनुसार ब्रिटेन और भारत के हित नितान्त विरोधी हैं, ब्रिटिश साम्राज्य के साथ चाहे कितना ही सहयोग क्यों न किया जाय, उसके द्वारा भारत अपने राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। विपिन चन्द्र पाल का मत था कि ब्रिटेन के आर्थिक हितों की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक था कि भारत पर उसका राजनीतिक नियन्त्रण बना रहे, अतः युद्ध के बिना भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होना नितान्त असम्भव है। उग्र राष्ट्रवादियों को उदारवादियों की तरह ब्रिटिश राष्ट्र की न्यायप्रियता में कतई विश्वास नहीं था। दादाभाई नौरोजी और दूसरे उदारवादियों का विचार था कि ब्रिटिश राष्ट्र जैसे ही यह महसूस करेगा कि हमारी बात उचित है—उसके द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाएगा लेकिन इसके विपरीत लाला लाजपतराय और अन्य उग्रवादियों का विचार था कि, **"व्यापारियों का यह राष्ट्र (ब्रिटेन) केवल दबाव की भाषा ही समझता है।"**

इसके अतिरिक्त, उदारवादियों और उग्रवादियों में राजनीतिक लक्ष्य का अन्तर भी था। उदारवादियों का विचार था कि ब्रिटिश शासन में सुधार किया जा सकता है एवं क्रमिक सुधार ही उपयुक्त और भारत के हित में है। इसी कारण उनके द्वारा विधायी परिषदों के सुधार और उनकी शक्ति में वृद्धि, भारतीयों के लिए उच्च सरकारी पद और स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की स्थापना आदि मांगें की जाती थीं लेकिन उग्रवादियों

1 "The whole purpose and effect of the measures was Machivaellian." —*Dr. Zacharia*

का विचार था कि ब्रिटिश शासन में सुधार किया ही नहीं जा सकता, उसका तो अन्त किया जाना चाहिए। **सर हैनरी कॉटन के अनुसार, "उग्रवादी भारत में सब प्रकार से मुक्त और स्वतन्त्र राष्ट्रीय शासन प्रणाली की स्थापना करना चाहते थे।"**[1] उनका उदारवादियों के औपनिवेशिक स्वराज्य में विश्वास नहीं था, वे पूर्ण स्वराज्य के पक्ष में थे।

उग्रवादियों के साधन—राजनीतिक विचारधारा और लक्ष्य की दृष्टि से तो उग्रवादी उदारवादियों से भिन्न थे ही, इन दोनों में इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अन्तर साधन सम्बन्धी था। **नेविन्सन ने तिलक** को यह कहते हुए उद्धृत किया है कि **"अपने उद्देश्य के कारण नहीं; वरन् उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हमें उग्रवादियों की उपाधि मिली है।"**[2] उदारवादी ब्रिटिश जनता की लोकतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों में विश्वास करते थे और उनका विचार था कि विशुद्ध संवैधानिक साधनों के आधार पर भारत को स्वतन्त्र किया जा सकता है। लेकिन उग्रवादी इन बातों को आत्म-प्रवंचना मात्र समझते थे। उग्रवादियों का तर्क था कि इंगलैण्ड जैसे स्वतन्त्र और लोकतन्त्रात्मक देश में तो वैधानिकता के आधार पर राजनीतिक परिवर्तन किए जा सकते हैं लेकिन भारत जैसे पराधीन राष्ट्र में संवैधानिक आन्दोलन के आधार पर स्वतन्त्रता प्राप्त करने का स्वप्न देखना स्वयं को ही धोखा देना है। उग्र राष्ट्रवादी उदारवादियों द्वारा प्रतिपादित प्रार्थनाओं, स्मृतिपत्रों और प्रतिनिधि मण्डलों की नीति में लेशमात्र भी विश्वास नहीं करते थे और इस पद्धति के प्रति घृणा प्रकट करते हुए इसे **'राजनीतिक भिक्षावृत्ति'** के नाम से पुकारते थे। 1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में **लाला लाजपतराय** ने कहा था, "एक अंग्रेज सबसे अधिक घृणा भिखारी से करता है। मेरा विचार है कि भिखारी है भी इस योग्य कि उससे घृणा की जाए। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम अंग्रेजों को दिखा दें कि हम भिखारी नहीं हैं।" **विपिनचन्द्र पाल** का विचार था कि "स्वराज्य स्वावलम्बन के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है।" वे कहा करते थे कि "हमें अपनी राष्ट्रीय शक्तियों को इस प्रकार संगठित करना चाहिए कि कोई भी शक्ति जो हमारे विरुद्ध हो, हमारे सम्मुख झुकने को बाध्य हो जाए।" पुनः उनका कथन था कि, "यदि सरकार मेरे पास आकर कहे कि स्वराज्य ले लो तो मैं उपहार के लिए धन्यवाद देते हुए कहूंगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता जिसको प्राप्त करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।"[3] **लोकमान्य तिलक उग्रवादी दृष्टिकोण** को स्पष्ट करते हुए कहते थे, **"हमारा आदर्श दयायाचना नहीं, आत्म-निर्भरता है।"** उग्रवादी शासकों के प्रति भक्ति और सहयोग की नीति अपनाने के स्थान पर **'निष्क्रिय प्रतिरोध'** (Passive resistance) के कार्यक्रम को अपनाने के पक्ष में थे। इस 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के सम्बन्ध में विपिनचन्द्र पाल ने कहा कि "सरकार के कार्य को कई प्रकार से ठप्प किया जा सकता है। ऐसा सम्भव नहीं है कि प्रत्येक मजिस्ट्रेट कार्य करने से इन्कार कर दे तथा एक व्यक्ति के त्यागपत्र देने पर उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति न मिले परन्तु सारे देश में यह भावना जाग्रत हो जाय तो समस्त सरकारी कार्यालयों में हड़ताल की जा सकती है—हम उस भारतीय की स्थिति जो सरकारी कर्मचारी है, ऐसी कर सकते हैं कि जैसे वह भारतीय नागरिक के सम्मान से नीचे गिर गया हो।"

बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा—जिस प्रकार उग्रवादियों के अपने लक्ष्य की प्राप्ति के साधन प्रार्थनाएं, स्मृति-पत्र और प्रतिनिधि मण्डल थे, उसी प्रकार उग्र राष्ट्रवादियों के साधन बहिष्कार, स्वदेशी और शिक्षा थे, जिनमें बहिष्कार को सबसे अधिक प्रमुख कहा जा सकता है। उग्रवादियों के बहिष्कार आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्ति तो विदेशी वस्तुओं के ही विरुद्ध थी, परन्तु इनकी व्याख्या में, इसमें सरकार के साथ असहयोग, सरकारी नौकरियों, प्रतिष्ठानों तथा उपाधियों का बहिष्कार भी शामिल था। उग्रवादियों की मान्यता थी कि बहिष्कार विदेशी शासन की प्रतिष्ठा और हितों के ऊपर एक सीधा आघात होगा। लाला लाजपतराय कहा करते थे कि **"दुकानदारों की ज़ाति ब्रिटिश राष्ट्र को नैतिकता के ऊपर आश्रित तर्कों की अपेक्षा व्यापार में घाटा होने की बात अधिक प्रभावित कर सकती है।"** एक दूसरे स्थान पर वे बहिष्कार आन्दोलन में निहित विचारधारा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, **"हम अपने मुख सरकारी भवनों से हटाकर साधारणजनों की कुटियों की तरफ ले जाना चाहते हैं। बहिष्कार आन्दोलन का यही मनोवैज्ञानिक, यही नैतिक और यही आध्यात्मिक महत्व है।"** उग्रवादी

1 रामगोपाल, भारतीय राजनीति, पृ. 97।

2 "It is not by our purpose, but by methods only our party has earned the name of extremists."
—Tilak (Quoted by Nevinson, *The New Sprit in India*, p. 226.)

3 Quoted by Valentine Chirol, *Indian Unrest*, pp. 11-12.

नेता दृढ़तापूर्वक स्वदेशी में विश्वास करते थे और जनसाधारण में इसका प्रचार करने के लिए उन्होंने देशव्यापी आन्दोलन का संगठन किया था। उग्रवादी स्वदेशी को स्वदेश की मुक्ति का मार्ग समझते थे।

उदारवादियों और उग्रवादियों के व्यक्तित्व और विचारधारा में एक महत्वपूर्ण अन्तर था। उदारवादी पाश्चात्य शिक्षा के परिणाम थे तो उग्रवादी भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक नवजागरण के। इसी कारण जहां उदारवादियों ने भारतीयों को पाश्चात्य शिक्षा की ओर उन्मुख किया था, वहां उग्रवादियों ने भारतीयों को सांस्कृतिक दृष्टि से गुलाम बनाने वाली पाश्चात्य शिक्षा का विरोध कर राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का समर्थन किया था। लोकमान्य तिलक ने इसी उद्देश्य से **'दक्षिण शिक्षा समाज'** (Deccan Education Society) की स्थापना की थी।

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनों को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। कलकत्ता के ऐंग्लो-इण्डियन समाचार-पत्र 'दि इंग्लिशमैन ने लिखा था कि **"यह बिलकुल सत्य है कि कलकत्ता के गोदामों में कपड़ा इतना भरा हुआ है कि यह बेचा नहीं जा सकता। अनेक मारवाड़ी फर्में नष्ट हो गयी हैं और कई बड़ी से बड़ी यूरोपीय निर्यात दुकानों को या तो बन्द करना पड़ा है या उनका व्यापार बहुत ही मन्दगति पर आ गया है। बहिष्कार के रूप में राज के शत्रुओं ने देश में ब्रिटिश हितों पर कुठाराघात करने का अत्यन्त प्रभावशाली शस्त्र पा लिया है।"**[1] भारत के कुछ क्षेत्रों में तो बहिष्कार आन्दोलन कितना अधिक प्रबल और लोकप्रिय था इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि **"परीक्षार्थियों ने विदेशी कागज की कापियां छूने से इन्कार कर दिया, बच्चों ने विदेशी जूते पहनने या ज्वर में विदेशी दवा लेने से इन्कार कर दिया और विवाह में मिली ऐसी विदेशी भेंटें भी अस्वीकार की जाने लगीं जो भारत में भी बन सकती थीं।"**[2]

इस बहिष्कार आन्दोलन ने भारतीय उद्योगों विशेषतः वस्त्र उद्योग को अपूर्व बल प्रदान किया और कपड़ा बुनकर उद्योग की सहायता देने के लिए एक राष्ट्रीय कोष जमा किया गया, जिसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को एक ही सार्वजनिक सभा में 70 हजार रुपये एकत्रित करने में सफलता मिली।[3]

उग्र राष्ट्रवादी आन्दोलन का मूल्यांकन

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उग्रवाद के जन्म और विकास ने भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन पर बहुत स्वस्थ प्रभाव डाला। उदारवादी यद्यपि अपने देश के प्रति प्रेम करते थे, लेकिन उनके साधन प्रभावदायक नहीं थे। उग्रवादियों ने इस सत्य को समझा कि केवल प्रार्थनाओं से स्वतन्त्रता तो दूर रही, अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक सुधार भी प्राप्त नहीं किए जा सकते। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रभावशाली, रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। उनके द्वारा अपनाये गये बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन ने जनता में नयी चेतना फूंक दी। यह आन्दोलन केवल एक उग्रवादी आन्दोलन ही नहीं रह गया, वरन् एक जनवादी आन्दोलन बन गया। 19वीं सदी तक राष्ट्रीयता उच्च शिक्षा प्राप्त सम्पन्न वर्ग की ही सम्पत्ति थी। उग्रवादियों द्वारा अपनाये गये साधनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाया और राष्ट्रीय आन्दोलन की बेगवती धारा को मध्यम वर्गों तथा जनसाधारण तक पहुंचाने में सहायता प्रदान की। यहां यह कहना असंगत न होगा कि उग्रवादियों द्वारा चलाया गया बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन बाद में महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए आन्दोलन का बीजरूप था। उग्रवादियों का लक्ष्य न केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता वरन् भारतीय नवयुवकों के लिए सांस्कृतिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त करना था। उन्होंने एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली की योजना बनायी जो राष्ट्र द्वारा नियन्त्रित होने के साथ ही देश के हितों के अनुकूल हो तथा नवयुवकों में राष्ट्रीयता की भावना का संचार करे। उग्रवादियों का यह कार्य अत्यन्त दूरदर्शितापूर्ण था। उग्रवादी आन्दोलन की प्रभावदायकता का प्रमाण यह है कि ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर उग्रवादियों के हाथ में आ जाने से रोकने के लिए ही 1909 में मार्ले-मिण्टो सुधार पारित किए। उग्रवादी आन्दोलन के अभाव में इन सुधारों के पारित होने में कुछ अधिक समय लग सकता था।

किसी भी पराधीन देश द्वारा अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति उसी समय की जा सकती है जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने वाला वर्ग स्वयं त्याग करने का इच्छुक हो। अधिकांश उदारवादी नेताओं

1 Quoted by A.R. Desai, *Social Background of India Nationalism*, p. 308.
2 Surendra Nath Banerjee, *A Nation in the Making*, p. 196.
3 गुरुमुख निहाल सिंह, भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास, पृ. 162 ।

में इस प्रकार की त्याग भावना का अभाव था लेकिन उग्रवादी नेता प्रत्येक त्याग और कष्ट के लिए तत्पर थे। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल वास्तविक अर्थों में लोकनायक थे। 1908 में तिलक को गिरफ्तार करने और उनके साथ किए गए अन्याय ने जनता को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि कई जगह दंगे हो गये। बम्बई की मिलों के मजदूरों ने सरकार के इस कार्य के विरोध में एक व्यापक हड़ताल की। **लेनिन** ने इस हड़ताल को भारत के श्रमिक वर्ग की **'पहली राजनीतिक कार्यवाही'** बताया था। इस प्रकार उग्रवादियों ने अब तक के वैधानिक आन्दोलन को वास्तविक राष्ट्रीय आन्दोलन और जन-आन्दोलन की दिशा प्रदान की।

उग्रवादी राष्ट्रवाद की प्रतिगामिता—उग्रवादी हिन्दू पुनरुत्थानवाद और सांस्कृतिक नव-जागरण के परिणाम थे और उनके द्वारा राजनीति के साथ धर्म को समन्वित किया गया था—इसमें सन्देह नहीं कि धर्म समन्वित होने के कारण उग्रवाद ने हिन्दुओं में देश-प्रेम की अपूर्व धारा का संचार किया लेकिन राजनीति के साथ धर्म का यह समन्वय निर्दोष नहीं था। इसने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति मुसलमानों में उदासीनता ला दी। ब्रिटिश शासन और सरकारी अधिकारियों ने उग्रवादी आन्दोलन के इस पक्ष का मुसलमानों के कान भरने के लिए खूब उपयोग किया। उनसे कहा गया कि यह जो ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन खड़ा किया जा रहा है, उसका उद्देश्य भारत में विशुद्ध हिन्दू राज्य की स्थापना करना है। साधारण मुस्लिम जनता विदेशी नौकरशाही के इस बहकावे में आ गयी और वह राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति उदासीन और कालान्तर में कुछ अंशों में विरोधी हो गयी। **जवाहरलाल नेहरू** के अनुसार, **"उग्र राष्ट्रवाद सामाजिक रूप से निश्चिततः प्रतिक्रियावादी था।"**

उदारवाद तथा उग्रवाद में अन्तर
(उदारवादी तथा उग्रवादी पक्ष की राजनीति में अन्तर)

उदारवाद तथा उग्रवाद—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की दो धाराएं रही हैं। इन दोनों धाराओं का मूल उद्देश्य भारतीय जनता का हित-साधन था लेकिन यह हित-साधन किस रूप में किया जा सकता है और इसके हेतु किन साधनों को अपनाया जाना चाहिए, इसके सम्बन्ध में इन दोनों विचारधाराओं में अन्तर रहा है। मूल उद्देश्यों की अपेक्षा भी साधनों के सम्बन्ध में यह अन्तर अधिक प्रमुख रूप में देखा जा सकता है। इन दोनों विचारधाराओं के अन्तर का अध्ययन निम्न रूपों में देखा जा सकता है :

(1) राष्ट्रवाद की इन दोनों धाराओं का उद्देश्य एक ही था—स्वशासन (Self-government) की प्राप्ति, लेकिन स्वशासन से इन दोनों के द्वारा अलग-अलग आशय लिया गया था। स्वशासन से उदारवादियों का तात्पर्य था कि क्रमिक राजनीतिक सुधारों के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए ब्रिटिश शासन की छत्रछाया में प्रतिनिध्यात्मक संसदीय संस्थाओं की स्थापना की जाय। इसके विपरीत, उग्रवादी किसी भी रूप में ब्रिटिश शासन को बनाये रखने के विरुद्ध थे। उनकी स्वराज्य की धारणा में ब्रिटिश सम्राट के प्रति भक्ति के लिए कोई स्थान न था। वे भारतीयता पर आधारित स्वराज्य तथा ब्रिटेन से शीघ्रातिशीघ्र सम्बन्ध-विच्छेद के पक्ष में थे।

(2) उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास था और वे ऐसा सोचते थे कि यदि अंग्रेजों को भारतीय दृष्टिकोण समझा दिया जाए, तो वे उसे स्वीकार कर लेंगे लेकिन उग्रवादियों को अंग्रेजों की नेकनीयती तथा उदारता में जरा भी विश्वास नहीं था। **श्रीमती एनी बेसेण्ट** के अनुसार, **"उग्रवादियों को सरकार के अच्छे इरादों में तनिक भी विश्वास नहीं था जबकि उदारवादियों की आशा का आधार शासन की निश्छलता (Sincerity) थी।"**

(3) उद्देश्य की अपेक्षा साधन के सम्बन्ध में इन दोनों का अन्तर अधिक महत्वपूर्ण था। तिलक कहा करते थे कि **अपने उद्देश्य के कारण नहीं वरन् उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हमें उग्रवादियों की उपाधि मिली है।** उदारवादी केवल संवैधानिक साधनों का प्रयोग ही उचित समझते थे और उनके द्वारा अपनी मांगें मनवाने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजने, स्मृति-पत्र भेजने, भाषण देने, लेख लिखने और शिष्ट-मण्डल भेजने के तरीकों का ही प्रयोग किया जाता था। उग्रवादियों का इन तरीकों की प्रभावशीलता में विश्वास नहीं था और वे इन्हें अपनाना अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध भी मानते थे इसलिए उनके द्वारा इस उदारवादी पद्धति को **राजनीतिक भिक्षावृत्ति (Political Mendicancy)** के नाम से पुकारा गया। वे इस राजनीतिक भिक्षावृत्ति की अपेक्षा आत्मनिर्भरता तथा जनसाधारण के बीच कार्य में विश्वास करते थे। इन उद्देश्य से उनके द्वारा स्वदेशी माल के प्रचार, विदेशी

माल के बहिष्कार, स्वदेशी संस्थाओं के निर्माण और राजनीतिक प्रशिक्षण हेतु विविध साधनों के विकास पर जोर दिया गया।

(4) उदारवादियों के विचार में ब्रिटेन तथा भारत के हित में मूलभूत विरोध नहीं था। वे ऐसा सोचते थे कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत का हित-साधन सम्भव है। इसके नितान्त विपरीत उग्रवादियों की धारणा यह थी कि ब्रिटेन तथा भारत के हित एक-दूसरे के नितान्त विपरीत हैं, अतः ब्रिटिश शासन भारत के विकास में कभी भी सहायक हो ही नहीं सकता।

(5) उदारवादी पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित थे, जबकि उग्रवादी प्राचीन हिन्दू धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति तथा उनके आधार पर विकसित हिन्दू-राष्ट्रीयता के पोषक थे। उदारवाद की प्रेरणा पश्चिम थी तो उग्रवाद की प्रेरणा पूर्व थी।

(6) राष्ट्रीयता की इन दोनों धाराओं में यह भी अन्तर बताया जा सकता है कि उदारवादी **'आरामकुर्सी की राजनीति'** में विश्वास करते थे और गोखले जैसे कुछ नेताओं को छोड़कर सामान्यतः वे देशहित के लिए त्याग और कष्ट सहन करने को तत्पर नहीं थे। लेकिन उग्रवादी देश के लिए त्याग करने और कष्ट सहन करने को आवश्यक मानते थे और स्वयं इसके लिए तत्पर थे।

उदारवादी और उग्रवादी राष्ट्रीय आन्दोलन में अन्तर बताते हुए **लाला लाजपतराय** ने लिखा है कि उदारवादी ब्रिटिश शासन से अपील करते थे, जबकि ये उग्रवादी नेता अपने देशवासियों और अपने ईश्वर से अपील करते थे।''

उदारवादियों तथा उग्रवादियों में उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी दोनों सच्चे देशभक्त थे और इस दृष्टि से वे एक-दूसरे के विरोधी नहीं वरन् सच्चे अर्थों में एक-दूसरे के पूरक थे। श्री रामनाथ सुमन ने इस सम्बन्ध में 'हमारे राष्ट्र निर्माता' में लिखा है, **''जब हम नरम व गरम—दोनों दलों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण और अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि हमारे राष्ट्रीयता के विकास में दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों हमारी राजनीति के स्वाभाविक उपकरण हैं। वस्तुतः वे दोनों एक ही आन्दोलन के पक्ष हैं। एक ही दीपक के दो परिणाम हैं। पहला प्रकाश का द्योतक है तो दूसरा गर्मी का। पहला बुद्धि पक्ष है, दूसरा भाव पक्ष। पहला जहां कुछ सुविधाएं प्राप्त करना चाहता है, वहां दूसरे का उद्देश्य राष्ट्र में मानसिक परिवर्तन करना है।''**

उग्र राष्ट्रवादी नेता

भारत में उग्रवादी आन्दोलन के प्रमुख प्रणेता थे बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष। इनमें भी उग्र राष्ट्रवाद का **प्रतिनिधि नेता लोकमान्य बाल गंगाधार तिलक** को ही कहा जा सकता है। जिस प्रकार गोखले उदार राष्ट्रवाद के सबसे प्रमुख प्रतिनिधि थे, उसी प्रकार तिलक उग्र राष्ट्रवाद के।

प्रश्न

1. भारतीय उग्रवादी आन्दोलन के प्रमुख प्रयोजनों एवं साधनों की विवेचना करें।
2. बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों की उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए, जिनसे भारतीय राजनीति में उग्रवाद का सूत्रपात हुआ। इसने कांग्रेस आन्दोलन की प्रकृति को किस प्रकार परिवर्तित किया?
3. भारतीय उदारवादी एवं उग्रवादी धाराओं के विचारों, साधनों एवं योगदान का तुलनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
4. उग्रवादी आन्दोलन की उत्पत्ति के क्या कारण थे? इसके उद्देश्य तथा कार्य-प्रणाली क्या थी?

4

गांधीवादी युग और असहयोग आन्दोलन

[GANDHIAN ERA AND NON-COOPERATION MOVEMENT]

1909-1919 के काल में भारतीय राजनीति में तीन प्रमुख घटनाएं घटित हुईं; **प्रथम**, होमरूल या गृह शासन आन्दोलन; **द्वितीय**, 1916 का कांग्रेस-लीग समझौता, और **तृतीय**, 20 अगस्त, 1917 की मॉण्टेग्यू घोषणा। लेकिन इन घटनाओं से अधिक महत्वपूर्ण घटना थी, महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश।

महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश

महात्मा गांधी ने अपने सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ 1893 में दक्षिण अफ्रीका सरकार की रंगभेद की नीति का सफल विरोध करते हुए किया था। दक्षिण अफ्रीका में सफल सत्याग्रही की ख्याति प्राप्त कर चुकने के बाद जनवरी, 1915 में महात्माजी भारत आये। भारतीय जनता गांधीजी से प्रभावित थी ही, गोखले के देहावसान, तिलक की रुग्णता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी व विपिनचन्द्र पाल आदि नेताओं के उत्साह में कमी हो जाने के कारण भारतीय राजनीति का नेतृत्व स्वतः ही महात्माजी के हाथ में आ गया। अखिल भारतीय राजनीति में प्रवेश से पूर्व महात्माजी ने चम्पारन, खेड़ा और अहमदाबाद में सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया।

महात्मा गांधी सहयोगी से असहयोगी—महात्मा गांधी के द्वारा भारतीय राजनीति में ब्रिटिश शासन के सहयोगी के रूप में प्रवेश किया गया। महात्माजी ने भारतीय जनता से ब्रिटिश सरकार के युद्ध प्रयत्नों में जन और धन की पूरी-पूरी सहायता देने की अपील की। शासन के द्वारा भी उन्हें 'केसर-ए-हिन्द' भी उपाधि प्रदान की गयी किन्तु ऐसी घटनाएं हुईं जिनके कारण महात्माजी सहयोगी से असहयोगी हो गये और उनके द्वारा ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया।

असहयोग आन्दोलन

असहयोग आन्दोलन की पृष्ठभूमि

जनता में घोर निराशा और असन्तोष—युद्धकाल में भारत राष्ट्र ने ब्रिटेन को जन और धन से भरपूर सहायता दी थी और युद्ध से भारतीय राष्ट्रवाद को अपूर्व प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। अब भारतीय जनता स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के स्वप्न संजोने लगी थी लेकिन कुछ घटनाओं ने जनता की आशा को निराशा और घोर असन्तोष में बदल दिया।

शासन के द्वारा युद्ध व्यय के रूप में जोर-जबरदस्ती से और भारी मात्रा में धन की वसूली और आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में असाधारण वृद्धि के कारण जनता का प्रत्येक वर्ग आर्थिक कष्ट से गुजर रहा था और इस स्थिति के लिए ब्रिटिश सरकार को उत्तरदायी समझ रहा था। प्लेग, इन्फ्लुएन्जा और अकाल की स्थिति में शासन की उदासीनता से घोर असन्तोष था। दुःखदायी बात यह थी कि युद्ध के प्रारम्भिक चरण में जितनी तेजी और जोर-जबरदस्ती से सेना में भर्ती की गयी, अन्तिम चरण में उतनी ही तेजी से छंटनी प्रारम्भ कर दी गयी। इससे हजारों लोग बेरोजगार हो गये और जनता ने अनुभव किया कि यह सरकार घोर स्वार्थी है।

रौलट एक्ट—ब्रिटिश सरकार युद्धकाल के बाद भी, आतंकवादी तत्वों पर नियन्त्रण के नाम पर दमनात्मक शक्तियां अपने हाथ में बनाये रखना चाहती थी। अतः भारत के सभी वर्गों के विरोध के बावजूद रौलट कमेटी की रिपोर्ट को कानूनी रूप देते हुए 'रौलट एक्ट' बनाया गया, जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार कर उसे मनमाने समय तक नजरबन्द रखा जा सकता था। 18 मार्च, 1919 को रौलट एक्ट पारित हुआ जिसने मोतीलाल नेहरू के शब्दों में, "अपील, वकील और दलील की व्यवस्था का अन्त कर दिया।"

जलियांवाला हत्याकाण्ड—महात्माजी ने रौलट एक्ट के विरुद्ध 'सत्याग्रह' प्रारम्भ करने का निश्चय किया। सत्याग्रह का प्रारम्भ सार्वजनिक हड़ताल के माध्यम से करते हुए 30 मार्च, 1919 को सम्पूर्ण देश में हड़ताल करने का निश्चय किया गया, किन्तु बाद में तिथि बदलकर 6 अप्रैल कर दी गयी। 6 अप्रैल को सारे देश में शहरों और गांवों में पूर्ण और अधिकांशतया शान्तिपूर्ण हड़ताल हुई। सरकार ने कुछ स्थानों की हिंसात्मक घटनाओं को आधार बनाकर दमनचक्र प्रारम्भ करते हुए 7 अप्रैल को महात्माजी को गिरफ्तार कर लिया। पंजाब में ब्रिटिश सरकार का विरोध करने के लिए विशेष उत्साह था और पंजाब के गवर्नर माइकल ओ डायर जनता पर शक्ति-प्रयोग करने के लिए बेचैन हो रहे थे। 10 अप्रैल को प्रातः अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर ने किसी कारण से पंजाब के दो प्रसिद्ध नेताओं सत्यपाल और डॉ. किचलू को धर्मशाला में नजरबन्द कर अमृतसर से निष्कासन के आदेश दे दिए। जनता ने इसका विरोध किया और स्थिति तनावपूर्ण हो गयी। रौलट एक्ट और सरकार के इन कार्यों का विरोध करने के लिए 13 अप्रैल, 1919 को अमृतसर के जलियांवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा हुई। इस सभा में सैनिक शासन के प्रमुख जनरल डायर के द्वारा अनावश्यक और अन्धा-धुन्ध गोली वर्षा की गयी, जिसके परिणामस्वरूप कम से कम 800 व्यक्ति मरे और 2,000 घायल हुए। इस हत्याकाण्ड का उद्देश्य सारे पंजाव को आतंकित करना था। इसके बाद भी सैनिक शासन घोषित कर अमानवीय व्यवहार और दमन जारी रखा गया। मनमानी गिरफ्तारियां, कोड़ों की मार और मई की तपती दोपहरी में विद्यार्थियों को 16-16 मील तक मार्च कराना दमनकारी शासन के अंग थे।

प्रभाव—इस दुर्घटना का राष्ट्र के मन और मस्तिष्क पर व्यापक प्रभाव पड़ा। कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपना "सर" का खिताब छोड़ दिया और वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य शंकरन नायर ने मार्शल लॉ जारी रखने के विरोध में कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया। हत्याकाण्ड के प्रभाव के सम्बन्ध में थोम्पसन और गैरट लिखते हैं, "अमृतसर दुर्घटना भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों में युगान्तरकारी घटना थी, लगभग वैसी ही महत्वपूर्ण जैसा कि 1857 का विद्रोह।"

हण्टर कमेटी की रिपोर्ट—हत्याकण्ड की जांच करने के लिए 'हण्टर कमेटी' की नियुक्ति की गयी, लेकिन इस कमेटी ने हत्याकाण्ड के लिए उत्तरदायी जनरल डायर को दण्ड देने की सिफारिश करने के स्थान पर उनके कार्य को "कर्तव्य से सत्यनिष्ठ, लेकिन गलत धारणा पर आधारित" बतलाते हुए उसका परोक्ष समर्थन किया। ब्रिटिश लॉर्ड सभा और आंग्ल भारतीय प्रेस ने जनरल डायर को "ब्रिटिश साम्राज्य का रक्षक" कहा। यह सब कुछ भारतीयों के जले पर नमक छिड़कना था और इससे उदार भारतीयों को असहनीय ठेस पहुंची।

खिलाफत आन्दोलन—महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार ने भारत के मुसलमानों को टर्की के सुल्तान की स्थिति बनाये रखने के सम्बन्ध में कुछ आश्वासन दिए थे, लेकिन युद्ध के बाद ब्रिटेन ने टर्की के साथ जो "सेवर्स की सन्धि" की, उसके द्वारा इन आश्वासनों को भंग कर दिया गया। इस सन्धि के द्वारा टर्की के सुल्तान के अधिकार छीन लिए गए। इससे टर्की के सुल्तान को अपना "खलीफा" (धर्मगुरु) मानने वाले भारतीय मुसलमान ब्रिटिश शासन के बहुत अधिक विरुद्ध हो गये और उन्होंने "खिलाफत आन्दोलन" (खलीफा की सत्ता की पुनर्स्थापना का आन्दोलन) शुरु कर दिया। महात्मा गांधी ने खिलाफत आन्दोलन का समर्थन किया और हिन्दू-मुस्लिम एकता के आधार पर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन करने का निश्चय किया।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन—सितम्बर, 1920 में कलकत्ते में कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ, उसमें महात्माजी ने असहयोग आन्दोलन सम्बन्धी प्रस्ताव रखा और सभापति लाला लाजपतराय सहित अनेक वरिष्ठ नेताओं के विरोध के बावजूद गांधीजी का प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीकृत हो गया। दिसम्बर, 1920 के नागपुर अधिवेशन में गांधीजी का प्रस्ताव पुनः भारी बहुमत से स्वीकृत हुआ। अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास कर गांधीजी को शान्तिमय और अहिंसक आन्दोलन करने के समस्त अधिकार दे दिए गए।

असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम और प्रगति

सन् 1919 का वर्ष भारतीय जनता के लिए असहयोग का सन्देश लेकर आया। असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश भारत की जो भी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाएं हैं, उन सबका वहिष्कार कर दिया जाए और इस प्रकार सरकार की मशीनरी को बिल्कुल ठप्प कर दिया जाए। आन्दोलन के प्रस्ताव के अनुसार इसका कार्यक्रम निम्नलिखित था—

1. सरकारी वैतनिक तथा अवैतनिक पदों एवं उपाधियों का त्याग।
2. सरकारी और अर्द्ध-सरकारी स्कूल और कालेजों का बहिष्कार।
3. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत होने वाले चुनावों का बहिष्कार।
4. सरकारी अदालतों का बहिष्कार।
5. विदेशी माल का बहिष्कार।
6. सरकारी और अर्द्ध-सरकारी उत्सवों और समारोहों में उपस्थित न होना।
7. भारतीयों द्वारा मैसोपोटामिया में सैनिक, क्लर्क या मजदूर के रूप में कार्य करने से इन्कार करना।

उपर्युक्त निषेधात्मक कार्यक्रम के अतिरिक्त कार्यक्रम का **सकारात्मक पक्ष** भी था, जिसमें निम्न बातें मुख्य थीं—

(1) राष्ट्रीय स्कूल और कालेजों की स्थापना, (2) पारस्परिक विवाद तय करने के लिए निजी पंचायतों का उपयोग, (3) बड़े पैमाने पर स्वदेशी का प्रचार, (4) हाथकरघा और बुनाई उद्योग का जीर्णोद्धार, (5) अस्पृश्यता का अन्त।

आन्दोलन का सूत्रपात गांधीजी ने अपने "केसर-ए-हिन्द" के पदक को वापस देकर किया। सेठ जमनालाल बजाज ने अपनी "राय बहादुर" की उपाधि तथा "आनरेरी मजिस्ट्रेटी" छोड़ दी। स्थान-स्थान पर हजारों विद्यार्थियों द्वारा सरकारी स्कूल और कॉलेजों का वहिष्कार किया गया। इन विद्यार्थियों के अध्ययन हेतु आन्दोलन के नेताओं द्वारा राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई जिसमें बिहार विद्यापीठ पटना, गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ पूना, मुस्लिम विद्यापीठ अलीगढ़ तथा काशी विद्यापीठ, काशी की स्थापना की गई। इन राष्ट्रीय विद्यालयों के स्नातकों ने देश-सेवा के कार्य में प्रशंसनीय योगदान दिया। अदालतों के बहिष्कार सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत देश के अनेक प्रमुख वकीलों ने वकालत छोड़ दी।

विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार में लोगों ने अपूर्व उत्साह दिखाया। स्थान-स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली के अपूर्व दृश्य देखे गए। शराब और विदेशी वस्त्र की दुकानों पर पिकेटिंग की गयी। स्वदेशी को लोकप्रियता प्राप्त हुई और हाथ-करघा व हाथ-बुनाई को प्रोत्साहन मिला। कांग्रेस महासमिति ने अपनी मार्च 1921 की वेजवाड़ा बैठक में एक करोड़ रुपया एकत्रित करना निश्चित किया और इस कोष में तेजी से राशि एकत्रित होने लगी। कांग्रेस महासमिति ने 30 लाख स्वयंसेवकों की सूची और 20 हजार चर्खे तैयार किए। आन्दोलन की विशेष बात "हिन्दू-मुस्लिम एकता" थी।

शासन द्वारा दमन और प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिष्कार—प्रारम्भ में आन्दोलन के प्रभाव को दूर करने के लिए सरकार ने 'अमन सभाएं' स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु शासन की यह चेष्टा नितान्त असफल सिद्ध हुई। सरकार की समझ में नहीं आता था कि इस अद्भुत स्थिति का कैसे सामना किया जाए। आन्दोलन को आशा से अधिक बढ़ता देखकर सरकार ने क्रूर दमन का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया। सरकार ने **'राजद्रोह सभा अधिनियम'** का खुलकर प्रयोग किया तथा आन्दोलन के नेताओं को पकड़ना शुरू कर दिया। देशबन्धु चित्तरंजनदास को मैमनसिंह में एक सभा में भाषण देने से रोक दिया गया। इसी प्रकार डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा मौलाना मजरुल हक को आगरा जाने, याकूब हुसैन को कलकत्ता जाने और लाला लाजपतराय को पेशावर जाने से रोक दिया गया। कुछ स्थानों पर तो बिना आवश्यकता के ही अत्यधिक शक्ति का प्रयोग किया गया। इस प्रकार की घटनाओं में 'ननकाना काण्ड' सबसे प्रमुख है। 4 मार्च, 1921 को गुरुद्वारे में

कुछ सिख एकत्रित हुए। यह बिल्कुल शान्तिमय समुदाय था, लेकिन यकायक उन पर धावा बोल दिया गया और गोलियां चलायी गयीं, जिसमें सरकार के कथनानुसार 70 मौतें हुईं। जनता का उत्साह बढ़ता जा रहा था और इस बढ़ते हुए उत्साह के कारण जुलाई, 1921 में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार आन्दोलन में तीव्रता आ गयी। शासन ने भी अपने वचनों को भुलाकर सितम्बर, 1921 में अली बन्धुओं को गिरफ्तार कर लिया। कांग्रेस महासमिति ने अपनी बैठक में अली बन्धुओं की गिरफ्तारी का विरोध किया और गिरफ्तारी के विरोध में प्रिंस ऑफ़ वेल्स के भारत आगमन के दिन सम्पूर्ण देश में हड़ताल करने का निश्चय किया।

शासन द्वारा पूरी शक्ति के साथ दमन चक्र जारी रखा गया और अब तो मारपीट, लाठी वर्षा और गोली रोजमर्रा की घटनाएं हो गयीं। सितम्बर, 1921 तक चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय, मौलाना आजाद और गांधीजी के अतिरिक्त सभी मुख्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इस समय कुल गिरफ्तार व्यक्तियों की संख्या लगभग 60 हजार थी, लेकिन जनता का उत्साह कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था।

17 नवम्बर, 1921 को जब प्रिंस ऑफ वेल्स बम्बई उतरे, तो कांग्रेस के निश्चय के अनुसार बम्बई में उनका स्वागत हड़ताल से किया गया। कलकत्ता और अन्य स्थानों पर भी प्रिंस का स्वागत हड़ताल और विरोध प्रदर्शनों से ही किया गया। **रजनी पामदत्त** के शब्दों में, 'जनता की नफरत का ऐसा व्यापक और सफल प्रदर्शन पहले कभी नहीं हुआ था।' जनता के अपूर्व उत्साह और ब्रिटिश सरकार के दमन को देखते हुए आन्दोलन के अन्तर्गत कोई नवीन कदम उठाना जरूरी हो गया था। अतः 1 फरवरी, 1922 को महात्मा गांधी ने वायसराय को पत्र लिखते हुए चेतावनी दी कि यदि 7 दिन के अन्दर सरकार ने अपनी दमन-नीति में परिवर्तन नहीं किया तो बारडोली और गुण्टूर में 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' प्रारम्भ कर दिया जाएगा, जिसमें 'कर न दो' का कार्यक्रम भी शामिल होगा।

चौरीचौरा काण्ड और आन्दोलन का अन्त—लेकिन 7 दिन का समय समाप्त होने के पूर्व ही एक ऐसी घटना हुई, जिसने सम्पूर्ण स्थिति को बदल दिया। 5 फरवरी, 1922 को गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा नामक ग्राम में पुलिस के बल प्रयोग से जनता ने उत्तेजित होकर थाने में आग लगा दी, जिसके फलस्वरूप थानेदार और 21 सिपाही जलकर मर गये। अहिंसावादी गांधी हिंसा के इस क्रूर प्रयोग को सहन नहीं कर सके, उन्होंने चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय और सुभाषचन्द्र बोस आदि सभी नेताओं द्वारा मना किए जाने पर भी 11 फरवरी, 1922 को आन्दोलन स्थगित कर दिया। 10 मार्च, 1922 को गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गए तथा उन पर मुकदमा चलाकर 6 वर्ष की सजा दे दी गयी।

आन्दोलन के आकस्मिक स्थगन का अन्य नेताओं द्वारा तीव्र विरोध किया जाना नितान्त स्वाभाविक था। मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल से ही लम्बे पत्र लिखकर गांधीजी को "किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को दण्ड देने के लिए आड़े हाथों लिया।" सुभाष बोस ने सामान्य भावना को व्यक्त करते हुए कहा, "ठीक उस समय जबकि जनता का उत्साह चरमोत्कर्ष पर था, वापस लौटने का आदेश दे देना राष्ट्रीय दुर्भाग्य से कम न था।" बहुत बड़ी संख्या में कांग्रेसियों और जनता के एक भाग द्वारा आन्दोलन के स्थगन को राष्ट्रीय अपमान समझा गया। आन्दोलन के स्थगित होने से हिन्दू-मुस्लिम एकता पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा।

आन्दोलन की दुर्बलताएं—आन्दोलन की सम्भवतया सबसे बड़ी दुर्बलता **राजनीति में धर्म का प्रवेश था,** जिसके दूरगामी परिणाम बहुत घातक हुए। 'खिलाफत का प्रश्न' जो एक धार्मिक प्रश्न था, उसे 'राष्ट्रीय आन्दोलन' के राजनीतिक मसले के साथ मिलाना दुर्भाग्यपूर्ण था। गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए ऐसा किया था, लेकिन इसने भारतीय राजनीति में धार्मिक कट्टरता को प्रवेश प्रदान किया और इसका दूरगामी प्रभाव—'हिन्दू-मुस्लिम तनाव' के रूप में प्रकट हुआ। **मजूमदार** ठीक ही लिखते हैं कि "गांधीजी द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए चुना गया आधार बहुत कमजोर था।"

आन्दोलन से भारतीयों में जिन उच्च आशाओं ने जन्म लिया था उनमें से किसी के भी पूरे हुए बिना आन्दोलन के स्थगन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव अच्छा नहीं हुआ। बोस लिखते हैं कि **"एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त करने का वचन न केवल अविवेकपूर्ण, वरन् बालक-सदृश भी था।"** जन मनोवृत्ति का ध्यान रखते हुए हिंसा की

छुट-पुट घटनाओं को गांधीजी के द्वारा स्वाभाविक समझा जाना चाहिए था। इसके अतिरिक्त, ये घटनाएं शासन द्वारा किए गए दमनात्मक कार्यों की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई थीं और इस रूप में इन घटनाओं का उत्तरदायित्व शासन पर डाला जाना चाहिए था।

आन्दोलन को सहसा स्थगित कर देना अबुद्धिमत्तापूर्ण ही था। साधारण अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि यह आन्दोलन कुछ समय तक और चलता रहता तो सरकार के लिए सुधारों की नवीन और सारपूर्ण योजना की घोषणा आवश्यक होती।

आन्दोलन का महत्व—उपर्युक्त दुर्बलताओं के होते हुए भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि असहयोग आन्दोलन भारतीय स्वतन्त्रता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

(1) **इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक जन-आन्दोलन का रूप प्रदान कर दिया।** इसने जनता में अपूर्व त्याग और साहस की भावना का संचार किया। अब तक देशभक्ति या राष्ट्रीयता कुछ गिने-चुने व्यक्तियों की विरासत समझी जाती थी, महात्मा गांधी और असहयोग आन्दोलन के प्रभाव से यह सर्वसाधारण की सम्पत्ति बन गयी। असहयोग आन्दोलन पहला जन-आन्दोलन था और इसने भारतीय जनता को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया। महात्माजी और कांग्रेस की यह एक और आश्चर्यजनक सफलता थी। असहयोग आन्दोलन की महत्ता के सम्बन्ध में कूपलैण्ड लिखते हैं, **"उन्होंने (गांधीजी ने) वह काम किया जो तिलक भी नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर बढ़ना सिखाया। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी ही नहीं, जनप्रिय भी बनाया। अभी वह नगरों के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था, अब वह ग्रामों की जनता तक पहुंच गया।"**[1]

(2) आन्दोलन के द्वारा **साधारण जनता को निर्भीकता** प्रदान की गयी। पहले जनता सरकार का विरोध करने में वहुत घबराती थी, जेलों से डरती थी। इस आन्दोलन का परिणाम यह निकला कि जनता निर्भीक हो गयी और सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने से नहीं डरने लगी। अब सार्वजनिक सभाओं में सरकार की आलोचना करना साधारण बात हो गयी और बच्चे-बच्चे के मुंह से स्वराज्य शब्द सुनाई देने लगा।

(3) इस आन्दोलन का एक लाभ यह हुआ कि जब तक आन्दोलन चलता रहा, ब्रिटिश सरकार जनता का पूर्ण सहयोग करने के लिए प्रयत्नशील रही। इस हेतु उसने 1919 के सुधारों को उदारतापूर्वक कार्यान्वित किया और उदारवादियों को अपना हर तरह का सहयोग दिया।

(4) कांग्रेस ने जो रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया जैसे खादी, चर्खा कातना, राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं का संचालन और विदेशी माल के बजाय स्वदेशी को अपनाना, इससे भी देश को बड़ा भारी लाभ हुआ। सुभाषचन्द्र बोस आन्दोलनों की सफलताओं को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि **"1921 के वर्ष ने निस्सन्देह एक सुव्यवस्थित दलीय संगठन प्रदान किया। इसके पूर्व कांग्रेस एक वैधानिक दल और मुख्यतया बात करने वाली संस्था थी। महात्माजी ने इसे नया विधान दिया और देशव्यापी बनाया। उन्होंने इसे एक क्रान्तिकारी संगठन के रूप में भी परिवर्तित कर दिया।"**[2]

प्रश्न

1. असहयोग आन्दोलन के कारणों, उद्देश्यों तथा कार्यक्रम की विवेचना कीजिए।
2. असहयोग आन्दोलन के कारणों को समझाइए तथा आन्दोलन के कार्यक्रम का मूल्यांकन कीजिए।
3. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   (अ) रौलट अधिनियम,
   (व) जलियांवाला हत्याकाण्ड और हण्टर कमेटी की रिपोर्ट,
   (स) चौरीचौरा हिंसक काण्ड,
   (द) खिलाफत आन्दोलन।

1 "He had done, what Tilak had failed to do. He had converted the national movement into a revolutionary movement.' —Coupland, *India, Restatement*, p. 119.
2 Subhash Bose, *Indian Struggle*, p. 112.

5

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

[CIVIL DISOBEDIENCE MOVEMENT]

1923-28 की भारतीय राजनीति—इस काल की भारतीय राजनीति में तीन प्रमुख स्थितियाँ उत्पन्न हुईं, **प्रथम**, स्वराज्य दल की स्थापना, उसके कार्य और इतिश्री, **द्वितीय**, साइमन कमीशन और **तृतीय**, सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन और गोलमेज सम्मेलन

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पृष्ठभूमि

कलकत्ता कांग्रेस (दिसम्बर 1928)—कांग्रेस का अल्टीमेटम—नेहरू रिपोर्ट के सम्बन्ध में कांग्रेस के नेताओं में काफी मतभेद थे। जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस के नेतृत्व में युवक दल इस रिपोर्ट को केवल पूर्ण स्वतन्त्रता के आधार पर ही स्वीकार करने को तत्पर था, लेकिन मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में पुरानी पीढ़ी इसे पूर्ण रूप से स्वीकार करना चाहती थी। ऐसी स्थिति में गांधीजी ने मध्यस्थता करते हुए प्रस्ताव पेश किया। यह प्रस्ताव ब्रिटिश शासन के लिए एक अल्टीमेटम के रूप में था। प्रस्ताव का एक महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार था :

"यदि ब्रिटिश संसद इस विधान को ज्यों का त्यों 31 दिसम्बर, 1929 तक या उससे पहले स्वीकार कर ले, तो कांग्रेस इस विधान को अपना लेगी बशर्ते कि राजनीतिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो। लेकिन यदि उस तिथि तक ब्रिटिश संसद उसे स्वीकार न करे या इसके पहले ही अस्वीकार कर दे तो कांग्रेस देश को करबन्दी की सलाह देकर तथा अन्य उपायों के आधार पर जिन्हें वह बाद में निश्चित करेगी, अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलायेगी।"

कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

इंगलैण्ड में मजदूर दल की सरकार, लेकिन स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं—मई 1929 में इंगलैण्ड में मजदूर दल की सरकार स्थापित हुई। भारतीयों को मजदूर दल की सरकार से बहुत आशाएं थीं। लेकिन मजदूर दल की इस सरकार पर अनेक भारत विरोधी दबाव थे, इस कारण भारत के सम्बन्ध में स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

1929 का लाहौर अधिवेशन और पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव—ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से भारतीय नेताओं को यह निश्चय हो गया था कि ब्रिटिश सरकार उस समय तक भारत को स्वराज्य न देगी, जब तक वह इसके लिए मजबूर न हो जाय। अतः भारी निराशा और क्षोभ के वातावरण में पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में दिसम्बर 1929 को लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। अधिवेशन में 31 दिसम्बर की रात्रि को 12 बजे रावी नदी के तट पर भारत का तिरंगा झण्डा फहराकर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया गया। प्रस्ताव का महत्वपूर्ण भाग इस प्रकार था—"यह कांग्रेस घोषित करती है कि वर्तमान स्थिति में कांग्रेस का गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना निरर्थक है। कांग्रेस के विधान की पहली धारा में 'स्वराज्य' शब्द का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता है। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट वापस ली जाती है तथा यह कांग्रेस अपने सदस्यों और राष्ट्रीय आन्दोलन में लगे हुए अन्य व्यक्तियों से अनुरोध करती है कि वे अपना सारा ध्यान देश के लिए पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति में लगायें।" नयी कार्यसमिति ने निश्चय किया कि प्रतिवर्ष 26 जनवरी का दिन **'स्वाधीनता**

दिवस' के रूप में मनाया जाय। इस दिन पढ़े जाने वाले घोषणा-पत्र से स्वाधीनता को भारतीय जनता का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया गया था।

देश की आन्तरिक स्थिति—जिस समय कांग्रेस के द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का उपर्युक्त घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया, उस समय देश की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति भी बहुत अधिक खराब और उत्तेजनापूर्ण थी। राजनीति में नवयुवक वर्ग अधिक सक्रिय था। इस समय विश्व के दूसरे देशों के समान भारत भी आर्थिक मन्दी का शिकार हुआ। **"कृषि सम्बन्धी उपज के भाव 50 प्रतिशत से अधिक गिर गये थे और किसानों की हालत इतनी तंग थी कि वे एक गज कपड़ा व एक बोतल लैम्प का तेल भी नहीं खरीद सकते थे। सीधा-साधा तथ्य यह था कि वे कर, लगान और ऋण अदा करने में असमर्थ थे।"**[1] व्यावसायिक और औद्योगिक वर्गों में रुपये की नयी दर के कारण तीव्र असन्तोष था। सरकार ने रुपये की कीमत 16 पेंस से बढ़ाकर 18 पेंस कर दी थी। इस परिवर्तन से इंगलैण्ड को बहुत अधिक लाभ हुआ। भारत के उद्योगपतियों और व्यापारियों ने कांग्रेस का समर्थन किया तथा उसके कोष में 1920 ई. से भी अधिक मुक्तहस्त होकर दान दिया। औद्योगिक क्षेत्र में कार्य कर रहे मजदूर भी बहुत अधिक असन्तुष्ट और उत्तेजित थे, क्योंकि शासन के दमन के कारण उन्हें बहुत अधिक कष्ट उठाने पड़ रहे थे। सरकार ने मार्च 1929 में मजदूर संगठनों के सबसे अधिक प्रभावशाली नेताओं को गिरफ्तार करके उन पर षड्यन्त्र का अभियोग लगाया, जो शिथिलतापूर्वक लगातार 4 वर्ष तक चलता रहा और जिसमें 27 श्रमिक नेताओं को राजद्रोह के अपराध में दीर्घ कारावास का दण्ड दिया गया। सरकार के इस कार्य से श्रमिक वर्ग के असन्तोष में अत्यधिक वृद्धि हुई। इसी समय सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त के क्रान्तिकारी कार्यों और लाहौर षड्यन्त्र अभियोग के कारण भी भारत का राजनीतिक वातावरण अत्यधिक उत्तेजनापूर्ण हो गया था।

इस प्रकार 1930 के प्रारम्भ में चारों ओर अत्यधिक उत्तेजना का वातावरण था और इस बात के चिन्ह विद्यमान थे कि यदि महात्मा गांधी अहिंसात्मक आन्दोलन का श्रीगणेश न करते, तो बहुत अधिक दुर्दशा व नौकरशाही दमन-चक्र के कारण भारत में हिंसक क्रान्ति का सूत्रपात हो जाता। गांधीजी इस बात से अवगत थे, अतः उन्होंने स्थिति में सुधार या स्थिति को नियन्त्रित करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए। इस स्थिति में भारत के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में 26 जनवरी, 1930 को पूर्ण स्वाधीनता दिवस बहुत उत्साहपूर्वक मनाया गया।[2]

कांग्रेस का आन्दोलन छेड़ने का निर्णय—कांग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठक 14 से 16 फरवरी, 1930 तक साबरमती में हुई। कांग्रेस कार्यकारिणी ने स्थिति का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और एक प्रस्ताव पास कर महात्मा गांधी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन करने के सम्पूर्ण अधिकार दे दिए।

यद्यपि कार्यकारिणी ने गांधीजी को आन्दोलन प्रारम्भ करने के सम्पूर्ण अधिकार दे दिए थे, किन्तु शान्तिवादी और समझौते में विश्वास करने वाले होने के नाते गांधीजी ने वायसराय को एक और मौका दिया। अपने साप्ताहिक पत्र **'यंग इण्डिया'** के एक लेख में उन्होंने वायसराय को निम्नलिखित 11 शर्तें बतायीं और आश्वासन दिया कि यदि सरकार उन्हें मान ले तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन का नाम भी नहीं सुनना पड़ेगा :

1. पूर्ण नशाबन्दी हो।
2. मुद्रा विनिमय में एक रुपया एक शिलिंग चार पेंस के बराबर माना जाए।
3. मालगुजारी आधी कर दी जाए और उसे विधानमण्डल के नियन्त्रण में रखा जाए।
4. नमक पर लगने वाला कर बन्द हो।
5. सैनिक व्यय कम हो और शुरू में आधा कर दिया जाए।
6. शासन व्यय में कमी करने के लिए अधिकारियों के वेतन आधे या उससे कम कर दिए जाएं।
7. विदेशी वस्त्रों पर तट-कर लगाया जाए, ताकि देशी उद्योग का संरक्षण हो।
8. तटीय व्यापार संरक्षण कानून पारित किया जाए।

1 Polak, *Mahatma Gandhi*, p. 173.
2 डॉ. पट्टाभि, **कांग्रेस का इतिहास**, पृ. 295।

9. हत्या या हत्या की चेष्टा में दण्डित बन्दियों को छोड़कर शेष सभी राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिए जाएं, सभी मुकदमे वापस लिए जाएं और भारत से निर्वासित किए गए सभी लोगों को आने दिया जाए।
10. खुफिया पुलिस तोड़ दी जाए या इसे जन-नियन्त्रण में रखा जाए।
11. आत्म-रक्षा के लिए बन्दूक आदि हथियारों के लाइसेंस दिए जाएं।

शासन ने पत्र का सहानुभूतिपूर्वक उत्तर देने के बजाय कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी प्रारम्भ कर दी। ऐसी स्थिति में महात्मा गांधी के सामने आन्दोलन प्रारम्भ करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचा।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारंभ—डाण्डी यात्रा—महात्माजी ने अब आन्दोलन चलाने के ढंग पर विचार करना प्रारम्भ किया और यह निश्चय किया कि सर्वप्रथम स्वयं वे डाण्डी समुद्र-तट पर शासन की आज्ञा प्राप्त किए बिना नमक बनायेंगे और इस प्रकार कानून का उल्लंघन करेंगे।

11 मार्च, 1930 को सावरमती के मैदान में 75 हजार व्यक्तियों ने एकत्रित होकर प्रण किया कि जब तक भारत स्वाधीन नहीं हो जाता तब तक न तो हम स्वयं चैन लेंगे न सरकार को चैन लेने देंगे।

12 मार्च, 1930 को महात्मा गांधी और उनके द्वारा चुने गये 79 कार्यकर्ता साबरमती आश्रम से डाण्डी समुद्र-तट की ओर चल पड़े। दो सौ मील की लम्बी यात्रा पैदल चलकर 24 दिनों में तय की गयी और यह पैदल यात्रा **'महान आन्दोलन का महान प्रारम्भ' थी। बल्लभ भाई पटेल आगे चले और उन्होंने महात्माजी के आगमन के लिए जनता को तैयार किया।** महात्मा गांधी 5 अप्रैल, 1930 को डाण्डी पहुंचे और 6 अप्रैल को उन्होंने डाण्डी समुद्र-तट पर स्वयं नमक कानून का उल्लंघन कर सत्याग्रह का श्रीगणेश किया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का कार्यक्रम—गांधीजी का उपर्युक्त कार्य भारत के विभिन्न भागों में विशाल पैमाने पर सविनय अवज्ञा के शुरू किए जाने का संकेत चिन्ह था। 6 अप्रेल को महात्मा गांधी ने आन्दोलन के लिए निम्न कार्यक्रम निर्धारित किया—'गांव-गांव' को नमक बनाने के लिए निकल पड़ना चाहिए। बहनों को शराब, अफीम और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना देना चाहिए। विदेशी वस्त्रों को जला देना चाहिए। हिन्दुओं को अस्पृश्यता त्याग देनी चाहिए, विद्यार्थी सरकारी शिक्षण संस्थाएं छोड़ दें और सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दें।'' 4 मई को महात्माजी की गिरफ्तारी के बाद कर-बन्दी को भी आन्दोलन के कार्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया।

आन्दोलन का उत्कर्ष और सरकार का दमन चक्र—महात्माजी द्वारा नमक कानून का उल्लंघन किए जाने के शीघ्र बाद ही आन्दोलन पूरे जोर में आ गया और इसके सम्पूर्ण देश को अपने प्रभाव में ले लिया। मध्य प्रान्त में 'जंगल कानून' और कलकत्ता में 'राजद्रोह' सभा अधिनियम का उल्लंघन किया गया। संयुक्त प्रान्त, मद्रास, मध्य प्रान्त, बम्बई और बंगाल में शासन की अनुमति प्राप्त किए बिना अवैधानिक नमक बनाना प्रारम्भ कर दिया गया। विदेशी वस्त्र और अन्य सामान का बहिष्कार व शराब की दुकानों पर धरना भी सफलतापूर्वक प्रारम्भ कर दिया गया। आन्दोलन प्रारम्भ होने के एक माह के अन्दर 200 पटेल और पटवारियों ने त्याग-पत्र दे दिए और सैकड़ों अन्य सरकारी नौकरों ने भी ऐसा ही किया। विदेशी वस्त्र के बहिष्कार को महान सफलता प्राप्त हुई। आन्दोलन की विशेष बात यह थी कि भारतीय स्त्रियों ने अपने परम्परागत संकोच का त्याग कर बहिष्कार, पिकेटिंग और स्वदेशी प्रचार में आन्दोलनकारियों के साथ मिलकर कार्य किया। अकेले दिल्ली में लगभग 1,700 महिलाएं शराब की दुकानों पर धरना देने के अपराध में गिरफ्तार की गयीं। 4 मई को गांधीजी की गिरफ्तारी पर बम्बई, कलकत्ता और अन्य स्थानों पर सम्पूर्ण और स्वेच्छापूर्वक हड़ताल हो गयी। बम्बई में जी. आई. पी. और बी. बी. सी. आई. के कारखाने के मजदूर भी काम छोड़कर हड़ताल में सम्मिलित हो गये।

आन्दोलन के प्रारम्भ होने के पहले ब्रिटिश सरकार के जिम्मेदार अधिकारियों ने आन्दोलन की टेकनीक का उपहास किया था, आन्दोलन के गति पकड़ने पर वह कुछ समय के लिए हतप्रभ-सी हो गयी। लेकिन कुछ समय बाद ही उसने निर्ममतापूर्वक दमन प्रारम्भ कर दिया। प्रदर्शनों और सार्वजनिक सभाओं को निर्दयतापूर्वक तितर-बितर किया जाने लगा और अब लाठी प्रहार दिन-प्रतिदिन की घटना हो गयी। धारासना में 2,500 स्वयंसेवकों ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई की और वे पाशविक लाठी प्रहार के शिकार हुए। ''जमीन

पीड़ा से कराहते हुए आदमियों से पट गयी थी। किसी का कन्धा टूट गया था और किसी की खोपड़ी। लोगों के सफेद कपड़े खून से तर थे।'' 'न्यूफ्रीमैन' के सम्वाददाता वेब मिलर धारासना के दृश्य और पुलिस की ज्यादतियों का वर्णन करते हुए लिखते हैं, ''18 वर्ष तक 20 देशों में सम्वाद संग्रह के काम में मैंने असंख्य उपद्रव, संघर्ष, गली-कूचों में जमकर हुई लड़ाइयां और विद्रोह देखे हैं। लेकिन धारासना जैसे रोंगटे खड़े कर देने वाले मर्मभेदी दृश्य मैंने कभी नहीं देखे। कभी-कभी ऐसी पीड़ा के दृश्य होते कि मुझे थोड़ी देर तक के लिए आंखें हटा लेनी पड़तीं। स्वयंसेवकों का अनुशासन आश्चर्यजनक था, लगता था कि उन्होंने गांधीजी की अहिंसा को घोलकर पी लिया है।''[1] धारासना के बाद बडाला के नमक डिपो पर धावा बोलते समय भी स्वयंसेवकों ने इसी प्रकार से लाठी प्रहार सहन किया।

कभी-कभी पुलिस बिलकुल मामूली-सी बातों पर छात्रों का पीछा करती हुई उनकी कक्षाओं में घुस जाती थी और उन्हें व उनके अध्यापकों को लाठियों का शिकार बनाती थी। कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया था और एक वर्ष में ही लगभग 90 हजार सत्याग्रहियों को जेल में ठूंस दिया गया। महिलाओं के साथ भी इसी प्रकार की कठोरता का बर्ताव किया गया। देश को अध्यादेश शासन के अधीन कर दिया गया था और एक के तुरन्त बाद दूसरे दमनमूलक कानूनों का बोलबाला था। करबन्दी आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सम्पत्ति के बलात ग्रहण, हरण और नीलाम का सहारा लिया था। पुलिस के जुल्मों के परिणामस्वरूप कई गांव बिलकुल उजड़ गये।

पुलिस के दमन कार्य की प्रतिक्रिया के रूप में कुछ स्थानों पर जनता ने भी हिंसात्मक कार्यवाहियां कीं। शोलापुर में एक उत्तेजित भीड़ ने थाने जला दिए तथा कुछ चौकीदारों को मार डाला। संगठित कार्यकर्ताओं ने व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, लेकिन पुलिस ने 25 व्यक्तियों को भूनकर और सैकड़ों को घायल करके प्रतिशोध लिया। पेशावर में अप्रैल 1930 में इससे भी भयंकर घटनाएं हुईं और 24 अप्रैल से 4 मई तक पेशावर में अंग्रेजी हुकूमत नहीं रही। इस अवधि में शान्तिपूर्ण व अनुशासित खुदाई खिदमतगारों ने व्यवस्था कायम रखी। इसके बाद सैनिक दस्तों ने पुनः शहर पर अधिकार कर लिया और अनेक खुदाई खिदमतगारों को मशीन-गनों से धराशायी कर दिया। इस दौर में महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि **एक गढ़वाली प्लेटून ने अपने निहत्थे मुस्लिम देशवासियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया।** आन्दोलन का दुःखदायी तथ्य यह था कि भारतीय मुसलमान उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में इस आन्दोलन से अलग ही रहे।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन और गांधी-इरविन समझौता

साइमन कमीशन द्वारा भारतीय समस्याओं को सुलझाने के लिए गोलमेज सम्मेलन का सुझाव दिया गया था। नवम्बर 1930 में लन्दन में हुए प्रथम गोलमेज सम्मेलन का कांग्रेस द्वारा बहिष्कार किया गया। ब्रिटिश शासन ने अब इस तथ्य को समझ लिया था कि राष्ट्रीय कांग्रेस के सहयोग के बिना भारत की कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती। अतः सम्मेलन के पश्चात् **जयकर तथा सप्रू** के हस्तक्षेप से 5 मार्च, 1931 को **''गांधी-इरविन समझौता''** हुआ जिसके द्वारा कांग्रेस ने आन्दोलन बन्द करने और दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया और शासन द्वारा आन्दोलन में गिरफ्तार व्यक्तियों को छोड़ने और उनकी सम्पत्ति वापस करने का वचन दिया गया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (सितम्बर 1931)

कांग्रेस के सर्वाधिकार प्राप्त प्रतिनिधि के रूप में महात्मा गांधी दूसरे गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित हुए लेकिन महात्माजी के समस्त प्रयत्नों के बावजूद ब्रिटिश शासन की अनुदारता और मि. जिन्ना की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण भारत की राजनीतिक समस्या का कोई हल नहीं निकाला जा सका। सम्मेलन 1 दिसम्बर, 1931 ई. को समाप्त हो गया। यह सम्मेलन पूर्णतया असफल रहा। वस्तुतः ब्रिटिश सरकार भारतीय समस्या का हल निकालने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं थी।

---

1 "In eighteen years of my reporting in twenty countries during which I have witnessed innumerable civil disturbances, riots, street fights and rebellions, I have never witnessed such horrowing scenes as at Dharasana."
—Web Miller, Quoted by Tendulker, *Mahatma*, Vol. III, p. 48.

पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1932-34)—भारत में महात्मा गांधी की अनुपस्थिति में गवर्नर जनरल लॉर्ड विलिंगडन के निर्देशन में ब्रिटिश नौकरशाही ने गांधी-इर्विन समझौते का खुला उल्लंघन शुरू कर दिया। दिसम्बर 1931 में जब महात्माजी गोलमेज सम्मेलन से भारत लौटे, उस समय स्थिति ऐसी हो गयी थी और विलिंगडन का रुख इतना कठोर था कि गांधीजी के सामने सविनय अवज्ञा आन्दोलन फिर से शुरू करने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहा। इस बार शासन का दमन चक्र बहुत ही अधिक कठोर था। लाठी प्रहार, गोली वर्षा, सम्पत्ति की जब्ती और सामूहिक जुर्माने नित्य के कार्यक्रम हो गये। गांधीजी को बन्दी बना लिया गया, कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया और समाचार-पत्रों पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए गए। 1932 के अन्त तक राजनीतिक बन्दियों की संख्या 2 लाख 20 हजार तक पहुंच गयी।

अत्यधिक दमन के कारण आन्दोलन की शक्ति कम होती जा रही थी। सरकार ने 8 मई, 1933 को गांधीजी को रिहा कर दिया था। 10 मई, 1933 को महात्माजी ने आन्दोलन 11 सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया। 14 जुलाई, 1933 को जन-आन्दोलन रोक कर **'व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन'** शुरू किया जो 9 माह तक चलता रहा। 7 अप्रैल, 1934 को इसे भी स्थगित कर दिया गया। अब गांधीजी के नेतृत्व पर पुनः आक्षेप हुए। कुछ दिनों बाद सरकार ने कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध उठा लिया। 1934 के बम्बई अधिवेशन में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर कांग्रेसियों को धारासभाओं में प्रवेश करने की इजाजत दे दी।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन

गोलमेज परिषद का तीसरा और अन्तिम अधिवेशन नवम्बर, 1932 में प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में राष्ट्रीय कांग्रेस और इंगलैण्ड के मजदूर दल द्वारा भाग नहीं लिया गया, इसलिए इसका कोई महत्व नहीं है। सम्मेलन में कट्टर राजभक्तों ने भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। सम्मेलन में उन बातों को पुष्ट किया गया, जो प्रथम दो सम्मेलनों में निश्चित की गयी थीं।

प्रश्न

1. 1930 में महात्मा गांधी द्वारा संचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन का वर्णन और मूल्यांकन कीजिए।
2. सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पृष्ठभूमि, कार्यक्रम और महत्व का वर्णन कीजिए।

6

भारत छोड़ो आन्दोलन और भारतीय राजनीति

[QUIT INDIA MOVEMENT AND INDIAN POLITICS]

1935 के अधिनियम की क्रियान्विति और उसका प्रभाव—ब्रिटिश संसद के द्वारा 1935 ई. में भारत के लिए 'भारतीय शासन अधिनियम, 1935' पारित किया गया। कांग्रेस में इस बात पर मतभेद थे कि इस अधिनियम के आधार पर होने वाले चुनावों में भाग लिया जाये या नहीं, लेकिन अन्त में कांग्रेस ने चुनाव में भाग लिया। 1937 के चुनाव परिणाम कांग्रेस के लिए बहुत उत्साहवर्द्धक थे। 1937 में ही 11 में से 8 प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हुआ और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के द्वारा अनेक जनहितकारी कार्य किये गये।

युद्ध का प्रारम्भ, वायसराय द्वारा भारत की ओर से युद्ध की घोषणा और प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का त्यागपत्र

3 सितम्बर, 1939 ई. को द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ। ग्रेट ब्रिटेन युद्ध से अलग नहीं रह सकता था, अतः लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता की रक्षा के नाम पर इंगलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस स्थिति में भारत के वायसराय ने भारतीय नेताओं, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों या केन्द्रीय विधानसभा से परामर्श लिए बिना ही भारत की ओर से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। भारतीय नेताओं द्वारा वायसराय के इस अशोभनीय और अपमानजनक कार्य का विरोध किया जाना नितान्त स्वाभाविक था। कांग्रेस चाहती थी कि ब्रिटिश सरकार युद्ध के उद्देश्य स्पष्ट करे और आश्वासन दे कि युद्ध के बाद भारत को स्वतन्त्रता दे दी जायगी। ब्रिटिश शासन द्वारा ऐसा कोई भी आश्वासन न दिये जाने पर कांग्रेस कार्य समिति ने 22 अक्टूबर, 1939 को प्रस्ताव पास कर प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों को त्यागपत्र देने के लिए कहा और आठ प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने तुरन्त अपने त्यागपत्र दे दिये।

अगस्त प्रस्ताव (8 अगस्त, 1940)

गवर्नर जनरल लॉर्ड लिनलिथगो ने गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के विस्तार का सुझाव प्रस्तुत करते हुए कांग्रेस से शासन के साथ सहयोग करने के लिए आग्रह किया। लेकिन यह प्रस्ताव नितान्त असन्तोषजनक था और कांग्रेस के द्वारा इसे अस्वीकार कर दिया गया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह—अगस्त प्रस्ताव जवाहरलाल नेहरू और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जैसे नेताओं के क्रियाकलापों के लिए, जो भारत की प्रतिरक्षा में सक्रिय सहयोग देना चाहते थे और जिनके नेतृत्व में कांग्रेस ने पहले महात्मा गांधी के युद्ध प्रयत्न सम्बन्धी शान्तिवाद और असहयोग सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया था, एक तीव्र आघात था। अतः कांग्रेस ने पुनः महात्मा गांधी को मार्गदर्शन के लिए आमन्त्रित किया। इस प्रकार कांग्रेस ने पुनः असहयोग के मार्ग को ग्रहण कर लिया। महात्मा गांधी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भारतीय भावनाओं को व्यक्त करना चाहते थे, लेकिन इसके साथ ही वे ब्रिटिश सरकार के सम्मुख उत्पन्न संकट की स्थिति से अनुचित लाभ उठाने के पक्ष में नहीं थे। अतः उन्होंने **सामूहिक कार्यवाही के स्थान पर सीमित पैमाने पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया।**

व्यक्तिगत सत्याग्रह केवल प्रतीकात्मक विरोध था और इसका उद्देश्य नैतिक विरोध की अभिव्यक्ति मात्र था। इस सत्याग्रह में अहिंसा के पालन पर विशेष बल दिया गया था और सामूहिक कार्यवाही को प्रत्येक रूप में निषिद्ध कर दिया गया था।

गांधीजी के विश्वस्त अनुयायी **विनोबा भावे** को प्रथम सत्याग्रही के रूप में चुना गया और उनके द्वारा 17 अक्टूबर, 1940 को पवनार में यह आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। विनोबाजी का अनुकरण पण्डित नेहरू ने किया। शीघ्र ही व्यक्तिगत सत्याग्रह का राष्ट्रव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। सत्याग्रह आन्दोलन का स्वरूप प्रतीकात्मक ही था, फिर मई 1941 तक लगभग 1,400 सत्याग्रही जेल पहुंच गये। इनमें 6 प्रान्तों के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री, 29 मन्त्री और 290 प्रान्तीय विधानमण्डलों के सदस्य थे।

सत्याग्रहियों की रिहाई और सत्याग्रह का स्थगन—7 दिसम्बर, 1941 को अमरीकी जहाज पर्ल हार्बर पर आक्रमण करने के साथ ही जापान भी युद्ध में सम्मिलित हो गया। उसने फिलीपाइन द्वीपसमूह, हिन्दचीन, मलाया आदि पर आधिपत्य कर आगे बढ़ना जारी रखा। इससे युद्ध भारत के दरवाजे तक पहुंच गया, ऐसी स्थिति में प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट ने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि सत्याग्रहियों को रिहा कर भारत में सद्भावनापूर्ण वातावरण तैयार करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। दिसम्बर 1941 में श्री जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आजाद को रिहा कर दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अधिकाधिक गम्भीर होती जा रही थी और भारत की सुरक्षा भी संकट में थी, इसलिए दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बारडोली में कांग्रेस कार्यसमिति की जो बैठक हुई, उसमें व्यक्तिगत सत्याग्रह को स्थगित कर दिया गया और सम्भावित संकट से देश की रक्षा के लिए उचित संगठन स्थापित करने का निश्चय किया गया।

क्रिप्स मिशन और क्रिप्स योजना

युद्ध के प्रारम्भिक चरण में ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। 1941 में जब जापानी सेनाएं बर्मा में भारत की सीमा तक आ पहुंची, तो ब्रिटिश सरकार को चिन्ता हुई। ब्रिटिश सरकार ने सोचा कि जापान के सम्भावित आक्रमण से भारत की रक्षा का कार्य भारत की राजनीतिक शक्तियों के सहयोग से ही सम्भव है। अतः प्रधानमन्त्री चर्चिल ने राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए मार्च 1942 में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। मई 1942 में क्रिप्स के द्वारा अपनी योजना पेश की गयी जिसके दो भाग थे: **अन्तरिम योजना और दीर्घकालीन योजना।** योजना में युद्ध समाप्ति पर भारत को स्वतन्त्रता देने की बात कही गयी थी लेकिन युद्ध होते रहने तक सुरक्षा विभाग ब्रिटिश शासन के अधिकार में रखने के लिए कहा गया। उस समय युद्ध की स्थिति ऐसी थी कि किसी भी दीर्घकालीन योजना की अपेक्षा तत्कालीन योजना में ही अधिक रुचि हो सकती थी और कांग्रेस सुरक्षा विभाग के सम्बन्ध में क्रिप्स योजना के प्रबन्ध को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। **गांधीजी ने क्रिप्स योजना को 'दिवालिया बैंक के नाम भविष्य की तिथि में भुनने वाले चैक'** (Post-dated cheque on a crashing bank) की संज्ञा दी थी। कांग्रेस तथा भारत के अन्य राजनीतिक दलों के द्वारा क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया गया।

भारत छोड़ो आन्दोलन
(QUIT INDIA MOVEMENT)

आन्दोलन के कारण

(1) **क्रिप्स मिशन की असफलता और निराशा एवं व्यग्रता का वातावरण**—क्रिप्स प्रस्तावों को एकदम वापस लिए जाने और सर क्रिप्स को एकदम इंगलैण्ड बुलाये जाने से भारत में घोर निराशा के वातावरण और इस विचार को जन्म मिला कि क्रिप्स मिशन से सम्बन्धित सम्पूर्ण क्रियाकलाप एक राजनीतिक धूर्तता मात्र थी, जिसका उद्देश्य अपने युद्ध सहयोगियों—अमरीका और चीन—को सन्तुष्ट करना और पूर्व अनुमानित असफलता का उत्तरदायित्व भारतीय जनता पर डाल देना था। यह स्वाभाविक ही था कि क्रिप्स मिशन की असफलता का भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों पर विपरीत प्रभाव पड़ता। आजाद के शब्दों में, **"मिशन का एकमात्र कार्य भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों पर अत्यधिक तीव्र आघात था।"**

(2) **बर्मा में भारतीयों के प्रति अमानवीय व्यवहार**—बर्मा पर जापान की विजय के बाद बर्मा से जो भारतीय शरणार्थी आ रहे थे, उन्होंने भारत आकर अपनी दुःखभरी कहानियां सुनायीं। अंग्रेजों और भारतीयों को बर्मा से भारत आने के लिए अलग-अलग मार्ग दिये गये थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य मि. अणे और पं. हृदयनाथ कुंजरू मि. डाम के साथ बर्मा में भारतीयों की स्थिति देखने के लिए गये। उन्होंने बाद में एक वक्तव्य में कहा कि, **"भारतीय शरणार्थियों से ऐसा अपमानजनक व्यवहार किया जा रहा है, जैसे वे किसी घटिया जाति से सम्बन्धित हों।"** गांधीजी को इस जानकारी से बहुत दुःख हुआ।

(3) **पूर्वी बंगाल में भय और आतंक का राज्य**—इस समय पूर्वी बंगाल में भय और आतंक का राज्य था। सरकार ने वहां सैनिक उद्देश्य के लिए अनेक किसानों की भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया था। इसी प्रकार सैकड़ों देशी नावों को नष्ट कर दिया गया, जिनसे हजारों परिवार पलते थे। शासन के इन कार्यों से लोगों के दुःख बहुत बढ़ गये।

(4) **शोचनीय आर्थिक स्थिति और शासन में अविश्वास**—इस समय वस्तुओं के दाम अधिक बढ़ जाने के कारण लोगों की परेशानियां बहुत बढ़ गयी थीं। युद्ध की स्थिति और वस्तुओं के दाम बेतहाशा बढ़ते जाने के कारण लोगों का कागज के नोटों से विश्वास उठता जा रहा था। मध्यम वर्ग की स्थिति विशेष रूप से ऐसी ही थी।

(5) **जापानी आक्रमण का भय और ब्रिटिश रक्षा व्यवस्था में भारतीयों का अविश्वास**—जापान के द्वारा सिंगापुर, मलाया और बर्मा में अंग्रेजों को पराजित कर दिया गया था और प्रतिक्षण भारत पर जापानी आक्रमण का भय था। महात्मा गांधी और अन्य भारतीय नेताओं का विचार था कि अंग्रेज भारत की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इसके साथ ही वे यह सोचते थे कि अंग्रेज शासक के रूप में भारत छोड़कर चले जायें, तो शायद जापान का आक्रमण न हो। 'हरिजन' में अपने एक लेख में उन्होंने लिखा था, **"भारत के लिए उसके परिणाम कुछ भी क्यों न हों भारत और ब्रिटेन की वास्तविक सुरक्षा, समय रहते इंगलैण्ड के भारत छोड़ देने में ही है।"**

आन्दोलन का विचार और वर्धा प्रस्ताव (जुलाई 1942)

जुलाई 1942 में कांग्रेस कार्य समिति की वर्धा में जो बैठक हुई, उसमें गांधीजी के इन विचारों का समर्थन किया गया कि भारतीय समस्या का हल अंग्रेजों के भारत छोड़ देने में ही है। 14 जुलाई को कार्य समिति ने इस आशय का प्रस्ताव पास किया, जो 'वर्धा प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध है।

वर्धा प्रस्ताव के उपरान्त—वर्धा प्रस्ताव के उपरान्त जनता में यह भावना जाग्रत हुई कि कांग्रेस की ओर से अति शीघ्र ही जन-आन्दोलन की घोषणा की जायेगी, किन्तु कांग्रेस ने जन-आन्दोलन की घोषणा के पहले आवश्यक तैयारी कर लेना उचित समझा। कांग्रेसी नेता जन-जागृति को और अधिक प्रबल बनाने के प्रयत्न में लगे रहे। 1 अगस्त, 1942 को इलाहाबाद में तिलक दिवस मनाया गया। इस अवसर पर पं. नेहरू ने अपने भाषण में कहा कि **'हम आग के साथ खेलने जा रहे हैं।'** इसी समय बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने व्यक्त किया, **"हमको इस बार गोली खाने और तोप का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए।"** सरदार पटेल ने बम्बई में कहा, **"इस बार का आन्दोलन थोड़े दिनों का किन्तु बड़ा भयानक होगा।"** भारत सरकार कांग्रेस की इस प्रक्रिया से उदासीन नहीं थी। उसने सम्भावित जन-आन्दोलन को कुचलने का निश्चय कर लिया था।[1]

8 अगस्त, 1942 का भारत छोड़ो प्रस्ताव—वर्धा प्रस्ताव के निश्चय के अनुसार 7 अगस्त को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन आरम्भ हुआ। न केवल भारत वरन् सम्पूर्ण संसार की निगाहें इस अधिवेशन पर लगी हुई थीं। भविष्य के इतिहास तथा घटनाओं ने इस अधिवेशन को ऐतिहासिक अधिवेशन की संज्ञा प्रदान की। इस समिति ने पर्याप्त विचार-विमर्श के उपरान्त **'भारत छोड़ो प्रस्ताव'** (Quit India Resolution) पास किया, जिसमें कहा गया था कि, **"यह समिति कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के 14 जुलाई, 1942 के प्रस्ताव का समर्थन करती है तथा उसका यह विश्वास है कि बाद की घटनाओं ने इसे और भी औचित्य प्रदान कर दिया और इस बात को स्पष्ट कर दिखाया है कि भारत में ब्रिटिश शासन का तत्काल ही अन्त, भारत के लिए और मित्र-राष्ट्रों के आदर्श के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी के ऊपर युद्ध का भविष्य एवं स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की सफलता निर्भर है।"**

क्योंकि कांग्रेस इस बात से परिचित थी कि अंग्रेज भारत छोड़कर आसानी से नहीं जायेंगे, अतः एक जन-आन्दोलन के संचालन का निश्चय किया गया। लेकिन इस आन्दोलन की तिथि की घोषणा नहीं की गयी थी, क्योंकि गांधीजी आन्दोलन छेड़ने से पूर्व एक बार सरकार से अन्तिम बात कर लेना चाहते थे। गांधीजी ने इस समय कांग्रेस कार्य समिति के सम्मुख 70 मिनट तक भाषण दिया। पट्टाभि सीतारमैय्या के शब्दों में, **"वास्तव में गांधीजी उस दिन एक अवतार और पैगम्बर की प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर भाषण दे रहे थे।"** अपने इस दिव्य भाषण के अन्त में गांधीजी ने भारतवासियों को **'करो या मरो'** (Do or Die) का इतिहास-प्रसिद्ध सन्देश दिया, जिसका तात्पर्य यह था कि भारतवासियों द्वारा स्वाधीनता प्राप्ति के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न

1 *Indian Annual Register*, Vol. I, 1942, p. 144.

किया जाना चाहिए किन्तु उन्होंने यह नितान्त स्पष्ट कर दिया था कि वे यह नहीं चाहते कि उनके द्वारा की गयी कार्यवाही हिंसात्मक हो।

अगस्त क्रान्ति एवं शासन का दमन (August Revolution and Government Repression)—कांग्रेस द्वारा संचालित पिछले दो आन्दोलनों में कांग्रेस द्वारा आन्दोलन प्रारम्भ किये जाने के बाद ही ब्रिटिश सरकार ने दमन-चक्र प्रारम्भ किया था, लेकिन इस बार आन्दोलन और दमन-चक्र का क्रम विपरीत हो गया। गांधीजी ने 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' पारित करते हुए कहा था कि आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व वे एक बार वायसराय महोदय से वातचीत करेंगे लेकिन सरकार ने गांधीजी को इस प्रकार की बातचीत का अवसर ही नहीं दिया। 9 अगस्त को प्रातः काल ही महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य नेता गिरफ्तार कर लिये गये। गांधीजी तथा श्रीमती सरोजनी नायडू को पूना के आगाखां महल में बन्दी बनाया गया और कांग्रेस कार्यसमिति के अन्य सदस्यों को अहमदनगर दुर्ग में वन्दी बनाया गया। इसके उपरान्त एक-दो दिन में ही प्रान्तीय नेताओं को भी कारागार में डाल दिया गया। महात्मा गांधी और कांग्रेस के दूसरे नेताओं को बन्दी बनाने से पूर्व 8 अगस्त की रात्रि को शासन द्वारा एक विज्ञप्ति प्रसारित की गयी, जिसमें कांग्रेस द्वारा अपनाये जाने वाले कार्यक्रम का उल्लेख था। शासन ने इस विज्ञप्ति को समाचार-पत्रों में प्रकाशित करते हुए कहा कि इस कार्यक्रम के कारण ही नेताओं को गिरफ्तार करने की आवश्यकता हुई। इस विज्ञप्ति के अनुसार रेल की पटरियों को तोड़ा जाना, टेलीफोन व टेलीग्राम के तारों को तोड़ा जाना कार्यक्रम का अंग था।

शासन द्वारा भारतीय नेताओं को कारावास में डाल दिये जाने से जनता अवाक्-सी रह गयी। जनता शासन की नीति से ऊब तो पहले ही चुकी थी, मार्ग-निर्देशन के अभाव में जनता के इस विरोध ने व्यापक जन-विद्रोह का रूप धारण कर लिया, जनता ने सरकार की नीति का विरोध करने के अभिप्राय से जुलूस निकाले, सभाएं कीं तथा हड़तालों का आयोजन किया। सरकार ने प्रदर्शनकर्ताओं के साथ कठोर व्यवहार किया और कहीं-कहीं तो गोलियों का प्रयोग भी किया गया। सरकार के दमन-चक्र के कारण शान्तिपूर्ण ढंग से विरोधव्यक्त करने के सभी साधन वन्द हो गये। जनता ने बाध्य होकर हिंसात्मक कार्य करने प्रारम्भ किये। संचार साधन भंग कर दिये गये और रेलवे व पुलिस स्टेशन जला दिये गये। जमशेदपुर, बम्बई व अहमदाबाद के मजदूरों ने हड़तालें कीं और लगभग एक सप्ताह के लिए बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली, मद्रास, बंगलौर व अमृतसर में सार्वजनिक जीवन बिलकुल ठप्प हो गया। कई स्थानों पर ब्रिटिश शासन का बिलकुल अन्त हो गया और वहां समानान्तर सरकारें स्थापित हो गयीं। संयुक्त प्रान्त में बलिया तथा बस्ती जिले में, बम्बई में सतारा में, बंगाल के मिदनापुर जिले में और बिहार के अन्य भागों में ऐसा ही हुआ। उस समय की स्थिति को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि ब्रिटिश शासन का भारत से शीघ्र अन्त हो जायेगा। "1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन ने कितना उग्र रूप धारण कर लिया था इसका कुछ अनुमान उन आंकड़ों के द्वारा लगाया जा सकता है जो फरवरी 1943 में भारत सरकार के युद्ध सदस्य सर रैजीनाल्ड मैक्सवेल ने केन्द्रीय विधानसभा में प्रस्तुत किये थे। इन आंकड़ों के अनुसार 1942 के आन्दोलन में पुलिस और सेना द्वारा 538 बार गोलियां चलायी गयीं जिसके परिणामस्वरूप 940 व्यक्ति मारे गये और 1,360 घायल हुए। 60,229 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। 220 के लगभग रेलवे स्टेशन नष्ट कर दिये गये, 550 के लगभग डाकखानों पर हमला हुआ जिनमें से 50 बिलकुल जला डाले गये और 200 को भारी नुकसान पहुंचा। 3,500 स्थानों पर तार और टेलीफोन की लाइनों को काटा गया। 70 थाने और अन्य 85 सरकारी भवनों को जलाकर धराशायी कर दिया गया।"

शासन द्वारा सर्वत्र आन्दोलन का बहुत अधिक कठोरतापूर्वक दमन किया गया। माइकेल ब्रेचर के शब्दों में, "संक्षेप में, सर्वत्र सरकारी दमन बहुत अधिक कठोर था। 1857 के बाद भारत में ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध सबसे बड़े विद्रोह का सामना करने के लिए पुलिस राज्य स्थापित किया गया।"[1] इस प्रकार के अमानवीय दमन ने खुले विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त की, लेकिन आन्दोलन भूमिगत हो गया और जयप्रकाश नारायण, डॉ. राम मनोहर लोहिया, अरुणा आसफअली और अच्युत पटवर्धन जैसे समाजवादी नेताओं द्वारा इसका संचालन किया जाने लगा।

1 Michael Brecher, *Nehru, A Political Biography*, p. 289.

विभिन्न दलों की प्रतिक्रिया—इस आन्दोलन का समर्थन भारत के लगभग सभी राजनीतिक दलों द्वारा किया गया। समाजवादी नेताओं ने तो आन्दोलन के सम्बन्ध में पूर्णतः कांग्रेस का साथ दिया लेकिन साम्यवादियों द्वारा देश के लिए घातक नीति अपनायी गयी और उनके कार्यों ने सिद्ध कर दिया कि उनकी भक्ति अपनी मातृभूमि के स्थान पर तथाकथित सर्वहारावर्ग की भूमि के प्रति ही है। 1939 में जबकि युद्ध प्रारम्भ हुआ भारतीय साम्यवादियों द्वारा ब्रिटिश युद्ध प्रयत्नों की निन्दा करते हुए इसे **'साम्राज्यवादी युद्ध'** की संज्ञा दी गयी, लेकिन 1941 में जैसे ही सोवियत रूस मित्र राष्ट्रों की ओर से सम्मिलित हुआ, भारतीय साम्यवादियों के लिए कल तक का साम्राज्यवादी युद्ध **'लोक युद्ध'** (People's War) में परिणत हो गया। साम्यवादी दलों ने लीग के साथ गठबन्धन कर उनकी पाकिस्तान सम्बन्धी योजना के पक्ष में विचार प्रकट किये तथा कांग्रेस को आन्दोलन स्थगित करने की सलाह दी। साम्यवादियों के ये कार्य राष्ट्रीय आन्दोलन की पीठ में छुरा भोंकने के समान थे। मुस्लिम लीग ने कहा कि इस आन्दोलन का लक्ष्य भारतीय स्वतन्त्रता नहीं, वरन् भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना है और इस कारण यह आन्दोलन मुसलमानों के लिए घातक है।[1] मि. जिन्ना ने कहा कि कांग्रेस के साथ उसी समय सहयोग किया जा सकता है जबकि कांग्रेस पाकिस्तान निर्माण की बात स्वीकार कर ले।

न केवल साम्यवादी दल और मुस्लिम लीग वरन् भारत के अन्य कुछ दलों द्वारा भी भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया गया। उदारवादी नेता **तेज बहादुर सप्रू** के द्वारा वर्धा प्रस्ताव को **'अविचारित और असामयिक'** (ill-considered and ill-opportune) बताया गया और दलित वर्गों के नेता **डॉ. अम्बेडकर** ने गांधीजी द्वारा संचालित आन्दोलन को **'अनुत्तरदायित्व और पागलपन भरा कार्य'** बताया। हिन्दू महासभा के नेता **सावरकर** के द्वारा भी गांधी की नजरबन्दी के दिन ही हिन्दुओं से अपील की गयी कि उनके द्वारा कांग्रेस के आन्दोलन में सहयोग न दिया जाय।[2]

आन्दोलन के परिणाम—भारत छोड़ो आन्दोलन महात्मा गांधी द्वारा अब तक किये गये आन्दोलनों में सबसे भीषण और भारतीय स्वतन्त्रता के लिए किया गया महानतम प्रयास था। आन्दोलन का उद्देश्य भारत के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना था और इस बात को स्वीकार करना होगा कि आन्दोलन द्वारा तत्काल ही भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त न कर सकने या जिसे **आन्दोलन की असफलता** कहा जाता है के कारण इस प्रकार थे :

(1) **आन्दोलन के संगठन में कमियां**—भारत छोड़ो आन्दोलन एक जन-आन्दोलन था और इस प्रकार के जन-आन्दोलन को सफल बनाने के लिए व्यापक तैयारियां की जानी चाहिए थीं। आन्दोलन के नेताओं द्वारा अपनी रणनीति निश्चित कर ली जानी चाहिए थी और इसके पूर्व कि शासन उनको गिरफ्तार करे, उन्हें अज्ञात स्थान में चला जाना चाहिए था। वस्तुतः इस प्रकार की कोई तैयारी नहीं की गयी थी। ऐसी स्थिति में जब शासन द्वारा दमन कार्य की पहल की गयी, तो आन्दोलनकारी हतप्रभ रह गये और प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के कारण आन्दोलन नेतृत्वविहीन हो गया।

(2) **सरकारी नेताओं और उच्च वर्गों की वफादारी**—भारत छोड़ो आन्दोलन तत्काल ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति में इसलिए भी असफल रहा कि देशी रियासतों के नरेश, सेना, पुलिस, उच्च सरकारी अधिकारी तथा कर्मचारी आन्दोलन काल में सरकार के प्रति पूर्ण वफादार बने रहे और इससे शासन कार्य बेरोकटोक चलता रहा।

(3) **आन्दोलनकारियों की तुलना में शासन की कई गुना शक्ति**—वस्तुतः आन्दोलन की तात्कालिक असफलता अवश्यम्भावी थी क्योंकि आन्दोलनकारियों की तुलना में शासन की शक्ति कई गुना थी। आन्दोलनकारियों की न तो कोई गुप्तचर व्यवस्था थी और न ही एक स्थान से दूसरे स्थान को सन्देश भेजने के साधन थे। उनकी आर्थिक शक्ति भी ब्रिटिश शासन की तुलना में बहुत कम थी।

आन्दोलन का एक अवांछनीय परिणाम लीग की शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि के रूप में सामने आया।

आन्दोलन का महत्व—यद्यपि भारत छोड़ो आन्दोलन अपने मूल लक्ष्य भारत से ब्रिटिश शासन की समाप्ति को तात्कालिक रूप से प्राप्त नहीं कर सका, लेकिन इस आन्दोलन ने भारत की जनता में एक ऐसी अपूर्व जागृति उत्पन्न कर दी जिससे ब्रिटेन के लिए भारत पर लम्बे समय तक शासन कर सकना सम्भव नहीं रहा। ए. सी. बनर्जी के शब्दों में, **"इस विद्रोह के परिणामस्वरूप अधिराज्य की पुरानी मांग सर्वथा समाप्त हो गयी और**

1 Sitaramaya, *History of the Indian National Congress*, Vol. II, p. 462.
2 *Ibid.*, p. 466.

उसका स्थान पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग ने ले लिया।''[1] इस सम्बन्ध में डॉ. ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं, **''अगस्त क्रान्ति अत्याचार और दमन के विरुद्ध भारतीय जनता का विद्रोह था और इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बेस्टिले के पतन या सोवियत रूस की अक्टूबर क्रान्ति से की जा सकती है। यह क्रान्ति जनता में उत्पन्न नवीन उत्साह तथा गरिमा की सूचक थी।''**[2]

इस आन्दोलन से उत्पन्न चेतना के परिणामस्वरूप ही 1946 ई. में जल सेना का विद्रोह हुआ, जिसने भारत में ब्रिटिश शासन पर और भयंकर चोट की। इस आन्दोलन तथा कुछ अन्य तत्वों के परिणामस्वरूप ही युद्ध के बाद अमरीका तथा इंगलैण्ड में लोकमत इतना अधिक भारत के पक्ष में हो गया कि इंगलैण्ड को विवश होकर भारत छोड़ना पड़ा। इस प्रकार यह निश्चित तथ्य है कि भारत छोड़ो आन्दोलन ने भारतीय स्वतन्त्रता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार—जुलाई 1945 में ब्रिटेन में जो आम चुनाव हुए उनमें मजदूर दल को आशातीत सफलता प्राप्त हुई और चर्चिल के स्थान पर मजदूर दल के नेता **मि. एटली** इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री बने। नये प्रधानमन्त्री एटली ने भारतीय समस्या को हल करने का दृढ़ निश्चय किया।

भारत में चुनाव और चुनाव परिणाम—1945 में भारत में भी चुनाव हुए और चुनाव में राष्ट्रीय कांग्रेस तथा अन्य सभी राजनीतिक दलों ने भी भाग लिया। कांग्रेस को निर्वाचन में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। इसने लगभग सभी सामान्य और मुस्लिम स्थानों पर अधिकार कर लिया। लेकिन चुनाव परिणाम का एक दूसरा पक्ष भी था और वह यह था कि बंगाल, पंजाब तथा सिन्ध के मुस्लिम बहुल प्रान्तों में जनता का समर्थन कांग्रेस को नहीं वरन् मुस्लिम लीग को प्राप्त हुआ था। इस प्रकार भारत के मुसलमान तेजी से लीग की ओर झुक रहे थे।

सेना में विद्रोह—भारतीय सेना में भी ब्रिटिश शासन से असन्तोष बढ़ता जा रहा था और इस असन्तोष का विस्फोट 18 फरवरी, 1946 को बम्बई में हुआ, जबकि जलसेना के द्वारा खुला विद्रोह कर दिया गया। विद्रोह अन्य बन्दरगाहों में स्थित नौ सेना में भी फैल गया और बम्बई के तीन लाख मजदूरों ने भी सहानुभूति में हड़ताल कर दी, लेकिन थोड़े समय बाद कांग्रेस और लीगी नेताओं के हस्तक्षेप से स्थिति शान्त हो गयी। विद्रोह ने ब्रिटिश सम्मान को आघात पहुंचाने के साथ विदेशी शासकों को यह भी समझा दिया कि अब भारत को और अधिक समय तक परतन्त्र नहीं रखा जा सकेगा।

केबिनेट मिशन योजना—ब्रिटिश सरकार ने मार्च 1946 में **सर पैथिक लारेंस, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और सर ए. बी. एलेक्जेण्डर** का तीन-सदस्यीय कमीशन भारत भेजा। मिशन द्वारा भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच समझौता कराने का फैसला किया गया लेकिन जब इस प्रयास में सफलता प्राप्त नहीं हुई तो 15 मई को केबीनेट मिशन की ओर से अपनी योजना पेश की गयी। केबीनेट मिशन योजना को भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा स्वीकार कर लिया गया। योजना के अनुसार भारत के नवीन संविधान का निर्माण करने हेतु संविधान सभा के सदस्यों का प्रान्तीय विधानसभा के सदस्यों द्वारा चुनाव किया गया।

अन्तरिम सरकार का निर्माण—केबीनेट मिशन योजना के आधार पर सितम्बर 1946 में **पं. नेहरू की अध्यक्षता** में अन्तरिम सरकार का निर्माण हुआ। पहले तो मुस्लिम लीग द्वारा केबीनेट योजना को स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन बाद में कांग्रेस और लीग में मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण लीग ने योजना को अस्वीकार कर दिया। अक्टूबर 1946 में लीग अन्तरिम सरकार में शामिल हुई, किन्तु लीग द्वारा शासन को दृढ़ता प्रदान करने के स्थान पर सरकार में प्रवेश कर सरकार को असफल करने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया गया।

माउण्टबेटन योजना—शीघ्रातिशीघ्र सत्ता हस्तान्तरण करने हेतु लॉर्ड वैवल के स्थान पर लॉर्ड माउण्टबेटन को भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया और उन्होंने 23 मार्च, 1947 को अपने पद का कार्यभार सँभाला। लार्ड माउण्टबेटन भारतीय नेताओं से बातचीत करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारतीय समस्या का एकमात्र हल पाकिस्तान की स्थापना को स्वीकार कर लेना ही है। कांग्रेस ने भी परिस्थितियों के दबाव से भारतीय समस्या के इस दुःखद हल को स्वीकार कर लिया। लार्ड माउण्टबेटन के द्वारा 3 जून, 1947

1 "The old talk of dominion status was absolutely forgotten....India would have nothing, short of independence."
—A. C. Bannerjee, *The Constituent Assembly of India*, p. XXI.

2 "The August revolution....was a revolt of the people against tyranny and oppression and can be compared with the fall of Bastille in the history of France or the October revolution of Russia...It was symbolic of a new confidence and a new stature that the people had attained." —Dr. I. Prasad, *History of Modern India*, p. 458.

को अपनी योजना '**माउण्टबेटन योजना**' प्रस्तावित की गयी। इस योजना में प्रमुख रूप से दो बातें थीं—प्रथम, 1947 में ही भारत को सत्ता का हस्तान्तरण और द्वितीय, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान इस प्रकार के दो राज्यों में भारत का विभाजन। लीग तथा कांग्रेस दोनों के ही द्वारा इस योजना को स्वीकार कर लिया गया।

प्रश्न

1. उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए, जिन्होंने 1942 ई. में भारत छोड़ो आन्दोलन को जन्म दिया। इस आन्दोलन का स्वाधीनता आन्दोलन में योगदान बतलाइए।
2. भारत छोड़ो आन्दोलन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
3. भारत की स्वतंत्रता में गांधीजी के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
4. 1947 में भारत की स्वतंत्रता के लिए उत्तरदायी तत्वों की विवेचना कीजिए।

संवैधानिक विकास

(CONSTITUTIONAL DEVELOPMENT)

1

भारतीय शासन कानून 1858, भारतीय परिषद अधिनियम 1861 और भारतीय परिषद अधिनियम 1892

[GOVT. OF INDIA ACT, 1858, INDIAN COUNCIL ACT 1861 AND INDIAN COUNCIL ACT 1892]

भारतीय शासन कानून 1858

1853 के चार्टर के बाद कम्पनी व्यापार संचालन में ध्यान देने की अपेक्षा साम्राज्य विस्तार पर अधिक ध्यान देने लगी। परिणामस्वरूप छोटे-छोटे तथा बिखरे हुए भारतीय राजवंशों में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और सामान्य जनता भी इससे अछूती नहीं रही। परिणामस्वरूप 1857 की क्रान्ति जिसे भारतीय गदर, सिपाही युद्ध, प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम, आदि नामों से जाना जाता है, एक असाधारण घटना थी। इसने कम्पनी के प्रशासन के कतिपय स्पष्ट दोषों की ओर ध्यान आकर्षित किया और अब सर्वत्र यह स्वीकार किया गया कि भारतीय शासन की सत्ता का सम्राट को हस्तान्तरण किया जाना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन के सम्प्रभु सम्राट और संसद ने अब भारतीय प्रशासन के संचालन में पहले से अधिक, प्रत्यक्ष और उत्तरदायित्वपूर्ण तरीके से भाग लेने का निश्चय किया। परिणामतः नवम्बर, 1858 में सम्राट ने भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया।

अधिनियम के मुख्य उपबन्ध

(i) भारत का शासन ब्रिटिश क्राउन के हाथों में सौंपा गया—अधिनियम द्वारा कम्पनी के भारतीय प्रदेशों का शासन तथा उनका राजस्व ब्रिटिश सम्राट को सौंप दिया गया। उसे भारतीय रियासतों पर अपना प्रभुत्व वनाये रखने तथा उनसे कर, आदि लेने का अधिकार भी दिया गया।

(ii) भारतमंत्री के पद की व्यवस्था—'बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल' और 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' का अन्त कर दिया गया और उनके समस्त अधिकार 'भारत मंत्री' को हंस्तान्तरित कर दिये गये।

(iii) भारतमंत्री की सहायता हेतु भारत परिषद् की स्थापना—भारत मंत्री की सहायता हेतु 15 सदस्यों की एक 'भारत परिषद्' की व्यवस्था की गयी। इनमें से 7 सदस्य 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' द्वारा नियुक्त किये जाने थे और शेष 8 सदस्य ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त किये जाने थे। भविष्य में रिक्त स्थानों की पूर्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की जाती थी।

(iv) भारतमंत्री की शक्तियां—भारतमंत्री को अपनी परिषद के निर्णयों को रद्द करने का अधिकार प्राप्त था, किन्तु भारतीय राजस्व के अनुदान अथवा विनियोग एवं सम्पत्ति बेचने या बंधक रखने से सम्बन्धित कार्यों के विषय में उसे परिषद् की सम्मति से कार्य करना आवश्यक था और उसका निर्णय परिषद् के वहुमत से होता था।

(v) भारत परिषद् की कार्यप्रणाली—परिषद् की बैठक सप्ताह में कम-से-कम एक बार होना जरूरी थी और इसकी गणपूर्ति 5 सदस्यों की थी। साधारणतया भारत को भेजे जाने वाले सभी पत्रों की सूचना इस परिषद् को दी जाती थी, किन्तु भारतमंत्री को गवर्नर-जनरल के पास गुप्त पत्र भेजने और वहां से गुप्त राज पत्र प्राप्त करने का अधिकार दिया गया। इन पत्रों को परिषद् के समक्ष रखने की आवश्यकता नहीं थी।

(vi) **भारतमन्त्री को भारत परिषद् का अध्यक्ष नियुक्त किया गया**—परिषद के सदस्यों के लिए भारतमंत्री के आदेशानुसार कार्य करना अनिवार्य किया गया। हर आदेश पत्र पर भारत मंत्री के हस्ताक्षर होने जरूरी थे। उसे न केवल एक सम्मति देने का ही अधिकार दिया गया अपितु निर्णयात्मक मत देने का भी अधिकार दिया गया।

(vii) **सपरिषद् भारतमंत्री एक संयुक्त निकाय**—सपरिषद् भारतमंत्री को एक संयुक्त निकाय बना दिया गया जो भारत अथवा इंग्लैण्ड में अभियोग का वादी अथवा प्रतिवादी हो सकता था।

(viii) **नियुक्तियां**—इस अधिनियम के द्वारा यह निश्चित किया गया कि भविष्य में गवर्नर-जनरल, परिषद् के विधि सदस्य, प्रान्तों के गवर्नरों और महाधिवक्ताओं की नियुक्ति राजसत्ता द्वारा की जायेगी और परिषदों के सदस्यों का चुनाव साधारणतया सपरिषद भारतमंत्री द्वारा किया जायेगा।

(ix) अधिनियम में कहा गया कि कम्पनी द्वारा की गयी सभी संधियां राजसत्ता के लिए बंधनकारी होंगी।

(x) अधिनियम द्वारा कम्पनी की स्थल और जल सेना को राजसत्ता के अधिकार में सौंप दिया गया।

(xi) भारतमंत्री और उसकी परिषद् के सदस्यों के वेतन, उसके कार्यालय खर्च तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ऋण, आदि भारत के राजस्व से दिए जाने की व्यवस्था की गई।

1858 के अधिनियम का पूरा नाम था, 'सत्ता हस्तान्तरण और भारत के श्रेष्ठतर शासन हेतु कानून' सत्ता हस्तान्तरण निश्चित रूप से हुआ, लेकिन भारत के शासन के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार को प्रत्यक्ष रूप से सत्ता प्राप्त हो जाने पर भी भारत के शासन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण परिवर्तन न होने के कारण यह सत्ता हस्तान्तरण मात्र एक औपचारिकता थी। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठतर शासन तो तभी सम्भव हो सकता था, जबकि भारतीयों को भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में कोई हिस्सेदारी दी जाती, लेकिन वस्तुतः ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया गया। ऐसी स्थिति में भारत के बहुमत का असन्तुष्ट रहना स्वाभाविक था।

अब भारत के बहुत बड़े वर्ग द्वारा वैधानिक सुधारों की मांग की जाने लगी और इस मांग का ही यह परिणाम था कि केवल तीन वर्ष बाद ही 1861 के भारतीय परिषद अधिनियम के रूप में वैधानिक सुधार का एक नवीन प्रयत्न किया गया।

भारतीय परिषद् अधिनियम 1861 : प्रमुख प्रावधान

(i) **गवर्नर-जनरल की शक्तियों और कार्यकारिणी परिषद् के गठन में परिवर्तन**—(क) इस अधिनियम द्वारा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में पांचवें सदस्य की व्यवस्था की गयी। इसकी योग्यता के सम्बन्ध में कहा गया कि वह कानूनी अनुभव का व्यक्ति होना चाहिए।

(ख) गवर्नर-जनरल को परिषद् का कार्य सुचारु रूप से संचालित करने के लिए नियम बनाने का अधिकार दिया गया।

(ग) गवर्नर-जनरल को अपनी अनुपस्थिति में परिषद् के सभापतित्व हेतु एक अध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार दिया गया।

(ii) **केन्द्रीय विधान परिषद् से सम्बन्धित परिवर्तन**—(क) कानून निर्माण की त्रुटियों को दूर करने के लिए विधायी कार्य हेतु सर्वोच्च परिषद् में 6 से 12 के बीच अतिरिक्त सदस्यों की व्यवस्था की गयी। इन सदस्यों को गवर्नर-जनरल द्वारा नामज़द किया जाना था और इन सदस्यों में कम-से-कम आधे गैर सरकारी होने आवश्यक थे।

(ख) आपातकाल में गवर्नर-जनरल को अध्यादेश जारी करने की शक्ति दी गई। ये अध्यादेश 6 महीने तक वैध रहते थे जव तक कि इसके पूर्व सपरिषद् भारतमंत्री या सर्वोच्च विधायी परिषद् इन्हें अस्वीकृत न कर दे।

(iii) **प्रान्तीय क्षेत्र में व्यवस्थापन और अन्य व्यवस्थाएं**—(क) बम्बई और मद्रास की सरकारों को अपनी कौंसिल में कानून बनाने के लिए एक महाधिवक्ता तथा कम-से-कम चार और अधिक-से-अधिक आठ सदस्य बढ़ाने की आज्ञा दी गयी। इन परिषदों का कार्य केवल कानून बनाना था। इनके बनाये कानूनों पर अन्तिम स्वीकृति गवर्नर-जनरल से ली जाती थी।

(ख) गवर्नर-जनरल को बंगाल, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और पंजाब में भी विधान परिषदें स्थापित करने की शक्ति दी गई, जिसके अन्तर्गत इन प्रान्तों में क्रमशः 1862, 1882 और 1897 में परिषदें स्थापित हुईं।

(ग) गवर्नर-जनरल को इस उद्देश्य से नये प्रान्तों की रचना और उनमें लेफ्टीनेंट, गवर्नर नियुक्त करने की शक्ति मिली।

इस प्रकार 1861 के अधिनियम द्वारा भारतीयों को विधायी कार्यों में भागीदारी देने की ओर एक चरण आगे बढ़ाया गया। यह अधिनियम निश्चित रूप से 1858 के अधिनियम पर एक सुधार था, लेकिन अधिनियम अपने कुछ दोषों के कारण भारतीय जनता की आशाओं-आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सका। **प्रथम,** अधिनियम में विधायी कार्यों हेतु सर्वोच्च परिषद में कुछ गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी, लेकिन ये गैर सरकारी सदस्य मनोनीत होने थे, निर्वाचित नहीं। **द्वितीय,** ये गैर सरकारी मनोनीत सदस्य देशी नरेश अति धनवान व्यक्ति या अवकाश प्राप्त सरकारी अधिकारी होते थे जो अपने निहित स्वार्थों के कारण सरकार की नीति या पक्ष का विरोध नहीं कर सकते थे। ये सदस्य किसी भी रूप में जनता के सामाजिक नेता नहीं होते थे। इन सदस्यों की विधायी कार्यों में कोई रुचि भी नहीं होती थी तथा अधिनियम के अन्तर्गत उन्हें कोई शक्ति भी प्राप्त नहीं थी। ऐसी स्थिति में अधिनियम द्वारा की गई समस्त व्यवस्था मात्र एक दिखावा और एक मजाक बनकर रह गई।

अधिनियम भारतीय जनता की आकांक्षाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सका और भारतीय इस अधिनियम के पारित होने के बाद से ही विधायी परिषदों में सुधार के लिए आन्दोलन करने लगे। यह स्मरणीय है कि आखिल भारतीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में ही 1861 के अधिनियम द्वारा स्थापित विधायी परिषदों के प्रति असन्तोष व्यक्त किया गया था।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1892

भारतीय परिषद अधिनियम, 1892 भारत के संवैधानिक विकास की दिशा में द्वितीय महत्वपूर्ण चरण कहा जा सकता है। यह अधिनियम **भारतीयों को प्रशासन के साथ संयुक्त करने की नीति** का ही परिणाम था, जिसे 1861 के अधिनियम के साथ अपनाया गया था।

अधिनियम के प्रमुख प्रावधान

1892 का अधिनियम प्रमुख रूप से भारत में विधायी परिषदों के गठन, कार्यों और शक्तियों से ही सम्बन्धित था। अधिनियम के मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं :

(1) **केन्द्रीय और प्रान्तीय विधायी परिषदों का विस्तार**—अधिनियम के द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय विधायी परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई :

(क) केन्द्रीय विधान परिषद में कम से कम 10 और अधिक से अधिक 16 अतिरिक्त सदस्यों को रखने की व्यवस्था की गई।

(ख) प्रान्तीय परिषदों के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई। अधिनियम के अनुसार बम्बई और मद्रास की परिषदों के लिए कम से कम 8 और अधिक से अधिक 20 अतिरिक्त सदस्य मनोनीत किए जा सकते थे, जबकि बंगाल और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की परिषदों में अधिक से अधिक क्रमशः 20 और 15 सदस्य सम्मिलित किए जा सकते थे। अतिरिक्त सदस्यों का कार्यकाल पहले की तरह दो वर्ष ही रखा गया और इनमें से आधे सदस्य गैर सरकारी होने जरूरी थे।

(2) **विधायी परिषदों के कार्यों और शक्तियों में वृद्धि**—अधिनियम के द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय विधायी परिषदों के विस्तार के साथ-साथ उनके कार्यों और शक्ति में भी वृद्धि की गई। **प्रथम,** केन्द्रीय और प्रान्तीय विधायी परिषदों के सदस्यों को बजट पर वाद-विवाद करने का अधिकार दिया गया, परन्तु उन्हें बजट की हर मद पर एक-एक करके मत देने का अधिकार नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय परिषदों के सदस्यों को केन्द्रीय वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में पूछताछ करने की आज्ञा नहीं थी। **द्वितीय,** विधायी परिषद के सदस्यों को कार्यकारिणी से प्रश्न पूछने का अधिकार भी दिया गया, परन्तु इस अधिकार पर अनेक प्रतिबन्ध थे। प्रश्न केवल सूचना प्राप्त करने के लिए ही पूछे जा सकते थे, तर्क करने के लिए नहीं। इसके अतिरिक्त अध्यक्ष बिना कारण बताए किसी भी प्रश्न को अस्वीकार कर सकता था।

(3) विधायी परिषदों में निर्वाचक तत्व का प्रवेश—केन्द्रीय परिषद में सरकारी और गैर सरकारी नामजद सदस्यों के साथ निर्वाचित सरकारी सदस्य भी होने थे; इन निर्वाचित गैर सरकारी सदस्यों की संख्या 5 निश्चित की गई जिसमें से 4 का चुनाव तो मद्रास, बम्बई, बंगाल और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त की परिषदों के गैर सरकारी सदस्यों द्वारा किया जाना था और पांचवां सदस्य कलकत्ता वाणिज्य मण्डल के प्रतिनिधि के रूप में होना था। इस प्रकार 'निर्वाचन' शब्द का प्रयोग न करते हुए एक ऐसी व्यवस्था की गई थी, जो अप्रत्यक्ष निर्वाचन के समान थी।

अधिनियम का महत्व—संवैधानिक विकास और प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना की दिशा में इस अधिनियम का निश्चित रूप से बहुत अधिक महत्व है। **प्रथम,** अधिनियम के द्वारा उच्चतम विधायी कार्यों में भारतीयों के भाग लेने के सम्बन्ध में प्रभावदायक कदम उठाया गया। इसके पूर्व किसी भी भारतीय को उच्च स्तर पर विचार-विमर्श का अधिकार नहीं था। अब इस अधिनियम के द्वारा भारतीयों को गवर्नर जनरल की परिषद के सदस्यों के साथ बैठकर अपनी राजनीतिक योग्यता और संसदीय क्षमता का प्रमाण देने का अवसर मिला। **द्वितीय**, 1892 के अधिनियम के अन्तर्गत निर्मित नियमों और विनियमों ने भारत के लोगों को **निर्वाचन का सिद्धान्त** प्रदान किया, यद्यपि यह अप्रत्यक्ष और सीमित था। **तृतीय,** इस अधिनियम द्वारा वित्तीय क्षेत्र में विधायी परिषदों के कार्यों में भी वृद्धि की गई। इस अधिनियम के अन्तर्गत पहली बार यह व्यवस्था की गई कि गैर सरकारी सदस्य शासन की वित्तीय नीति पर पूर्ण और स्वतन्त्र वाद-विवाद कर सकते थे। इससे शासन को जन साधारण के दृष्टिकोण का ज्ञान प्राप्त करने और जन भ्रान्तियों को दूर करने का अवसर प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त विधायी परिषद के सदस्यों को प्रदान की गई कार्यकारिणी के सदस्यों से प्रश्न पूछने की सीमित शक्ति भी पर्याप्त महत्वपूर्ण थी।

उपर्युक्त बातों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 1892 का अधिनियम, 1861 के अधिनियम पर एक निश्चित सुधार था। **सुरेन्द्रनाथ बनर्जी** ने अधिनियम के महत्व को स्वीकार करते हुए मत प्रकट किया था, **'सन् 1892 के अधिनियम से भारत में प्रतिनिध्यात्मक शासन की नींव भलीभांति तथा सत्य रूप में पड़ी।'**

अधिनियम की आलोचना

यद्यपि 1892 का अधिनियम अपने पूर्ववर्ती अधिनियमों की तुलना में निश्चित रूप से एक प्रगतिशील कदम था, लेकिन अधिनियम स्वयं में अन्तर्निहित त्रुटियों और अपूर्णताओं के करण भारतीय जनता की उचित और वैध आकांक्षाओं को सन्तुष्ट न कर सका। अधिनियम की इन त्रुटियों और अपूर्णताओं का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है।

(1) परिषदों में भारतीयों के वास्तविक प्रतिनिधित्व का अभाव—यद्यपि अधिनियम के अन्तर्गत अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन यह सारी व्यवस्था ऐसे रूप में थी कि विधायी परिषदों में अब भी भारतीय जनता के वास्तविक प्रतिनिधियों को कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ और यह बात भारतीयों के लिए अत्यधिक असन्तोषजनक थी, जिसने कालान्तर में कांग्रेस में उग्र वर्ग को जन्म दिया।

(2) विधायी परिषदों का विस्तार असन्तोषजनक—अधिनियम के अन्तर्गत किया गया विधायी परिषदों का विस्तार भी नितान्त असन्तोषजनक था। ब्रिटिश संसद के सदस्य मि. श्यवान् ने उसे **'अत्यन्त अनुल्लेखनीय तथा तुच्छ'** (Very paltry and miserable addition) बताया है। व्यवहार में परिषदों में सरकारी बहुमत होने के कारण गैर-सरकारी सदस्यों को प्रशासन में कोई महत्व प्राप्त न था। 25 सदस्यों की केन्द्रीय परिषद् में निर्वाचित और नामजद गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या 10 थी और इनमें भी 5 नामजद गैर-सरकारी बहुमत का ही समर्थन करते थे। ऐसी स्थिति में 5 गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्य ही शासन की आलोचना का साहस कर सकते थे। **चिन्तामणि** और **मसानी** ठीक ही लिखते हैं कि—**''ये परिषदें आधुनिक व्यवस्थापिका की तरह नहीं थीं।''**[1]

1 **"They were hardly like any modern legislatures and have not been unfairly described as 'limp Councils'."**
—**Chintamani and Masani : *India's Constitution at Work*, p. 3.**

(3) विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व में असमानता—इसके अतिरिक्त परिषदों के सदस्यों के चुनाव के नियम भी उचित नहीं थे। कुछ वर्गों और क्षेत्रों को अत्यधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त था तथा कुछ को तनिक भी प्रतिनिधित्व प्राप्त न था। बम्बई के सम्बन्ध में 6 स्थानों में 2 योरोपियन व्यापारियों को प्राप्त थे, किन्तु भारतीय व्यापारियों को एक भी स्थान प्राप्त न था। सिन्ध को 2 स्थान प्राप्त थे, किन्तु पूना और सतारा को एक भी स्थान प्राप्त नहीं था। इसी प्रकार पंजाब को भी कोई प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया था।

(4) परिषदों की शक्तियां अत्यधिक सीमित—अधिनियम के अन्तर्गत विधायी परिषदों को प्रदान की गई शक्तियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। सदस्य पूरक प्रश्न नहीं पूछ सकते थे। अध्यक्ष बिना कोई कारण बताए किसी प्रश्न को अस्वीकार कर सकता था और उसके इस निर्णय के विरुद्ध कोई प्रतिकार नहीं था। कार्यकारिणी से सामान्य प्रश्न पूछने के लिए भी इन्हें 6 दिन की पूर्व सूचना देनी आवश्यक थी। परिषदों को बजटों पर कोई वास्तविक नियन्त्रण प्राप्त नहीं था। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों द्वारा निर्मित नियमों-उपनियमों ने परिषदों के कार्यक्षेत्र को और भी सीमित कर दिया था। ऐसी स्थिति में परिषदें राष्ट्रीय उत्थान का कार्य करने में असमर्थ थीं। **पं. मदनमोहन मालवीय** ठीक ही लिखते हैं कि **"इस अधिनियम से भारतीयों को उनके देश की शासन व्यवस्था में कोई वास्तविक अधिकार प्राप्त नहीं हुआ।"** सर चार्ल्स एचीसन ने भी उपरोक्त तथ्य को स्वीकार किया है।[1]

(5) राजनीतिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं—इस अधिनियम के द्वारा विधायी परिषदों की व्यवस्था इस प्रकार से की गई थी कि उनके द्वारा भारतीय राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते थे। वास्तव में ब्रिटिश सरकार उन्हें राजनीतिक शिक्षा का साधन बनाना ही नहीं चाहती थी। प्रो. हीरालाल सिंह लिखते हैं कि—"परिषदों का अधिकार क्षेत्र इतना सीमित था और अतिरिक्त सदस्यों की संख्या इतनी कम थी कि राजनीतिक शिक्षा के लिए उनका उपयोगी होना बहुत कठिन था।"[2]

प्रश्न

1. 1858 के श्रेष्ठतर शासन हेतु कानून के मुख्य प्रावधानों का वर्णन कीजिए। क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि 'अधिनियम द्वारा किए गए परिवर्तन औपचारिक थे, वास्तविक नहीं।'
2. "भारतीय व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन का कार्य 1858 के अधिनियम द्वारा नहीं, वरन् 1861 ई. के अधिनियम द्वारा किया गया" अधिनियम के प्रावधानों को दृष्टि में रखते हुए इस कथन की व्याख्या कीजिए।
3. 1861 के भारतीय परिषद अधिनियम की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए और भारत के संवैधानिक विकास में इसका महत्व बताइए।
4. 1892 के अधिनियम के मुख्य प्रावधानों का वर्णन कीजिए। यह अधिनियम किस प्रकार से 1861 ई. के अधिनियम पर एक सुधार था?
5. 1892 के भारतीय परिषद अधिनियम की कमियां तथा इसका महत्व बताइए।

---

1 **"As a mere arena of Ex-post facto debate, Councils were little else than mischievous."**
—Sir Charles Aitchison, Quoted from Montford Report, p. 35.

2 **Hiralal Singh : *Problems and Policies of British in India*, p. 120.**

2

1909 का भारतीय परिषद अधिनियम या मार्ले-मिण्टो सुधार अधिनियम

(THE INDIAN COUNCILS ACT 1909 OR MORLEY-MINTO REFORMS ACT)

1909 का भारतीय परिषद अधिनियम

(मार्ले-मिण्टो सुधार अधिनियम)

लार्ड कर्जन द्वारा अपनायी गयी गलत नीतियों के कारण भारतीय जनता ब्रिटिश शासन से बहुत असन्तुष्ट हो गयी थी। उसके कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण 1905, कलकत्ता निगम अधिनियम 1900, भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम 1904, बंगाल का विभाजन 1905, आदि कार्यों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध रोष की लहर दौड़ा दी। 1906 में ब्रिटिश शासन की शक्ति उदार दल के हाथ में आ गई थी, जो अनुशासन और कार्यक्षमता की अपेक्षा स्वतन्त्रता एवं स्वायत्तता में अधिक विश्वास करता था।

लार्ड मिण्टो और लार्ड मार्ले ने अपनी नियुक्ति के तुरन्त बाद ही भारतीय प्रशासन में सुधार करने का निश्चय किया। इस उद्देश्य से लार्ड मिण्टो ने सर अरुण्डेल की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसने अक्टूबर 1906 में अपनी रिपोर्ट दी। फरवरी 1909 में इन प्रस्तावों के आधार पर एक विधेयक तैयार कर ब्रिटिश संसद में प्रस्तुत किया गया जिसने भारतीय परिषद् अधिनियम 1909 या मार्ले-मिण्टो सुधार कानून का रूप ग्रहण किया।

1909 के सुधार कानून के प्रमुख लक्षण

(1) केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधायी परिषदों का विस्तार—(क) गवर्नर-जनरल की विधान परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 16 से 60 कर दी गई।

(ख) प्रान्तीय विधान परिषदों में मद्रास, बंगाल और बम्बई के सदस्यों की संख्या 20 से 50, संयुक्त प्रान्त की 15 से 60 और पंजाब, असम तथा बर्मा की विधान परिषदों की अधिकतम संख्या 30 निश्चित की गयी।

(ग) 1912 में प्रान्तों की सीमाओं में भी कुछ परिवर्तन होने पर अन्य प्रान्तों की विधान परिषदों की सदस्य संख्या में भी कुछ परिवर्तन किए गये।

(2) विधायी परिषदों के अधिकारों में वृद्धि—केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधायी परिषदों के अधिकारों में भी वृद्धि की गयी :

(क) सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार दे दिया गया परन्तु साथ में यह प्रतिबन्ध था कि पूरक प्रश्न वही सदस्य पूछ सकता था, जिसने मुख्य प्रश्न पूछा हो।

(ख) विधान परिषद् के सदस्यों को बजट पर बहस करने और प्रस्ताव पेश करने का भी अधिकार दिया गया।

(ग) कानून द्वारा उपरोक्त अधिकारों को सीमित भी कर दिया गया था तथा इनका प्रयोग कुछ विशेष नियमों के अनुसार ही किया जा सकता था।

(3) केन्द्रीय विधान परिषद् में सरकारी बहुमत—केन्द्रीय विधान परिषद् के 69 सदस्यों में से 37 सरकारी थे, 5 नामजद गैर सरकारी और 27 निर्वाचित। सदस्यता की अवधि 3 वर्ष थी।

(4) प्रान्तीय विधान परिषद् में गैर सरकारी बहुमत—गैर सरकारी बहुमत का तात्पर्य निर्वाचित बहुमत से नहीं था। सरकारी सदस्य और सरकार द्वारा नामजद गैर सरकारी सदस्य दोनों मिलकर निर्वाचित सदस्यों से निश्चित रूप से अधिक हो जाते थे। प्रायः प्रान्तीय सरकारों को प्रान्तीय विधान परिषदों से अपनी इच्छानुसार कानून बनवाने में कठिनाई नहीं होती थी। क्योंकि गैर सरकारी सदस्य सरकार का पक्ष लेते थे और चुने हुए सदस्य विभिन्न हितों के प्रतिनिधि होने के कारण आपस में नहीं मिल सकते थे।

(5) कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों की नियुक्ति एवं कार्यकारिणी परिषदों का विस्तार—इस कानून द्वारा यह घोषणा की गयी कि गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् और प्रान्तीय गवर्नरों की कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों को नियुक्त किया जा सकता है। इस आधार पर **लॉर्ड सिन्हा** को गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी का **'प्रथम भारतीय विधि सदस्य'** नियुक्त किया गया।

(6) साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का प्रारम्भ—कानून के द्वारा मुसलमानों को पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त मुसलमानों को साम्राज्य के प्रति उनकी विशेष सेवाओं को दृष्टि में रखते हुए संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

(7) सीमित तथा भेदभाव पर आधारित मताधिकार—अधिनियम द्वारा जो मताधिकार दिया गया वह अत्यन्त सीमित और अनेक प्रकार के भेदभावों पर आधारित था। इतना ही नहीं मुस्लिम एवं गैर मुस्लिम व्यक्तियों के मताधिकार की योग्यताएं भी बहुत भिन्न थीं।

(8) उम्मीदवारों के लिए अनावश्यक रूप से कठोर एवं भेदभावपूर्ण योग्यताएं—कानून का एक लक्षण और दोष था—उम्मीदवारों के लिए अनावश्यक रूप से कठोर और भेदभावपूर्ण योग्यताएं। उदाहरण के लिए, प्रान्तीय परिषदों के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताएं भी निश्चित की गईं। सबसे त्रुटिपूर्ण बात यह थी कि विनियमों द्वारा शासन को किसी भी व्यक्ति को उम्मीदवार बनने से रोकने का अधिकार दिया गया।

(9) भारत के कुछ भागों को प्रतिनिधित्व से वंचित रखना—उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, कुर्ग, अजमेर, मेरवाड़ा, आदि ब्रिटिश भारत के कुछ क्षेत्र सीधे गवर्नर-जनरल के आधिपत्य में थे। इनका एक भी गैर सरकारी सदस्य केन्द्रीय विधान परिषद् में सम्मिलित नहीं किया गया था और न ही इन प्रदेशों को चुनाव क्षेत्र बनाया गया था।

1909 के कानून की आलोचना

1909 के सुधार कानून का उद्देश्य कांग्रेस के उदारवादी पक्ष को सन्तुष्ट करना था ताकि उन्हें ब्रिटिश सरकार के साथ लिया जा सके और उग्रवादियों तथा क्रान्तिकारियों को कठोरतापूर्वक दबाया जा सके। कानून के पारित होते समय ऐसा विश्वास किया जाता था कि भारतीयों को महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किए जा रहे हैं, लेकिन वास्तव में ये सुधार खोखले थे। इस कानून के अन्तर्गत जिन नियमों तथा उपनियमों की रचना की गई वे सुधारों के आधारभूत सिद्धान्तों के बिल्कुल विरुद्ध प्रतीत हुए और इनसे सुधारों का क्रियान्वयन असम्भव प्रतीत होने लगा।

इस सुधार कानून की आलोचना प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर की जाती है :

(1) उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं—भारतीयों के द्वारा देश में उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग की जा रही थी, लेकिन कानून द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं की गई। दिसम्बर 1908 में हाउस ऑफ लॉर्ड्स में भाषण देते हुए स्वयं लॉर्ड मार्ले ने कहा था, **"यदि यह समझा जाए कि मैं भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना चाहता हूं अथवा मेरे इन सुधारों का लक्ष्य प्रत्यक्ष रूप से या अवश्य ही भारत को उत्तरदायी शासन की ओर ले जाना है तो यह भूल होगी। ऐसा कोई लक्ष्य नहीं है..........यदि मेरा कार्यकाल या आयु बीस गुना भी बढ़ जाए, तो भी मैं भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना की एक क्षण के लिए भी कामना नहीं करूंगा।"** 13 मई, 1909 ई. को लॉर्ड मार्ले ने एक बार फिर कहा, **"हमारे जीवनकाल में और आगामी कई पीढ़ियों तक भारतवर्ष के लिए स्वराज्य प्राप्ति असम्भव है।"**[1]

कानून की इस अपूर्णता के कारण स्वाभाविक रूप से भारतीयों को बहुत अधिक निराशा हुई। डॉ. जकारिया के द्वारा इन्हें **'अर्थ शून्य'** कहा गया और मि. मजूमदार ने लिखा कि **'ये केवल चन्द्रमा की चमक की भांति'** (mere moonshine) थे। कानून का उद्देश्य कुछ भारतीय प्रतिनिधियों को कानून निर्माण और प्रशासनिक कार्यों के साथ संयुक्त कर एक प्रकार के **'संवैधानिक एकतन्त्र'** की स्थापना करना था।

1 "Swarajya is an impossibility in our times and for generations."
—Morley (Quoted from V. B. Kulkarni : *British Dominion in India and After*, p. 119).

2 "The Reforms had given the people shadow rather than substance." —*Dr. Zacharia.*

(2) साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली—इस अधिनियम की सबसे बड़ी बुराई साम्प्रदायिक निर्वाचनों का प्रारम्भ था। साम्प्रदायिक निर्वाचन की इस योजना ने भारत के राजनीतिक क्षेत्र में एक विष-बेल बो दी, जिसके अत्यन्त भयंकर परिणाम हुए। श्री जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, **"यह भारत के भविष्य पर प्रभाव डालने वाली वस्तु थी। भविष्य में मुसलमान केवल पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों से खड़े हो सकते थे। इस प्रकार उनके चारों ओर एक राजनीतिक दीवार खड़ी कर दी गई तथा उन्हें शेष भारत से पृथक् कर दिया गया। यह दीवार प्रारम्भ में छोटी सी थी, क्योंकि निर्वाचन क्षेत्र संकुचित थे, परन्तु जैसे-जैसे मताधिकार में वृद्धि होती गई, यह दीवार बढ़ती गई और उसका सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवन के ढांचे पर इस प्रकार प्रभाव पड़ा, मानो सारे ढांचे में घुन लग गया हो। इससे हर प्रकार की पृथकतावादी प्रवृत्तियां उत्पन्न हुईं तथा अन्त में भारत के विभाजन की मांग की गई।"**[1] ब्रिटिश लेखक पी. ई. रावर्ट्स भी स्वीकार करते हैं कि **"साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व ने विभिन्न समुदायों में भेद उत्पन्न कर दिया और उनके हितों का मेल असम्भव बना दिया।"**[2] इसके परिणामस्वरूप भारतीयों में साम्प्रदायिक भावना दिन-प्रतिदिन प्रबल होने लगी। आगे चलकर सिखों और ऐंग्लो इण्डियन्स, आदि के द्वारा भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग की गई।

(3) अत्यधिक सीमित मताधिकार और परोक्ष चुनाव—सुधारों ने चुनावों की प्रणाली को प्रारम्भ किया, किन्तु मतदाताओं की संख्या अत्यधिक कम थी। कुछ अवस्थाओं में एक निर्वाचन क्षेत्र में यह संख्या 9 अथवा 10 से अधिक न हो सकी। मताधिकारियों की संख्या बहुत कम होने के कारण निर्वाचित व्यक्तियों को किसी भी प्रकार जनता का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता था। इसके अतिरिक्त मताधिकारियों की संख्या इतनी कम होने पर राजनीतिक भ्रष्टाचार की आशंका भी रहती थी।

इसके अतिरिक्त चुनाव की प्रणाली अप्रत्यक्ष, वस्तुतः दुहरी अप्रत्यक्ष थी। साधारण जनता संस्थाओं के सदस्यों का चुनाव करती थी। स्थानीय संस्थाओं के सदस्य निर्वाचक मण्डलों का चुनाव करते थे और ये निर्वाचक मण्डल प्रान्तीय विधानसभा के सदस्यों का चुनाव करते थे। इस दुहरे परोक्ष निर्वाचन के कारण सदस्य जनता के प्रति कोई उत्तरदायित्व अनुभव नहीं करते थे। सीमित मताधिकार और परोक्ष निर्वाचन की पद्धति के कारण केन्द्रीय या प्रान्तीय व्यवस्थापिकाएं राष्ट्र का प्रतिनिधि होने का दावा नहीं कर सकती थीं।

(4) मताधिकार में अनुचित भेदभाव—अधिनियम की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि इसके द्वारा विभिन्न सम्प्रदाय के मतदाताओं में अत्यधिक और अनुचित भेदभाव किया गया। मुसलमानों में मध्यवर्गीय जमींदार, व्यापारियों और स्नातकों को मताधिकार प्रदान किया गया था, लेकिन इसी श्रेणी के गैर-मुस्लिमों को इस अधिकार से वंचित कर दिया गया था। **पं. मदन मोहन मालवीय** ने कहा था —**"30 वर्ष पहले के हिन्दू, पारसी और ईसाई स्नातक गुरुदास बनर्जी, डॉ. भण्डारकर, सर सुब्रह्मण्यम अय्यर और डॉ. रास विहारी घोष जैसे व्यक्तियों को मताधिकार नहीं दिया गया था, जबकि 5 वर्ष पहले के प्रत्येक मुस्लिम स्नातक को मताधिकार प्राप्त था।"** इस प्रकार अधिनियम के द्वारा भारत के बहुसंख्यक सम्प्रदाय हिन्दुओं के साथ अन्याय किया गया था। हिन्दू बहुमत वाले अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए मुसलमानों को भारात्मक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था, लेकिन मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों—पंजाब, पूर्वी बंगाल और असम में हिन्दुओं को इस प्रकार का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था।

(5) केन्द्रीय विधायी परिषद में सरकारी बहुमत—अधिनियम का एक दोष यह था कि केन्द्रीय परिषद में सशक्त सरकारी बहुमत की व्यवस्था की गई थी। इस सशक्त सरकारी बहुमत के कारण गैर-सरकारी सदस्यों की स्थिति नितान्त असहाय थी। पुन्निया ठीक ही लिखते हैं—**"गैर-सरकारी सदस्य अपनी बात की पुष्टि में चाहे कितने ही अच्छे तर्क क्यों न दें, लेकिन जब विधेयक पर मतदान का समय होता है तो सरकारी पक्ष सामने आकर विधेयक अपने पक्ष में पास करवा लेता था।"**[3]

(6) प्रान्तीय परिषदों का गैर-सरकारी बहुमत—एक भ्रम—यद्यपि कहने के लिए प्रान्तीय परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत था, लेकिन भारतीयों के लिए इसका कोई उपयोग नहीं था। गैर-सरकारी सदस्य दो प्रकार के होते थे—**नामजद गैर-सरकारी और निर्वाचित गैर-सरकारी**। ये नामजद गैर-सरकारी सदैव सरकार के इशारे पर ही कार्य करते थे। इसलिए निर्वाचित सदस्य कुछ भी नहीं कर सकते थे। जो सदस्य इतने विभिन्न हितों

1 Nehru : *Discovery of India*, pp. 295-296.

2 "The principle of class-representation.........created a distinction between the different classes of the community and make the fusion of their interests impossible."

—P. E.Roberts : *History of British India*, p. 572.

3 K. V. Punniah : *Constitutional History of India*, p. 305.

के प्रतिनिधि होते थे, उनके लिए सरकार के विरुद्ध मिलना कठिन था। गैर-सरकारी बहुमत का इसलिए भी महत्व नहीं था कि गवर्नर को इन सब मामलों पर निषेधाधिकार की भी शक्तियां प्राप्त थीं।

(7) **विधायी परिषदों की शक्तियां अत्यधिक सीमित**—विधायी परिषद के सदस्यों की संख्या बहुत सीमित थी। वे कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों से प्रश्न पूछ संकते थे, लेकिन कार्यकारिणी के सदस्यों के लिए प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक नहीं था। सदस्यों को सार्वजनिक मामलों पर प्रस्ताव पास करने का अधिकार था, लेकिन इन प्रस्तावों को मानना या न मानना सरकार की इच्छा पर निर्भर था। **"विधान परिषद के सदस्य बजट पर बहस कर सकते थे, लेकिन केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार के एक रुपए पर भी उनका प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं था।"**[1] इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों ने विधान परिषद की कार्यवाहियों के नियम और उपनियम इस तरह बनाए कि उनके द्वारा सदस्यों के अधिकार और अधिक सीमित हो गए। इन उपनियमों द्वारा अनेक राष्ट्रीय नेताओं (उदाहरणार्थ एन. सी. केलकर) को आधारहीन कारणों पर चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित कर दिया गया।

(8) **निहित स्वार्थों को अत्यधिक महत्व**—अधिनियम के द्वारा जमींदारों और वाणिज्य मण्डल को विशेष प्रतिनिधित्व प्रदान कर निहित स्वार्थों को अत्यधिक महत्व दिया गया। ये निहित स्वार्थी तत्व ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण में थे और राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध थे।

(9) **भविष्य के लिए निश्चित लक्ष्य नहीं**—अधिनियम के द्वारा भारत के भविष्य के लिए कोई लक्ष्य भी निश्चित नहीं किया गया था। भारतीय चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार भारत के राजनीतिक भविष्य के सम्बन्ध में स्पष्टतया कुछ कहे, लेकिन 1909 के अधिनियम ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया था।

अधिनियम अपने मूल स्वरूप में त्रुटिपूर्ण था और अधिनियम के क्रियान्वयन की व्यवस्था इस प्रकार की गई थी कि भारतीयों को सत्ता का कोई हस्तान्तरण सम्भव न हो सके।

अधिनियम का महत्व

उपरोक्त आलोचना का तात्पर्य यह नहीं है कि 1909 का सुधार अधिनियम निरर्थक था। यह अधिनियम 1892 के अधिनियम से निश्चित रूप से ही बहुत अधिक आगे था। इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में भी एक भारतीय को ले लिया गया और दो भारतीयों को 'मन्त्रिपरिषद' में ले लिया गया। अब गवर्नर-जनरल की विधान परिषद का भी विस्तार कर उसमें कुछ निर्वाचित सदस्य ले लिए गए। इसी प्रकार प्रान्तीय परिषदों का विस्तार किया गया, उनमें निर्वाचित सदस्यों को स्थान दिया गया और उनकी शक्तियों में वृद्धि की गई। चुनाव, अप्रत्यक्ष चुनाव ही सही, के सिद्धान्त की स्वीकृति अधिनियम का एक महत्वपूर्ण कदम था। विधान परिषदों के सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने का ज़ो अधिकार दिया गया था, वह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण था कि इसके आधार पर सरकार के कार्यों की परीक्षा की जा सकती थी। बजट के कुछ भागों पर मत देने का अधिकार और सभी प्रशासनिक विषयों पर प्रस्ताव पारित करने का अधिकार निश्चित रूप से महत्वपूर्ण थे।

यद्यपि अधिनियम के निर्माताओं ने जोर देकर कहा था कि उनका उद्देश्य भारत में संसदीय शासन की स्थापना नहीं है, किन्तु अधिनियम में की गई विभिन्न व्यवस्थाएं भारतीय शासन को उस बिन्दु तक ले आईं, जहां संसदीय दायित्व से इंकार नहीं किया जा सकता था—**माण्टफोर्ड रिपोर्ट में स्वीकार किया गया था कि** "ये सुधार उत्तरदायी शासन की दिशा में एक निश्चित कदम थे"[2]

अधिनियम के द्वारा भारतीयों को उत्तरदायी शासन का प्रशिक्षण भी प्रदान किया गया। अधिनियम ने भारतीयों को अवसर दिया कि वे अपनी राजनीतिक योग्यता का परिचय दे सकें। इन सुधारों के लागू होने पर अनेक भारतीय इन परिषदों में शामिल हुए और उन्होंने अपनी राजनीतिक योग्यता का सराहनीय प्रमाण दिया। इन सबके अतिरिक्त अधिनियम के द्वारा नौकरशाही में भी कुछ सीमा तक सुधार किया गया।

भारतमन्त्री लॉर्ड मार्ले का यह कथन कुछ सीमा तक ठीक ही है कि—**"ये सुधार ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों में एक नवीन अध्याय की शुरुआत है और भारत में ब्रिटिश उत्तदायित्व को एक नवीन मोड़ प्रदान करते हैं।"**

प्रश्न

1. 1909 के अधिनियम के प्रमुख उपबन्धों का वर्णन कीजिए। यह अधिनियम 1892 ई. के अधिनियम पर कहां तक एक प्रगति था?
2. "1909 के सुधार अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहे"—(कीथ) इस कथन की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

1 Palande : *Indian Administration*, p. 34.

2 "They proved a decided step forward on a road, leading at no distant period to a stage at which the question of responsible government, was bond to present itself." —Montford Report, p. 40.

3

भारतीय शासन अधिनियम, 1919 और द्वैध शासन प्रणाली

(GOVERNMENT OF INDIA ACT, 1919 AND DYARCHY)

भारतीय शासन अधिनियम 1919 की पृष्ठभूमि

प्रथम महायुद्ध और संवैधानिक सुधार की योजनाएं

'युद्ध राष्ट्रवांद को बढ़ावा देता है' यह बात भारतीय राष्ट्रवाद पर प्रथम विश्वयुद्ध के सम्बन्ध में बहुत अधिक सीमा तक सत्य है। युद्धकाल में भारतीयों के द्वारा इंगलैण्ड को भारी सहायता दी गयी थी और युद्ध क्षेत्र में भारतीय सैनिकों ने अद्भुत वीरता का परिचय देकर महान गौरव अर्जित किया था। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लायड जार्ज ने कहा था कि **यह लड़ाई राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के उद्देश्य के लिए लड़ी जा रही है,** और **'आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को पूर्वी देशों पर लागू किया जायगा।'** भारतीयों के द्वारा इन घोषणाओं को सत्य समझा गया और उनको यह दृढ़ विश्वास हो गया कि युद्ध का अन्त होने पर भारत में वैधानिक सुधार के एक नवीन युग का प्रारम्भ होगा।

इस मनःस्थिति और वातावरण में, भविष्य में वैधानिक सुधार की अनेक योजनाओं पर विचार किया जाने लगा। सर्वप्रथम 1916 में **'कांग्रेस-लीग सुधार योजना'** तैयार की गयी। इसके बाद अन्य अनेक योजनाएं प्रस्तावित की गयीं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख थीं :

लार्ड चैम्सफोर्ड की सुधार योजनाएं—1917 में लार्ड चैम्सफोर्ड भारत के गवर्नर जनरल बनकर आये। उन्होंने पद ग्रहण करने के तुरन्त बाद ही भारत-मन्त्री को पत्र लिखकर भारतीयों को दी जाने वाली रियायतों के सुझाव दिये। भारत सरकार ने अपने इस पत्र में स्वशासन के किसी विशेष रूप के बारे में वचनबद्ध न होने की सावधानी बरती थी और लिखा था कि भारत के अपने इतिहास और विशेष परिस्थितियों के अनुरूप इस देश को स्वशासन की दिशा में आगे बढ़ाया जाना चाहिए।

19 व्यक्तियों का आवेदन (Nineteen's Memorandum)—जब सितम्बर 1916 में शिमला में केन्द्रीय विधानसभा की वैठक हुई, तो सदस्यों ने इस बात पर नाराजगी प्रकट की कि भारत सरकार ने उनसे सलाह लिये बिना ही भारत-मन्त्री को प्रस्तावों का प्रारूप भेजा। अतः विधानमण्डल के 19 निर्वाचित सदस्यों ने, जिनमें **श्री जिन्ना, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्रीनिवास शास्त्री, मदनमोहन मालवीय और सर तेज बहादुर सप्रू** प्रमुख थे, अक्टूबर सन् 1916 में लार्ड चैम्सफोर्ड को 'मैमोरेण्डम' प्रस्तुत किया, जिसमें कहा गया कि **''भारत को केवल एक अच्छे शासन की ही आवश्यकता नहीं है, वरन् उस सरकार की भी आवश्यकता है जो जनता को मान्य हो तथा जिसका जनता के प्रति उत्तरदायित्व हो।'**

इस आवेदन में प्रस्ताव किया गया कि प्रान्तीय तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषदों में आधी सदस्य संख्या भारतीयों की होनी चाहिए तथा सभी व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना चाहिए, जनता को व्यापक रूप में मताधिकार दिया जाना चाहिए, अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए, भारत-मन्त्री की परिषद समाप्त कर देनी चाहिए। प्रान्तों को स्वायत्तता मिलनी चाहिए तथा भारत को सम्पूर्ण रूप से स्वशासन प्राप्त होना चाहिए।

गोखले का राजनीतिक टेस्टामेण्ट

1915 ई. में गोखले की मृत्यु हो गयी। उसके पूर्व उन्होंने वम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंगडन की प्रार्थना पर उन सुधारों की एक योजना तैयार की जो युद्ध के बाद भारत को मिलने चाहिए थे। यह तथाकथित **'गोखले का राजनीतिक टेस्टामेण्ट'** या **'राजनीतिक वसीयतनामा'** अगस्त 1818 में प्रकाशित हुआ। गोखले की मुख्य सिफारिश यह थी कि प्रान्तीय स्वायत्तता दी जाय और प्रान्तीय क्षेत्र में भारत सरकार का नियन्त्रण कम हो जाय। वे चाहते थे कि गवर्नर की शासक परिषद या मन्त्रिमण्डल में 6 सदस्य हों, जिनमें से 3 भारतीय हों। विधान परिषद में 57 से 100 तक सदस्य होने चाहिए, जिनमें से कम से कम 4/5 चुने हुए हों। विधायिका और कार्यपालिका में वही सम्बन्ध हों, जो जर्मनी में 1918 से पूर्व जर्मन संसद और कार्यपालिका में थे। प्रान्तीय सरकार प्रान्तीय विधान परिषद के नियन्त्रण में कार्य करे, पर और दृष्टियों से इसे प्रान्त के भीतर प्रशासन का पूरा अधिकार हो। प्रान्तों को वित्तीय स्वायत्तता और अधिक हो तथा उन्हें केन्द्रीय राजस्व में से धन दिया जाय।

इंग्लिश राउण्ड टेबिल ग्रुप और ड्यूक आवेदन पत्र (English Round Table Group and Duke's Memorandum)—कांग्रेस-लीग योजना, 19 व्यक्तियों के आवेदन और गोखले के **'राजनीतिक टेस्टामेण्ट'** में भविष्य के संवैधानिक सुधारों की योजना पर विचार किया गया था, परन्तु इनमें से कोई भी योजना भविष्य के संवैधानिक सुधार का आधार नहीं बनी। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण योजना **'इंग्लिश राउण्ड टेबिल ग्रुप'** द्वारा तैयार की गयी थी। यह ग्रुप उन अंग्रेज सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का एक समुदाय था, जो भारतीय समस्याओं में विशेष रुचि रखते थे। इस ग्रुप के नेता **मि. कर्टिस** ने समाचार-पत्रों में कई लेख लिखे और उसमें उत्तरदायी शासन व प्रतिनिधि शासन के भेद को स्पष्ट किया। उनका यह मत था कि भारत में प्रतिनिधिक शासन की तो तुरन्त स्थापना की जा सकती है, परन्तु उत्तरदायी शासन की स्थापना क्रमिक रूप में ही सम्भव है।

मि. कर्टिस के इस विचार के आधार पर उनके एक सहयोगी और 1919 में भारत परिषद के एक सदस्य **सर विलियम ड्यूक** ने एक आवेदन-पत्र तैयार किया जिसे **'ड्यूक आवेदन'** कहा जाता है। इस आवेदन-पत्र में कहा गया कि अब भारतीयों को उत्तरदायी शासन की कला में सिद्धहस्त करने का समय आ गया है। यह इस प्रकार किया जा सकता है कि जनकल्याण से सम्बन्धित कुछ विभागों (शिक्षा, स्थानीय स्वशासन, स्वच्छता, आदि) को प्रान्तीय सरकार के अधीन कर दिया जाय तथा इन पर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों का नियन्त्रण स्थापित किया जाय। इस आवेदन-पत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि सुरक्षा व निपुणता की दृष्टि से पुलिस जैसे अन्य महत्वपूर्ण विभागों को फ़िलहाल जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में न दिया जावे। ड्यूक आवेदन-पत्र में ही द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना का सुझाव दिया गया था। इस प्रकार द्वैध शासन के जनक **मि. कर्टिस** ही थे। राउण्ड टेबिल ग्रुप की सिफारिशों और ड्यूक आवेदन-पत्र का मि. माण्टेग्यू पर प्रभाव पड़ा और ये सिफारिशें ही माण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार योजना की मूलमन्त्र बनीं।

माण्टेग्यू की घोषणा—20 अगस्त, 1917 (Montague's Declaration—Aug. 20, 1917)—महायुद्ध के समय से ही निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियों ने ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए विवश कर दिया कि उसके द्वारा भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने की घोषणा की जाय। नये भारत-मन्त्री मि. माण्टेग्यू प्रगतिशील दृष्टिकोण के थे, अतः उन्होंने उपर्युक्त परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए **20 अगस्त, 1917** को घोषणा की, जिसमें प्रमुख रूप से निम्न बातें कही गयी थीं :

(1) ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना है।

(2) उत्तरदायी शासन की स्थापना क्रमिक विकास द्वारा ही सम्भव है।

(3) उत्तरदायी शासन की दिशा में प्रगति के प्रत्येक चरण का निर्णय ब्रिटिश सरकार ही कर सकती है, जिन पर भारतीय जनता की समृद्धि और भार का उत्तरदायित्व है।

(4) ब्रिटिश सरकार इस दिशा में आगे बढ़ने का कार्य भारतीय जनता द्वारा इस सम्बन्ध में दिये गये सहयोग और उत्तरदायित्व के परिचय के आधार पर करेगी।

घोषणा-पत्र में जहां एक ओर यह उत्साहवर्द्धक बात थी कि भारत में ब्रिटिश शासन का उद्देश्य उत्तरदायी शासन की स्थापना है वहां इसके साथ ही यह निराशाजनक बात भी जोड़ दी गयी थी कि उत्तरदायी शासन की स्थापना क्रमिक रूप में ही हो सकेगी और प्रत्येक नवीन चरण की प्रकृति तथा समय का निर्णय ब्रिटिश सरकार द्वारा ही किया जायगा। उसके अतिरिक्त, यह कहकर कि भविष्य का विकास भारतीयों के सहयोग

और उनके द्वारा प्रदर्शित उत्तरदायित्व की भावना पर निर्भर करता है, भारतीयों को असहयोग के विरुद्ध एक अस्पष्ट धमकी भी दे दी थी।

किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि 1917 की घोषणा से भारतीय शासन में विकास के एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। इस घोषणा में पहली बार भारत में ब्रिटिश नीति का लक्ष्य घोषित किया गया था।

भारतीय शासन अधिनियम, 1919
(GOVT. OF INDIA ACT, 1919)

1919 का भारतीय शासन अधिनियम माण्टेग्यू घोषणा को क्रियान्वित करने की दिशा में प्रथम चरण था। इसने बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन किये और भारत में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के विकास का एक नवीन युग प्रारम्भ किया। श्री एन. श्रीनिवासन के अनुसार, **"यह नौकरशाही शासन की पद्धति का प्रथम उल्लंघन और प्रतिनिध्यात्मक शासन का वास्तविक प्रारम्भ था।"**[1] कूपलैण्ड ने इन महत्वपूर्ण परिवर्तनों के सम्बन्ध में लिखा था, **"इसने विधायी और कार्यपालिका सत्ता के बीच की सीमा-रेखा को समाप्त कर दिया। पूर्वकालीन सुधारों द्वारा भारतीयों को व्यवस्थापिकाओं पर नियन्त्रण की शक्ति दी गयी थी, शासन पर नहीं। अब भारतीयों को शासन के महत्वपूर्ण विभागों का कार्य सम्भालना था और वे इन व्यवस्थापिकाओं के निर्वाचित बहुमत के प्रति ही उत्तरदायी थे।"**[2]

अधिनियम की प्रस्तावना—सुधारों के उद्देश्य का उल्लेख व्यापक रूप में अधिनियम की प्रस्तावना में ही कर दिया गया था। वस्तुतः यह अगस्त 1917 की घोषणा के समान ही था। **सर तेजबहादुर सप्रू** द्वारा अधिनियम की प्रस्तावना का विश्लेषण इस प्रकार किया गया था :

(1) ब्रिटिश भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अखण्ड भाग रहेगा।

(2) ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी शासन संसद की घोषित नीति का लक्ष्य है।

(3) उत्तरदायी शासन धीरे-धीरे ही दिया जा सकता है।

(4) उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए आवश्यक है कि दो बात की जायें, प्रशासन की हर शाखा से भारतीयों का अधिकाधिक सम्बन्ध और स्वशासी संस्थाओं का क्रमिक परिवर्तन।

अधिनियम की प्रस्तावना से नितान्त स्पष्ट है कि इसमें साम्राज्य के बाहर स्वतन्त्र भारत की कल्पना नहीं की गयी है। प्रस्तावना में यह बात स्पष्ट थी कि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भारत को सदैव अपने प्रभुत्व में वनाये रखना चाहती है और यह बात भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा भारत के अन्य राजनीतिक दलों की आशाओं के अनुकूल नहीं थी। इसके अतिरिक्त, भारतीयों की राजनीतिक प्रगति के निर्णय का भार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को सौंपना निश्चित रूप से अपमानजनक था। इस प्रकार 1919 के अधिनियम की प्रस्तावना बहुत दोषपूर्ण थी और यह भारतीयों में उत्साह उत्पन्न करने में असमर्थ रही।

भारतीय शासन अधिनियम, 1919 के प्रमुख लक्षण

(1) प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन—1919 के अधिनियम का सबसे अधिक महत्वपूर्ण लक्षण प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन-व्यवस्था की स्थापना था। इसके अनुसार प्रान्तीय शासन दो भागों में विभाजित किया गया था—**रक्षित विषय** (Reserved Subjects) और **हस्तान्तरित विषय** (Transferred Subjects)। रक्षित विषय पहले की तरह ही गवर्नर के प्रति उत्तरदायी कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों के अधीन थे और इन पर व्यवस्थापिका का कोई नियन्त्रण नहीं होना था। लेकिन हस्तान्तरित विषय लोकप्रिय मन्त्रियों को सौंप दिये गये, जो व्यवस्थापिका के निर्वाचित बहुमत में से चुने जाते थे और उनके प्रति ही उत्तरदायी होते थे। प्रान्तीय शासन को दो भागों में बांट देने की इस व्यवस्था को ही द्वैध शासन-व्यवस्था का नाम दिया गया।

(2) प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषद में अधिक भारतीयों को संयुक्त करना—अधिनियम के द्वारा यद्यपि रक्षित क्षेत्र का प्रशासन गवर्नर के अधीन रखा गया था, लेकिन प्रान्तों की कार्यकारिणी परिषदों में भी भारतीय सदस्यों की संख्या पहले से बढ़ा दी गयी। मद्रास, बम्बई और बंगाल की सरकारों के रक्षित भाग के 4 सदस्यों में से 2 भारतीय सदस्य लेने की व्यवस्था की गयी। शेष 6 प्रान्तों में जहां कार्यकारिणी परिषद को रक्षित

1 N. Shrinivasan, *Democratic Govt. in India*, p. 41.
2 Coupland, *India, A Restatement*, pp. 1, 13.

भाग के लिए केवल दो सदस्य होने थे, एक भारतीय रखा गया। इन सदस्यों की नियुक्ति भारत-मन्त्री की सिफारिश पर ब्रिटिश सम्राट द्वारा की जाती थी।

(3) प्रान्तीय विधान परिषदों का पुनर्गठन—इस अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय विधान परिषदों का पुनर्गठन किया गया। उनकी संख्या में वृद्धि करते हुए बड़े प्रान्तों की परिषदों में अधिक से अधिक 140 और छोटे प्रान्तों में कम से कम 60 सदस्य रखने की व्यवस्था की गयी। इन सदस्यों में कम से कम 80 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने जरूरी थे, सरकारी सदस्यों की संख्या 20 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती थी और शेष 10 प्रतिशत गैर-सरकारी सदस्य होते थे, जिन्हें गवर्नर मनोनीत करता था। इस प्रकार विधान सभाओं का स्वरूप अधिक लोकतन्त्रात्मक बनाया गया, उनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा गया तथा उसके अधिकारों में वृद्धि की गयी।

(4) केन्द्र में अनुत्तरदायी शासन—अधिनियम द्वारा प्रान्तों में तो आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी, लेकिन केन्द्रीय शासन को पहले की तरह ही केन्द्रीय विधानमण्डल के प्रभाव से मुक्त अर्थात् अनुत्तरदायी रखा गया। यद्यपि व्यवस्थापिका सभा शासन को प्रभावित्र कर सके, इस उद्देश्य से व्यवस्थापिका सभा का विस्तार कर दिया गया और उसके अधिकारों में वृद्धि की गयी, लेकिन इसके साथ ही गवर्नर जनरल को कुछ ऐसे विशेषाधिकार प्रदान किये गये, जिनका प्रयोग वह व्यवस्थापिका की सहमति के बिना कर सकता था।

(5) केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में अधिक भारतीयों की नियुक्ति—यद्यपि इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल को पहले की तरह निरंकुश, स्वेच्छाचारी तथा शक्तिशाली बना रहने दिया गया था लेकिन केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में कुछ सुधार अवश्य ही किये गये। नवीन नियमों के अनुसार अब (i) कार्यकारिणी पर से पूर्व निर्धारित संख्या सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा दिया गया। (ii) भारतीय उच्च न्यायालय के उन वकीलों को, जिन्हें उनमें कार्य करते हुए 10 वर्ष हो चुके हों, परिषद का **लॉ मेम्बर** (Law member) होने के योग्य ठहराया गया। **श्री तेजबहादुर सप्रू** पहले भारतीय लॉ सदस्य हुए। (iii) कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों की संख्या एक से बढ़ाकर तीन कर दी गयी। लेकिन व्यवहार में जिन व्यक्तियों को कार्यकारिणी परिषद का सदस्य नियुक्त किया गया वे जनता के प्रतिनिधि न होकर सरकार के **'जी हजूर'** (Yes men) थे और कार्यकारिणी परिषद के भारतीय सदस्यों को कम महत्वपूर्ण विभाग दिये जाते थे। इसलिए सुधार का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा।

(6) द्वि-सदनात्मक केन्द्रीय विधानसभा का निर्णय—इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय क्षेत्र में एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के स्थान पर द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की गयी। इन दोनों सदनों के नाम केन्द्रीय विधानसभा तथा राज्यपरिषद रखे गये। केन्द्रीय विधानसभा में 143 सदस्य तथा राज्य परिषद में 60 सदस्य होते थे।

(7) भारतीय शासन पर गृह सरकार के नियन्त्रण में कमी—माण्टफोर्ड रिपोर्ट में प्रान्तीय तथा केन्द्रीय शासन के परिवर्तनों को दृष्टि में रखते हुए भारतीय शासन पर गृह सरकार (Home Government) के नियन्त्रण में शिथिलता का जो सुझाव दिया गया था, उसे अधिनियम के अन्तर्गत स्वीकार किया गया। गृह सरकार के नियन्त्रण में कमी करने के लिए भारत मन्त्री के अधिकारों में किसी प्रकार का औपचारिक परिवर्तन नहीं किया गया, परन्तु यह आशा व्यक्त की गयी कि समय के साथ-साथ यह नियन्त्रण कम हो जायगा। इस सम्बन्ध में यह परम्परा विकसित करने का प्रयत्न किया गया कि यदि किसी विषय के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिका परस्पर सहमत हों, तो गृह सरकार उसमें हस्तक्षेप नहीं करेगी। यह आशा व्यक्त की गयी कि प्रान्तीय शासन के हस्तान्तरित क्षेत्र में गृह सरकार द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।

(8) भारत परिषद में परिवर्तन—इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत परिषद को समाप्त करने की भारतीय मांग तो स्वीकार नहीं की गयी लेकिन भारत परिषद के गठन में परिवर्तन किये गये। इसमें कम से कम 8 और अधिक से अधिक 12 सदस्य नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी। इन सदस्यों में कम से कम आधे ऐसे सदस्य होने जरूरी थे, जो नियुक्ति की तिथि के समय से पूर्व भारत में कम-से-कम 10 वर्ष रह चुके हों और इस देश को अपनी नियुक्ति की तिथि के 5 वर्ष से अधिक पूर्व न छोड़ा हो। इस परिषद का कार्यकाल 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया, लेकिन प्रत्येक सदस्य की आय बढ़ाकर 1,000 पौंड से 1,200 पौंड कर दी गयी और भारतीय सदस्य के लिए 600 पौंड के अतिरिक्त भत्ते की व्यवस्था की गयी। भारतीय परिषद के कार्य-संचालन के नियमों में भी परिवर्तन किये गये।

(9) केन्द्रीकरण से विकेन्द्रीकरण—अधिनियम के द्वारा केन्द्रीकरण की उस नीति को समाप्त कर दिया गया, जो लार्ड कर्जन के समय में चरमोत्कर्ष पर पहुंच गयी थी। प्रशासन और राजस्व के कुछ विषयों का विकेन्द्रीकरण कर दिया गया अर्थात् उन्हें केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से हटाकर प्रान्तीय सरकार में दे दिया गया। प्रान्तों को प्रथम बार ऋण लेने तथा कर लगाने का अधिकार भी प्रदान किया गया। प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना करके भी विकेन्द्रीकरण और प्रान्तीय स्वायत्तता की नीति को ही पूरा किया गया।

(10) शक्ति विभाजन—अधिनियम के द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच शक्ति विभाजन भी किया गया। वे विषय जो लगभग सम्पूर्ण भारत या अन्तर्प्रान्तीय हितों से सम्बन्धित थे, केन्द्र के अधीन रखे गये तथा जो विषय प्रान्तीय हितों से विशेष सम्बन्ध रखते थे, प्रान्तों के अन्तर्गत रखे गये। केन्द्र के अधिकार में वैदेशिक विषय, सेना, रेल, डाक व तार, आय-कर, मुद्रा टंकण, व्यापार, जहाजरानी, चुंगी तथा महसूल और दीवानी व फौजदारी कानून रखे गये। प्रान्तीय क्षेत्र के अन्तर्गत स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक कार्य, शिक्षा, जनस्वास्थ्य तथा चिकित्सा, सिंचाई, अकाल पीड़ित सहायता, राजस्व कर, कृषि, जंगल, जेल व पुलिस तथा न्याय-व्यवस्था का कुछ भाग रखा गया। इस प्रकार प्रान्तीय विषयों पर प्रशासन एवं व्यवस्थापन प्रान्तों को सौंप दिया गया।

(11) निर्वाचन तथा मताधिकार—इस अधिनियम ने प्रत्यक्ष निर्वाचनों का सूत्रपात किया और मताधिकार को बढ़ा दिया। नवीन निर्वाचन नियमों के अनुसार भारत की लगभग 10 प्रतिशत जनता को मताधिकार प्रदान किया गया। यद्यपि माण्टफोर्ड रिपोर्ट में साम्प्रदायिक निर्वाचनों की निन्दा की गयी थी, लेकिन अधिनियम में न केवल मुसलमानों के लिए इस पद्धति को बनाये रखा गया, वरन् इस पद्धति को पंजाब में सिखों के लिए, तीन प्रान्तों को छोड़कर शेष राज्यों में यूरोपियन के लिए, दो प्रान्तों में आंग्ल भारतीयों के लिए और एक प्रान्त में भारतीय ईसाइयों के लिए लागू कर दिया गया।

(12) नरेश मण्डल की स्थापना—माण्टफोर्ड रिपोर्ट में देशी राजाओं के महत्व को ध्यान में रखते हुए एक **'नरेश मण्डल'** के निर्माण का सुझाव दिया गया था। अतः 8 फरवरी, सन् 1921 को दिल्ली में **'नरेश मण्डल'** (Chamber of Princes) की स्थापना की गयी। इस मण्डल की कुल सदस्य संख्या 121 थी, जिसमें 109 तो अधिक महत्वपूर्ण देशी रियासतों के प्रतिनिधि थे और 12 सदस्य कम महत्वपूर्ण रियासतों के प्रतिनिधि थे। इस मण्डल का प्रधान वायसराय था और मण्डल वास्तव में, एक परामर्शदात्री सभा के समान था।

(13) संक्रमणकालीन उपाय—1919 का अधिनियम स्पष्टतः एक प्रयोग व संक्रमणकालीन उपाय था। यह केवल एक अल्पकालीन उपाय था तथा इसके अनुसार, जैसा कि **लार्ड मैस्टन** ने कहा था, **"स्वेच्छाचारी शासन तथा लोकतन्त्र उस समय तक साथ-साथ हाथ मिलाकर चलने को बाध्य थे, जब तक लोकतन्त्र स्वयं चलना न सीख ले और अकेला चलने के विश्वास योग्य न हो जाय।"** ब्रिटिश संसद में भाषण देते हुए स्वयं मि. माण्टेग्यू ने कहा था कि **"यह तो अन्तरकालीन उपाय है। भारत पर ब्रिटिश संसद द्वारा शासन और भारतीय जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन के बीच में यह एक प्रकार का पुल है।"** अधिनियम की संक्रमणकालीनता इस बात से भी स्पष्ट हो जाती है कि अधिनियम के द्वारा 10 वर्ष बाद एक **'रॉयल कमीशन'** की नियुक्ति का विधान किया गया था, जो माण्टफोर्ड सुधारों की योजना के अधीन की गयी उन्नति का अध्ययन कर पूर्ण उत्तरदायी शासन की दिशा में आगे बढ़ने के लिए उचित कदमों का निर्देश करे।

भारत सरकार

केन्द्रीय कार्यपालिका (Central Executive)

केन्द्रीय कार्यपालिका गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारिणी परिषद सर्वोच्च शासनाधिकारी थी। सपरिषद गवर्नर जनरल को भारत के नागरिक तथा सैनिक प्रशासन पर अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। गवर्नर जनरल भारत सरकार का उच्चतम पदाधिकारी था और उसे अपने कार्य में परामर्श और सहायता देने के लिए कार्यकारिणी परिषद थी।

गवर्नर जनरल तथा वायसराय—सन् 1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट द्वारा बंगाल, बम्बई और मद्रास के प्रदेशों में एकीकरण की दिशा में कदम उठाया गया, बंगाल के गवर्नर को **'गवर्नर ऑफ बंगाल'** का पद प्रदान किया गया। सन् 1853 के चार्टर अधिनियम द्वारा उसे बंगाल के गवर्नर जनरल' के स्थान पर **'भारत का गवर्नर जनरल'** कहा जाने लगा। सन् 1858 में भारतीय शासन के सीधे ब्रिटिश सम्राट और संसद के हाथ में आने पर गवर्नर जनरल को सम्राट के प्रतिनिधि अर्थात् 'वायसराय' की अतिरिक्त उपाधि प्रदान की गयी। 'वायसराय' के रूप में गवर्नर जनरल देशी नरेशों के ऊपर ब्रिटिश अधिसत्ता के अधिकारों का प्रयोग करता था।

गवर्नर जनरल की नियुक्ति ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर सम्राट द्वारा की जाती थी और साधारणतया इस पद पर अत्यन्त प्रख्यात ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, विशेष रूप से ब्रिटेन के उच्च कुलीन व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। गवर्नर जनरल की पदावधि 5 वर्ष की थी किन्तु इसमें आवश्यकतानुसार वृद्धि की जा सकती थी। उसे निवास-स्थान आदि की अन्य अनेक सुविधाओं के अतिरिक्त 2 लाख 56 हजार रुपये वार्षिक वेतन के रूप में मिलते थे।

वास्तव में, गवर्नर जनरल का पद संसार के अधिकतम गौरवशील, प्रतिष्ठित एवं शोभनीय पदों में कदाचित सर्वोच्च था। "**पद के गौरव का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि बिस्मार्क जैसे व्यक्ति भी इस पद के प्रति आकर्षण अनुभव करते थे।**"[1] संसार में उसके समान शक्तियां व विशेषाधिकार प्राप्त अन्य राजनीतिक पदाधिकारी न था। **प्रेसीडेण्ट लावेल** ने गवर्नर जनरल की शक्तियों के सम्बन्ध में लिखा था, "**रूस के जार और भारत के गवर्नर जनरल अथवा वायसराय कभी-कभी विश्व के महान तानाशाह कहे गये हैं।**"

1919 के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की शक्तियां व कृत्य—1919 का अधिनियम जिस माण्टफोर्ड रिपोर्ट पर आधारित था, उसमें केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में कहा गया था कि "**केन्द्रीय सरकार ब्रिटिश संसद के प्रति ही उत्तरदायी बनी रहे तथा सभी विषयों के सम्बन्ध में उसके अधिकार सुरक्षित रहें, किन्तु व्यवस्थापिका का विस्तार कर उसे शासन पर प्रभाव डालने के अधिक अवसर प्रदान किये जायं।**"[2] इस प्रकार 1919 के अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था और अब भी निर्विवाद रूप से वह भारतीय शासन का सर्वोच्च पदाधिकारी था। उसकी शक्तियों और कार्यों का विवेचन निम्नलिखित तीन श्रेणियों के अन्तर्गत सुविधाजनक ढंग से किया जा सकता है : 1. सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में, 2. गृह शासन के प्रतिनिधि के रूप में, 3. भारतीय शासन के अध्यक्ष के रूप में।

(1) **सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में**—गवर्नर जनरल सम्राट या प्रभुसत्ता का भारत स्थित सर्वोच्च अधिकारी था और इस रूप में उसे न्याय, दया और अनुग्रह की अनेक शक्तियां प्राप्त थीं। अन्य उपनिवेशों के अध्यक्षों के समान वायसराय को क्षमा प्रदान करने का विशेषाधिकार प्राप्त था और इस विषय में उसे अपनी परिषद से परामर्श लेना आवश्यक नहीं था। साथ ही उसे उपाधियां देने की शक्ति भी प्राप्त थी। ये उपाधियां वंशानुगत अथवा वैयक्तिक प्रतिष्ठा की प्रतीक होती थीं और भारत की सामन्तकालीन पृष्ठभूमि में इनका विशेष महत्व था। सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में ही वह देशी रियासतों के नरेशों पर ब्रिटिश अधिसत्ता का प्रयोग करता था।

(2) **गृह सरकार के प्रतिनिधि के रूप में**—गवर्नर जनरल भारत-मन्त्री के अधीन होता था और गृह सरकार के प्रतिनिधि के रूप में उसे वे सभी शक्तियां प्राप्त थीं, जो ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की नीति को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक हों। उसे युद्ध की घोषणा करने की शक्ति न थी, परन्तु वह ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर सकता था जिनमें युद्ध करना आवश्यक हो जाय।

(3) **भारतीय शासन के अध्यक्ष के रूप में**—यद्यपि गवर्नर जनरल के द्वारा सम्राट के प्रतिनिधि और गृह सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भी कुछ शक्तियों का उपयोग किया जाता था किन्तु उसके पद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष भारतीय शासन के अध्यक्ष का था। इस रूप में उसके द्वारा जिन व्यापक शक्तियों का प्रयोग किया जाता था उनका अध्ययन प्रमुख रूप से निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

कार्यकारिणी शक्तियां—गवर्नर जनरल भारतीय प्रशासन का वास्तविक अध्यक्ष होता था और इस रूप में उसे अनेक शक्तियां प्राप्त थीं। उसे कार्यकारिणी परिषद के उपप्रधान, परिषद के सचिव, लेफ्टिनेण्ट गवर्नरों और राज्य परिषद के प्रधान आदि की नियुक्ति के अधिकार प्राप्त थे। कार्यपालिका प्रधान के रूप में वह दोनों सदनों के कुछ सदस्यों को भी नामजद करता था। भारत में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व सपरिषद गवर्नर जनरल का ही था और शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के लिए वह सभी प्रकार की उचित कार्यवाही कर सकता था। वह कार्यकारिणी परिषद की बैठकें जिस स्थान पर चाहता, बुला सकता था। वह उन मामलों में, जिनका प्रभाव भारत की शान्ति व सुरक्षा तथा साम्राज्य के हितों पर पड़ता था कार्यकारिणी परिषद के बहुमत निर्णय के विरुद्ध कार्य कर सकता था। वह साधारणतया परराष्ट्र और राजनीतिक विभाग का प्रधान स्वयं ही रहता था।

1 Quoted from Bertrand Russel, *Freedom and Organization*, p. 416.
2 Ramsay MacDonald, *Government of India*, p. 57.

विधायिनी शक्तियां—भारतीय शासन की कार्यकारिणी के प्रधान गवर्नर जनरल को विधायी क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण और व्यापक शक्तियां प्राप्त थीं। व्यवस्थापिका सभाओं के अधिवेशन बुलाना, स्थगित करना अथवा उनको भंग करना उसके हाथों में ही था। वह उनके निर्वाचन समय को निश्चित करता और उनकी अवधि भी बढ़ा सकता था। वह दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में अथवा पृथक् रूप से भाषण दे सकता था और उन्हें सन्देश भेज सकता था।

इनके अतिरिक्त, उसे कुछ विशेष शक्तियां भी प्राप्त थीं। वह किसी भी समय में विचाराधीन विधेयक या प्रस्ताव पर हो रहे वाद-विवाद को आगे बढ़ने से रोक सकता था, यदि वह समझता कि उससे भारत की शान्ति पर कुप्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, सार्वजनिक ऋण, सेना, वैदेशिक मामले और प्रान्तीय विषयों से सम्बन्धित विधेयकों पर उसकी पूर्व स्वीकृति लेनी आवश्यक थी और वह विशिष्ट प्रकार के प्रश्नों के पूछे जाने तथा प्रस्तावों को पास होने से रोक सकता था।

इन सबके अतिरिक्त उसे विधायी क्षेत्र में **निषेधाधिकार** और **प्रमाणित** करने की शक्ति (Power to Certify) प्राप्त थी। निषेधाधिकार की शक्ति का तात्पर्य यह है कि वह केन्द्रीय विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक को अपनी स्वीकृति प्रदान करने से इन्कार कर विधेयक के जीवन का अन्त कर सकता था। यदि वह उचित समझता तो किसी विधेयक को सम्राट की स्वीकृति के लिए रोक सकता था या विधानमण्डल को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता था। निषेधाधिकार के समान ही उसे प्रमाणित करने की महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त थी। जव कभी केन्द्रीय कार्यपालिका प्रशासन के लिए किसी विधेयक को आवश्यक समझती, किन्तु केन्द्रीय विधानमण्डल के दोनों अथवा एक सदन उसे पेश करने की अनुमति न देते, उसे अस्वीकार कर देते या उसके किसी महत्वपूर्ण प्रावधान में कार्यपालिका की इच्छा के विरुद्ध संशोधन कर देते, तो गवर्नर जनरल ऐसे विधेयक को प्रमाणित करके कानून का रूप दे सकता था। उसे अपने हस्ताक्षर के साथ यह प्रमाण-पत्र देना होता था कि उस विधेयक को पास किया जाना भारत की सुरक्षा, शान्ति और ब्रिटिश भारत के हितों के लिए आवश्यक है। इस प्रकार निषेधाधिकार व प्रमाणित करने की शक्ति के आधार पर गवर्नर जनरल के हाथ में विधायी क्षेत्र की नकारात्मक और सकारात्मक दोनों ही प्रकार की शक्तियां आ गयी थीं। आपातकाल में गवर्नर जनरल को ब्रिटिश भारत की शान्ति और सुशासन हेतु अध्यादेश जारी करने की शक्ति भी प्राप्त थी जिनका प्रभाव कानून के समान ही होता था और जो 6 माह तक कार्यशील रहते थे।

वित्तीय शक्तियां—गवर्नर जनरल की वित्तीय शक्तियां भी बहुत व्यापक और प्रभावशील थीं। केन्द्रीय बजट का निर्माण सपरिषद गवर्नर द्वारा ही होता था और बजट उसकी अनुमति से ही राज्यपरिषद और व्यवस्थापिका सभा में प्रस्तुत किया जाता था। बजट की मदें दो प्रकार की होती थीं—**मत सापेक्ष** (Votable) और **मत निरपेक्ष** (Non-Votable)। व्यय की निम्न मदें मत-निरपेक्ष थीं अर्थात् सदन को उन पर मत देने का अधिकार न था—भारतीय ऋण का सूद, ऐसा खर्च जिसकी रकम कानून से निर्धारित की गयी हो, उन लोगों की पेंशनें या तनख्वाहें जो सम्राट या भारत-मन्त्री द्वारा नियुक्ति किये गये हों, चीफ कमिश्नरों या जुडीशियल कमिश्नरों का वेतन तथा वह व्यय जिन्हें सपरिषद गवर्नर जनरल ने धार्मिक, सेना सम्बन्धी या राजनीतिक घोषित किया हो। इन मदों पर व्यवस्थापिका में विचार करने के लिए भी गवर्नर जनरल की अनुमति आवश्यक थी। यह मदें बजट की लगभग 80 प्रतिशत थीं अर्थात् बजट की बहुत बड़ी राशि को गवर्नर जनरल बिना व्यवस्थापिका के अनुमोदन के स्वेच्छानुसार खर्च कर सकता था। वह बजट के शेष भाग में व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत या कटौती की गयी अनुदान मांगों को प्रमाणित कर यथापूर्व कर सकता था। इस प्रकार गवर्नर जनरल लगभग पूरे भारतीय राजकोष का स्वामी था।

गवर्नर जनरल एक स्वेच्छाचारी शासक—गवर्नर जनरल ब्रिटिश सम्राट का एक ऐसा अनूठा सेवक था जिसे स्वयं ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री या अमरीकी राष्ट्रपति से भी व्यापक शक्तियां प्राप्त थीं। वह भारत में एक वैधानिक शासक की तरह नहीं, अपितु स्वेच्छाचारी शासक की तरह कार्य करता था। यद्यपि ब्रिटिश संसद भारत-मन्त्री के द्वारा उस पर अपना नियन्त्रण रखती थी, लेकिन इस नियन्त्रण के बावजूद भी गवर्नर जनरल को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ब्रिटिश सम्राट का सर्वोच्च प्रतिनिधि होने के नाते भारत में उसका राजनीतिक गौरव व दवदवा बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वह अपने कार्यों के सम्बन्ध में पूर्ण कानूनी विमुक्ति का उपभोग करता था। उसे सहयोग और परामर्श देने के लिए जो कार्यकारिणी थी, वह उसके हाथों में खिलौना मात्र थी क्योंकि वह उसके निर्णयों को स्वतन्त्रतापूर्वक ठुकरा सकता था। व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत

था, लेकिन गवर्नर जनरल उसकी इच्छा को भी रद्द कर सकता था। विश्व के प्रमुख शासकों में उसकी स्थिति ईर्ष्यापूर्ण थी। साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में गवर्नर जनरल के लिए कहा था कि **"वह अत्यन्त उत्तरदायी, ऐश्वर्यवान तथा उल्लेखनीय पद सुशोभित करता था तथा शासन का भार वहन करने में प्रत्यक्ष एवं वैयक्तिक रूप से उस पर ऐसा भार था, जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य में अन्य किसी प्रतिनिधि पर नहीं।"**

कार्यकारिणी परिषद

रचना—गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद की स्थापना रेग्यूलेटिंग एक्ट के अन्तर्गत ही गवर्नर जनरल को अपने कार्यों में सहायता और सहयोग देने के लिए की गयी थी। प्रारम्भ में इसकी सदस्य संख्या 4 थी। समय-समय पर इस सदस्य संख्या में परिवर्तन होते रहे, 1919 के अधिनियम के पूर्व इसके 6 साधारण सदस्य थे और सेनापति इसका असाधारण सदस्य होता था। सन् 1909 से एक भारतीय इसका सदस्य चला आ रहा था। **सर एस. पी. सिन्हा, सर अली इमाम और सर शंकरन नायर** क्रम-क्रम से इसके सदस्य रह चुके थे।

सन् 1919 के सुधार अधिनियम द्वारा इसकी रचना में ये परिवर्तन हुए—(1) इसकी सदस्य संख्या पर जो कानूनी सीमा थी, उसे हटा दिया गया। फलतः इसकी सदस्य संख्या में केवल सम्राट की स्वीकृति से ही वृद्धि की जा सकती थी। (2) व्यवहार में 1919 से 1941 तक परिषद के सदस्यों की संख्या 6 ही बनी रही थी। कानूनी सदस्यता के लिए भारतीय एडवोकेटों को भी सदस्य नियुक्त किया जा सकता था। (3) साधारण और असाधारण सदस्यों का अन्तर समाप्त हुआ और मुख्य सेनापति अब इसका साधारण सदस्य बना रहा। (4) सदस्यों की योग्यता के सम्बन्ध में केवल यह नियम था कि इसमें कम से कम तीन सदस्य ऐसे हों, जिन्होंने 10 वर्ष सम्राट की सेवा में भारत में व्यतीत किये हों। सभी सदस्यों के भारतीय होने पर भी प्रतिबन्ध न था और इस सम्बन्ध में **'ज्वाइण्ट सलेक्ट कमेटी'** का मत था कि, **"सरकारी अधिकारियों में से लिये गये कार्यकारिणी के सदस्य जैसे-जैसे समय व्यतीत होगा, यूरोपियनों की अपेक्षा अधिकतर भारतीय ही होने लगेंगे।"** सदस्यों की नियुक्ति भारत-मन्त्री के परामर्श से सम्राट द्वारा की जाती थी साधारणतया भारत-मन्त्री इस सम्बन्ध में गवर्नर जनरल की सिफारिशों को बहुत महत्व देता था। उनकी नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जाती थी और पुनर्नियुक्ति भी की जा सकती थी। उन्हें वेतन भारतीय राजस्व में से दिया जाता था जो मत-निरपेक्ष था। मुख्य सेनापति के अतिरिक्त कार्यकारिणी परिषद के प्रत्येक सदस्य का वेतन 80 हजार रुपये प्रतिवर्ष था।

कार्यकारिणी परिषद की शक्तियां व कृत्य—सपरिषद गवर्नर जनरल का कार्य भारतवर्ष में शान्ति, सुव्यवस्था और सुशासन का संधारण करना था। कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों में से प्रत्येक अलग-अलग विभागों का प्रमुख होता था। वैदेशिक व राजनीतिक विभाग गवर्नर जनरल के अधीन थे और सुरक्षा व सेना विभाग मुख्य सेनापति की अधीनता में थे। अवशिष्ट विभागों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'गृह विभाग' अंग्रेज पार्षद के हाथ में रखा जाता था। भारतीय सदस्यों को शिक्षा, स्वास्थ्य तथा श्रम विभागों से ही सन्तोष करना पड़ता था।

कार्यकारिणी परिषद की कार्यप्रणाली—कार्यकारिणी परिषद विभागीय पद्धति (Portfolio System) के आधार पर कार्य करती थी और इस पद्धति के अन्तर्गत अपने-अपने विभाग से सम्बन्धित सभी मामलों को प्रत्येक सदस्य स्वतन्त्रतापूर्वक निबटाता था। अधिक महत्व के या प्रान्तीय सरकार से सम्बन्धित विषयों को गवर्नर जनरल की सलाह से निश्चित किया जाता था। परन्तु वे सब विषय जो कि बहुत अधिक महत्व के होते थे और जिनका प्रभाव दो या दो से अधिक विभागों पर पड़ता था, पूरी कार्यकारिणी परिषद के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किये जाते थे। साधारणतया कार्यकारिणी परिषद की बैठक सप्ताह में एक बार होती थी। बैठकें गवर्नर जनरल द्वारा बुलायी जाती थीं और वही बैठक के लिए कार्यक्रम निश्चित करता था। बैठकों की अध्यक्षता गवर्नर जनरल करता था और उसकी अनुपस्थिति में उसके द्वारा मनोनीत उपसभापति। परिषद के निर्णय बहुमत के आधार पर होते थे। किन्तु देश की शान्ति व सुरक्षा के लिए आवश्यक समझने पर गवर्नर जनरल परिषद के निर्णयों के प्रतिकूल भी, जो चाहता सो कर सकता था।

कार्यकारिणी परिषद् और गवर्नर जनरल का पारस्परिक सम्बन्ध—1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल के पद की स्थापना के साथ ही उसकी सहायता के लिए एक परिषद की व्यवस्था की गयी। इस एक्ट का उद्देश्य एक सामूहिक कार्यपालिका का निर्माण करना था और इसी कारण गवर्नर जनरल को परिषद की अवहेलना की शक्ति प्रदान नहीं की गयी थी। लेकिन प्रयोग में यह स्थिति व्यावहारिक सिद्ध नहीं हुई। इसलिए 1786 में सर्वप्रथम लार्ड कार्नवालिस को परिषद के बहुमत निर्णय की अवहेलना करने का अधिकार दिया

गया और बाद में यह एक नियम ही बन गया। समय-समय पर ऐसे परिवर्तन किये गये, जिनका परिषद के सदस्यों की शक्ति और स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ा और 1919 तक गवर्नर जनरल की शक्तियों की अपेक्षा परिषद के सदस्यों की शक्ति अत्यधिक क्षीण हो गयी। इस स्थिति के कई कारण थे—(1) गवर्नर जनरल अपने सरकारी पद और कानूनी शक्तियों में उनसे अत्यधिक ऊंचा था। (2) सदस्यों की नियुक्ति में उसकी सम्मति का विशेष महत्व था और परिषद की सदस्यता के उपरान्त सदस्यगण आगे उन्नति के लिए उसी की ओर देखते थे। (3) अधिकतर पार्षद नागरिक सेवा के सदस्य होते थे, जो इन ऊंचे पदों तक अधिकारियों की आज्ञा पालन करने के वातावरण में रहकर पहुंचते थे, अतः वे स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का साहस नहीं करते थे।

कार्यकारिणी परिषद और मन्त्रिमण्डल—यद्यपि कार्यकारिणी परिषद कुछ आधारों पर मन्त्रिमण्डल से मिलती-जुलती थी किन्तु वास्तव में भारतीय गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में अत्यधिक अन्तर था। **प्रथम**, परिषद के सदस्य गवर्नर जनरल के सहयोगी नहीं वरन् सेवक मात्र थे, जबकि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य प्रधानमन्त्री के सेवक नहीं, वरन् सहयोगी होते थे। **द्वितीय**, ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल और कार्यकारिणी परिषद में एक और बड़ा अन्तर यह था कि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से कामन्स सभा के प्रति उत्तरदायी होता था और उसके द्वारा पदच्युत किया जा सकता था। इसके विपरीत, भारतीय कार्यकारिणी परिषद के सदस्य व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यों में से नहीं चुने जाते थे और न ही उसके प्रति उत्तरदायी होते थे।

वास्तव में, 1919 के अधिनियम के अधीन कार्यकारिणी परिषद का गठन नितान्त असन्तोषजनक था। परिषद के सदस्य न तो अपने अतिरिक्त किसी का प्रतिनिधित्व करते थे और न ही स्वयं को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी अनुभव करते थे।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका

1919 के अधिनियम का उद्देश्य केन्द्रीय व्यवस्थापिका का विस्तार कर उसे अधिक प्रतिनिध्यात्मक बनाना और उसे शासन-प्रबन्ध पर प्रभाव डालने के अधिक अवसर प्रदान करना था। इस दृष्टि से 1919 के अधिनियम द्वारा भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका के स्थान पर द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की गयी जिसके दो सदन राज्य-परिषद और विधानसभा थे। व्यवस्थापिका को अधिक प्रतिनिध्यात्मक और प्रभावशाली भी बनाया गया।

राज्य-परिषद—यह केन्द्रीय व्यवस्थापिका का उच्च सदन था। इसमें 60 सदस्य होते थे, जिनमें से 34 प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा साम्प्रदायिक आधार पर चुने जाते थे। इन 34 सदस्यों में से 20 साधारण निर्वाचन क्षेत्र से, 10 मुस्लिम क्षेत्रों से, 1 सिख तथा 3 यूरोपियन क्षेत्रों से होते थे। शेष सदस्यों में से एक की नियुक्ति गवर्नर जनरल सभापति के रूप में करता था तथा 19 मनोनीत सरकारी व 6 मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य होते थे।

द्वितीय सदन की स्थापना का उद्देश्य एक ऐसा कुलीनतन्त्रीय सदन स्थापित करना था, जिसका उपयोग प्रथम सदन के प्रतिभार के रूप में किया जा सके। इसलिए राज्य-परिषद के लिए मताधिकार अत्यन्त संकुचित रखा गया था और वह सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताओं पर आधारित था। इसके लिए केवल वे ही व्यक्ति मतदान के अधिकारी थे जो 10 हजार से 20 हजार रुपये वार्षिक आय पर कर देते हों अथवा 750 से लेकर 5,000 रुपये तक भूमि कर देते हों। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित व्यक्तियों को भी मताधिकार दिया गया था :

(1) वे व्यक्ति जो नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों अथवा केन्द्रीय सहकारी बैंकों के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष रह चुके हों।

(2) भारत की किसी व्यवस्थापिका के सदस्य रह चुके हों।

(3) सरकार द्वारा महामहोपाध्याय अथवा शम्शुलउलेमा आदि पाण्डित्य सम्बन्धी उपाधियों से विभूषित किये गये हों।

स्त्रियों को राज्य-परिषद के लिए मताधिकार से वंचित रखा गया था। इस प्रकार राज्य-परिषद के लिए जिस प्रकार के संकुचित मताधिकार की व्यवस्था की गयी थी, उससे वह बुद्धिजीवी वर्ग के स्थान पर निहित

स्वार्थों वाले वर्ग का ही प्रतिनिधि बनकर रह गयी थी। श्रीनिवास आयंगर ने ठीक ही लिखा है कि **"राज्य-परिषद की स्थापना विधानपरिषद के प्रतिभार के रूप में की गयी थी और यह सरकार के अजेय दुर्ग के समान थी।"** राज्य-परिषद का कार्यकाल 5 वर्ष रखा गया था।

केन्द्रीय विधानसभा—विधानसभा केन्द्रीय व्यवस्थापिका का निम्न सदन थी। इसकी सदस्य संख्या 143 थी जिनमें से 103 निर्वाचित व 40 मनोनीत होते थे।

विभिन्न प्रान्तों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या उनकी जनसंख्या के आधार पर नहीं वरन् उनके महत्व के आधार पर निश्चित की गयी थी। उदाहरण के लिए, बम्बई को, जिसकी जनसंख्या मद्रास से आधी थी, व्यापारिक महत्व के कारण मद्रास के बराबर प्रतिनिधित्व (16 स्थान) प्रदान किया गया। इसी प्रकार पंजाब को, जिसकी जनसंख्या बिहार और उड़ीसा की दो-तिहाई ही थी, सैनिक महत्व के कारण उनके बराबर प्रतिनिधित्व (12 स्थान) प्रदान किया गया था। इस प्रकार अल्पसंख्यक सम्प्रदायों को ही नहीं वरन् छोटे प्रान्तों को भी भारात्मक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था।

विधानसभा के लिए राज्य-परिषद की तुलना में मताधिकार व्यापक था, किन्तु इसमें भी मताधिकार सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता पर ही आधारित था। विधानसभा के लिए मताधिकार हेतु निम्नलिखित योग्यताओं में से किसी एक का होना आवश्यक था :

(1) कम से कम 2 हजार से लेकर 5 हजार रुपये वार्षिक आय पर कर देना।
(2) 50 से 150 रुपये तक वार्षिक भूमि-कर देना।
(3) कम से कम 15 रुपये से लेकर 20 रुपये तक वार्षिक म्युनिसिपल कर देना।
(4) 150 रुपये से अधिक किराये के मूल्य वाले मकान का स्वामी होना या किरायेदार होना।

इन सम्पत्ति विषयक योग्यताओं के कारण विधानसभा के लिए समस्त भारत में कुल मतदाताओं की संख्या 10 लाख से अधिक नहीं थी।

विधानसभा का कार्यकाल तीन वर्ष निश्चित किया गया। विधानसभा का अध्यक्ष प्रथम चार वर्षों के लिए तो गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत होना निश्चित हुआ तथा उसके बाद वह विधान सभा द्वारा निर्वाचित होना था।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका की शक्तियां

विधायिनी शक्तियां—1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय व्यवस्थापिका की शक्तियों में वृद्धि की गयी थी। यह ब्रिटिश भारत के सभी व्यक्तियों और वस्तुओं, स्थानों और न्यायालयों के लिए और केन्द्रीय सूची में निहित सभी विषयों के लिए विधि निर्मित कर सकती थी। परन्तु वास्तव में इसकी विधि निर्माण शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध लगे हुए थे। इसे ब्रिटिश संसद की किसी विधि को, जो भारत के उपर लागू होती थी, संशोधित अथवा रद्द करने का अधिकार न था। वह बिना भारत-मन्त्री के अनुमोदन के ऐसा कोई कानून भी पारित नहीं कर सकती थी जो किसी उच्च्व न्यायालय का उन्मूलन करता हो। इसके अतिरिक्त, निम्नलिखित विषयों पर व्यवस्थापिका में प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी :

(1) सार्वजनिक ऋण, राजस्व कर अथवा भारत से राजस्व कर पर अतिरिक्त कर के सम्बन्ध में।
(2) ब्रिटिश भारत की जनता की धार्मिक अथवा सामाजिक परम्पराओं के सम्बन्ध में।
(3) सम्राट की सेना के तीनों अंगों के अनुशासन के सम्बन्ध में।
(4) विदेशी शासकों अथवा देशी राज्यों से सरकारी सम्बन्धों के विषय में।

इसके अतिरिक्त, किसी प्रान्तीय विषय पर विचार करने, प्रान्तीय व्यवस्थापिका के किसी कानून को रद्द करने या संशोधित करने या गवर्नर जनरल के किसी अधिनियम को संशोधित या रद्द करने से सम्बन्धित विषयों पर विचार करने के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक होती थी।

वित्तीय शक्तियां—केन्द्रीय व्यवस्थापिका के वित्तीय अधिकारों पर भी अनेक प्रतिबन्ध थे। बजट के 80 प्रतिशत भाग पर व्यवस्थापिका को मतदान करने का कोई अधिकार नहीं था तथा इस पर गवर्नर जनरल की आज्ञा ही अन्तिम शब्द होती थी। बजट की इन मदों पर विचार करने के लिए भी गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। बजट का जो 20 प्रतिशत मत सापेक्ष भाग था, उसमें भी यदि व्यवस्थापिका खर्च में

कटौती या उसे अस्वीकृत करती, तो गवर्नर जनरल को अधिकार था कि वह उन्हें आवश्यक घोषित करके अपने विशेषाधिकारों से यथापूर्व कर दे। इस प्रकार केन्द्रीय व्यवस्थापिका को भारतीय राजकोष पर आंशिक स्वामित्व भी प्राप्त नहीं था।

कार्यकारिणी को प्रभावित करने का अधिकार—केन्द्रीय व्यवस्थापिका को कार्यकारिणी को प्रभावित करने का अधिकार था। वह कार्यकारिणी के सदस्यों से प्रश्न अथवा पूरक प्रश्न पूछ सकती थी, सरकार की नीतियों की आलोचना कर सकती थी और कार्य स्थगन प्रस्ताव भी रख सकती थी। व्यवस्थापिका सरकार की नीतियों में परिवर्तन हेतु सुझाव भी रख सकती थी लेकिन इतना होने पर भी व्यवस्थापिका को कार्यकारिणी के कार्य को प्रभावित करने या नियन्त्रित करने की प्रभावदायक शक्ति प्राप्त न थी, क्योंकि कार्यकारिणी आंशिक रूप से भी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी न थी।

1919 के अधिनियम के अन्तर्गत गठित व्यवस्थापिका में सामान्य पद्धति के प्रतिकूल एक बात यह थी कि सामान्यतः दोनों सदनों के अधिकार समान रखे गये थे। दोनों सदनों की शक्तिं में अन्तर केवल यह था कि वित्तीय विधेयक सर्वप्रथम निम्न सदन में ही प्रस्तुत किए जाते थे तथा मत सापेक्ष विषयों पर मतदान का अधिकार का निम्न सदन को ही प्राप्त था। विधायी एवं कार्यकारिणी को प्रभाविंत करने के अधिकार के सम्बन्ध में दोनों सदनों की शक्तियों में कोई अन्तर न था।

भारतीय व्यवस्थापिका की शक्तियों पर लगे हुए इन प्रतिबन्धों के आधार पर ही **गुरुमुख निहालसिंह** लिखते हैं, **"इस प्रकार भारतीय विधानमण्डल केवल एक प्रभुता रहित, विधायक निकाय ही नहीं था, वरन् यह कार्यकारिणी के समक्ष अशक्त भी था। प्रशासकीय विधायी एवं वित्तीय सभी क्षेत्रों में सपरिषद गवर्नर जनरल को पूरा अधिकार था। कार्यकारिणी विधान-मण्डल से स्वतन्त्र ही नहीं थी, वरन् इसको लगभग सभी विषयों में उसका उल्लंघन करने का अधिकार था।"**[1]

प्रान्तीय शासन

ज्वाइण्ट रिपोर्ट में कहा गया था कि '**प्रान्त ही वह क्षेत्र है जहां उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति के लिए प्राथमिक प्रयोग किए जायेंगे।**' इस सिफारिश के आधार पर 1919 के अधिनियम द्वारा सबसे अधिक महत्वपूर्ण और क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना के रूप में किया गया। **गुरुमुख निहालसिंह** के शब्दों में, **"इस प्रकार माण्टफोर्ड सुधारों के केन्द्रीय प्रस्ताव ने प्रान्तीय स्वायत्तता के लिए दो महत्वपूर्ण बातें प्रारम्भ कीं—उच्च सत्ता के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता और जनता के प्रति शक्ति का हस्तान्तरण।"**[2]

1919 के अधिनियम द्वारा प्रशासन के विषयों और आय की मदों को दो केन्द्रीय और प्रान्तीय वर्गों में बांटा गया। अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्रीय विषय ये थे—रक्षा (इसमें सेना के तीनों अंग सम्मिलित थे), विदेश सम्बन्ध, देशी राज्यों से सम्बन्ध, रेलें, सैन्य महत्व के संचार साधन, डाक और तार, मुद्रा और टंकण, सार्वजनिक ऋण, सार्वजनिक राजस्व की मदें, दीवानी और फौजदारी कानून और पद्धति, चर्च आदि से सम्बन्धित धार्मिक व्यवस्था, अखिल भारतीय नौकरियां, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान की केन्द्रीय संस्थाएं और वे सब विषय जो स्पष्ट रूप से प्रान्तीय विषय घोषित न किए गए हों। महत्वपूर्ण प्रान्तीय विषय थे—स्थानीयस्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण, कृषि, उद्योग-धन्धों का विकास, आवकारी, पशु चिकित्सा, अकाल सहायता, मालगुजारी, प्रशासन, सिंचाई, वन, न्याय, पुलिस, जेल, श्रम और ऐसे कार्य जिन्हें अभिकर्ता के रूप में करना हो। अवशिष्ट शक्तियां सपरिषद गवर्नर जनरल के हाथ में रखी गयी थीं।

प्रान्तीय विषयों के प्रशासन के सम्बन्ध में द्वैध शासन-व्यवस्था अपनायी गयी। माण्टफोर्ड रिपोर्ट में कहा गया था कि भारतीय जनता के अशिक्षित होने और निर्वाचकों के अनुभवहीन होने के कारण निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा सभी विषयों के सम्बन्ध में अपना उत्तरदायित्व नहीं निभा सकेगी। इसलिए द्वैध शासन के रूप में प्रान्तीय जनता को कुछ ही विषयों के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व प्रदान किया गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान्तीय विषयों का विभाजन दो श्रेणियों—रक्षित और हस्तान्तरित—में कर दिया गया। न्याय, पुलिस, जेल, भूमि तथा राजस्व कर, कृषि सम्बन्धी ऋण, अकाल पीड़ित सहायता, व्यावसायिक कारखाने, श्रमिक विवाद, जंगल, सिंचाई, नहर तथा जलविद्युत शक्ति रक्षित विषय थे। सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, स्थानीय,

---

1 **गुरुमुख निहालसिंह : भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास, पृ. 317.**

2 **उपरोक्त, पृ. 291-292.**

स्वायत्त संस्थाएं, शिक्षा (विश्वविद्यालय तथा कुछ अन्य शिक्षण संस्थाएं छोड़कर) कृषि, सहकारी समिति, आवकारी, औद्योगिक विकास और चिकित्सा आदि हस्तान्तरित विषय थे। रक्षित विषयों का प्रशासन पहले की तरह ही सम्राट द्वारा नियुक्त शासकीय सलाहकारी सदस्यों के अधीन और हस्तान्तरित विषय लोकप्रिय मन्त्रियों के अधीन रखे गये।

द्वैध शासन प्रणाली (Dyarchy)

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही भारतीय जनता द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग की जा रही थी और कुछ समय वाद ही जनता की इस मांग ने इतना जोर पकड़ लिया था कि ब्रिटिश सरकार के लिए अधिक समय तक इस मांग की अवहेलना करना सम्भव नहीं रहा। ऐसी स्थिति में 20 अगस्त, 1917 की घोषणा में भारतीयों को शनैः-शनैः उत्तरदायित्व प्रदान करने की बात कही गयी और **ज्वाइण्ट रिपोर्ट** में इस वात का उल्लेख किया गया कि '**प्रान्त ही वह क्षेत्र है, जहां उत्तरदायी सरकार की प्राप्ति के लिए प्राथमिक प्रयोग किए जायेंगे।**' वस्तुतः 1919 का अधिनियम भारतीय जनता की उत्तरदायी शासन की मांग और ब्रिटिश शासन की कम से कम सत्ता हस्तान्तरण की इच्छा के बीच समन्वय था।

उद्देश्य और व्याख्या—इस व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य यह था कि कुछ विषयों में भारतीयों को प्रान्तीय क्षेत्र में उत्तरदायी सरकार प्रदान की जाए। द्वैध शासन का आंग्ल पर्यायवाची शब्द 'डायर्की' (Dyarchy) दो ग्रीक शब्दों '**डाइ**' (di) और '**आर्की**' (archie) से बना था, जिनका तात्पर्य क्रमशः '**दोहरे**' और '**शासन**' से था। इस प्रकार द्वैध शासन का अर्थ था '**दोहरा शासन**'। 1919 के अधिनियम की पृष्ठभूमि में '**द्वैध शासन**' का अर्थ था कि "**प्रान्तीय शासन दो क्षेत्रों में विभाजित हो और इन दोनों क्षेत्रों का प्रशासन दो ऐसे पदाधिकारियों द्वारा किया जाए, जिनके स्वरूप और उत्तरदायित्व में विभिन्नता हो।**" इस प्रकार 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र में द्वैध शासन की स्थापना की गयी। इसके लिए प्रान्तीय विषयों का रक्षित विषय और हस्तान्तरित विषयों में विभाजन किया गया। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है रक्षित विषयों का शासन सम्राट द्वारा नियुक्त और ब्रिटिश शासन के प्रति उत्तरदायी गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों द्वारा किया जाता था। लेकिन हस्तान्तरित विषयों के शासन की शक्ति लोकप्रिय मन्त्रियों को प्रदान की गयी थी जो प्रान्तीय विधान परिषदों के निर्वाचित सदस्य होते थे और प्रान्तीय विधान परिषद के प्रति ही उत्तरदायी होते थे। इस प्रकार जनता की उत्तरदायी शासन की आकांक्षा और ब्रिटिश सरकार के शनैः-शनैः उत्तरदायी सरकार देने के निश्चय को द्वैध शासन प्रणाली द्वारा साकार रूप प्रदान किया गया।

द्वैध शासन का क्रियान्वयन—1 अप्रैल, 1921 से भारत के **आठ प्रान्तों**—बंगाल, बिहार, मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त और पंजाब आदि में द्वैध शासन को लागू किया गया। 1932 में उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में भी इसे लागू किया और इस प्रकार 16 वर्ष तक यह प्रयोग किया गया। लेकिन द्वैध शासन को प्रारम्भ से ही विरोध का सामना करना पड़ा और इस प्रयोग को वांछित सफलता प्राप्त नहीं हुई। मध्य प्रान्त और बंगाल में 'संवैधानिक अवरोध' की स्थिति उत्पन्न हो गयी और अन्य प्रान्तों में भी गवर्नरों और उत्तरदायी मन्त्रियों के बीच निरन्तर विवाद उत्पन्न होते रहे। वास्तव में, 16 वर्षों के इस प्रयोग ने यह स्पष्ट कर दिया कि द्वैध शासन की योजना में कुछ ऐसे अन्तर्निहित दोष हैं कि यह योजना सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। अतः 1935 के अधिनियम द्वारा द्वैध शासन का अन्त कर प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी।

द्वैध शासन की असफलता के कारण—यद्यपि कूपलैण्ड जैसे ब्रिटिश लेखकों ने द्वैध शासन की असफलता का उत्तरदायित्व कांग्रेस तथा उसके ही एक अंग स्वराज्य दल पर डालते हुए लिखा है कि स्वराज्य दल की अड़ंगा नीति ने निरन्तर गतिरोध उत्पन्न किया, जिससे ही यह प्रयोग असफल रहा। लेकिन कूपलैण्ड और अन्य ब्रिटिश लेखकों का यह आरोप अधिकांश अंशों में सत्य नहीं है। वास्तव में, द्वैध शासन की योजना ही सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से दोषपूर्ण थी और इसकी असफलता के लिए प्रमुख रूप से योजना में अन्तर्निहित दोष ही उत्तरदायी थे। अतः द्वैध शासन की असफलता के कारणों का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

1. योजना में अन्तर्निहित दोष, 2. अन्य परिस्थितियां।

द्वैध शासन की योजना में अन्तर्निहित दोष—द्वैध शासन की असफलता का मूल उत्तरदायित्व योजना में अन्तर्निहित दोषों पर ही था। वस्तुतः इस शासन की योजना में निम्नलिखित गम्भीर दोष थे :

1. **सिद्धान्ततः दोषपूर्ण**—द्वैध शासन प्रणाली सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से दोषपूर्ण थी। एक ही प्रान्त की शासन-व्यवस्था को दो भिन्न और अलग-अलग प्रकृति की शक्तियों के अधीन कर देने से शासन में गतिरोध उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था। शासन में एक आंगिक एकता होती है और इसके विभिन्न अंग पारस्परिक निर्भरता और सहयोग के आधार पर ही अपना कार्य कर सकते हैं लेकिन द्वैध शासन की योजना राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार के इस मूल विचार के ही विरुद्ध थी। उदाहरण के लिए, पंजाब में सिख गुरुद्वारा आन्दोलन की स्थिति का सामना शान्ति और व्यवस्था के लिए उत्तरदायी सदस्य द्वारा ठीक प्रकार से नहीं किया जा सकता था, जब तक कि धार्मिक कोष से सम्बन्धित मन्त्री द्वारा आवश्यक व्यवस्थापन नहीं किया जाए। शासन के दोनों क्षेत्रों के बीच सहयोग का अभाव होने के कारण शासन में एकरूपता सम्भव नहीं थी। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए रेजीनाल्ड क्राडक ने कहा था कि, **"द्वैध शासन एक प्रकार की वर्ण संकर व्यवस्था है जो कभी सफल नहीं हो सकती, क्योंकि किसी देश अथवा प्रान्त के शासन का संचालन दो पृथक् एवं स्वतन्त्र मन्त्रिमण्डलों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं किया जा सकता।"**[1]

(2) **विषयों का अतार्किक और अव्यावहारिक विभाजन**—इसके अतिरिक्त, 1919 के अधिनियम द्वारा दो सत्ताओं के बीच विषयों का जो विभाजन किया गया था वह इतना बेढंगा था कि उससे अधिक अतार्किक और अव्यावहारिक विभाजन की कल्पना नहीं की जा सकती। मद्रास के भूतपूर्व मन्त्री **सर के. वी. रेड्डी** ने अपने विभाग की अपंगता का वर्णन करते हुए कहा था, **"मैं वन के बिना विकासमन्त्री था। मैं सिंचाई के बिना कृषि मन्त्री था। कृषि मन्त्री के रूप में मेरा मद्रास के कृषकों के ऋण कानून या भूमि के विकास सम्बन्धी ऋण कानून से कोई सम्बन्ध नहीं था। अकाल पीड़ितों की सहायता से भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। सिंचाई, कृषि ऋणों, भू-सुधार ऋणों और अकाल सहायता विभाग पर बिना किसी प्रकार के नियन्त्रण के कृषि मन्त्री की कार्य-क्षमता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसके पश्चात् मैं उद्योग-धन्धों का मन्त्री हुआ, परन्तु कारखाने, बिजली, जल शक्ति, खनिज पदार्थ और श्रम मेरे अधीन नहीं थे। ये सब रक्षित विषय थे।"**

इसके अतिरिक्त विभाजन इस प्रकार किया गया कि हस्तान्तरित विषयों के लिए उत्तरदायी मन्त्रियों को किसी भी एक विभाग का पूर्ण नियन्त्रण नहीं दिया गया था। वस्तुतः विषयों का विभाजन इस प्रकार किया गया था कि उत्तरदायी मन्त्रियों के हाथ में कम से कम शक्ति रहे और वे रक्षित क्षेत्र के सहयोग पर निर्भर बने रहें। लेकिन व्यवहार में परिषद के सदस्यों और मन्त्रियों में आवश्यक सहयोग का अभाव था, अतः द्वैध शासन की असफलता अवश्यम्भावी थी।

(3) **गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियां**—हस्तान्तरित क्षेत्र में उत्तरदायी शासन की सफलता के लिए आवश्यक था कि गवर्नर इस क्षेत्र में केवल एक वैधानिक प्रधान ही रहे। लेकिन 1919 के अधिनियम द्वारा उसे मन्त्रियों को नियन्त्रित करने और मन्त्रियों के प्रस्तावों को अस्वीकार करने की शक्ति प्रदान की गयी, यदि वह यह समझता कि इन प्रस्तावों को स्वीकार करने के परिणाम विनाशकारी हो सकते हैं। व्यवहार में गवर्नरों द्वारा विशेष परिस्थितियों के लिए प्रदान की गयी इन शक्तियों के आधार पर मन्त्रियों के कार्यों में अत्यधिक हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया गया। संयुक्त प्रान्त के मन्त्री **मि. चिन्तामणि** ने तो यहां तक कहा था कि—**'शक्ति गवर्नर के पास है मन्त्रियों के पास नहीं।'** मद्रास प्रान्त के एक मन्त्री सी. आर. रेड्डी के मतानुसार तो मन्त्रियों की स्थिति **'गौरवमय सचिवों'** (Glorified Secretaries) जैसी ही थी। **पानागल के राजा** तो मद्रास विधानसभा में स्पष्ट कहा करते थे, **'वे गवर्नर के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं'** सम्पूर्ण स्थिति के सम्बन्ध में केरलपुत्र ने ठीक ही कहा कि **"गवर्नर की स्वेच्छाचारिता के रहते हुए सीमित क्षेत्र में भी उत्तरदायित्व का हस्तान्तरण न हो सका।"**[2]

(4) **हस्तान्तरित क्षेत्र के लिए पृथक वित्त व्यवस्था नहीं**—प्रान्तीय शासन को रक्षित और हस्तान्तरित दो क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया था, लेकिन दोनों के लिए पृथक्-पृथक् वित्त की व्यवस्था नहीं की गयी थी। वित्त एक रक्षित विषय था और सम्पूर्ण वित्त कार्यकारिणी परिषद के एक सदस्य के ही हाथ में रहता था। ऐसी

1 **"Dyarchy is a hybird system which can not continue as no country or province can be successfully governed by two independent cabinets."** —***Sir Reginald Crodock.***

2 **Kerala Putra : *Dyarchy in India*, p. 39.**

स्थिति में, जैसा कि मि. चिन्तामणि कहते हैं कि **"वित्त सदस्य निश्चित रूप से यह चाहता था कि हस्तान्तरित विभागों को अपनी जरूरत का धन प्रान्त होने के पहले उसके रक्षित विभागों की सभी आवश्यकताएं पूरी हो जाएं।"**

वास्तव में, आर्थिक शक्ति के बिना मन्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। इस सम्बन्ध में **सर मोहम्मद फखरुद्दीन** ने कहा था, **"मन्त्री, जिन्हें राष्ट्र निर्माणकारी विभाग प्रदान किए गए थे, धन के अभाव में अपने कार्य सम्पन्न न कर पाते थे।"** कीथ ने बिल्कुल ठीक ही कहा था, **"अब मन्त्रियों को कोष के ऊपर नियन्त्रण रखने का कोई अधिकार ही नहीं था तो उत्तरदायी शासन की बात कहना निरर्थक था।"**[1]

(5) **मन्त्रियों का सेवाओं पर नियन्त्रण नहीं**—उत्तरदायी शासन की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि विभाग के स्थायी पदाधिकारी पूर्णतया सम्बन्धित मन्त्री के अधीन हों, परन्तु द्वैध शासन प्रणाली के अन्तर्गत यह स्थिति नहीं थी। मन्त्रियों के अधीनस्थ विभागों के जो स्थायी प्रमुख होते थे उनमें से अधिकांश भारतीय नागरिक सेवा (I. C. S.) के सदस्य होते थे और 1919 के अधिनियम के अधीन इन सेवाओं के अधिकारों और प्राधिकारों की रक्षा करना गवर्नर का कर्तव्य ठहराया गया था। व्यवहार में इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्थायी पदाधिकारियों की नियुक्ति, स्थानान्तरण और पदोन्नति पर गवर्नर का नियन्त्रण होता था, न कि उस मन्त्री का, जिसकी अधीनता में वे कार्य करते थे। उत्तरदायी शासन की भावना के प्रतिकूल इससे बढ़कर और कौन-सी बात हो सकती थी ? यदि मन्त्रियों और नागरिक सेवा के सदस्यों में किसी प्रकार का मतभेद होता तो नागरिक सेवा के सदस्य मन्त्रियों की अवहेलना करके, उच्चतर अधिकारियों की सहायता से अपनी ही बात रखवा सकते थे। इससे मन्त्रियों की स्थिति उपहास योग्य हो जाती थी। **पुन्निया** के शब्दों में, **"मन्त्री के लिए इससे दुःखदायी और अपमानजनक बात और क्या हो सकती थी कि उसका अधीनस्थ उसके निर्णय के विरुद्ध गवर्नर से अपील कर उसे परिवर्तित करा ले।"**[2]

(6) **सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का अभाव**—सामूहिक उत्तरदायित्व के अभाव में भी उत्तरदायी शासन सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। क्योंकि गवर्नर मन्त्रियों को किसी दलीय आधार पर नियुक्ति नहीं करता था, अतः मन्त्री एक दल के न होते थे तथा इस प्रकार संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव रहता था। कभी-कभी गवर्नर दो विरोधी दल के लोगों को मन्त्री बना देता था जिससे वे एक 'टीम' के रूप में कार्य न कर सकते थे और परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करते। कलकत्ता म्यूनिसिपल विधेयक के सम्बन्ध में नवाब साहिब और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने स्पष्टतया परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किए थे। इसी प्रकार पंजाब में सर फिरोज खां नून ने मई 1928 के जालन्धर शिक्षा सम्मेलन में अपने हिन्दू सहयोगी के कार्यों की खुले आम आलोचना की थी। **पुन्निया** लिखते हैं, **"परस्पर मन्त्रियों में इस प्रकार के विवाद जनता के सम्मुख उनका सम्मान कम करते थे, व्यवस्थापिका में उनकी स्थिति निर्बल कर देते थे और उन्हें पूर्णतया गवर्नर और उनके नामजद गुट की दया पर छोड़ देते थे।"**[3]

(7) **विधान परिषदों का दोषपूर्ण संगठन**—उत्तरदायी शासन की सफलता के लिए विधान परिषदों में संगठित दलों का होना भी आवश्यक था, लेकिन इन परिषदों में संगठित दलों की स्थापना की तनिक भी सम्भावना नहीं थी। प्रान्तों में जो विधान परिषदें बनायी गयीं उनका ढांचा अत्यन्त दोषपूर्ण था। उसमें लगभग 80 प्रतिशत सरकारी या सरकार द्वारा नामजद गैर-सरकारी सदस्य थे। जो सदस्य निर्वाचित थे, वे भी विशेष हितों के ही प्रतिनिधि थे और उनमें से भी अनेक सरकार को प्रसन्न करने की चेष्टा में ही लगे रहते थे। विधान परिषदों की इस दोषपूर्ण रचना के कारण विधान परिषदों में मन्त्रियों की अपेक्षा गवर्नर को ही अधिक प्रभाव प्राप्त होता था और मन्त्री अपने अस्तित्व के लिए गवर्नर पर ही निर्भर हो जाते थे। यह बात उत्तरदायी शासन के मूल विचार के विरुद्ध थी। **एन. श्रीनिवासन** के शब्दों में, **"ऐसी कोई स्वस्थ दलीय पद्धति नहीं थी जो ब्रिटिश ढंग से उत्तरदायी शासन-व्यवस्था का संचालन कर सकती।"**[4]

अन्य बाहरी परिस्थितियां—प्रान्तों में द्वैध शासन की असफलता का मूल कारण तो इसमें अन्तर्निहित दोष ही थे, लेकिन कुछ ऐसी बाहरी परिस्थितियां भी थीं जिन्होंने इसकी असफलता में योग दिया। केरलपुत्र लिखते हैं

1 A. B. Keith, *Constitutional History of India*, p. 278.
2 K. V. Punniah, *The Constitution of India*, pp. 187-188.
3 *Ibid.*, p. 192.
4 N. Srinivasan, *Democratic Govt. in India*, p. 49.

कि, ''आरम्भ से ही सुधारों को उचित राजनीतिक वातावरण प्राप्त नहीं हुआ। भारत सरकार द्वारा रौलट एक्ट पर जोर देने और अमृतसर दुर्घटना जैसी अविवेकपूर्ण कार्यवाहियों से भारतीय मस्तिष्क में दुर्भावना और कटुता उत्पन्न हो गयी थी और इस वातावरण में नवीन सुधार योजना ठीक प्रकार क्रियान्वित हो ही नहीं सकती थी।''[1]

(1) द्वैध शासन का जन्म बुरे नक्षत्रों में—सर्वप्रथम द्वैध शासन का जन्म ही बुरे नक्षत्रों में हुआ था। देश का राजनीतिक वातावरण इसके परीक्षण के लिए ठीक नहीं था। जलियांवाला बाग दुर्घटना, खिलाफत आन्दोलन और कठोर दमनात्मक कानूनों के कारण भारतीयों के मस्तिष्क में ब्रिटेन के प्रति सन्देह, अविश्वास और कटुता उत्पन्न हो गयी थी। इस समय ब्रिटेन और उसके सुधारों के प्रति व्यापक उदासीनता का भाव था। इन परिस्थितियों में द्वैध शासन की सफलता की आशा कैसे की जा सकती थी ? इसके अतिरिक्त, यह बात नितान्त स्पष्ट हो गयी थी कि ये सुधार केवल एक संक्रमणकालीन प्रबन्ध (Transitional measure) हैं। इस कारण भी शासन या भारतीयों का सुधारों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और गम्भीर रुख नहीं था।

(2) आर्थिक दुर्दशा और मैस्टन पंचाट—तत्कालीन आर्थिक दुर्दशा और मैस्टन पंचाट ने भी इन सुधारों की असफलता में कम योग नहीं दिया। 1920 में समय पर वर्षा न होने के कारण फसलें ठीक न हुईं, भारतीय बाजारों में मन्दी आ गयी और इन सब बातों से पहले से ही दुःखी भारतीयों के दुर्भाग्य में और वृद्धि हो गयी। इसी समय मैस्टन पंचाट आया, जिसके अनुसार इस खराब स्थिति में भी प्रान्तों के द्वारा केन्द्र को अनुदान दिया जाना था। इससे स्थिति और अधिक खराब हो गयी। द्वैध शासन की सफलता प्रचुर वित्त पर निर्भर थी और धन के अभाव में प्रान्तीय सरकारें द्वैध शासन-व्यवस्था को ठीक रूप में नहीं अपना सकीं।

(3) कांग्रेस और लीग का असहयोग—अप्पादुराई के अनुसार द्वैध शासन की असफलता बहुत अधिक सीमा तक कांग्रेस और लीग के असहयोगात्मक रुख के कारण हुई। द्वैध शासन के 16 वर्षों में कांग्रेस और लीग की दृष्टि प्रशासकीय सुधारों पर नहीं वरन् देश की स्वतन्त्रता और देश के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संघर्ष में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में लगी हुई थी। बाद में स्वराज्यवादियों के द्वारा सुधार योजना के प्रति प्रत्यक्षतः बाधक नीति अपना ली गयी। **कूपलैण्ड और अप्पादुराई का विचार है कि यदि कांग्रेस के द्वारा द्वैध शासन के प्रति सहयोगात्मक रुख अपनाया जाता, तो परिणाम दूसरा ही हो सकता था।**

(4) नौकरशाही का दृष्टिकोण—नौकरशाही का दृष्टिकोण भी द्वैध शासन की असफलता का कारण बना। उन्होंने सुधारों के प्रति उस भावना से कार्य नहीं किया, जिस भावना से उनके द्वारा कार्य किया जाना चाहिए था। वे अपनी शक्ति को कम करने और लोकप्रिय मन्त्रियों के अधीन बफादारीपूर्वक कार्य करना नहीं चाहते थे। मि. चिन्तामणि लिखते हैं, **''उचित परिस्थितियों में इसके (सुधार योजना के) अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते थे लेकिन उच्च अनुदारवादी नौकरशाही और अत्यधिक प्रगतिवादी अर्ध-क्रान्तिकारी कांग्रेस की सामूहिक अबुद्धिमत्ता के कारण यह असफल रहा।''**

(5) ब्रिटिश सरकार का परिवर्तित दृष्टिकोण—जब तक माण्टेग्यू ब्रिटिश सरकार में भारत-मन्त्री के पद पर रहे, सुधारों की तरफ ब्रिटिश शासन का दृष्टिकोण सामान्यतः ठीक था। लेकिन इंगलैण्ड में अनुदार दल की सरकार बन जाने पर जब इस पद पर अनुदार दल के एक सदस्य आ गये, तो इन सुधारों की तरफ ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण ही बदल गया। डॉ. जकारिया लिखते हैं कि **''लन्दन से निर्देश जारी कर दिए गए कि अब से सुधारों पर इस प्रकार अमल होना चाहिए कि उनसे अधिक से अधिक नहीं वरन् कम-से-कम स्वशासन ही भारत को मिले।''** अतः भारत सरकार ने विधानमण्डल की इच्छाओं की अवहेलना करनी शुरू कर दी। **इसलिए सर तेज बहादुर सप्रू, सी. वाई. चिंतामणि और पं. जगतनारायण** ने मन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिए।

इस प्रकार द्वैध शासन की असफलता का कारण न केवल उनके आन्तरिक दोष, वरन् कुछ बाहरी परिस्थितियां भी थीं। इन सबके लिए ब्रिटिश सरकार की मुख्य रूप से जिम्मेदारी थी। **प्रो. कूपलैण्ड** ने भी स्वीकार किया है कि, **''द्वैध शासन अपने रचयिताओं के प्राथमिक उद्देश्य को पूरा करने में असफल रहा। यह भारतीय जनता को उत्तरदायी शासन का वास्तविक प्रशिक्षण प्रदान नहीं कर सका।''**[2]

1 Kerala Putra, *Dyarchy in India*, p. 49.

2 "Dyarchy failed its primary purpose, which its authors, intended to serve. It did not provide a real training in responsible govt."

—Coupland, *The Constitutional Problem in India*, Part I, p. 73.

द्वैध शासन की उपयोगिता या महत्व—इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि द्वैध शासन-व्यवस्था दोषपूर्ण थी और यह असफल रही। लेकिन इसे सर्वथा लाभहीन नहीं कहा जा सकता। यह भारत में भविष्य के संवैधानिक विकास के लिए सहायक रहा।

इस अधिनियम के द्वारा प्रथम बार **भारतीयों को बड़े पैमाने पर मताधिकार प्रदान** किया गया था, जिससे भारतीयों में राजनैतिक जागरूकता उत्पन्न होना स्वाभाविक था। अधिनियम के आधार पर नियमित रूप से होने वाले चुनावों ने भारतीयों में सार्वजनिक जीवन के प्रति रुचि उत्पन्न की। अधिनियम ने महिलाओं को मताधिकार देने की बात प्रान्तीय सरकारों पर छोड़ दी थी और व्यवहार में लगभग सभी प्रान्तों में पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं को भी मताधिकार प्रदान किया गया। अधिनियम के द्वारा पहली बार परिषदों में संसदीय वातावरण को जन्म दिया गया। अब भारतीय मन्त्रियों द्वारा ब्रिटिश नौकरशाही के उच्च पदासीन सदस्यों को आदेश दिए जाने लगे जिसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भारतीयों में हीनता की भावना की समाप्ति था। अब भारतीयों को सरकार के उन शासकीय रहस्यों के बारे में, जो अब तक सरकार उनसे छिपा कर रखती थी, भी कुछ ज्ञान होने लगा।

द्वैध शासन के परिणामस्वरूप **सार्वजनिक सेवाओं के भारतीयकरण** को प्रोत्साहन मिला। अनेक अंग्रेज अधिकारी भारतीय मन्त्रियों के अधीन कार्य करने के लिए तैयार नहीं थे, वे भारत से चले गए। ऐसी स्थिति में उनके स्थान पर भारतीयों को ही नियुक्त किया गया।

इस नवीन शासकीय व्यवस्था का एक और लाभ भी हुआ। अनेक भारतीय राजनीतिज्ञों ने परिषदों में प्रवेश किया। इससे उन्हें सरकार की समस्याओं को समझने और **बहुमूल्य शासकीय अनुभव** प्राप्त करने का अवसर मिला। प्रशासनिक क्षेत्र में भारतीयों के द्वारा जिस योग्यता का परिचय दिया गया था उससे भारतीयों की शासन संचालन की क्षमता पर सन्देह नहीं किया जा सकता था। द्वैध शासन की स्थापना से स्थानीय स्वशासन का सुधार तथा विकास भी हुआ।

इन सबके अतिरिक्त प्रान्तीय क्षेत्र में कार्य करने वाले भारतीय मन्त्रियों ने विभिन्न क्षेत्रों में **सुधार करने और सामाजिक कुरीतियां दूर करने की दिशा में सराहनीय कार्य किया।** उदाहरणार्थ, मद्रास की जस्टिस पार्टी ने दक्षिण भारत के मन्दिरों के सम्बन्ध में सुधार किए और पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी ने शिक्षा के विस्तार और कृषकों की स्थिति में सुधार की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए। मद्रास और बम्बई में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा और औद्योगीकरण की व्यवस्था की गयी। स्पीयर लिखते हैं कि **"अपने समस्त दोषों के बावजूद ये सुधार अन्तिम लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य की ओर जाने वाले राजमार्ग पर पहला पड़ाव थे।"**[1]

प्रश्न

1. 1919 ई. के माण्टेग्यू चैम्सफोर्ड अधिनियम के मुख्य प्रावधानों की व्याख्या कीजिए और उनके महत्व का मूल्यांकन कीजिए।
2. "रूस के जार और भारत के गवर्नर जनरल अथवा वायसराय कभी-कभी वर्तमान विश्व के महान तानाशाह कहे गये हैं" उपर्युक्त कथन के सन्दर्भ में 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की स्थिति की विवेचना कीजिए।
3. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत व्यवस्थापिका के संगठन और शक्तियों का वर्णन कीजिए।
4. '1919 ई. के अधिनियम में निहित द्वैध शासन की व्यवस्था का सिद्धान्त दोषपूर्ण और कार्य संचालन में अव्यावहारिकता थी' व्याख्या कीजिए।
5. द्वैध शासन से आप क्या समझते हैं ? यह अपने अन्तर्निहित दोषों के कारण असफल रहा या बाहरी परिस्थितियों के कारण, स्पष्ट कीजिए। द्वैध शासन की उपयोगिता या महत्व भी बताइए।

1 "The Montford Reforms were attacked on all sides...But the fact remains that the reforms proved to be a solid and substantial achievement. They were an essential milestone on the road to self-government." —Spear, *India*, pp. 355-356.

4

भारतीय शासन अधिनियम, 1935

(GOVERNMENT OF INDIA ACT, 1935)

भारतीय शासन अधिनियम, 1935

1930, 31 और 32 के गोलमेज सम्मेलनों में किए गए विचार के आधार पर मार्च 1933 ई. में भावी सुधार योजना के सम्बन्ध में एक 'श्वेत पत्र' (White Paper) प्रकाशित किया गया, जिसमें प्रान्तों में उत्तरदायी शासन व्यवस्था और केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना का सुझाव दिया गया था। 'श्वेत पत्र' के सुझावों को स्वीकार करते हुए ही ब्रिटिश संसद द्वारा 1935 ई. के **'भारतीय शासन अधिनियम'** का निर्माण किया गया।

1935 के भारतीय शासन अधिनियम की विशेषताएं

1935 का भारतीय शासन अधिनियम बहुत लम्बा और जटिल था। अधिनियम में 451 धाराएं और 15 परिशिष्ट थे। अधिनियम के इतने अधिक लम्बे और पेचीदा होने का मूल कारण यह था कि एक ओर तो भारत में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के कारण भारत के लोगों को सत्ता का पर्याप्त हस्तान्तरण आवश्यक हो गया था, दूसरी ओर ब्रिटिश-सरकार शक्ति हस्तान्तरण के साथ-साथ अपने हितों की रक्षा की पूरी व्यवस्था कर लेना चाहती थी। अधिनियम की मुख्य विशेषताओं का संक्षिप्त अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) अखिल भारतीय संघ—1935 के अधिनियम द्वारा यह निर्णय किया गया कि केन्द्र में ब्रिटिश प्रान्तों और देशी रियासतों को मिलाकर एक संघ स्थापित किया जाए। यह संघ 11 ब्रिटिश प्रान्तों, 6 चीफ कमिश्नर के क्षेत्रों और उन देशी रियासतों से मिलकर बनना था, जो स्वेच्छा से संघ में सम्मिलित हों। अधिनियम के अनुसार प्रान्तों के लिए संघ में शामिल होना अनिवार्य, परन्तु देशी रियासतों के लिए ऐच्छिक था। संघ में सम्मिलित होने की इच्छुक प्रत्येक देशी रियासत को एक **'प्रवेश प्रपत्र'** (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करने होते थे। इस प्रपत्र में शर्तों का उल्लेख किया जाता था, जिन पर वह संघ में शामिल होना चाहती थी। संघ की इकाइयों को अपने आन्तरिक मामलों में स्वशासन प्राप्त था। संघ और उसकी इकाइयों के विवादों का निर्णय करने के लिए एक 'संघीय न्यायालय' की स्थापना की गयी। केन्द्र में एक संघीय कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका की स्थापना की गयी।

संघ की स्थापना की पूर्व शर्त यह थी कि कम से कम समस्त देशी रियासतों की कुल जनसंख्या की आधी जनसंख्या वाली देशी रियासतें (संघीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन में देशी रियासतों के लिए निर्धारित 104 स्थानों में से कम से कम 52 की पूर्ति करने वाली देशी रियासतें) संघ में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट करतीं। इस शर्त के पूरा हो जाने पर सम्राट द्वारा संघ की स्थापना की घोषणा की जाती। परन्तु देशी रियासतें संघ में सम्मिलित न हुईं और इस प्रकार **प्रस्तावित संघ की स्थापना सम्बन्धी घोषणा-पत्र जारी करने का अवसर ही नहीं आया।**

(2) प्रान्तीय स्वायत्तता—1935 के अधिनियम की एक अन्य महत्वपूर्ण और सम्भंवतया एकमात्र सन्तोषजनक व्यवस्था प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना थी। इस अधिनियम के द्वारा 1919 के अधिनियम की **'प्रान्तों में द्वैध शासन-व्यवस्था'** का अन्त कर उन्हें स्वतन्त्र और स्वशासित संवैधानिक आधार प्रदान किया गया। सम्पूर्ण प्रान्तीय शासन लोकप्रिय मन्त्रियों के नियन्त्रण में कर दिया गया और गवर्नर से यह आशा की गयी

कि उसके द्वारा मन्त्रियों की सलाह के आधार पर प्रशासन का संचालन किया जाएगा। उसे यह भी निर्देश दिया गया कि उसके द्वारा प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण प्रान्तीय व्यवस्थापिका के बहुमत दल के नेता की सहमति से किया जाना चाहिए। मन्त्रियों को प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाया गया और यह निश्चय किया गया कि उसके द्वारा सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य किया जाएगा। इस प्रकार 1935 का अधिनियम प्रान्तीय स्वायत्तता की दिशा में एक निश्चित सुधार था। लेकिन गवर्नरों के हाथ में विशेष उत्तरदायित्वों के रूप में कुछ महत्वपूर्ण शक्तियां बनी रहीं।

(3) केन्द्र में द्वैध शासन की स्थापना—1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में जिस द्वैध शासन का अन्त किया गया, उसी द्वैध शासन की स्थापना केन्द्र में कर दी गयी। कुछ संघीय विषयों (सुरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, धार्मिक मामले तथा कबायली क्षेत्रों की व्यवस्था) को गवर्नर जनरल के हाथ में सुरक्षित रखा गया, ताकि वह अपने विवेक के अनुसार उनकी समुचित व्यवस्था कर सके। इन विभागों के प्रबन्ध के लिए वह अधिक से अधिक तीन परामर्शदाताओं की नियुक्ति कर सकता था। अन्य संघीय विषयों की व्यवस्था के लिए गवर्नर जनरल को सहायता तथा परामर्श देने हेतु एक मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था की गयी थी, जिसमें मन्त्रियों की संख्या 10 से अधिक नहीं हो सकती थी। संघीय मन्त्रिमण्डल को उक्त सुरक्षित विभागों के अतिरिक्त अन्य सभी संघीय विभागों की व्यवस्था करनी होती थी और इस मन्त्रिमण्डल को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहते हुए सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करना था।

(4) संरक्षण और आरक्षण (Safeguards and Reservations)—ब्रिटिश शासन का विचार था कि भारतीयों द्वारा उत्तरदायी शासन का संचालन करने में गम्भीर त्रुटियां की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त, वे अनेक अल्पमत वर्गों के हितों की रक्षा के लिए भी पहले से ही समुचित व्यवस्था कर लेना चाहते थे। अतः अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को विभिन्न परिस्थितियों में केन्द्र एवं प्रान्त के उत्तरदायी शासन में हस्तक्षेप करने के व्यापक अधिकार प्रदान किए गए। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के ये व्यापक अधिकार ही अधिनियम के संरक्षण एवं आरक्षण थे। **कुन्ते और सालेटोर के शब्दों में, 'ये संरक्षण जनतन्त्रात्मक भावना के विरोधी थे और इनकी व्यापकता के कारण वास्तविक स्वशासन की आशा नहीं की जा सकती थी।'**

(5) विधानमण्डलों और मताधिकार का विस्तार—अधिनियम के द्वारा संघीय व्यवस्थापिका के दो सदनों की व्यवस्था की गयी जिनमें से एक संघीय विधान सभा और दूसरी राज्य परिषद थी। केन्द्र में विधान सभा के सदस्यों की संख्या 375 और राज्य परिषद के सदस्यों की संख्या 260 निर्धारित की गयी। प्रान्तों में 11 में से 6 विधान मण्डलों को दो सदनों वाला बनाया गया। अधिनियम के द्वारा मताधिकार का विस्तार किया गया और प्रान्तों के लिए 10 प्रतिशत से कुछ अधिक जनता को मताधिकार प्रदान किया गया। संघीय व्यवस्थापिका के संगठन के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह थी कि अन्य संघीय व्यवस्था वाले देशों के विपरीत निम्न सदन के निर्माण हेतु अप्रत्यक्ष और उच्च सदन के निर्माण हेतु प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति को अपनाया गया था।

(6) शक्ति विभाजन—यह घोषित किया गया था कि अधिनियम द्वारा भारत में एक संघीय शासन की स्थापना की जानी है अतः इस दृष्टि से केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के क्षेत्रों को स्पष्ट किया गया। इस सम्बन्ध में तीन विस्तृत सूचियों की व्यवस्था की गयी—संघीय सूची, प्रान्तीय सूची और समवर्ती सूची। संघीय सूची में अखिल भारतीय महत्व के 59 विषय सम्मिलित थे, जिनमें मुख्य थे जल, स्थल तथा वायु सेना, वैदेशिक विभाग, डाक, तार, मुद्रा तथा टंकण, संघीय लोक सेवाएं, संचार, बीमा तथा बैंक आदि। प्रान्तीय सूची में प्रान्तीय और स्थानीय महत्व के 54 विषय थे, जिनमें शान्ति, न्याय, न्यायालय, प्रान्तीय लोक सेवाएं, स्थानीय स्वशासन, अस्पताल तथा जनस्वास्थ्य, नहरें, कृषि, जंगल, शिक्षा और सड़क आदि मुख्य थे। समवर्ती सूची में 36 विषय थे जिसमें दीवानी तथा फौजदारी विधि, विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, दत्तक ग्रहण, ट्रस्ट, कारखाने तथा श्रम कल्याण आदि मुख्य थे।

संघीय सूची के विषयों पर संघीय व्यवस्थापिका और प्रान्तीय सूची के विषयों पर प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त थी। समवर्ती सूची के विषयों पर संघीय तथा प्रान्तीय दोनों ही व्यवस्थापिकाएं कानून का निर्माण कर सकती थीं लेकिन पारस्परिक विरोध की स्थिति में संघीय व्यवस्थापिका का कानून ही

मान्य होता। एक विशेष बात यह थी कि अवशेष शक्तियाँ संघीय या प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं को प्रदान न कर गवर्नर जनरल को प्रदान की गयी थीं और उसे यह अधिकार था कि किसी भी सूची में उल्लेख न किए गए विषय पर संघीय या प्रान्तीय किसी भी व्यवस्थापिका को कानून बनाने का अधिकार दे सकता था।

(7) **संघीय न्यायालय**—अधिनियम के द्वारा एक संघीय न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था भी की गयी, जिसका अधिकार क्षेत्र प्रान्तों तथा रियासतों तक विस्तृत था। न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा दो अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गयी थी। न्यायालय को मौलिक तथा अपील सम्बन्धी अधिकार दिए गए। संघीय न्यायालय का कर्तव्य था कि वह संविधान की व्याख्या करे तथा इस बात का ध्यान रखे कि प्रान्तीय तथा संघीय सरकारें एक-दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण न करें, तथापि इस सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति लन्दन स्थित प्रिवी कौंसिल को प्राप्त थी।

(8) **ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता**—अधिनियम के द्वारा भारतीय शासन के सम्बन्ध में ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। अधिनियम में किसी भी प्रकार के परिवर्तन करने का अधिकार प्रान्तीय विधानमण्डलों और संघीय व्यवस्थापिका को नहीं दिया गया। इस सम्बन्ध में शक्ति ब्रिटिश संसद के पास ही बनी रही। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिकाएं कुछ विशेष सीमाओं में रहते हुए अधिनियम में संशोधन की सिफारिश कर सकती थीं। इस प्रकार भारतीय भाग्य के निर्णय की अन्तिम सत्ता ब्रिटिश संसद के पास बनी रही।

(9) **प्रस्तावना का अभाव**—इस अधिनियम की अपनी कोई प्रस्तावना नहीं थी जिससे कि अधिनियम के निर्दिष्ट ध्येय या उद्देश्य का ज्ञान हो सकता। ब्रिटिश संसद के कुछ सदस्यों ने जब इस आधार पर अधिनियम की आलोचना की तो ब्रिटिश सरकार ने 1919 के भारतीय शासन अधिनियम की प्रस्तावना को इसमें भी जोड़ने का निश्चय किया। यह इसलिए किया गया था ताकि भारतीयों को यह पता रहे कि ब्रिटिश सरकार का अन्तिम लक्ष्य भारत में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की स्थापना करना है।

(10) **भारत परिषद का अन्त**—भारत परिषद के भारत विरोधी दृष्टिकोण के कारण भारतीय जनता द्वारा इस परिषद के अन्त की मांग की जा रही थी। अतः 1935 के अधिनियम द्वारा इस परिषद का अन्त कर दिया गया। भारत-मन्त्री के लिए कुछ परामर्शदाता नियुक्त किए गए, जिनसे परामर्श लेना अथवा न लेना उसकी इच्छा पर निर्भर करता था—लेकिन सेवाओं के सम्बन्ध में भारत-मन्त्री के लिए इन परामर्शदाताओं का परामर्श मानना आवश्यक था। इसके साथ ही अधिनियम द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में किए गए परिवर्तनों के अनुरूप भारतीय शासन पर भारत-मन्त्री की शक्ति में भी कुछ कमी हो गयी।

(11) **साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार**—यद्यपि यह बात नितान्त स्पष्ट हो गयी थी कि साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति भारत के हित में नहीं है लेकिन अंग्रेजों ने भारतीयों में फूट डालने की अपनी नीति के अनुसार संघीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में विभिन्न सम्प्रदायों और विशेष हितों को प्रतिनिधित्व देने के लिए इस पद्धति को न केवल जारी रखा वरन् आंग्ल भारतीयों, भारतीय ईसाइयों, यूरोपियनों और हरिजनों के लिए भी इस पद्धति का विस्तार कर दिया। संघीय व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में मुसलमानों को एक-तिहाई स्थान प्रदान किए गए।

(12) **बर्मा, बरार और अदन**—इस अधिनियम के द्वारा बर्मा को भारत से पृथक् कर दिया गया और अदन को भारत सरकार के नियन्त्रण से मुक्त करके 1 अप्रैल, 1937 को इंगलैण्ड के औपनिवेशिक कार्यालय के अधीन कर दिया गया। यद्यपि बरार के ऊपर निजाम हैदराबाद की नाममात्र की सत्ता स्वीकार कर ली गयी, परन्तु उसको शासन की दृष्टि से मध्य प्रान्त का अंग बना दिया गया।

अधिनियम का मूल्यांकन
(APPRAISAL OF THE ACT)

प्रो. कूपलैण्ड ने 1935 के अधिनियम को **'रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान सफलता'**[1] बतलाया है। **उनके मत में उसने भारत के भाग्य का हस्तान्तरण अंग्रेजों के हाथों से भारतीयों के हाथों में सम्भव कर दिया**[2]

1 Coupland, *India, A Restatement*, p. 154.
2 Coupland, *The Indian Problem*, 1833-1935, p. 147.

किन्तु अधिनियम का अध्ययन करने पर मि. कूपलैण्ड के विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता। विभिन्न भारतीय नेताओं द्वारा अधिनियम पर अपनी प्रतिक्रियाएं इस प्रकार व्यक्त की गयी थीं। **मदनमोहन मालवीय** के अनुसार, "**नया अधिनियम हम पर थोपा गया है, बाहर से यह कुछ जनतन्त्रीय शासन-व्यवस्था से मिलता है, परन्तु भीतर से बिलकुल खोखला है।**" **राजगोपालाचार्य** के अनुसार, "**नया संविधान द्वैध शासन से भी बुरा है।**" **मि. जिन्ना** के अनुसार, "1935 **की योजना पूर्णरूप से सड़ी हुई, मौलिक रूप से खराब तथा पूर्णरूप से अस्वीकृति के योग्य थी।**"

वस्तुतः यह एक ऐसा अधिनियम था जिसने भारतीयों को शक्ति देने के बदले सम्पूर्ण शक्ति अंग्रेजों के हाथ में रखी थी और भारतीयों की प्रशासन करने की शक्ति का उसी प्रकार परीक्षण किया था, जिस प्रकार एक हाथ-पांव बंधे हुए व्यक्ति को नदी में फेंककर उसके तैरने की योग्यता का परीक्षण किया जाता है। **श्री जवाहरलाल नेहरू** ने इस अधिनियम के सम्बन्ध में बिलकुल ठीक कहा था कि, "**यह अधिनियम तो दासता का घोषणा-पत्र है।** इसमें प्रस्तावित भारतीय संघ की रूपरेखा ऐसी निर्मित की गयी है कि किसी भी प्रकार का वास्तविक विकास असम्भव हो जाए—यह एक प्रतिक्रियावादी रूपरेखा थी, जिसमें बिना किसी प्रकार की क्रान्तिकारी क्रिया के स्वयं विकसित हो सकने की क्षमता का अभाव था। इस अधिनियम से ब्रिटिश सरकार की भारतीय नरेशों, जमींदारों तथा भारत के अन्य प्रतिक्रियावादी तत्वों से मित्रता और मजबूत हो गयी। इससे पृथक् निर्वाचन पद्धति को बढ़ावा दिया गया तथा इस प्रकार पृथकतावादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। सभी मामलों में पूर्ण नियन्त्रण पूर्ववत् ब्रिटिश हाथों में ही बना रहा और इसने वायसराय को पहले से भी अधिक शक्तियां सौंप दीं।"[1] अधिनियम पर अपने विचार व्यक्त करते हुए **मौलाना आजाद** ने भी लिखा है कि 'अधिनियम में अनेक दोष थे।'[2]

यद्यपि अधिनियम द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन का अन्त कर प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना की गयी थी और केन्द्र में भी आंशिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था की गयी थी लेकिन इन बातों के बावजूद यह एक ऐसा प्रतिगामी कानून था, जिसमें गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों की स्वेच्छाचारी शक्तियों में तनिक भी कमी नहीं हुई थी। "अधिनियम के द्वारा औपनिवेशिक स्वराज्य की घोषणा न किए जाने के कारण अत्यधिक उदार भारतीयों के लिए भी इसका समर्थन करना सम्भव नहीं था।" न केवल भारतीय नेताओं ने वरन् निष्पक्ष अंग्रेजों तक ने इस आधार पर अधिनियम की आलोचना की थी। अधिनियम का विरोध करते हुए **मि. एटली** ने 'कामन्स सभा' में कहा था, "**इस प्रस्ताव का मुख्य तथ्य है—अविश्वास। इसमें विश्वास का नाम तक नहीं है। भारतवर्ष को अपनी विदेश-नीति तथा आय पर कोई नियन्त्रण प्रदान नहीं किया गया है। प्रान्तों के भारतीय निवासी उनके प्रति आतंक का व्यवहार करने योग्य नहीं हैं। प्रस्ताव में प्रत्येक स्थान पर जो बात प्रस्तावित की गयी है वह यह नहीं है कि हम एक ऐसा विधान प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसका शासन भारतीय करेंगे, बल्कि प्रत्येक स्थान पर सब प्रकार के प्रतिबन्ध उपस्थित हैं। वास्तव में, इस प्रस्ताव में एक बात छोड़ी गयी प्रतीत होती है और वह है भारतीय जन।**"[3]

अधिनियम पर विभिन्न भारतीय नेताओं और मि. एटली द्वारा जो प्रतिक्रियाएं व्यक्त की गयीं, उनकी पुष्टि निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है :

(1) **दोषपूर्ण संघ**—1935 के अधिनियम में जिस अखिल भारतीय संघ का प्रस्ताव किया गया था यद्यपि उसमें संघ के सभी आधारभूत लक्षण—शक्तियों का विभाजन, लिखित और कठोर संविधान एवं निष्पक्ष न्यायिक सत्ता की स्थापना विद्यमान थे लेकिन इसके साथ ही इसमें कुछ ऐसे गम्भीर दोष थे जिनके कारण यह स्वीकार्य नहीं हो सकता था। संघ में आकार, जनसंख्या, महत्व और राजनीतिक लक्ष्यों की दृष्टि से नितान्त भिन्न प्रकार की इकाइयों के मेल का प्रयत्न किया गया था। **एस. एन. पारदसानी** के शब्दों में, "**संघ तेजी से स्वशासन की ओर बढ़ने वाले व्यक्तियों और निरंकुश राजाओं के अधीन रहने वाली प्रजा के बीच एक विचित्र संवैधानिक अनमेल गठजोड़ था।**"[4] इस प्रकार के गठजोड़ से ब्रिटिश भारत की राजनैतिक प्रगति में निश्चित

1 Jawahar Lal Nehru, *Discovery of India*, p. 310.
2 Maulana Azad, *India Wins Freedom*, p. 13.
3 "The key-note of this bill is mistrust. There is no trust at all. In fact the one thing which seems to be left out of the bill is the Indian people."
—Clement Attlee in the British House of Commons.
4 S. N. Pardasani, *How India is Governed*, p. 137.

बाधा पहुंचती। इस प्रस्तावित संघ में न तो भारतीयों को सत्ता का हस्तान्तरण किया गया था और न ही इसमें आत्मनिर्णय, सामान्य नागरिकता या संघीय हस्तक्षेप में समानता का प्रबन्ध था। भारतीय व्यवस्थापिका को विधान में संशोधन का अधिकार नहीं था और इससे भी अधिक आपत्तिजनक बात यह थी कि अवशेष शक्तियां गवर्नर के पास थीं। **श्री चिन्तामणि** ने ठीक ही कहा था कि, **'हमें सभी अवांछित लक्षणों से पूर्ण एक लंगड़ा संघ प्रदान किया जा रहा है।'**[1]

(2) प्रान्तीय स्वशासन एक भ्रम—अधिनियम प्रान्तीय शासन की दिशा में निश्चित सुधार था क्योंकि इसके द्वारा प्रान्तीय स्वायत्त शासन की व्यवस्था की गयी थी। प्रान्तीय व्यवस्थापिका के सब सदस्य निर्वाचित होते थे और कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी किया गया था। मताधिकार का भी विस्तार किया गया था लेकिन वास्तव में यह सब एक भ्रम मात्र था क्योंकि प्रान्तीय स्वशासन के दो आधारभूत तत्व बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्रता और प्रान्त में उत्तरदायी शासन विद्यमान नहीं थे। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के व्यापक विशेष उत्तरदायित्वों के कारण प्रान्तीय स्वशासन एक मजाक बनकर रह गया था। प्रान्तीय शासन की वास्तविक धुरी मुख्यमन्त्री नहीं वरन् सम्राट द्वारा नियुक्त और उसका प्रतिनिधि गवर्नर ही था। इस प्रकार **'प्रान्तीय स्वशासन' मन्त्रियों की तुलना में गवर्नर को ही अधिक शक्तियां प्रदान करता था।** अतः **डॉ. राजेन्द्र प्रसाद** ने कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था, **''यह कहना कि यह विषय हस्तान्तरित है बिलकुल छल और धूर्तता है, जबकि उनके सम्बन्ध में उत्तरदायित्व अंग्रेजों के पास सुरक्षित है। गवर्नर, गवर्नर जनरल, ब्रिटिश मुकुट तथा संसद को दी हुई विस्तृत शक्तियों ने प्रान्तीय स्वराज्य को नहीं के बराबर कर दिया है, जो कि भारतीयों के लिए सबसे बड़ा पुरस्कार था।''**

(3) संरक्षण और आरक्षण की व्यवस्था—1935 के अधिनियम में निहित संरक्षण और आरक्षण की व्यवस्था संविधान की एक बहुत बड़ी प्रतिक्रियावादिता थी। ये प्रबन्ध भारत में उत्तरदायी शासन को असफल करने की अनोखी योजना थी; ये विदेशियों के हित में भारतीय अल्पमतों के भय का उपयोग करने के अनोखे उपाय थे और भारत सरकार की कार्यक्षमता पर बन्धन थे। वास्तव में ये संरक्षण ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके साथियों के स्वार्थों की रक्षा करने के उपाय थे और 1935 का अधिनियम इन संरक्षणों से भरा पड़ा था।

(4) साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का विस्तार—यद्यपि यह बात नितान्त स्पष्ट हो गयी थी कि साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली भारत के लिए अहितकर है और सबने एक स्वर से इसकी निन्दा की थी, परन्तु फिर भी न केवल इसको कायम रखा गया, वरन् इसका विस्तार करके इसे आंग्ल भारतीयों, यूरोपियनों, भारतीय ईसाइयों और हरिजनों पर भी लागू किया गया। इस पद्धति द्वारा हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने की कोशिश की गयी और भारतीय राजनीतिक वातावरण को विषैला बना दिया गया, ताकि भारतीय एकता नष्ट हो जाय और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य बना रहे।

(5) आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं—अधिनियम में नवीन संविधान के स्वविकसित होने या भारतीयों द्वारा अपने भाग्य का निर्णय करने का कोई प्रबन्ध नहीं था। यह अधिनियम ब्रिटिश संसद ने बनाया था और भारत की आगे की प्रगति का निर्णायक भी ब्रिटिश संसद ही थी। अधिनियम के द्वारा भारत पर ब्रिटिश संसद या भारत मन्त्री के नियन्त्रण में भी कोई कमी नहीं की गयी। मि. एटली ने ठीक ही कहा था कि **''अधिनियम में भारत के भविष्य की राजनीतिक प्रगति का कोई कार्य कोई योजना नहीं है।''**

संघीय कार्यकारिणी

केन्द्र में द्वैध शासन की स्थापना—ब्रिटिश शासन द्वारा भारत सरकार के केन्द्रीय क्षेत्र में आंशिक रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गयी। इस उद्देश्य से संघीय विषयों को दो भागों में बांट दिया गया—रक्षित विषय और हस्तान्तरित विषय। प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले, धार्मिक मामले और कबायली क्षेत्रों के प्रशासन को रक्षित विषय रखा गया और अन्य सभी विषयों को हस्तान्तरित की श्रेणी में रखा गया।

अधिनियम द्वारा क्षेत्र में स्थापित इस द्वैध शासन के अन्तर्गत संघीय कार्यपालिका के निम्नलिखित तीन भाग थे :

(1) गवर्नर जनरल।

(2) रक्षित विषयों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के सदस्य।

(3) हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी संघीय मन्त्रिपरिषद।

1 Chintamani and Masani, *India's Constitution at Work*, p. 202.

गवर्नर जनरल

1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय कार्यकारिणी का आधार बिन्दु गवर्नर जनरल था। भारत के सम्पूर्ण प्रशासन के लिए अन्तिम रूप से वही उत्तरदायी था और उसी से इस बात की आशा की जाती थी कि वह भारतीय शासन के विभिन्न तथा प्रायः परस्पर संघर्षशील तत्वों में एकता बनाये रखते हुए पथ-प्रदर्शन का कार्य करेगा। वस्तुतः 1935 के अधिनियम द्वारा उसे इतनी शक्तियां प्रदान की गयी थीं कि उसका स्वरूप 'विशाल दैत्य' (Leviathan) जैसा हो गया था। गांधीजी ने 23 फरवरी, 1938 को बर्मा से प्रसारित अपने एक वक्तव्य में कहा कि **'गवर्नर जनरल अब और भी सर्वाधिकार सम्पन्न और स्वेच्छाचारी शक्तिधारी है।'** अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल को जो-जो अधिकार प्राप्त थे, उन्हें सुगमता से समझने के लिए उनका अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता है :

(1) **सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में अधिकार**—गवर्नर जनरल के द्वारा वायसराय के नाम से ब्रिटिश साम्राज्य के भारत स्थित सर्वोच्च प्रतिनिधि के रूप में देशी रियासतों पर प्रभुता का प्रयोग किया जाता था। उनकी इन शक्तियों में संघीय व्यवस्थापिका को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। रियासतों के संघ में सम्मिलित हो जाने पर उसकी इन शक्तियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। अधिनियम की धारा 128(2) में यह उपबन्ध था कि यदि वायसराय को यह प्रतीत हो कि संघ में शामिल किसी रियासत के नरेश ने संघीय सरकार के प्रति अपने उत्तरदायित्व पूरे नहीं किये हैं तो गवर्नर जनरल उस रियासत के शासक को अपने विवेक के अनुसार आवश्यक निर्देश दे सकता था।

(2) **रक्षित विषयों के प्रशासन का अधिकार**—गवर्नर जनरल के द्वारा वायसराय के नाम से रक्षित विषयों के प्रशासन का पूर्ण अधिकार था। इसमें प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले, धार्मिक मामले तथा कबायली क्षेत्रों का प्रबन्ध—ये चार विभाग थे। यहां वैदेशिक मामलों से अभिप्राय है पड़ोस की रियासतों से सम्बन्ध न कि अन्य स्वशासित देशों से। भारत के अन्य स्वशासित देशों से सम्बन्धों का निर्धारण ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता था। इन विषयों के प्रशासन में गवर्नर जनरल की सहायता के लिए तीन कार्यकारी-पार्षदों (Executive Councillors) की व्यवस्था की गयी थी, ये कार्यकारी पार्षद संघीय व्यवस्थापिका के प्रति नहीं वरन् गवर्नर जनरल और भारतमन्त्री के प्रति उत्तरदायी थे। इन रक्षित विषयों के प्रशासन के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को स्वेच्छापूर्वक स्वविवेक से कार्य करने की पूरी छूट थी।

(3) **गवर्नर जनरल द्वारा स्वविवेक से प्रयोग किए जाने वाले अधिकार** (Discretionary Powers)—1935 के अधिनियम ने रक्षित विषयों के प्रशासन के अतिरिक्त भी अन्य अनेक विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को विवेकात्मक अधिकार प्रदान किए। इन अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल मन्त्रियों से परामर्श लेने को बाध्य नहीं था। प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्यों के सम्बन्ध में उसे इस प्रकार की शक्ति प्राप्त थी :

(1) इस बात का निर्णय उसी के हाथों में था, कि कोई विषय गवर्नर जनरल के विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं।
(2) मन्त्रियों को चुनने, आमन्त्रित करने व पद ग्रहण के सम्बन्ध में।
(3) संघीय व्यवस्थापिका में भाषण।
(4) विचाराधीन प्रस्तावों के बारे में संघीय व्यवस्थापिका को सूचना देने के सम्बन्ध में।
(5) दोनों सदनों को आमन्त्रित करने, स्थगित करने तथा संघीय सभा को विसर्जित करने के सम्बन्ध में।
(6) प्रस्तावों को स्वीकृत करने, अस्वीकृत करने तथा उन्हें सम्राट की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखने के सम्बन्ध में।
(7) प्रश्न किए जाने पर यह निर्णय करने के सम्बन्ध में कि कोई व्यय संघ की आय से दिया जाए अथवा नहीं।

इन विवेकात्मक अधिकारों के अवलोकन मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह एक स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासक था।

(4) **गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व**—हस्तान्तरित क्षेत्र में गवर्नर जनरल को कई महत्वपूर्ण विशेष दायित्व सौंपे गए। इससे सम्बन्धित मामलों के विषय में गवर्नर जनरल के लिए मन्त्रियों से परामर्श लेना तो

आवश्यक था, लेकिन निर्णय उसका व्यक्तिगत होता था अर्थात् मन्त्रियों के परामर्श को मानना या न मानना उसकी इच्छा पर निर्भर करता था। वस्तुतः मन्त्रियों के परामर्श को मानने की बाध्यता न होने के कारण उससे लिए जाने वाले परामर्श का कोई महत्व न था। गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व ये थे :

(1) सम्पूर्ण भारतवर्ष अथवा उसके किसी एक भाग में शान्ति तथा सुरक्षा की व्यवस्था।

(2) संघीय शासन की आर्थिक स्थिरता एवं साख की रक्षा।

(3) लोक सेवाओं के सदस्यों के वैधानिक एवं अन्य अधिकारों का संरक्षण।

(4) अल्पसंख्यकों के उचित हितों का संरक्षण।

(5) ब्रिटेन और बर्मा के व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद को रोकना।

(6) देशी रियासतों के अधिकारों तथा उनके शासकों के अधिकारों एवं मर्यादा की रक्षा।

(7) अपने विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने में किसी भी प्रकार की आने वाली बाधा को रोकना तथा प्रयोग किए गए वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा करना।

इन विशेष उत्तरदायित्वों का वर्णन इतनी व्यापक भाषा में किया गया था कि गवर्नर जनरल के द्वारा उनका मनचाहा अर्थ निकाला जा सकता था और इनके आधार पर सम्पूर्ण हस्तान्तरित क्षेत्र में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप किया जा सकता था। उदाहरण के लिए, भारत या उसके किसी भाग में शान्ति भंग करने वाले खतरों के निवारण का व्यापक अर्थ लगाते हुए, न केवल हिंसक वरन् राजनीतिक असन्तोष प्रकट करने के वैध और अहिंसक आन्दोलन को भी दबाया जा सकता था। इसी प्रकार आर्थिक स्थिरता और साख की रक्षा के नाम पर आर्थिक क्षेत्र में मनचाहा हस्तक्षेप किया जा सकता था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इस सम्बन्ध में कहा था, **"विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित ये शब्दावलियां इतनी व्यापक और सामान्य हैं कि कदाचित् ही ऐसा कोई कार्य हो, जिसे गवर्नर जनरल इसके द्वारा अपने हाथ में न ले सकता हो, ये विशेष उत्तरदायित्व इतने संदिग्ध, अनिश्चित और व्यापक हैं कि समस्त विभाग इनके नियन्त्रण में लिए जा सकते हैं।"**[1]

गवर्नर जनरल के इन विवेकात्मक अधिकारों और व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियों को लक्ष्य करते हुए **मि. जिन्ना** ने संघीय सभा में ठीक ही कहा था कि **"केन्द्र में 98 प्रतिशत संरक्षण और 2 प्रतिशत उत्तरदायित्व हैं।"**

(5) विधायी, प्रशासकीय और वित्तीय क्षेत्र की अन्य शक्तियां—उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त गवर्नर जनरल को विधायी, प्रशासकीय और वित्तीय क्षेत्र की अन्य शक्तियां भी प्राप्त थीं :

प्रशासनिक—(1) मन्त्रियों की छांट, प्रथम मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के वेतन का निर्धारण और परामर्शदाताओं की नियुक्ति। (2) वित्तीय परामर्शदाता की नियुक्ति और सेवा की शर्तों का निर्धारण। (3) संघीय न्यायालय के कार्यवाहक मुख्य न्यायाधिपति, संघीय रेलवे बोर्ड के सदस्यों, रिजर्व बैंक के गवर्नर, उपगवर्नरों व संचालकों की नियुक्ति और पदच्युति। (4) महत्वपूर्ण कानूनी प्रश्नों पर संघीय न्यायालय की सम्मति मांगना। (5) विधायी क्षेत्र में अवशिष्ट शक्तियों का वितरण। (6) उपाधियां प्रदान करना। (7) दण्डित अभियुक्तों को क्षमा प्रदान करना। (8) संघ सरकार के अन्तर्गत नागरिक सेवाओं के विरुद्ध सरकारी कार्यों के लिए कानूनी कार्यवाही करने की सहमति देना। (9) भारतीय हाई कमिश्नर की नियुक्ति और सेवा की शर्तों का निर्धारण।

विधायी क्षेत्र में—(1) कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों को प्रस्तुत किए जाने से पहले पूर्व स्वीकृति देना और कुछ मामलों पर वाद-विवाद या प्रश्न पूछे जाने की स्वीकृति देना। (2) विधायी एवं वित्तीय प्रक्रिया के नियमन हेतु नियम वनाना। (3) राज्य परिषद के 6 सदस्यों की नामजदगी करना तथा विधानमण्डल में देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के लिए निश्चित संख्या की पूर्ति करने के समर्थन में कुछ अधिकार।

वित्तीय क्षेत्र में—(1) विधानमण्डल के दोनों सदनों के सामने वार्षिक वित्त विवरण अथवा पूरक विवरण रखना। (2) संघीय सभा द्वारा अनुदान की किसी मांग के कम अथवा अस्वीकृत किए जाने पर उसे मौलिक रूप में ही राज्य परिषद के सामने रखने का निर्देश देना। (3) विभिन्न अनुदानों की मांगों के लिए सिफारिश करना। (4) ऐसे विधेयकों अथवा संशोधनों की सिफारिश करना जिनका सम्बन्ध नये कर लगाने, पुराने कर

1 डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के बम्बई कांग्रेस सन् 1934 के अध्यक्षीय भाषण से।

में वृद्धि या ऋण लेने हेतु नियम बनाने से हो। (5) अधिकृत व्यय की अनुसूची पर हस्ताक्षर करना। (6) किसी अनुदान की मांग पर दोनों सदनों में मतभेद हो जाने की स्थिति में संयुक्त बैठक बुलाना।

(6) प्रान्तीय क्षेत्र में गवर्नर जनरल की शक्तियां—यद्यपि 1935 के अधिनियम द्वारा 'प्रान्तीय स्वशासन' की स्थापना की गयी थी लेकिन इस तथाकथित प्रान्तीय स्वशासन के अन्तर्गत गवर्नर जनरल को प्रान्तीय सरकारों पर देख-रेख रखने के पर्याप्त अधिकार थे। इन अधिकारों का विस्तार अग्रलिखित बातों तक था :

(1) भारत या उसके किसी भाग, जिसमें ब्रिटिश प्रान्त सम्मिलित थे, की शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना।

(2) प्रान्तीय गवर्नरों को अपने स्वविवेकीय अधिकारों तथा वैयक्तिक निर्णय के अधिकारों को उपयोग में लाने का निर्देश देना।

(3) प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में प्रस्तावित कुछ विधेयकों अथवा संशोधनों पर पूर्व अनुमति देना।

(4) प्रान्तीय सरकार की अर्थव्यवस्था की देख-भाल करना।

(5) गवर्नरों को संघीय नियम को व्यवहार में लाने के लिए आदेश देना।

गवर्नर जनरल उपर्युक्त शक्तियों का प्रयोग कर प्रान्तीय स्वायत्तता का अन्त कर सकता था।

(7) चीफ कमिश्नर के प्रान्तों का प्रशासन—इस श्रेणी में दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग, अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह तथा पंथ पिपलौदा नामक क्षेत्र सम्मिलित थे। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र के प्रशासन का भार चीफ कमिश्नर पर होता था किन्तु इन क्षेत्रों के प्रशासन के लिए अन्तिम रूप से गवर्नर जनरल ही उत्तरदायी होता था। चीफ कमिश्नरों की नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा अपने विवेकानुसार की जाती थी। ब्रिटिश बिलोचिस्तान के प्रशासन के सम्बन्ध में निर्देशन और नियन्त्रण गवर्नर जनरल अपने विवेकीय क्षेत्र में करता था।

(8) असाधारण शक्तियां—उपर्युक्त सभी शक्तियों के अतिरिक्त गवर्नर जनरल को तीन महत्वपूर्ण असाधारण शक्तियां प्राप्त थीं : (1) **अध्यादेश जारी करने की शक्ति**—गवर्नर जनरल दो प्रकार के अध्यादेश जारी कर सकता था। जिस समय संघीय विधानमण्डल का अधिवेशन चल रहा हो, वह आवश्यकता पड़ने पर मन्त्रियों के परामर्श से अध्यादेश जारी करता था। इन अध्यादेशों का प्रभाव विधानमण्डल की बैठक प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह बाद तक रहता था। दूसरे प्रकार के अध्यादेश गवर्नर जनरल अपने विशेष उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए किसी भी समय मन्त्रियों के परामर्श के बिना जारी कर सकता था। दूसरे प्रकार के अध्यादेशों की सूचनां उसे भारत-मन्त्री को देनी होती थी। (2) गवर्नर जनरल की दूसरी असाधारण शक्ति **गवर्नर जनरल के नियम बनाने व लागू करने की थी।** ऐसे कानून गवर्नर जनरल बिना मन्त्रियों के परामर्श के तथा विधानमण्डल में विचार के लिए रखे बिना ही कर सकता था परन्तु इसका सम्बन्ध गवर्नर जनरल के विवेक या व्यक्तिगत निर्णय के कार्यों से होना आवश्यक था। लेकिन इस प्रकार के नियम बनाने का कार्य कुछ सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए विशेष परिस्थितियों में ही किया जा सकता था। (3) गवर्नर जनरल की **संकटकालीन शक्तियां** बड़ी विस्तृत थीं। जब कभी संवैधानिक तन्त्र विफल हो जाता तो संघीय न्यायालय को छोड़कर अन्य सभी संघीय निकायों तथा अधिकारियों की शक्तियां वह स्वयं धारण कर सकता था और उनका प्रयोग भी स्वयं ही अपने विवेकानुसार कर सकता था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल अत्यधिक शक्तिशाली एवं सामर्थ्यवान था। उसे भारतीय संवैधानिक तन्त्र की आधारशिला तो कहा ही जा सकता है, इससे भी आगे चलकर वह एक अधिनायक था। उसकी शक्तियों और विशेष स्थिति के समक्ष उत्तरदायी मन्त्री नगण्य थे। स्वयं सर **विंस्टल चर्चिल** ने गवर्नर जनरल की अधिनायकवादी स्थिति को स्वीकार करते हुए कहा था **"वायसराय अथवा गवर्नर जनरल को हिटलर अथवा मुसोलिनी के समस्त अधिकार प्राप्त थे। अपने छोटे-से लिखित आदेश से वह विधान के टुकड़े-टुकड़े कर सकता था तथा किसी आज्ञप्ति द्वारा कोई भी कानून, यहां तक कि मार्शल लॉ पास कर सकता था जो कोई कानून ही न था। इन सबका केवल वही निर्णायक था। ऐसा अधिकारी वास्तव में एक तानाशाह ही था और उसके पास एक विशाल सेना भी थी।"**[1]

1 "The Viceroy or Governor General was armed with all the powers of Hitler or Mussolini. By a stroke of pen, he could scatter the constitution and decree any law to be passed or martial law which was no law at all of which he was the sole judge. Such a functionary was a dictator and he had a very powerful army."

—Winston Churchill, Quoted by F. C. Arora, *The Constitution of India*, p. 61.

कार्यकारिणी परिषद—गवर्नर जनरल को अपने स्वविवेक के अन्तर्गत रक्षित विभागों का प्रशासन कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों की सहायता से चलाना था, जिनकी संख्या तीन से अधिक न हो। कार्यकारिणी परिषद के इन सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा की जाती थी और वे प्रत्यक्ष रूप से उसी के प्रति उत्तरदायी थे। कार्यकारिणी परिषद के इन सदस्यों की स्थिति पुरानी कार्यकारिणी के सदस्यों के ही समान थी।

मन्त्रिपरिषद—हस्तान्तरित विषयों के शासन के लिए गवर्नर जनरल को एक मन्त्रिपरिषद नियुक्त करनी थी, जिनकी संख्या 10 से अधिक न हो। इसका काम उसको सहायता तथा परामर्श देना था। अधिनियम की दसवीं धारा में स्पष्ट किया गया था कि : गवर्नर जनरल के मन्त्री उसी के द्वारा चुने जायेंगे, वही उन्हें शपथ ग्रहण कराएगा और उसकी इच्छा पर्यन्त ही वे कार्य-संचालन करेंगे।

गवर्नर जनरल अपनी इच्छानुसार किसी एक मन्त्री से परामर्श करने के लिए स्वतन्त्र था। यद्यपि भारत-मन्त्री के आदेश पत्र में यह निर्देशन था कि गवर्नर जनरल व्यवस्थापिका में सबसे अधिक प्रभुत्वशाली तथा बहुमत सम्पन्न व्यक्ति के परामर्श से मन्त्रियों का चुनाव करेगा किन्तु गवर्नर जनरल इससे बाध्य नहीं था और वह किसी को भी मन्त्रिमण्डल में शामिल कर सकता था। गवर्नर जनरल मन्त्रिपरिषद के कार्यों के लिए अपनी इच्छानुसार नियम बनाता, उन्हें विभाग सौंपता और जब चाहता उनकी बैठकों का सभापतित्व करता। मन्त्रियों का कार्य उसे सहायता और परामर्श देना भर था, न कि कोई नीति निर्धारित करना और स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करना। इस प्रकार गवर्नर जनरल के सम्मुख मन्त्रियों की स्थिति बहुत कुछ सीमा तक खिलौने जैसे ही थी। इस सम्बन्ध में प्रो. के. टी. शाह ने लिखा है कि **"नये विधान (1935 के अधिनियम) के अनुसार संघीय मन्त्रियों की स्थिति ऐसे आभूषणों जैसी है, जिनका कोई उपयोग नहीं है। वे जनता के प्रतिनिधि माने जाते हैं किन्तु कभी भी उसकी भलाई करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं, उनका उत्तरदायित्व बिना किसी शक्ति के है, उनका पद बिना किसी अधिकार तथा वास्तविक प्रभाव के है।"**[1]

संघीय व्यवस्थापिका

1935 के अधिनियम द्वारा संघीय क्षेत्र में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का उपबन्ध किया गया था, जिसके दो सदन राज्य-परिषद और संघीय सभा थे।

राज्य परिषद (Council of State)—संघीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन राज्य परिषद के सदस्यों की संख्या 260 निश्चित की गयी थी। इसमें 156 प्रतिनिधि(150 निर्वाचित और 6 गवर्नर द्वारा मनोनीत) ब्रिटिश भारत का प्रतिनिधित्व करने को थे। शेष 104 सदस्यों को देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के रूप में रियासतों के शासकों द्वारा मनोनीत किया जाता था।

अधिकांश अन्य संघों में साधारणतया संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन का निर्माण परोक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है और उच्च सदन में सभी इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है लेकिन 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत ऐसा नहीं किया गया था। राज्य परिषद के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा साम्प्रदायिक आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन के तरीके से किया जाना था और इसमें इकाइयों का प्रतिनिधित्व असमान था। मताधिकार संकुचित और साधारणतया सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताओं पर आधारित था। सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में मतदाताओं की संख्या केवल 1 लाख के लगभग थी। देशी रियासतों के प्रतिनिधि विभिन्न रियासतों में बांट दिए गए थे, हैदराबाद के 5, मैसूर, कश्मीर, ग्वालियर आदि रियासतों में से प्रत्येक को 3, कुछ रियासतों में से प्रत्येक को 1 और छोटी-छोटी रियासतों के समूह बनाकर 1-1 प्रतिनिधि भेजा जाता।

राज्य परिषद एक स्थायी सदन था, जिसका विघटन नहीं हो सकता था। सदस्यों का कार्यकाल 9 वर्ष था तथापि एक-तिहाई सदस्य तीन वर्ष के बाद हट जाने को थे।

संघीय सभा—संघीय व्यवस्थापिका के निम्न सदन का नाम संघीय सभा था। इसकी सदस्य संख्या 375 निश्चित की गयी थी, जिनमें से 125 देशी रियासतों के लिए थे। ब्रिटिश भारत के 250 स्थानों में से 4 स्थान अप्रान्तीय रूप में व्यापार, उद्योग तथा श्रम के लिए निश्चित किए गए थे। शेष 246 स्थान विभिन्न प्रान्तों में वितरित किए गए थे।

1 K. T. Shah, *Federal Structure.*

संघीय सभा का कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित हुआ था। एक विशेष बात यह थी कि लोकतन्त्रात्मक आचरण की सभी परम्पराओं के विरुद्ध संघीय सभा का निर्वाचन परोक्ष रीति से किया जाना था। राज्य परिषद और संघीय सभा दोनों के द्वारा अपने सदस्यों में से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का चुनाव किया जाता। सदनों के इन अध्यक्षों को केवल निर्णायक मत देने का अधिकार होता।

दोनों सदनों के सदस्यों को विधान मण्डल के कानून द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ते मिलते। सदस्यों को पुनर्निर्वाचन का अधिकार था, परन्तु कोई भी सदस्य एक समय पर दो सदनों का सदस्य नहीं हो सकता था।

संघीय व्यवस्थापिका की शक्तियां—1935 के अधिनियम में प्रस्तावित व्यवस्था का स्वरूप अलोकतन्त्रात्मक था और उसकी शक्तियां अत्यन्त सीमित थीं। एम. वी. पायली के शब्दों में, **''व्यवस्थापिका प्रभुतासम्पन्न नहीं थी, वरन् इसे तो गवर्नर जनरल द्वारा शासित कार्यपालिका के अधीन संस्था के रूप में कार्य करना था।''**

विधायी शक्तियां—संघीय व्यवस्थापिका को संघीय सूची और समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्रदान की गयी। यदि गवर्नर जनरल संकट की घोषणा कर देता तो संघीय व्यवस्थापिका प्रान्तीय सूची के विषयों पर भी कानून का निर्माण कर सकती थी। प्रत्येक विधेयक के लिए दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक था और पारस्परिक मतभेद की स्थिति में संयुक्त बैठक में बहुमत के आधार पर निर्णय किया जा सकता था।

लेकिन व्यवस्थापिका की इन विधायी शक्तियों पर कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। न तो इसे विधान में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त थी और न ही उसके द्वारा भारत के ऊपर लागू होने वाले ब्रिटिश संसद के अधिनियमों को संशोधित अथवा रद्द किया जा सकता था। इस प्रकार इसे प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न विधानमण्डल नहीं कहा जा सकता था। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना विधानमण्डल में प्रस्तावित नहीं किए जा सकते थे। गवर्नर जनरल के द्वारा विधानमण्डल में किसी ऐसे विधेयक पर चल रहे वाद-विवाद को भी रोका जा सकता था जो उसके विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित होता। विधानमण्डल द्वारा पास किए गए विधेयकों पर गवर्नर जनरल द्वारा निषेधाधिकार का प्रयोग किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त, अध्यादेश जारी करने और अधिनियम निर्मित करने के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल की अत्यन्त व्यापक शक्तियों के कारण भी संघीय विधानमण्डल की विधायी शक्तियां बहुत सीमित हो गयी थीं।

वित्तीय शक्तियां—एन. श्रीनिवासन के अनुसार, **''संघीय व्यवस्थापिका की वित्तीय शक्तियां भी अत्यधिक सीमित थीं।''**[1] लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में साधारणतया अपनायी गयी प्रक्रिया के विपरीत अधिनियम द्वारा संघीय व्यवस्थापिका के दोनों सदनों को वित्त के क्षेत्र में समान शक्तियां प्रदान की गयीं। पालन्दे के शब्दों में, **''अधिनियम द्वारा उच्च सदन को वह शक्ति प्रदान की गयी थी, जिसे प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में निम्न सदन का एकमेव विशेषाधिकार समझा जाता है।''**[2] करारोपण और व्यय से सम्बन्धित प्रस्ताव गवर्नर जनरल की सिफारिश पर ही प्रस्तावित किए जा सकते थे। वार्षिक बजट गवर्नर जनरल द्वारा तैयार करवाकर विधानमण्डल में प्रस्तुत करवाया जाता लेकिन बजट का 80 प्रतिशत से अधिक भाग मत-निरपेक्ष होता था। मत-निरपेक्ष व्यय की प्रमुख मदें निम्नलिखित थीं :

(1) गवर्नर जनरल का वेतन, भत्ता तथा अन्य सभी खर्च।
(2) भारत सरकार द्वारा ऋण की अदायगी के लिए रखी हुई रकम और ब्याज।
(3) मन्त्रियों, परामर्शदाताओं, आर्थिक सलाहकार, एडवोकेट जनरल, चीफ कमिश्नरों के वेतन और भत्ते और आर्थिक सलाहकार के कार्यालय का व्यय।
(4) संघीय न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन।
(5) रक्षित विषयों के प्रशासन से सम्बन्धित व्यय।
(6) प्रान्तों के अपवर्जित (Excluded) क्षेत्रों के प्रशासन के लिए आवश्यक धन।
(7) किसी न्यायालय के निर्णय की क्रियान्विति के लिए आवश्यक धन।
(8) रियासतों के सम्बन्ध में होने वाले सम्राट के कर्तव्य का पालन व्यय, आदि।

1 N. Shrinivasan, *Democratic Govt. in India*, p. 58.
2 M. K. Palande, *Introduction to Indian Administration*, p. 78.

शेष 20 प्रतिशत मत सापेक्ष (Votable) व्यय के सम्बन्ध में भी गवर्नर जनरल को अधिकार था कि वह संघीय विधानमण्डल द्वारा अस्वीकृत या कम की गयी किसी अनुदान मांग को बहाल कर सके, यदि उसे ऐसा करना अपने विशेष उत्तरदायित्वों के उचित पालन के लिए आवश्यक प्रतीत हो।

संघीय व्यवस्थापिका की वित्तीय शक्तियों के सम्बन्ध में **प्रो. के. टी. शाह** ठीक ही लिखते हैं, **"हमें यह मानना होगा कि संघीय व्यवस्थापिका की वित्तीय शक्तियां अत्यधिक सीमित थीं**—अन्तिम निर्णय गवर्नर जनरल के हाथ में था और राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के दोनों सदनों को संयुक्त मत द्वारा उसके सुझाव का विरोध किए जाने पर भी उसका सुझाव मान्य होता था।"[1]

कार्यपालिका पर नियन्त्रण—कार्यपालिका क्षेत्र में दोनों सदनों की शक्तियां समान नहीं थीं। मन्त्रिपरिषद केवल निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी थी। निम्न सदन मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास कर सकता था और व्यक्तिगत रूप में किसी मन्त्रीं के विरुद्ध भी प्रस्ताव पास कर उसे हटाया जा सकता था। दोनों सदनों द्वारा कार्यपालिका को प्रभावित करने के लिए प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछने और कामरोको प्रस्ताव पेश करने का कार्य किया जा सकता था। गवर्नर जनरल और परिषद के सदस्य विधानमण्डल के नियन्त्रण के बाहर थे।

संघीय व्यवस्थापिका के संगठन और शक्तियों के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि संघीय व्यवस्थापिका एक प्रभुत्व शक्ति-सम्पन्न कानून निर्मात्री संस्था नहीं थी। इसकी शक्तियों पर इतने प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे कि किसी भी रूप में इसे संसदात्मक प्रणाली की व्यवस्थापिका नहीं कहा जा सकता था। व्यवस्थापिका की विधायी और कार्यपालिका शक्ति पर तो प्रतिबन्ध थे ही, सवसे अधिक आपत्तिजनक बात यह थी कि वित्तीय क्षेत्र में भी व्यवस्थापिका की शक्तियां नगण्य थीं। **श्री पालन्दे** ठीक ही लिखते हैं कि **"वित्तीय शक्ति का अभाव उत्तरदायी शासन को अवास्तविक बना देता है और इसे एक विडम्बना एवं उपहास का रूप दे देता है।"**[2]

संघीय न्यायालय
(FEDERAL COURT)

1935 के अधिनियम में एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया गया था अतः संघ की अनिवार्य शर्त के रूप में एक संघीय न्यायालय की स्थापना की भी व्यवस्था की गयी। संघीय न्यायालयों में एक मुख्य न्यायाधीश तथा अधिक से अधिक 6 अन्य न्यायाधीश हो सकते थे। न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। ये सदाचार पर्यन्त, 65 वर्ष तक की आयु तक अपने पद पर रह सकते थे और इसके पूर्व उन्हें कदाचार अथवा मन शरीर की दुर्बलता के आधार पर ही सम्राट द्वारा अपदस्थ किया जा सकता था। प्रधान न्यायाधीश का वेतन 7,000 रु. तथा अन्य न्यायाधीशों का वेतन 5,500 रु. मासिक था। यह वेतन केन्द्रीय राजस्व के मत-निरपेक्ष भाग में से दिया जाता था और न्यायाधीशों के कार्यकाल में वेतन में कटौती नहीं की जा सकती थी।

संघीय न्यायालय को मौलिक, अपीलीय और परामर्शदात्री अधिकार क्षेत्र प्राप्त था, लेकिन संघीय न्यायालय को सर्वोच्च या अन्तिम न्यायालय की स्थिति नहीं दी गई थी। इसके निर्णय के विरुद्ध लंदन की प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति में अपील की जा सकती थी।

व्यवहार में 1 अप्रैल, 1937 को इस संघीय न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय ने पूर्ण **निष्पक्षता तथा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य किया।**

1935 का भारतीय शासन अधिनियम (प्रान्तीय सरकारें)

प्रान्तीय शासन—भारतीय शासन अधिनियम, 1935 द्वारा प्रान्तीय शासन की स्थिति में आधारभूत परिवर्तन किया गया। 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों को जो भी सत्ता प्राप्त थी, वह केन्द्रीय सरकार के द्वारा ही उनको प्रदान की गयी थी। यद्यपि व्यवहार में हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन लोकप्रिय मन्त्रियों को सौंप दिया गया था, लेकिन वैधानिक दृष्टि से भारत सरकार की प्रान्तीय सरकारों के शासन में—हस्तक्षेप करने की शक्ति पर कोई प्रतिवन्ध न था। 1935 के अधिनियम द्वारा सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह किया गया

1 K. T. Shah, *Federal Structure*, pp. 322-323.

2 "The absence of financial power imparted an air of unreality to the responsible government and tended to reduce it to a mockery."

—M. R. Palande, *Introduction to the Indian Administration*, p. 48.

कि प्रान्तों को पहली बार पृथक् वैधानिक सत्ता प्रदान की गयी। अब प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार की अभिकर्ता मात्र नहीं वरन् उन्हें पृथक् अस्तित्व और सत्ता प्राप्त हो गयी। यद्यपि केन्द्र में संघ की स्थापना हुई, लेकिन 1 अप्रैल, 1937 से प्रान्तों को कम या अधिक रूप में स्वायत्तता प्राप्त हो गयी और प्रान्तों के साथ संघीय आधार पर व्यवहार किया जाने लगा।

गवर्नर (Governor)—1935 के अधिनियम ने प्रान्त की कार्यपालिका शक्ति गवर्नर में निहित की थी। गवर्नर सम्राट का प्रतिनिधि होता था। बम्बई, मद्रास और बंगाल के गवर्नरों को सम्राट भारत-मन्त्री की सिफारिश पर नियुक्त करते थे और अन्य प्रान्तों के गवर्नरों को गवर्नर जनरल की सिफारिश पर। उसकी उपलब्धियां, पदावधि और सेवा की शर्तें वे ही रहीं जो 1919 के अधिनियम के अधीन थीं। नये अधिनियम ने उनकी राजकीय शान-शौकत में कोई कमी नहीं की। वस्तुतः भारत में गवर्नर जनरल और गवर्नर के पद **'बैलगाड़ी के देश में राल्सरायस की शाही सवारियों'** के समान थे।

वैधानिक स्थिति में परिवर्तन—1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी थी, अतः अब गवर्नर की वैधानिक स्थिति में परिवर्तन हो गया। जब गवर्नर उत्तरदायी मन्त्रियों की मन्त्रणा के आधार पर कार्य करता था, वह गवर्नर जनरल के नियन्त्रण से मुक्त होता था। लेकिन जब वह अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर कार्य करता था, गवर्नर जनरल के निरीक्षण और नियन्त्रण के अधीन होता था।

गवर्नर की शक्तियां—इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में द्वैध प्रणाली का अन्त कर उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी थी, अतः साधारण परिस्थितियों में गवर्नर से यह आशा की जाती थी कि उसके द्वारा मन्त्रियों की मन्त्रणा के आधार पर कार्य किया जाएगा। लेकिन अधिनियम का उद्देश्य गवर्नर को एक वैधानिक शासक बनाना नहीं था, अतः अधिनियम के द्वारा गवर्नर को अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की महत्वपूर्ण शक्तियां प्रदान की गयीं।

अधिनियम के अनुसार गवर्नर को तीन प्रकार की शक्तियां प्राप्त थीं :

(1) मन्त्रियों के परामर्श के आधार पर प्रयोग की जाने वाली शक्तियां। दूसरे शब्दों में वैधानिक प्रधान के रूप में उसकी शक्तियां।
(2) स्वविवेकी शक्तियां।
(3) विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित शक्तियां।

इनमें दूसरे और तीसरे प्रकार की शक्तियां ही आधारभूत थीं।

गवर्नर की स्वविवेकी शक्तियां—स्वविवेकी शक्तियों का तात्पर्य यह था कि गवर्नर के द्वारा इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों से परामर्श किए बिना हीं अपने विवेक के अनुसार किया जा सकता था। गवर्नर को बहुत अधिक व्यापक क्षेत्रों में स्वविवेकी शक्तियां प्राप्त थीं अतः इनका अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में अलग-अलग किया जा सकता है :

कार्यपालिका क्षेत्र में—कार्यपालिका क्षेत्र में गवर्नर की स्वविवेकी शक्तियां निम्न थीं :

(1) अधिनियम की धारा 91 के अनुसार अपवर्जित (Excluded) क्षेत्रों तथा पिछड़ी हुई और जनजातियों के क्षेत्रों का प्रशासन।
(2) मन्त्रियों की नियुक्ति तथा पदच्युति।
(3) मन्त्रियों के वेतन, जबकि वे विधानमण्डलों के द्वारा निश्चित न कर दिए जाएं, निश्चित करना।
(4) शासनतन्त्र को नष्ट-भ्रष्ट करने के उद्देश्य से की गयी हिंसक और विनाशकर कार्यवाहियों को रोकना।
(5) गुप्तचर विभाग की सूचनाओं को, ऐसे व्यक्तियों (मन्त्रियों सहित) को दिए जाने से रोकना, जिनके लिए उसने आदेश न दिया हो।
(6) प्रान्तीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति।
(7) प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में गवर्नर के निर्देशों का पालन।
(8) अपने वैयक्तिक कर्मचारी मण्डल की नियुक्ति और उनका वेतन निश्चित करना।

विधायी क्षेत्रों में—विधायी क्षेत्र में गवर्नर को प्राप्त स्वविवेकी शक्तियां निम्न थीं :

(1) प्रान्तीय विधानमण्डल की बैठक बुलाना, स्थगित करना तथा उन्हें विघटित करना।

(2) प्रान्तीय व्यवस्थापिका में कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों की पुनः स्थापना के लिए पूर्व अनुमति देना।

(3) किसी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा पर चल रहे वाद-विवाद को रोकना।

(4) प्रान्तीय विधान मण्डल द्वारा पारित विधेयकों पर स्वीकृति प्रदान करना, निषेधाधिकार का प्रयोग करना अथवा उन्हें गवर्नर जनरल के विचारार्थ रक्षित रखना।

(5) अध्यादेश प्रवर्तित करना तथा गवर्नर के अधिनियम अधिनियमित करना।

वित्तीय क्षेत्र में—वित्तीय क्षेत्र में गवर्नर को यह निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त था कि बजट की कौन-सी मद (item) मत सापेक्ष (Votable) है और कौन-सी मद मत निरपेक्ष (Non-votable)। इसके अतिरिक्त, वह बजट के मत सापेक्ष भाग में विधानमण्डल द्वारा अस्वीकृत अथवा कम की गयी किसी अनुदान मांग को यथापूर्व स्थापित कर सकता था। इस प्रकार गवर्नर को व्यवहार में प्रान्त के सम्पूर्ण बजट पर अधिकार प्राप्त था।

उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त गवर्नर को अधिनियम की धारा 93 के अनुसार एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वविवेकी शक्ति प्रदान की गयी थी। इसके अनुसार गवर्नर को अधिकार प्राप्त था कि आवश्यक होने पर प्रान्तीय शासन की सभी शक्तियां अपने हाथ में ले ले। इसके अनुसार उसे यह घोषणा करनी होती थी कि प्रान्त में संविधान के उपबन्धों के अनुसार शासन का संचालन नहीं किया जा सकता। घोषणा के बाद वह मन्त्रिपरिषद को अपदस्थ कर सकता था, विधानसभा का विघटन कर सकता था और उच्च न्यायालय के अतिरिक्त प्रान्तीय सरकार के समस्त सरकारी निकायों का शासन अपने हाथ में ले सकता था। नवम्बर 1939 में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र के बाद गवर्नर के द्वारा उपर्युक्त शक्ति का ही प्रयोग किया गया था।

गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व (व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियां)—अधिनियम की धारा 52 के द्वारा गवर्नर के कुछ विशेष उत्तरदायित्व भी निश्चित किए गए थे। इन विशेष उत्तरदायित्वों के पालन के सम्बन्ध में गवर्नर मन्त्रियों को परामर्श लेने के लिए तो बाध्य था, लेकिन गवर्नर मन्त्रिपरिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं था। वस्तुतः गवर्नर मन्त्रिपरिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य न होने के कारण इस परामर्श का कोई महत्व नहीं था और इस बात के मनोवैज्ञानिक प्रभाव के कारण मन्त्रिपरिषद के सदस्य विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित कार्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर पाते थे। गवर्नर के ये विशेष उत्तरदायित्व मुख्य रूप से निम्नलिखित थे :

(1) प्रान्त अथवा उसके किसी भाग में शान्ति की स्थापना अथवा शान्ति-भंग करने वाले खतरे का निवारण।

(2) अल्पसंख्यक वर्गों के उचित हितों की रक्षा।

(3) सरकारी कर्मचारियों के अधिकारों व उचित हितों की रक्षा।

(4) देशी रियासतों के अधिकारों तथा उसके शासकों के हितों और प्रतिष्ठा की रक्षा।

(5) व्यापारिक विभेदों की रोकथाम।

(6) आंशिक रूप से अपवर्जित क्षेत्रों का प्रशासन।

(7) गवर्नर जनरल के आदेशों और निर्देशों का पालन करना, जो वे उसके लिए जारी करें।

उपर्युक्त के अतिरिक्त प्रान्त के एडवोकेट जनरल को नियुक्त करने में व प्रान्तीय पुलिस पर प्रभाव डालने वाले नियमों का संशोधन करने में गवर्नर अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था। विशेष उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह थी कि गवर्नर इस बात का निर्णय अपने व्यक्तिगत विवेक के अनुसार करता था कि उसका कोई विशेष उत्तरदायित्व कब अन्तर्ग्रस्त होता है। विशेष उत्तरदायित्व इतनी अधिक अस्पष्ट भाषा और वाक्यों में थे कि इनके आधार पर गवर्नर के द्वारा उत्तरदायी शासन में मनचाहा हस्तक्षेप किया जा सकता था। 'शान्ति और सुरक्षा' तथा 'अल्प-संख्यक वर्गों के उचित अधिकार' ये वाक्यांश नितान्त अस्पष्ट थे और इनका अर्थ गवर्नर पर छोड़ देने का मतलब उसे स्वेच्छाचारी बनाना था। प्रो. कीथ इन

उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि **"यदि प्रान्तों के गवर्नर इन विशेष उत्तरदायित्वों के आधार पर गम्भीरता से कार्य करें तो यह निश्चित है कि उत्तरदायी शासन कभी उत्पन्न नहीं होगा।"**[1] इस प्रकार इस तथाकथित प्रान्तीय स्वशासन में गवर्नर को अत्यधिक शक्तियां प्राप्त थीं। **सर चमनलाल सीतलवाड** के शब्दों में, **"संरक्षणों, आरक्षणों और विवेकात्मक शक्तियों के समूह में प्रान्तीय उत्तरदायित्व को नष्ट कर दिया गया था।"**[2] गवर्नरों को केवल नाम के लिए ही ये शक्तियां प्राप्त नहीं थीं, वरन् व्यवहार में अवसर मिलने पर अनुचित रूप से भी उनके द्वारा इन शक्तियों का प्रयोग किया गया था। उदाहरण के लिए, सिन्ध के मुख्यमन्त्री खानबहादुर अल्लाहबख्श को प्रान्तीय विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त होने पर भी गवर्नर द्वारा पदच्युत कर दिया गया था। वस्तुतः गवर्नर केवल एक वैधानिक शासक नहीं, वरन् स्वेच्छाचारी शासक था। **श्री के. टी. शाह** के शब्दों में, **"गवर्नर सरकार को केवल अलंकृत करने वाला अध्यक्ष ही नहीं है। सरकार का प्रभावशाली नियन्त्रण तथा प्रभाव रखने वाला अध्यक्ष भी है।"**[3] **चिन्तामणि** और **मसानी** के अनुसार, **"गवर्नर फौलादी ढांचे का केन्द्रीय मेहराब था।"**[4]

मन्त्रिपरिषद

1935 के अधिनियम में व्यवस्था की गयी कि गवर्नर को विविध कार्यों में मन्त्रणा तथा सहायता देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी। कानून के अनुसार मन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति का अधिकार गवर्नर को दिया गया था, परन्तु गवर्नर के निर्देश पत्र में कहा गया था कि गवर्नर के द्वारा उसी व्यक्ति के परामर्श से मन्त्रियों की नियुक्ति की जानी चाहिए, जिसके पीछे व्यवस्थापिका का बहुमत हो। यह बात उत्तरदायी शासन की दृष्टि से आवश्यक भी थी। अतः गवर्नर प्रान्तीय विधानमण्डल में बहुमत दल के नेता को मुख्यमन्त्री नियुक्त कर देता था और मुख्यमन्त्री की मन्त्रणा के आधार पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति की जाती थी। मन्त्री विधानसभा के विश्वास पर्यन्त ही अपने पद पर रहते थे। कानूनी रूप में गवर्नर को भी मन्त्रियों को हटाने का अधिकार था, लेकिन उत्तरदायी शासन की परम्पराओं के कारण साधारणतया इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता था।

मन्त्रियों की योग्यताएं और वेतन—1935 के अधिनियम के अनुसार मन्त्रियों के लिए विशेष योग्यताएं नहीं रखी गयी थीं। उनके लिए केवल यह योग्यताएं रखी गयीं कि मन्त्री को प्रान्तीय विधानमण्डल के दोनों में से किसी एक सदन का सदस्य अवश्य होना चाहिए। यदि किसी ऐसे सदस्य को मन्त्री नियुक्त कर दिया जाता, जो प्रान्तीय विधानमण्डल का सदस्य न होता तो मन्त्रिपद पर बने रहने के लिए उसे 6 माह के अन्दर विधानमण्डल की सदस्यता प्राप्त करनी आवश्यक थी। मन्त्रियों का वेतन विधानमण्डल द्वारा निश्चित किया जाता था और एक बार वेतन निश्चित कर देने पर उनके कार्यकाल में इस वेतन में परिवर्तन नहीं किया जा सकता था।

मन्त्रियों की संख्या—अधिनियम द्वारा मन्त्रियों की संख्या का प्रश्न प्रान्त की आवश्यकता पर छोड़ दिया गया था। व्यवहार में उड़ीसा में केवल 3 लेकिन बंगाल में 12 मन्त्री थे। मन्त्रियों के कार्यभार को हल्का करने के लिए संसदीय सचिवों (Parliamentary Secretaries) की नियुक्ति की जा सकती थी।

मन्त्रिपरिषदों में अल्पसंख्यक जातियों का प्रतिनिधित्व—गवर्नर को जारी किए गए निर्देश पत्र में कहा गया था कि जहां तक सम्भव हो, गवर्नर महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्गों को प्रतिनिधित्व अवश्य दिलवायें, जिससे उनके हितों की रक्षा हो सके। लेकिन इसके साथ ही निर्देश पत्र में यह भी कहा गया था कि गवर्नर मन्त्रिपरिषद में सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्तों को प्रोत्साहित करे। परन्तु ये दोनों बातें परस्पर विरोधी थीं और 1937 में मन्त्रिमण्डल निर्माण के समय विशेष रूप से संयुक्त प्रान्त में यह विरोध स्पष्टतया सामने आया। कांग्रेस ने संयुक्त प्रान्त में उन्हीं मुसलमानों को मत्रिमण्डल में शामिल करने का निश्चय किया जो कांग्रेस दल में शामिल होकर उसके कार्यक्रम को स्वीकार करने के लिए तत्पर हों। कांग्रेस का कहना था कि मन्त्रिमण्डल द्वारा सामूहिक उत्तरदायित्व के अनुसार कार्य करने के लिए इस शर्त का पूरा होना आवश्यक है। लेकिन अल्पसंख्यक दल मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के इस कार्य को गलत बताते हुए कहा कि कांग्रेसी मुसलमानों को विधानमण्डल के मुसलमान सदस्यों का समर्थन प्राप्त न होने के कारण उन्हें मुसलमानों का वास्तविक प्रतिनिधि नहीं कहा

1 A. B. Keith, *A Constitutional History of India*, p. 320.
2 N. Shrinivasan, *Democratic Govt. in India*, p. 45.
3 K. T. Shah, *Federal Structure*.
4 Chintamani and Masani, *Ibid.*, p. 45.

जा सकता। परन्तु क्योंकि कांग्रेस निम्न सदन में बहुमत में थी, अतः गवर्नर ने लीग की आपत्ति पर कोई ध्यान नहीं दिया।

प्रान्तों में उत्तरदायी शासन अपूर्ण था—1935 के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश प्रान्तों में स्थापित उत्तरदायी शासन दो दृष्टियों से अपूर्ण था। **सर्वप्रथम**, तो प्रान्तीय विधानमण्डल जो मन्त्रियों पर नियन्त्रण रखते थे, वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे क्योंकि मताधिकार सीमित एवं वर्गगत और साम्प्रदायिक था। इसके अतिरिक्त, विधानमण्डल के प्रति अनुत्तरदायी गवर्नर को प्रशासन के विविध क्षेत्रों में व्यापक शक्तियां प्राप्त थीं।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका

1935 के भारतीय शासन अधिनियम द्वारा सभी प्रान्तों के लिए एक ही प्रकार के विधानमण्डल नहीं बनाये गए थे। असम, बंगाल, बिहार, संयुक्त प्रान्त, मद्रास और बम्बई की व्यवस्थापिका के दो सदन थे, किन्तु पंजाब, सिन्ध, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, उड़ीसा और मध्य प्रान्त में सिर्फ एक सदन था। प्रथम सदन का नाम विधानसभा और द्वितीय का नाम विधानपरिषद् था। विधानसभा के सब सदस्य निर्वाचित होते थे, किन्तु विधानपरिषद में निर्वाचित सदस्यों के साथ नामजद सदस्य भी होते थे।

विधानसभा का संगठन—भारतीय विधानसभा के सदस्यों की संख्या हर प्रान्त में अलग-अलग थी। मद्रास में यह 215, बम्बई में 175, पंजाब में 175, बंगाल में 250, संयुक्त प्रान्त में 228, बिहार में 152, मध्य प्रान्त और बरार में 112, असम में 108, उड़ीसा और सिन्ध में से प्रत्येक में 60 और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में 50 थी। विभिन्न प्रान्तों में पूना समझौते द्वारा संशोधित साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार स्थान बंटे हुए थे। सामान्य स्थानों में से कुछ स्थान अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित थे। मुसलमानों, सिखों, आंग्ल भारतीयों, यूरोपियन व भारतीय ईसाइयों को साम्प्रदायिक आधार पर और वाणिज्य, उद्योग, खान व बाग, जमींदार, मजदूर और विश्वविद्यालयों के लिए वर्गीय आधार पर सुरक्षित थे। स्त्रियों के लिए सुरक्षित स्थान भी हिन्दू, मुसलमानों, सिखों, आंग्ल भारतीयों व ईसाइयों में बांट दिए गए थे।

विधानपरिषदों का संगठन—विधानपरिषदों की व्यवस्था 6 प्रान्तों के लिए थी। विधानपरिषद की सदस्य संख्या बंगाल में 75, मद्रास में 56, संयुक्त प्रान्त में 60, बम्बई और बिहार में 30 और असम में 22 थी।

योग्यता एवं कार्यकाल—प्रान्तीय विधानसभा की सदस्यता के लिए 25 वर्ष और प्रान्तीय विधानपरिषद के लिए 30 वर्ष की आयु होनी आवश्यक थी। कोई व्यक्ति विधानमण्डल के दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता था। उम्मीदवार के लिए निर्वाचन क्षेत्र में कुछ दिन, प्रायः 180 या 120 दिन का निवास आवश्यक था। विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष रखा गया था और इसके पूर्व भी विघटित किया जा सकता था। इसका कार्यकाल 5 वर्ष से आगे भी बढ़ायां जा सकता था। 1937 में जिस विधानसभा का गठन हुआ था, वह 1942 तक कार्य करती रही। प्रान्तीय विधानपरिषद एक स्थायी परिषद थी। इसके सदस्यों की पदावधि 9 वर्ष थी पर उनमें से एक-तिहाई प्रति तीन वर्ष बाद अलग हो जाते थे।

निर्वाचन का आधार—प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का निर्वाचन सब वयस्क नागरिकों द्वारा नहीं होता था, वरन् समस्त जनसंख्या के लगभग 14 प्रतिशत को मताधिकार प्राप्त था। इसके लिए शिक्षा, सम्पत्ति या कर की योग्यता रखी गयी।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका की शक्तियां

विधायी शक्तियां—प्रान्तीय व्यवस्थापिका को प्रान्तीय और समवर्ती सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था, लेकिन यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर प्रान्तीय और केन्द्रीय व्यवस्थापिका के कानून में विरोध हो, तो प्रान्तीय व्यवस्थापिका द्वारा कानून उस सीमा तक रद्द हो जाता, जिस सीमा तक वह केन्द्रीय व्यवस्थापिका के कानून के विरुद्ध हो। द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका वाले प्रान्तों में प्रत्येक विधेयक के लिए दोनों सदनों द्वारा पारित होना आवश्यक था। धन विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयक किसी भी सदन में उपस्थित किए जा सकते थे। यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों में विभेद हो जाए जो गवर्नर दोनों की संयुक्त बैठक बुलाता था व विधेयक पर बहुमत से निर्णय लिया जाता था। बजट पर यद्यपि दोनों सदनों में विचार किया जाता, पर अनुदान की मांगों पर मत देने का अधिकार केवल विधानसभा को ही प्राप्त था।

गवर्नर की विशेष शक्तियों के कारण प्रान्तीय विधानमण्डल की विधायी शक्तियों पर कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों को प्रस्तावित करने के लिए गवर्नर की पूर्व अनुमति आवश्यक थी

और व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों पर उसके द्वारा विशेषाधिकार का प्रयोग भी किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त, गवर्नर को स्वतन्त्र विधायिनी शक्तियां प्राप्त थीं जिनके द्वारा वह विधानमण्डल की सहमति के बिना ही अध्यादेश और गवर्नर के अधिनियम जारी कर सकता था।

प्रशासन पर नियन्त्रण—व्यवस्थापिका विभिन्न साधनों से प्रशासन पर अपना नियन्त्रण रख सकती थी। वह प्रश्नों, कामरोको प्रस्तावों, आलोचना प्रस्तावों और बजट में अनुदानों की मांग को कम करके प्रशासन के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त कर सकती थी। विधानसभा अविश्वास का प्रस्ताव पास करके मन्त्रियों को पद-त्याग के लिए विवश कर सकती थी।

वित्तीय शक्तियां—प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना के साथ प्रान्तीय विधानमण्डल की वित्तीय शक्तियों में कुछ वृद्धि हो गयी थी। यदि व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक होती, तो वार्षिक बजट को दोनों सदनों के सम्मुख उपस्थित करना आवश्यक था लेकिन अनुदान मांगों पर मतदान का अधिकार केवल विधानसभा को ही प्राप्त था। सम्पूर्ण व्यय का लगभग 75 प्रतिशत मत सापेक्ष होता था—लेकिन गवर्नर को अधिकार था कि वह व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत या कम की गयी अनुदान की मांग को यथापूर्व कर सकता था। इससे वित्तीय क्षेत्र में भी व्यवस्थापिका की शक्ति बहुत कम हो गयी थी।

प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का मूल्यांकन—इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय व्यवस्थापिका की स्थिति में सुधार और उसकी शक्तियों में वृद्धि की गयी थी। इन व्यवस्थापिकाओं की सदस्यता में वृद्धि की गयी, प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को अपनाया गया और निर्वाचकों की संख्या में वृद्धि की गयी।

किन्तु इन सुधारों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि प्रान्तीय व्यवस्थापिकाएं जनता की सच्ची प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं थीं और उन्हें वास्तविक शक्तियां प्राप्त थीं। साम्प्रदायिक और वर्गीय आधार पर निर्मित व्यवस्थापिकाएं जनता की सच्ची प्रतिनिधि हो ही नहीं सकतीं थीं। **'विधान परिषदों का गठन तो अलोकतन्त्रात्मक पद्धति पर किया गया और वे अनुदारवाद और प्रतिक्रियावादिता के गढ़ बन गयी थीं।'**[1] विधानसभा के गठन में अब भी 86 प्रतिशत वयस्क जनता मताधिकार से वंचित थीं। इसके अतिरिक्त, अधिनियम द्वारा व्यवस्थापिका की विधायी, प्रशासकीय एवं वित्तीय शक्तियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाकर इसे बहुत अधिक शक्तिहीन कर दिया गया था।

प्रान्तीय स्वशासन या स्वायत्तता
(PROVINCIAL AUTONOMY)

1935 के अधिनियम का मुख्य पुरस्कार प्रान्तीय स्वशासन था। 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र में जिस द्वैध शासन की स्थापना की गयी थी, 1935 के अधिनियम द्वारा उसका अन्त कर दिया गया। अब रक्षित और हस्तान्तरित का कोई भेद नहीं रहा। इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों को एक नवीन वैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। उन्हें स्वशासित राजनीतिक इकाई का रूप प्रदान किया गया, और उन्हें अपने निश्चित क्षेत्र में केन्द्रीय हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रूप में सत्ता प्रदान की गयी। उन्हें प्रान्तीय सूची के 54 विषयों पर विधायी, प्रशासकीय और वित्तीय क्षेत्र में एकमेव सत्ता प्रदान की गयी। इस प्रकार 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र में 'प्रान्तीय स्वशासन' की स्थापना की गयी।

प्रान्तीय स्वशासन का अर्थ—प्रान्तीय स्वशासन के दो अर्थ लिए जा सकते हैं। इसका **प्रथम अर्थ** यह है कि प्रान्तों को अपने एक निश्चित क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार होना चाहिए, अर्थात् अपने निश्चित क्षेत्र में वे केन्द्रीय नियन्त्रण अथवा बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने चाहिए। प्रान्तीय स्वशासन का **दूसरा अर्थ** प्रान्त में उत्तरदायी शासन की स्थापना से है अर्थात् प्रान्त में शासन सत्ता ऐसे लोकप्रिय मन्त्रियों के हाथ में होनी चाहिए, जो व्यवस्थापिका के प्रति और व्यवस्थापिका के माध्यम से जनता के प्रति उत्तरदायी हों।

1935 के अधिनियम द्वारा प्रदत्त प्रान्तीय स्वशासन का मूल्यांकन—प्रान्तीय स्वशासन की उपर्युक्त कसौटी पर 1935 के अधिनियम के अध्ययन से नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि 1935 के अधिनियम द्वारा प्रदत्त प्रान्तीय स्वशासन वास्तविकता से बहुत अधिक दूर था। बाहरी और आन्तरिक दोनों ही क्षेत्रों में इस पर ऐसी सीमाएं

1 M. R. Palande, *Introduction of the Indian Constitution*, p. 126.

लगा दी गयी थीं कि प्रान्तों के पास स्वायत्तता का एक अंश भी नहीं रहा। अधिनियम द्वारा स्थापित व्यवस्था के अन्तर्गत न तो प्रान्त बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्र थे और न ही इसके द्वारा प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी थी।

प्रान्तीय स्वशासन पर बाहरी प्रतिबन्ध—प्रान्तीय स्वशासन की धारणा के अनुसार प्रान्तीय शासन को अपने निश्चित क्षेत्र में बाहरी हस्तक्षेप से पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए था, लेकिन 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत आन्तरिक स्वतन्त्रता पूर्ण नहीं थी, प्रान्तीय शासन में केन्द्रीय हस्तक्षेप की अनेक व्यवस्थाएं थीं जिनके कारण तथाकथित प्रान्तीय स्वशासन एक मजाक बनकर रह गया था। अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय शासन में केन्द्रीय हस्तक्षेप की प्रमुख व्यवस्थाएं निम्नलिखित थीं :

(1) अधिनियम की धारा 102 में कहा गया था कि गवर्नर जनरल के द्वारा गम्भीर आन्तरिक अव्यवस्था या अशान्ति तथा युद्ध के वास्तविक या सम्भावित खतरे के कारण **संकटकालीन स्थिति की घोषणा** की जा सकती थी और इस प्रकार की घोषणा हो जाने पर संघीय विधान मण्डल को प्रान्तीय सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता था।

(2) **प्रान्तों पर केन्द्र का नियन्त्रण** कई अन्य तरीकों से रहता था। उदाहरण के लिए, अधिनियम की धारा 156 के अनुसार गवर्नर जनरल प्रान्तीय सरकारों को भारतीय शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक निर्देश जारी कर सकता था। यदि गवर्नर अपने प्रान्त में धारा 93 के अनुसार यह घोषणा कर देता था कि संवैधानिक यन्त्र विफल हो गया है और उसके अनुसार सरकार नहीं चलायी जा सकती, तो प्रान्तीय शासन के सारे ढांचे का अन्त हो जाता था और प्रान्तीय शासन का सारा भार स्वयं गवर्नर संभाल लेता था। गवर्नर के द्वारा जब अपनी विवेकात्मक या व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियों का प्रयोग किया जाता था, तो वह इनका प्रयोग गवर्नर जनरल के नियन्त्रण में रहकर ही करता था।

(3) **प्रान्तीय कानूनी क्षेत्र में गवर्नर जनरल का नियन्त्रण** एक वास्तविकता थी। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक अथवा संशोधन गवर्नर जनरल की पूर्व आज्ञा के बिना प्रान्तीय विधानमण्डल में पेश नहीं किए जा सकते थे।

(4) प्रान्तीय विधानमण्डलों द्वारा पारित विधेयकों को गवर्नर द्वारा गवर्नर जनरल की अनुमति के लिए सुरक्षित रखा जा सकता था। इन विधेयकों पर स्वीकृति देना या न देना गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था। गवर्नर जनरल यदि चाहता तो इन विधेयकों को ब्रिटिश सम्राट की स्वीकृति के लिए रिजर्व कर सकता था। गवर्नर जनरल के द्वारा इस प्रकार के किसी विधेयक को प्रान्तीय विधानमण्डल के पास पुनर्विचार के लिए भेजा जा सकता था।

(5) अधिनियम के द्वारा **गवर्नर जनरल के कुछ विशेष उत्तरदायित्व** निश्चित किए गए थे जिनके आधार पर गवर्नर जनरल प्रान्तीय क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता था। अपने विशेष उत्तरदायित्व के पालन के लिए मन्त्री को भी कोई आदेश दिया जा सकता था। वस्तुतः प्रान्तीय मन्त्री गवर्नर जनरल के नियन्त्रण के बाहर नहीं थे। उदाहरणार्थ, कानून और व्यवस्था का नियन्त्रण मन्त्री के हाथ में दिया गया था, क्योंकि इसके बिना प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना सम्भव ही नहीं थी परन्तु इसके साथ-साथ भारत अथवा उसके किसी भाग में शान्ति भंग होने से रोकना गवर्नर जनरल तथा गवर्नर का विशेष उत्तरदायित्व था। यही कारण है कि डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था, **"यह घोषणा करना कि कानून और व्यवस्था मन्त्री को सौंप दी गयी है, जबकि उनके सम्बन्ध में विशेष उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल तथा गवर्नर को था, छल और कपट से कम नहीं था। गवर्नर, गवर्नर जनरल, ब्रिटिश मुकुट तथा संसद को दी गयी विस्तृत शक्तियों ने प्रान्तीय स्वशासन को नहीं के बराबर कर दिया था, जो कि भारतीयों के लिए सबसे बड़ा पुरस्कार था।"**[1]

आन्तरिक क्षेत्र में प्रतिबन्ध—इस प्रकार प्रान्तीय स्वशासन पर बाहरी प्रतिबन्ध तो थे ही, आन्तरिक क्षेत्र में भी वह पूर्ण नहीं था। आन्तरिक क्षेत्र में प्रान्तीय स्वशासन का तात्पर्य उत्तरदायी शासन से होता है अर्थात् शासन की शक्ति ऐसे लोकप्रिय मन्त्रियों के हाथ में होनी चाहिए जो जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में निर्वाचित व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हों।

---

1 डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्वारा 1934 के बम्बई अधिवेशन के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

निम्न बातों के आधार पर आन्तरिक क्षेत्र में प्रान्तीय स्वशासन की अपूर्णता सिद्ध की जा सकती है :

(1) प्रान्तीय स्वशासन की भावना के अनुसार ब्रिटिश शासन के द्वारा नियुक्त और जनता के द्वारा अनुत्तरदायी गवर्नर को केवल एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करना था, लेकिन 1935 केअधिनियम के द्वारा गवर्नर को एक संवैधानिक अध्यक्ष न बनाकर वास्तविक अध्यक्ष बना दिया गया था। उसे सम्पूर्ण प्रान्तीय शासन पर नियन्त्रण रखने की शक्ति प्राप्त थी। कानूनी क्षेत्र में उसे वहुत अधिक शक्तियां प्राप्त थीं। वह किसी भी विधेयक को अस्वीकृत कर सकता या पुनर्विचार के लिए लौटा सकता था। इनके अतिरिक्त, उसे अध्यादेश जारी करने और अधिनियम बनाने की शक्ति प्राप्त थी।

(2) वित्तीय मामलों में भी गवर्नर को असाधारण शक्तियां प्राप्त थीं। सारा बजट उसकी देखरेख में तैयार होता था और वह ऐसी किसी मांग को यथापूर्व कर सकता था, जिसे प्रान्तीय व्यवस्थापिका द्वारा कम या अस्वीकृत कर दिया गया हो।

(3) मन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति की शक्ति भी उसके पास थी। वह मन्त्रियों में विभागों का बंटवारा करता और उसकी बैठक बुलाता था। व्यवहार में गवर्नरों द्वारा मन्त्रियों को पदच्युत करने की शक्ति का प्रयोग किया गया था। सिन्ध के गवर्नर द्वारा मुख्यमन्त्री अल्लाह बख्श को विधानसभा का विश्वास उन्हें प्राप्त होने पर भी पदच्युत कर दिया गया। कारण यह था कि अल्लाहबख्श ने अपनी उपाधि 'खान बहादुर' को त्यागने की घोषणा कर दी थी। इसी प्रकार बंगाल के मुख्यमन्त्री फजलुल हक तथा पंजाब के मन्त्री शौकत हयात खां को मामूली बात पर पदच्युत कर दिया गया। गवर्नरों की इन निरंकुश शक्तियों ने प्रान्तीय स्वशासन को एक ढोंग बना कर रख दिया था।

(4) इन सब प्रतिबन्धों के बावजूद जो थोड़े-बहुत अधिकार उत्तरदायी मन्त्रियों के पास बचे थे, उनमें सार्वजनिक सेवाओं ने भी अनेक बाधाएं उपस्थित कीं। इसका कारण यह था कि संवैधानिक रूप से मन्त्रियों का सेवाओं पर कोई नियन्त्रण नहीं था और सचिवों की सीधे गवर्नर से मिलने की आज्ञा थी। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार, **"सेवाओं की इस उच्च स्थिति के कारण उनके द्वारा अपने अधिकारी मन्त्रियों की नीति, निश्चयों और आज्ञाओं की अवहेलना ही नहीं की गयी वरन् ऐसे गत्यावरोध उपस्थित किए गए जो मन्त्रियों के लिए अपयश के विषय होते थे और जिनके आधार पर यह कहा जा सकता था कि इन अक्षम और अनुभवहीन मन्त्रियों को सत्ता का हस्तान्तर करना ही गलत है।"**[1]

इस तथाकथित उत्तरदायी शासन के अन्तर्गत मन्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में पं. नेहरू लिखते हैं, **"प्रान्तीय क्षेत्र में लोकप्रिय सरकार की स्थिति असाधारण थी। उस पर वायसराय और अनुत्तरदायी केन्द्रीय सरकार की शक्तियों के सभी प्रतिवन्ध थे और प्रान्त का गवर्नर भी वायसराय की तरह ही निषेधाधिकार और अपनी ही ओर से कानून निर्माण के आधार पर हस्तक्षेप कर सकता था। लोकप्रिय मन्त्रियों और प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रत्यक्ष विरोध के बावजूद वह कुछ भी कर सकता था। उच्च सेवाओं और पुलिस को भी उच्च स्थिति प्रदान कर दी गयी थी और मन्त्री इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर सकते थे।"**

प्रान्तीय शासन पर बाहरी और आन्तरिक सीमाओं के आधार पर बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि **'प्रान्तीय स्वशासन' केवल एक धोखा था।** अतः भारतीयों के द्वारा इसके प्रति असन्तोष व्यक्त किया गया और प्रान्तों के लिए वास्तविक स्वायत्तता की मांग की गयी।

लेकिन इन कमियों और बाधाओं के बावजूद प्रान्तीय शासन में नवीन योजना पुरानी व्यवस्था पर एक निश्चित सुधार थी। इसी कारण कांग्रेस और भारत के दूसरे राजनीतिक दलों द्वारा संघीय योजना को अस्वीकार करते हुए भी 1935 के अधिनियम के प्रान्तीय अंश को स्वीकार कर उसके अनुसार कार्य करना मंजूर कर लिया था।

प्रान्तीय स्वायत्तता पर आचरण
(PROVINCIAL AUTONOMY AT WORK)

1937 के चुनाव—भारतीय शासन अधिनियम, 1935 की संघीय योजना को भारतीय जनमत के सभी पक्षों द्वारा अस्वीकार कर दिए जाने पर ब्रिटिश सरकार ने निश्चय किया कि सर्वप्रथम 1935 केअधिनियम

1 1934 की बम्बई कांग्रेस में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अध्यक्षीय भाषण से।

का प्रान्तीय शासन से सम्बन्धित अंश लागू कर दिया जाए और इस निश्चय के अनुरूप फरवरी 1937 में चुनाव की तिथियां घोषित की गयीं। यद्यपि राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा 1935 के अधिनियम की कटु आलोचना की गयी थी और इसे ब्रिटिश चातुर्य का ऐसा प्रतीक कहा गया था, जिसका एकमात्र उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को बनाये रखना था, तो भी उसके द्वारा चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया गया। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू ने देश का तूफानी दौरा किया और उन्होंने व कांग्रेस के दूसरे नेताओं ने देश के कोने-कोने में कांग्रेस का सन्देश पहुंचाया। 1 अप्रैल, 1937 तक चुनाव सम्पन्न हो गए।

चुनावों में कांग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। 11 में से 6 प्रान्तों—संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, बम्बई, मद्रास और मध्य प्रान्त में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और दूसरे तीन प्रान्तों—असम, बंगाल और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में कांग्रेस सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में सामने आयी। पंजाब और सिन्ध में कांग्रेस की स्थिति अच्छी नहीं थी। पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी ने 175 में से 106 स्थान प्राप्त किए। यूनियनिस्ट पाटी में हिन्दू, सिख और मुसलमान सभी थे और इसका मुस्लिम लीग से कोई सम्बन्ध नहीं था। चुनाव परिणाम लीग के लिए उत्साहजनक नहीं थे। लीग को समस्त मुसलमान मतों के केवल 4.8 प्रतिशत मत मिले थे और उसे मुसलमानों के लिए सुरक्षित 482 स्थानों में से केवल 51 स्थान ही प्राप्त हुए थे। विशेष बात यह थी कि मुस्लिम लीग मुस्लिम बहुल प्रान्तों की अपेक्षा हिन्दू बहुल प्रान्तों में अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई थी।

गवर्नर जनरल लार्ड लिनलिथगो द्वारा जब यह आश्वासन दे दिया गया कि गवर्नर की विशेष शक्तियों का प्रयोग दैनिक प्रशासन में हस्तक्षेप करने के लिये नहीं किया जायगा; तब कांग्रेस कार्यसमिति ने प्रान्तीय इकाइयों को मन्त्रिमण्डल के निर्माण की अनुमति दे दी। कांग्रेस एक अखिल भारतीय दल और संगठन था तथा कांग्रेस को भारतीय जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त था। अतः जिन प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हुआ, वहां गवर्नर ने उत्तरदायी शासन की भावना के अनुरूप एक औपचारिक प्रधान के रूप में कार्य किया; लेकिन जिन प्रान्तों (सिंध, बंगाल और पंजाब) में गैर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का गठन हुआ था, वहां गवर्नर अपनी असाधारण शक्तियों का प्रयोग करते हुए उत्तरदायी शासन के मार्ग में बाधाएं उपस्थित करते रहे।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल पर मुस्लिम लीग के आरोप—1937 में कांग्रेस और लीग में पद ग्रहण के सम्बन्ध में समझौता न होने के बाद से लीग के द्वारा कांग्रेस के प्रति स्थायी विरोध की नीति अपना ली गयी थी। अब मि. जिन्ना और लीग द्वारा यह विषैला प्रचार प्रारम्भ कर दिया गया कि सत्ता हाथ में आते ही बहुमत समुदाय के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि **'हिन्दुस्तान केवल हिन्दुओं के लिए है।'** लीग द्वारा हिन्दू सरकारों के हाथों में मुस्लिम समुदाय पर अत्याचार की बातें प्रचारित करना प्रारम्भ कर दिया गया और मार्च 1938 में संयुक्त प्रान्त में इन अत्याचारों की जांच के लिए पीरपुर के राजा की अध्यक्षता में एक कमेटी स्थापित की। कमेटी ने हिन्दू अत्याचारों की झूठी ही विस्तृत सूची पेश कर दी और इस रिपोर्ट के आधार पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की आलोचना प्रारम्भ कर दी।

कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इस सम्बन्ध में संघीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से जांच का प्रस्ताव किया, जिसे मि. जिन्ना ने अस्वीकृत कर दिया। **मौलना आजाद लिखते हैं, "मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि ये आरोप निराधार थे। गवर्नर जनरल और विभिन्न प्रान्तों के गवर्नरों का भी यही विचार था।"** संयुक्त प्रान्त के गवर्नर मि. हेनरी हेग और साधारणतया कांग्रेस के आलोचक मि. कूपलैण्ड ने भी लीग के आरोपों को नितान्त असत्य बताया।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की सफलताएं—अपनी पदावधि के 28 महीनों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने जनता की प्रशंसनीय सेवा की। प्रायः सभी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने रचनात्मक कार्यों पर बल दिया। उन्होंने घरेलू व कुटीर उद्योग, मद्यनिषेध, ग्रामोत्थान, श्रम कल्याण, कृषि, प्राथमिक शिक्षा और हरिजनोत्थान आदि अनेक कार्य सफलतापूर्वक किए। उन्होंने खेतिहरों पर जमींदारों के अत्याचार से रक्षा के भी प्रयत्न किए। उनके द्वारा कुछ साहसपूर्ण कार्य किए गए। सभी कांग्रेसी प्रान्तों में राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर दिया गया। सन् 1938 में बम्बई की कांग्रेसी सरकार ने उन लोगों की जब्त जमीनें वापस लौटा दीं, जिन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लिया था।

प्रो. कूपलैण्ड स्वीकार करते हैं "28 महीने के शासन के दौरान कांग्रेस ने कतिपय ऐसी सफलताएं प्राप्त कीं, जिन पर कांग्रेस उचित रूप में गर्व कर सकती थी। उसके नेताओं ने यह दिखाया कि जहां वे बात करना जानते थे, वहां उनमें काम करने की भी क्षमता थी। जहां वे आन्दोलन करना जानते थे, वहां वे प्रशासन में भी किसी से कम न थे। उनमें तथा उनके सहयोगियों में सामाजिक क्षेत्र में सुधार की सच्ची लगन थी।"

लॉर्ड लिनलिथगो ने भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के कार्य की प्रशंसा की। पं. नेहरू लिखते हैं कि, "कांग्रेस के पद ग्रहण से मनोवैज्ञानिक परिवर्तन इससे भी भारी हुआ और सम्पूर्ण देश में उत्साह की एक लहर-सी दौड़ गयी।" कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने सिद्ध कर दिया कि भारतीयों में प्रशासन क्षमता का अभाव नहीं है।

लेकिन कांग्रेस सत्ता से चिपकी नहीं रहीं और भारतीय स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अक्टूबर 1939 में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों द्वारा त्यागपत्र दे दिए गए।

प्रश्न

1. '1935 ई. का अधिनियम अविश्वास पर आधारित था' (The key note of the bill is mistrmst) उपर्युक्त कथन के सन्दर्भ 1935 ई. के अधिनियम की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
2. 'गवर्नर जनरल को हिटलर अथवा मुसोलिनी की सभी शक्तियां प्राप्त थीं'—(चर्चिल)। 1935 ई. के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की शक्तियों अथवा स्थिति का वर्णन कीजिए।
3. 1935 ई. के अधिनियम के अनुसार संघीय विधानमण्डल की रचना और शक्तियों का वर्णन कीजिए।
4. प्रान्तीय स्वायत्त-शासन से आपका क्या अभिप्राय है? इस पर कौन से प्रतिबन्ध लगाये गये थे?
5. भारतीय शासन अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत गवर्नर की शक्तियों तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।
6. प्रान्तीय विधानमण्डल की रचना तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए। इसकी शक्तियों पर कौन-कौनसी रुकावटें लगाई गई थीं?

5

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947

(THE INDIAN INDEPENDENCE ACT, 1947)

परतन्त्र भारत के संवैधानिक विकास का अन्तिम चरण 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947' के रूप में सामने आया 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 माउण्टबेटन योजना पर आधारित था। अतः इस सन्दर्भ में माउण्टबेटन योजना का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

माउण्टबेटन योजना

लॉर्ड माउण्टबेटन ने 23 मार्च, 1947 को भारत के वायसराय के पद का कार्यभार संभाला और शीघ्र ही उत्साहपूर्वक अपने कार्य में संलग्न हो गये। सर्वप्रथम उन्होंने गांधीजी से और इसके बाद अन्य भारतीय नेताओं से बातचीत की। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय समस्या का एकमात्र सम्भव हल पाकिस्तान की स्थापना को स्वीकार कर लेना ही है। कांग्रेस ने भी परिस्थितियों के दबाव से भारतीय समस्या के इस दुखद हल को स्वीकार कर लिया था। समस्त स्थिति का अध्ययन कर तथा दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों का दृष्टिकोण समझकर लार्ड माउण्टबेटन 18 मई, 1947 को ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से परामर्श करने के उद्देश्य से लन्दन गये।

ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से परामर्श करने के उपरान्त लार्ड माउण्टबेटन भारत आये और उन्होंने 3 जून, 1947 को एक योजना प्रस्तावित की, जो उनके नाम पर ही **'माउण्टबेटन योजना'** (Mountbaten Plan) के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना की मुख्य बातें निम्न हैं :

1. ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा है कि वह भारत का शासन शीघ्र ही ऐसी सरकार को सौंप दे, जिसका निर्माण जनता की इच्छानुसार हुआ हो। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटिश सरकार सत्ता हस्तान्तरित करने के लिए 1948 तक प्रतीक्षा नहीं करेगी, वरन् वह 1947 में ही इस कार्य को विधिवत् समाप्त कर देना चाहती है।
2. योजना के अन्तर्गत भारतीय समस्या के हल के रूप में पाकिस्तान की स्थापना को स्वीकार किया गया, किन्तु लीग की मांग के अनुसार सम्पूर्ण बंगाल और पंजाब पाकिस्तान में सम्मिलित नहीं किये गये। यह निश्चित किया गया कि यूरोपियन सदस्यों को छोड़कर पंजाब और बंगाल की विधानसभाओं में अधिवेशन दो भागों में किये जायेंगे। एक भाग उन जिलों के प्रतिनिधियों का होगा, जिनमें मुसलमानों का बहुमत है और दूसरा भाग उन जिलों के प्रतिनिधियों का होगा, जिसमें मुसलमानों का बहुमत नहीं है। योजना में बहुमत वाले जिलों के नाम गिनाये गये। प्रत्येक भाग को साधारण बहुमत से यह निश्चित करना था कि उसके प्रान्त का विभाजन किया जाय या नहीं। यदि मत विभाजन के पक्ष में आये तो उनको यह निर्णय करना होगा कि वे वर्तमान संविधान सभा में सम्मिलित होना चाहते हैं अथवा एक पृथक् संविधान सभा का निर्माण करना चाहते हैं।
3. सिन्ध की विधानसभा को भी अपनी एक विशेष बैठक में सिन्ध के भाग्य के निर्णय का अवसर प्रदान किया जायगा।

4. असम के मुस्लिम बहुमत वाले सिलहट जिले में इस बात का निर्णय जनमत संग्रह द्वारा किया जायगा कि वहां की जनता असम के अन्तर्गत रहना चाहती है या पूर्वी बंगाल में सम्मिलित होना चाहती है।
5. गवर्नर जनरल के निर्देशन में उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में इस बात का निर्णय करने के लिए जनमत संग्रह किया जाएगा कि सीमाप्रान्त को भारत में सम्मिलित किया जाय या पाकिस्तान में।
6. बलूचिस्तान को भारतीय संघ में रहने या अलग होने के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार होगा। बलूचिस्तान की सभी प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की संयुक्त बैठक में इस बात का निर्णय किया जाएगा।
7. यदि उपर्युक्त योजना के अनुसार बंगाल, पंजाब और असम के द्वारा विभाजन का समर्थन किया गया, तो भारत और पाकिस्तान की सीमा का निर्धारण करने के लिए कमीशन की नियुक्ति की जाएगी।
8. भारत और पाकिस्तान के अधिराज्यों के बीच लेनदारियों और देनदारियों (Liabilities and Assets) को विभाजित करने के लिए समझौता होगा।
9. देशी रियासतों को भारत या पाकिस्तान में अपनी इच्छानुसार सम्मिलित होने की छूट होगी।
10. भारत और पाकिस्तान को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के त्याग का अधिकार होगा।

योजना की क्रियान्विति—लीग तथा कांग्रेस द्वारा इस योजना को स्वीकार किये जाने के बाद लार्ड माउण्टबेटन ने इसे तुरन्त क्रियान्वित कर दिया। पश्चिमी पंजाब व पूर्वी बंगाल ने पाकिस्तान में रहने का निर्णय किया। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिन्ध, बलूचिस्तान और असम के सिलहट जिले ने भी यही निर्णय किया। इन निश्चयों के फलस्वरूप 15 अगस्त, 1947 को भारत तथा पाकिस्तान के दो स्वतन्त्र राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947
(THE INDIAN INDEPENDENCE ACT, 1947)

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में 4 जुलाई, 1947 को '**भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम**' प्रस्तावित किया गया, जो शीघ्र ही 18 जुलाई, 1947 को स्वीकृत हो गया। **प्रो. नार्मन डी. पामर** (Norman D. Palmer) लिखते हैं, **'ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के इतिहास में शायद ही कोई इतना महत्वपूर्ण विधेयक इतने कम समय और इतने कम वाद-विवाद के पास हुआ हो।'**[1] भारतमन्त्री ने इस अधिनियम के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था, **"हमारे देश के विधान निर्माण के इतिहास में यह अधिनियम अद्वितीय है। इससे पूर्व कभी भी संसार की आबादी के इतने बड़े भाग ने केवल एक विधान द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं की।"** यद्यपि इस अधिनियम में कुल 20 धाराएं थीं जिनमें कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) दो अधिराज्यों की स्थापना—इस अधिनियम द्वारा भारत का विभाजन कर पाकिस्तान की स्थापना कर दी गयी। यह निश्चय किया गया कि 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो अधिराज्य बना दिये जायेंगे और उनको ब्रिटिश सरकार सत्ता सौंप देगी।

(2) संविधान सभाओं को सत्ता सौंपना—यह व्यवस्था की गयी कि ब्रिटिश सरकार दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाओं को सत्ता का उत्तरदायित्व सौंप देगी। उनको अपनी इच्छानुसार संविधान का निर्माण करने की स्वतन्त्रता होगी। इस प्रकार संविधान सभाएं सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न होंगी।

(3) दोनों के लिए एक अलग-अलग गवर्नर जनरल—भारत और पाकिस्तान दोनों अधिराज्यों में एक-एक गवर्नर जनरल होगा, जिसकी नियुक्ति उनके मन्त्रिमण्डल की सलाह से की जायगी। गवर्नर जनरल और प्रान्तों के गवर्नर भविष्य में केवल वैधानिक शासक होंगे।

(4) संविधान सभा का विधानमण्डल के रूप में कार्य करना—जिस समय तक संविधान सभाएं संविधान का निर्माण नहीं कर लेती हैं, उस समय तक वे विधानमण्डल के रूप में भी कार्य करती रहेंगी और उनकी

1 "Seldom in the history of British Parliament had a measure of such epochal significance been put through so speedily and with so little debate."
—Norman D. Palmer : *Major Governments of Asia*, p. 298.

विधायिनी शक्तियों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होगा। 15 अगस्त, 1947 के उपरान्त ब्रिटिश संसद द्वारा पारित कोई अधिनियम इन अधिराज्यों पर उनके विधानमण्डलों की स्वीकृति के बिना लागू नहीं होगा।

(5) **प्रान्तीय विधानमण्डल**—जिस समय तक नवीन विधान के अनुसार प्रान्तों में निर्वाचन नहीं होते हैं, उस समय तक प्रान्तों में इस समय के विधानमण्डल ही कार्य करते रहेंगे।

(6) **भारत मन्त्री के पद का अन्त**—भारत मन्त्री का पद समाप्त कर दिया जाएगा, क्योंकि 15 अगस्त, 1947 के उपरान्त ब्रिटिश संसद का भारत और पाकिस्तान पर कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा।

(7) **1935 के भारतीय शासन अधिनियम द्वारा शासन**—जिस समय तक वर्तमान संविधान सभा द्वारा नया संविधान बनाकर तैयार नहीं किया जाता है, उस समय तक 1935 के भारतीय शासन अधिनियम द्वारा ही शासन होगा, परिवर्तित परिस्थितियों के कारण उसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन किये गये। इसमें से वे धाराएं निकाल दी गयीं, जिनका सम्बन्ध गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व, भारत मन्त्री के शासन सम्बन्धी नियन्त्रण, केन्द्रीय क्षेत्र में कुछ विषयों को सुरक्षित रखने, व्यवस्थापन पर सम्राट के विशेषाधिकार व इसी प्रकार के अन्य विषयों से था। 1947 के अधिनियम द्वारा 1935 के भारतीय शासन अधिनियम को इस प्रकार संशोधित कर दिया गया था कि अन्तरिम काल में इन दोनों राज्यों का शासन प्रजातन्त्रात्मक पद्धति के आधार पर किया जा सके।

(8) **देशी रियासतों पर 'सर्वोपरिता' का अन्त**—जहां तक देशी रियासतों का प्रश्न है, उन पर ब्रिटेन की सर्वोपरिता का अन्त कर दिया गया और उनको किसी भी अधिराज्य में सम्मिलित होने व अपने भावी सम्बन्धों का निश्चय करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी।

1947 का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम वास्तव में अंग्रेजों को एक भव्य और गौरवपूर्ण विदाई थी। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था, **"भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व काल आज समाप्त होता है और अब से ब्रिटेन के साथ हमारा अपना सम्बन्ध समानता, पारस्परिकता सद्भावना और पारस्परिक लाभ के आधार पर रहेगा।"** कांग्रेस और लीग की वाणी को मुखरित करने वाले समाचार-पत्रों क्रमशः **'दि हिन्दुस्तान टाइम्स'** (The Hindustan Times) और **'दि डोन'** (The Dawn) के द्वारा भी अधिनियम को ब्रिटिश शासन का एक गौरवपूर्ण कार्य बताया गया।

15 अगस्त, 1947 को **'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम'** के अनुसार भारतीय महाद्वीप पर ब्रिटिश शासन का अन्त हुआ और भारत व पाकिस्तान—दो स्वतन्त्र अधिराज्य अस्तित्व में आये। कांग्रेस चाहती थी कि दोनों के गवर्नर जनरल एक ही रहें, ताकि संक्रमण काल (Transitional period) की समाप्ति शान्तिमय ढंग से हो सके। लेकिन पाकिस्तान द्वारा इस प्रकार का प्रस्ताव स्वीकार न किये जाने के कारण भारत के गवर्नर जनरल लार्ड माउण्टबेटन तथा पाकिस्तान के गवर्नर जनरल श्री जिन्ना बने।

प्रश्न

1. भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम की मुख्य धाराओं पर प्रकाश डालिए।
2. माउण्टबेटन योजना के मुख्य प्रावधान क्या थे ?

परिशिष्ट : संवैधानिक विकास
वस्तुनिष्ठ एवं अति लघु उत्तरीय प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारत के शासन को कम्पनी के हाथों से सम्राट को हस्तान्तरित किया गया :
   (अ) भारत सरकार अधिनियम, 1858 द्वारा
   (ब) भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 द्वारा
   (स) भारतीय परिषद अधिनियम, 1892 द्वारा
   (द) भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 द्वारा
2. 'भारत परिषद' का निर्माण किस अधिनियम द्वारा किया गया :
   साहित्य भवन पब्लिकेशन्स
   (अ) भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 द्वारा
   (ब) भारत सरकार अधिनियम, 1919 द्वारा
   (स) भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा
   (द) भारत सरकार अधिनियम, 1858 द्वारा
3. गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार किस अधिनियम द्वारा प्रदान किया गया :
   (अ) भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 द्वारा
   (ब) भारतीय परिषद अधिनियम, 1892 द्वारा
   (स) भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 द्वारा
   (द) भारत सरकार अधिनियम, 1919 द्वारा
4. 1861 के भारतीय परिषद अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल की परिषद के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर कर दी गई :
   (अ) चार (ब) पांच
   (स) सात (द) आठ
5. भारत में किस अधिनियम द्वारा आधुनिक प्रान्तीय विधानमण्डलों की नींव पड़ी :
   (अ) भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 द्वारा
   (ब) भारतीय परिषद अधिनियम, 1892 द्वारा
   (स) भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 द्वारा
   (द) भारत सरकार अधिनियम, 1919 द्वारा
6. केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधायी परिषदों के सदस्यों को बजट पर वाद-विवाद करने का अधिकार दिया गया :
   (अ) भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 द्वारा
   (ब) भारतीय परिषद अधिनियम, 1892 द्वारा
   (स) भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 द्वारा
   (द) भारतीय शासन अधिनियम, 1919 द्वारा
7. केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधायी परिषदों के सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार प्रदान किया गया :
   (अ) भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 द्वारा
   (ब) भारतीय परिषद अधिनियम, 1892 द्वारा
   (स) भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 द्वारा
   (द) भारतीय शासन अधिनियम, 1919 द्वारा
8. गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का 'प्रथम भारतीय सदस्य' किसे नियुक्त किया गया :
   (अ) तेज बहादुर सप्रू (ब) जवाहरलाल नेहरू
   (स) लॉर्ड एस. पी. सिन्हा (द) महात्मा गांधी

9. भारत में साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली और मुसलमानों के लिए भारात्मक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था कब से प्रारम्भ की गई :
(अ) भारतीय परिषद अधिनियम, 1892 के द्वारा
(ब) भारतीय परिषद अधिनियम, 1909 के द्वारा
(स) भारतीय शासन अधिनियम, 1919 के द्वारा
(द) भारतीय शासन अधिनियम, 1935 के द्वारा

10. 'माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार' अधिनियम पारित किया गया :
(अ) 1909 में (ब) 1919 में
(स) 1935 में (द) 1947 में

11. प्रान्तों में 'द्वैध शासन' की स्थापना किस अधिनियम द्वारा की गई थी :
(अ) 1909 के अधिनियम द्वारा (ब) 1919 के अधिनियम द्वारा
(स) 1935 के अधिनियम द्वारा (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

12. भारत में सर्वप्रथम 'द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका' की स्थापना की गई :
(अ) 1909 के अधिनियम द्वारा (ब) 1919 के अधिनियम द्वारा
(स) 1935 के अधिनियम द्वारा (द) 1892 के अधिनियम द्वारा

13. 1919 के अधिनियम के अनुसार 'राज्य परिषद' में कितने सदस्य होते थे :
(अ) 140 (ब) 143 (स) 60 (द) 70

14. 1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्र के अधिकार में कौन-सा विषय रखा गया :
(अ) सेना (ब) रेल (स) डाक व तार (द) उपर्युक्त सभी विषय

15. 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय क्षेत्र के अन्तर्गत कौन-सा विषय रखा गया :
(अ) आयकर (ब) मुद्रा टंकण (स) स्थानीय स्वशासन (द) व्यापार

16. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित 'नरेश मण्डल' की कुल सदस्य संख्या थी :
(अ) 101 (ब) 121 (स) 131 (द) 151

17. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत कौन-सा विषय रक्षित विषय नहीं था :
(अ) पुलिस (ब) न्याय (स) सफाई (द) जेल

18. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत कौन-सा विषय हस्तान्तरित विषय था :
(अ) सार्वजनिक स्वास्थ्य (ब) कृषि (स) सहकारी समिति (द) उपर्युक्त सभी

19. 1935 के अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी :
(अ) प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था की स्थापना
(ब) प्रान्तों में प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना
(स) केन्द्र में पूर्ण स्वायत्तता की स्थापना
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

20. 1935 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित संघ में :
(अ) प्रान्तों के लिए संघ में शामिल होना अनिवार्य था
(ब) प्रान्तों के लिए संघ में शामिल होना स्वैच्छिक था
(स) प्रान्तों एवं देशी रियासतों, दोनों का संघ में शामिल होना अनिवार्य था
(द) प्रान्तों एवं देशी रियासतों, दोनों का संघ में सम्मिलित होना स्वैच्छिक था

21. 1935 के अधिनियम में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने का अधिकार किसे प्राप्त था :
(अ) संघीय व्यवस्थापिका को (ब) प्रान्तीय विधानमण्डलों को
(स) ब्रिटिश संसद को (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

22. 'भारत परिषद' की समाप्ति किस अधिनियम द्वारा की गई :
(अ) 1909 के अधिनियम द्वारा (ब) 1919 के अधिनियम द्वारा
(स) 1935 के अधिनियम द्वारा (द) 1947 के अधिनियम द्वारा

23. "1935 की योजना पूर्ण रूप से सड़ी हुई, मौलिक रूप से खराब तथा पूर्णरूप से अस्वीकृति के योग्य थी।" यह कथन किसका है :
(अ) मदनमोहन मालवीय (ब) राजगोपालाचार्य
(स) मि. जिन्ना (द) जवाहरलाल नेहरू

24. 1935 के अधिनियम के द्वारा संघीय व्यवस्थापिका के निम्न सदन संघीय सभा की सदस्य संख्या निश्चित की गई :
(अ) 375 (ब) 260
(स) 475 (द) 360

25. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत किस प्रान्त की व्यवस्थापिका के दो सदन थे :
(अ) असम (ब) बंगाल
(स) बिहार (द) उपर्युक्त सभी

26. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय विधानसभा का कार्यकाल कितने वर्ष रखा गया :
(अ) 2 वर्ष (ब) 4 वर्ष
(स) 5 वर्ष (द) 7 वर्ष

27. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत 'प्रान्तीय सूची' में कितने विषय थे :
(अ) 59 (ब) 54
(स) 36 (द) 38

28. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित में से कौन-सा विषय संघीय सूची में सम्मिलित नहीं था :
(अ) वैदेशिक विभाग (ब) डाक
(स) कृषि (द) मुद्रा तथा टंकण

29. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित में से कौन-सा विषय 'समवर्ती सूची' में सम्मिलित था :
(अ) बीमा तथा बैंक (ब) संचार
(स) स्थानीय स्वशासन (द) दत्तक ग्रहण

30. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती थी :
(अ) ब्रिटिश क्राउन द्वारा (ब) भारत सचिव द्वारा
(स) गवर्नर जनरल द्वारा (द) लोकसदन के अध्यक्ष द्वारा

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (अ), 4. (व), 5. (अ), 6. (व), 7. (स), 8. (स), 9. (व), 10. (व), 11. (ब), 12. (ब), 13. (स), 14. (द), 15. (स), 16. (ब), 17. (स), 18. (द), 19. (ब), 20. (अ), 21. (स), 22. (स), 23. (स), 24. (अ), 25. (द), 26. (स), 27. (व), 28. (स), 29. (द), 30. (स)]

निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. भारत सरकार अधिनियम, 1858 के द्वारा भारतमन्त्री की सहायता हेतु............सदस्यों की एक भारत परिषद की व्यवस्था की गई।
2. ब्रिटिश सम्राट ने............में भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया।
3. 1861 के अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल की परिषद में एक और पांचवां सदस्य बढ़ाया जो............विशेषज्ञ होता था।
4. भारतीय परिषद अधिनियम 1892 के अनुसार केन्द्रीय विधानपरिषद में कम-से-कम 10 औंर अधिक-से-अधिक............अतिरिक्त सदस्य होते थे।
5. भारतीय परिषद अधिनियम............के द्वारा राष्ट्रीय एकता को गम्भीर आघात पहुंचाया गया।
6. 1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों की संख्या एक से बढ़ाकर............कर दी गई।
7. 1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय क्षेत्र में............व्यवस्थापिका की स्थापना की गई।
8. 1919 के अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय विधानसभा में............सदस्य होते थे।

9. 1919 के अधिनियम द्वारा भारत परिषद में कम-से-कम 8 और अधिक-से-अधिक............सदस्य नियुक्त करने की व्यवस्था की गई।
10. 'नरेश मण्डल' की स्थापना................के अधिनियम के अन्तर्गत की गई थी।
11. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत 'अवशिष्ट शक्तियां' ....के हाथ में रखी गई थीं।
12. 1919 के अधिनियम द्वारा.................क्षेत्र में द्वैध शासन की स्थापना की गई।
13. 1919 के अधिनियम द्वारा.............वर्ष बाद एक 'रॉयल कमीशन' की नियुक्ति का विधान किया गया था।
14. 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में ....धाराएं और ....परिशिष्ट थे।
15. 1935 के अधिनियम द्वारा...................को भारत से पृथक् कर दिया गया।
16. 1935 के अधिनियम द्वारा संघीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन 'राज्यपरिषद' के सदस्यों की संख्या................निश्चित की गई थी।
17. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत..................प्रान्तों के लिए विधानपरिषदों की व्यवस्था थी।
18. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत समवर्ती सूची में ....विषय थे।

[उत्तर—1. 15 सदस्यों, 2. नवम्बर 1858, 3. विधि विशेषज्ञ, 4. 16, 5. 1909 के द्वारा, 6. तीन, 7. द्विसदनात्मक, 8. 143, 9. 12 सदस्य, 10. 1919, 11. सपरिषद गवर्नर जनरल, 12. प्रान्तीय, 13. 10 वर्ष, 14. 451 धाराएं 15 परिशिष्ट, 15. वर्मा, 16. 260, 17. 6 प्रान्तों, 18. 36 विषय]

निम्नलिखित में से सही या गलत बताइए :

1. भारत सरकार अधिनियम 1858 द्वारा 'बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स' तथा 'बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल' को समाप्त कर समस्त अधिकार भारतमन्त्री को हस्तान्तरित कर दिए गए।
2. 1861 के अधिनियम ने भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं को प्रारम्भ किया।
3. भारतीय परिषद अधिनियम 1892 के द्वारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानपरिषदों की सदस्य संख्या को कम कर दिया गया।
4. 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम द्वारा सीमित तथा भेदभावपूर्ण मताधिकार की व्यवस्था की गई।
5. भारतीय शासन अधिनियम 1919 की प्रस्तावना में ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर एक स्वतन्त्र भारत की कल्पना की गई।
6. केन्द्र में 'द्वैध शासन' की स्थापना 1919 के अधिनियम द्वारा की गई।
7. 1919 के अधिनियम द्वारा 'भारत परिषद' को समाप्त करने की भारतीय मांग को स्वीकार कर लिया गया।
8. 1919 के अधिनियम द्वारा भारत में साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को समाप्त कर कर दिया।
9. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित 'नरेश मण्डल'.का प्रधान वायसराय था।
10. 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था का अन्त कर उन्हें स्वतन्त्र और स्वशासित संवैधानिक आधार प्रदान किया गया।
11. 1935 के अधिनियम की अपनी कोई प्रस्तावना नहीं थी।
12. भारत में संघीय शासन की स्थापना का प्रावधान 1919 के अधिनियम में किया गया था।
13. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तावित संघ में देशी रियासतों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।
14. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय व्यवस्थापिका का उच्च सदन 'राज्यपरिषद' एक स्थायी सदन था।
15. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का निर्वाचन सभी वयस्क नागरिकों द्वारा होता था।

[उत्तर—1. सही, 2. सही, 3. गलत, 4. सही, 5. गलत, 6. गलत, 7. गलत, 8. गलत, 9. सही, 10. सही, 11. सही, 12. गलत, 13. सही, 14. सही, 15. गलत]

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत मन्त्री के पद की व्यवस्था किस अधिनियम के द्वारा की गई?

   उत्तर—भारत सरकार अधिनियम 1858 के द्वारा।

2. विधि निर्माण के कार्य में भारतीयों के सहयोग का प्रारम्भ कब से किया गया?

   उत्तर—भारतीय परिषद अधिनियम 1861 के द्वारा।

3. केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधायी परिषदों के सदस्यों को सार्वजनिक हित के विषयों पर प्रश्न पूछने का अधिकार किस अधिनियम के द्वारा प्रदान किया गया?
उत्तर—भारतीय परिषद अधिनियम 1892 के द्वारा।
4. मार्ले-मिण्टो सुधार अधिनियम कब पारित किया गया?
उत्तर—1909 में पारित किया गया।
5. गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद और प्रान्तीय गवर्नरों की कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों को नियुक्त करने की व्यवस्था कब की गई थी?
उत्तर—यह व्यवस्था भारतीय परिषद अधिनियम 1909 के द्वारा की गई।
6. 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय शासन को कितने भागों में विभाजित किया गया?
उत्तर—प्रान्तीय शासन दो भागों में विभाजित किया गया था—रक्षित विषय और हस्तान्तरित विषय।
7. केन्द्रीय कार्यकारिणी में सम्मिलित पहले भारतीय 'लॉ सदस्य' (Law member) कौन थे?
उत्तर—लार्ड एस. पी. सिन्हा पहले भारतीय लॉ सदस्य (विधि सदस्य) थे।
8. 1919 के अधिनियम द्वारा 'भारत परिषद' का कार्यकाल कितने वर्ष कर दिया गया?
उत्तर—भारत परिषद का कार्यकाल 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया।
9. 'नरेश मण्डल' की स्थापना कब की गई थी?
उत्तर—8 फरवरी, 1921 को दिल्ली में 'नरेश मण्डल' की स्थापना की गई थी।
10. द्वैध शासन की असफलता के कोई दो कारण बतलाइए।
उत्तर—दो प्रमुख कारण हैं—(1) विषयों का अतार्किक और अव्यावहारिक विभाजन तथा (2) गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियां।
11. भारत में हाई कमिश्नर (उच्चायुक्त) के पद की व्यवस्था किस अधिनियम के द्वारा की गई थी?
उत्तर—1919 के अधिनियम द्वारा।
12. 1919 के अधिनियम की दो प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।
उत्तर—(1) प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन तथा (2) द्वि-सदनात्मक केन्द्रीय विधानमण्डल का निर्णय।
13. केन्द्र में 'द्वैध शासन' की स्थापना किस अधिनियम द्वारा की गई थी?
उत्तर—1935 के अधिनियम द्वारा।
14. "1935 के अधिनियम के अन्तर्गत न हिन्दू राज्य स्थापित होता है और न मुस्लिम राज्य। इसमें केवल अंग्रेजी शासन स्थापित होता है।" यह कथन किसका है?
उत्तर—यह कथन फजुलुलहक का है।
15. 1935 के अधिनियम में प्रस्तावित संघीय योजना के कोई दो दोष बतलाइए।
उत्तर—(1) संघ स्वैच्छिक नहीं वरन् ऊपर से थोपा गया तथा
(2) इकाइयों की असमान स्थिति।
16. 1935 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित संघ में अवशेष शक्तियां किसमें निहित थीं?
उत्तर—अवशेष शक्तियां गवर्नर जनरल में निहित थीं।
17. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय न्यायालय की स्थापना कब की गई थी?
उत्तर—व्यवहार में संघीय न्यायालय की स्थापना 1 अप्रैल, 1937 को की गई थी।
18. 1935 के अधिनियम की दो प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।
उत्तर—(1) प्रान्तीय स्वायत्तता तथा (2) केन्द्र में द्वैध शासन की स्थापना।
19. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय सूची में कितने विषय सम्मिलित थे?
उत्तर—संघीय सूची में 59 विषय सम्मिलित थे।
20. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति कौन करता था?
उत्तर—न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत सरकार अधिनियम 1858 के प्रमुख प्रावधान बतलाइए।
2. भारत सरकार अधिनियम 1858 की प्रमुख त्रुटियां बतलाइए।
3. भारतीय परिषद अधिनियम 1861 की प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।
4. भारतीय परिषद अधिनियम 1861 के प्रमुख दोष बतलाइए।
5. भारतीय परिषद अधिनियम 1892 के प्रमुख लक्षण बतलाइए।
6. भारतीय परिषद अधिनियम 1892 की प्रमुख त्रुटियां बतलाइए।
7. मार्ले-मिण्टो सुधार अधिनियम 1909 की प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।
8. भारतीय परिषद अधिनियम 1909 के प्रमुख दोष बतलाइए।
9. भारतीय शासन अधिनियम 1919 के चार प्रमुख लक्षण बतलाइए।
10. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की शक्तियां एवं कार्य बतलाइए।
11. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय व्यवस्थापिका का संगठन बतलाइए।
12. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय व्यवस्थापिका की शक्तियां बतलाइए।
13. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर की स्थिति बतलाइए।
14. द्वैध शासन से आप क्या समझते हैं?
15. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत द्वैध शासन की असफलता के कोई चार कारण बतलाइए।
16. 1935 के भारतीय शासन अधिनियम की चार प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।
17. 1935 के भारतीय शासन अधिनियम द्वारा प्रस्तावित 'अखिल भारतीय संघ' की प्रमुख विशेषताएं बतलाइए।
18. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तावित संघीय योजना के चार प्रमुख दोष बतलाइए।
19. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल की स्थिति पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
20. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत 'संघीय न्यायालय' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
21. 'प्रान्तीय स्वायत्त शासन' (Provincial Autonomy) से आप क्या समझते हैं?
22. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय व्यवस्थापिका की शक्तियों का वर्णन कीजिए।

1

भारतीय संविधान का निर्माण और उसके स्त्रोत
[ENACTMENT OF INDIAN CONSTITUTION AND ITS SOURCES]

स्वाधीन राष्ट्र का अपना एक संविधान होता है जिसके अनुसार उस राष्ट्र की शासन-व्यवस्था का संचालन होता है। वही संविधान राष्ट्रीय विकास में भरपूर योगदान दे सकता है जिसें उस राष्ट्र की जनता ने स्वयं बनाया हो अथवा जिसे उस देश की संविधान-निर्मात्री सभा द्वारा बनाया गया हो। संविधान-निर्मात्री सभा द्वारा संविधान का निर्माण स्वाधीन राष्ट्र का लक्षण है। अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा संविधान निर्माण के अधिकार की मांग का सीधा सम्बन्ध 'स्वाधीनता की मांग' से ही है।

केबिनेट मिशन योजना और संविधान सभा का गठन
(CABINET MISSION PLAN AND FORMATION OF CONSTITUENT ASSEMBLY)

केबिनेट योजना में निश्चित किया गया कि भारतीय संविधान के निर्माण हेतु परोक्ष निर्वाचन के आधार पर एक संविधान सभा की स्थापना की जाए। इस संविधान सभा में कुल 389 सदस्य हों जिनमें 292 ब्रिटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि, 4 चीफ कमिश्नर क्षेत्रों के प्रतिनिधि और 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधि हों। योजना में यह कहा गया कि (i) प्रत्येक प्रान्त द्वारा भेजे जाने वाले सदस्यों की संख्या उसकी जनसंख्या के आधार पर निश्चित की जाए और इस सम्बन्ध में 10 लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि लेने का नियम अपनाया जाए। (ii) प्रान्तों को इस आधार पर दिए गए स्थान उनमें निवास करने वाली प्रमुख जातियों में उनकी संख्या के आधार पर विभाजित कर दिए जाएं। प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि उस जाति के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किए जाएं। मतदाताओं को तीन वर्गों में बांटने का निश्चय किया गया—साधारण, मुसलमान तथा सिक्ख (केवल पंजाव)। (iii) रियासतों को भी जनसंख्या के आधार पर ही प्रतिनिधित्व देने का निश्चय किया गया, किन्तु उनके प्रतिनिधियों के चुनाव का ब्रिटिश भारत से संविधान सभा के लिए चुने गए प्रतिनिधियों की 'समझौता समिति' और देशी रियासतों की तरफ से बैठाई समिति के बीच में आपसी बातचीत द्वारा तय होना था। (iv) प्रान्तों के अलग संविधानों की भी इस योजना में व्यवस्था की गई। इसके लिए कहा गया कि संविधान सभा की प्रारम्भिक बैठक के वाद सदस्य अपने आपको तीन वर्गों में बांट लेंगे—**प्रथम**, हिन्दू बहुमत वाले प्रान्तों के प्रतिनिधि, **द्वितीय**, मुस्लिम बहुमत वाले उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के प्रतिनिधि और **तृतीय**, मुस्लिम बहुमत वाले उत्तर-पूर्वी प्रान्तों के प्रतिनिधि। इन तीन वर्गों द्वारा पहले अपने-अपने प्रान्तों और वर्गों के संविधान का निर्माण और तत्पश्चात् संघीय संविधान का निर्माण किया जाएगा।

संविधान सभा के गठन और संविधान निर्माण की इस योजना में कुछ दोष अवश्य ही थे, लेकिन इसके साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों में इससे अच्छी कोई योजना प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी। योजना का एक प्रमुख गुण यह था कि मुस्लिम लीग की इच्छा के विरुद्ध केवल एक संविधान सभा की व्यवस्था की गई थी, अतः कांग्रेस द्वारा इस योजना को स्वीकार कर लिया गया। मुस्लिम लीग द्वारा योजना की व्याख्या अपने ही ढंग से की गई और वर्गीय आधार पर संविधान निर्माण में पाकिस्तान की स्थापना के बीज देखते हुए इस योजना को स्वीकार कर लिया गया। अन्य छोटे दलों द्वारा भी केबिनेट मिशन योजना को स्वीकार कर लिया गया।

संविधान निर्मात्री सभा
(CONSTITUENT ASSEMBLY)

केबिनेट मिशन योजना के अनुसार जुलाई, 1946 में संविधान सभा के चुनाव हुए। संविधान सभा के लिए कुल 389 सदस्यों में से, प्रान्तों के लिए निर्धारित 296 सदस्यों के लिए ही ये चुनाव हुए। चुनावों के परिणामस्वरूप संविधान सभा में जो दलीय स्थिति उत्पन्न हुई, वह निम्न तालिका अनुसार थी :[1]

कांग्रेस	208
मुस्लिम लीग	73
यूनियनिस्ट पार्टी	1
यूनियनिस्ट मुस्लिम	1
यूनियनिस्ट शिड्यूल कास्ट	1
कृषक प्रजा पार्टी	1
अछूत जाति संघ	1
सिक्ख (कांग्रेस के अतिरिक्त)	1
साम्यवादी	1
स्वतन्त्र	8
	296

संविधान सभा में अपनी स्थिति निर्बल देखकर मुस्लिम लीग ने संविधान सभा के बहिष्कार का निश्चय किया और 9 दिसम्बर, 1946 को संविधान सभा के प्रथम अधिवेशन में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए। अव लीग ने पाकिस्तान के लिए बिल्कुल पृथक् संविधान सभा की मांग प्रारम्भ कर दी। कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार ने इस बात के प्रयत्न किए कि लीग व्यर्थ की हठ छोड़ दे और संविधान सभा के कार्य में सहयोग करे, किन्तु सभी प्रयत्न विफल हुए।

संविधान सभा का कार्यकरण
(WORKING OF CONSTITUENT ASSEMBLY)

मुस्लिम लीग के वहिष्कार के बावजूद संविधान सभा भारत के विशाल बहुमत की वास्तविक प्रतिनिधि सभा थी और इसमें ऐसे अनुभवी तथा योग्य व्यक्ति थे, जिन पर किसी देश की संविधान सभा को गर्व हो सकता था। संविधान सभा की प्रथम बैठक 9 दिसम्बर, 1946 ई. को हुई और इसी दिन डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा को सभा का अस्थायी अध्यक्ष नियुक्त किया गया। संविधान सभा की इस पहली बैठक में 210 सदस्य उपस्थित थे। 11 दिसम्बर, 1946 की बैठक में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को सभा का स्थायी अध्यक्ष चुना गया और वे अन्त तक अध्यक्ष बने रहे। बी. एन. राव को संविधान सभा के 'संवैधानिक सलाहकार' (Constitutional Advisor) के पद पर नियुक्त किया गया। 13 दिसम्बर, 1946 को पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपना प्रसिद्ध **'उद्देश्य प्रस्ताव'** (Objective Resolution) प्रस्तुत कर संविधान की आधारशिला रखी। यह उद्देश्य प्रस्ताव 22 जनवरी, 1947 को पारित किया गया। इस प्रस्ताव में संविधान सभा ने निश्चय किया कि :

(1) भारत एक पूर्णतया स्वतन्त्र और पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य होगा, जिसके द्वारा स्वयं अपने संविधान का निर्माण किया जाएगा।

(2) इस समय 'ब्रिटिश भारत' कहे जाने वाले क्षेत्र, भारतीय रियासतों में आने वाले क्षेत्र और ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के बाहर के ऐसे अन्य क्षेत्र, जो स्वतन्त्र प्रभुत्व-सम्पन्न भारत में सम्मिलित होना चाहते हैं, सव मिलकर एक संघ कहलाएंगे।

(3) ये तथाकथित क्षेत्र, अपनी वर्तमान सीमाओं में अथवा संविधान द्वारा निश्चित की गई सीमाओं में संविधान द्वारा की गई व्यवस्था के अनुसार स्वायत्तशासी इकाइयां होंगे, जिनको अवशिष्ट अधिकार प्राप्त होंगे और ये उन अधिकारों तथा कार्यों को छोड़कर, जो केन्द्र में निहित अथवा उसे सौंपे गए हों, शासन तथा प्रशासन के सभी अधिकारों तथा कार्यों का पालन करेंगे।[2]

1 *The Framing of India's Constitution.* —Ed. B. Shiva Rao, p. 97.

2 अवशिष्ट अधिकारों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था केबिनेट योजना के अनुसार की गई थी, लेकिन बाद में इसे वदलकर अवशिष्ट अधिकार केन्द्र को दे दिए गए।

(4) भारतीय संघ तथा उसके अन्तर्गत विविध राज्यों में समस्त राजशक्ति का मूल स्रोत जनता ही होगी।

(5) भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय, पद, अवसर एवं कानूनों की समता, विचार, भाषण, अभिव्यक्ति, विश्वास, व्यवसाय, संघ निर्माण और कार्य की स्वतन्त्रता, कानून और सार्वजनिक नैतिकता के अधीन प्राप्त होगी।

(6) अल्पसंख्यक वर्गों, पिछड़ी जातियों व कबाइली जातियों के हितों की रक्षा की समुचित व्यवस्था की जाएगी।

(7) भारत राज्य क्षेत्र की अखण्डता और भूमि, जल तथा वायु पर उसकी सम्प्रभुता की रक्षा, न्याय तथा सभ्य राष्ट्रों के अनुसार की जाएगी।

(8) यह प्राचीन देश विश्व में अपना अधिकार और सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करता है और विश्वशान्ति तथा मानव जाति के कल्याण में अपना पूर्ण और स्वैच्छिक योग देता रहेगा।

उद्देश्य प्रस्ताव के सम्बन्ध में पं. नेहरू ने कहा था कि "इस प्रस्ताव में हमारी वे आकांक्षाएं व्यक्त की गई हैं, जिनके लिए हमने कठोर संघर्ष किए हैं। संविधान सभा इन्हीं उद्देश्यों के आधार पर हमारे संविधान का निर्माण करेगी।" के. एम. मुंशी ने कहा था कि **'नेहरू का उद्देश्य सम्बन्धी यह प्रस्ताव ही हमारे स्वतन्त्र गणतन्त्र की जन्मकुण्डली है।'**[1] भारतीय संविधान में 'उद्देश्य प्रस्ताव' का वही महत्व है जो अमेरिकी संविधान में स्वतन्त्रता की घोषणा का है।

संविधान सभा द्वारा समितियों का निर्माण
(FORMATION OF COMMITTEES BY CONSTITUENT ASSEMBLY)

भारत जैसे विशाल और विविधताओं से परिपूर्ण देश के लिए संविधान का निर्माण निश्चित रूप से एक दुष्कर कार्य था, अतः इस संविधान निर्माण के कार्य को सुगम करने के लिए संविधान सभा ने अनेक महत्वपूर्ण समितियों का निर्माण किया। मुख्य रूप से इन समितियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग की समितियां संविधान निर्माण की प्रक्रिया के प्रश्नों को हल करने के लिए गठित की गई थीं। इनमें प्रक्रिया समिति, वार्ता समिति, संचालन समिति (Steering Committee) एवं कार्य समिति (Business Committee) विशेष उल्लेखनीय हैं। दूसरे वर्ग में संविधान निर्माण करने वाली समितियां थीं, जिनमें उल्लेखनीय थीं—संविधान समिति, प्रान्तीय संविधान समिति, संघ शक्ति समिति, मूल अधिकारों और अल्पसंख्यकों, आदि से सम्बन्धित समिति, आदि। इन सबके अतिरिक्त **'प्रारूप समिति'** (Drafting Committee) थी, जिस पर संविधान को अन्तिम रूप देने का भार था। प्रारूप समिति 19 अगस्त, 1947 को गठित की गई थी और डॉ. अम्बेडकर इसके सभापति चुने गए। इस समिति के अन्य सदस्य थे—एन. गोपालास्वामी आयंगर, अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, मोहम्मद सादुल्ला, के. एम. मुंशी, बी. एल. मित्तर और डी. पी. खेतान। थोड़े समय बाद वी. एल. मित्तर का स्थान एन. माधवन राव द्वारा लिया गया और 1948 में डी. पी. खेतान की मृत्यु हो जाने पर उनका स्थान टी. टी. कृष्णामाचारी द्वारा लिया गया।

संविधान निर्माण की अवस्थाएं
(STAGES IN THE MAKING OF CONSTITUTION)

संविधान सभा कार्यालय द्वारा पहला प्रारूप—संविधान का पहला प्रारूप संवैधानिक परामर्शदाता बी. एन. राव के निर्देशन में संविधान सभा के कार्यालय द्वारा तैयार किया गया। प्रारूप तैयार करने के पूर्व इस कार्यालय ने 60 देशों के संविधानों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य तीन ग्रन्थों में प्रकाशित किए और उनकी प्रतिलिपियां सभा के सदस्यों को दीं। प्रथम प्रारूप तैयार होने के बाद संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने संवैधानिक परामर्शदाता बी. एन. राव को प्रमुख संविधान विशेषज्ञों से विचार-विनिमय के लिए अमेरिका, कनाडा, आयरलैण्ड व ब्रिटेन, आदि देशों की यात्रा पर भेजा। उन्होंने 1947 के अन्तिम तीन महीनों में यात्रा कर अपने विचार-विमर्श के महत्वपूर्ण परिणाम प्रतिवेदन के रूप में संविधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत किए।

---
1 **"Objective resolution cast the horoscope of our sovereign Democratic Republic."**
—K. M. Munshi (Quoted from M. G. Gupta, edited *Aspects of Indian Constitution*, p. 54.)

प्रारूप समिति द्वारा दूसरा प्रारूप—संविधान सभा के द्वारा तैयार किया गया प्रारूप प्रकाशित किया गया। इस संविधान प्रारूप पर अनेक टिप्पणियां और आलोचनाएं तथा इसमें सुधार के लिए अनेक सुझाव प्राप्त हुए। सभा के अध्यक्ष द्वारा प्रारूप सीमित को यह कार्य सौंपा गया कि इन सभी सुझावों पर विचार करते हुए, संविधान का नवीन प्रारूप तैयार कर उसे विचार के लिए संविधान सभा में प्रस्तुत करे। प्रारूप समिति द्वारा परिवर्तनों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण सहित संशोधित प्रारूप का मुद्रित संस्करण 26 अक्टूबर, 1948 ई. को संविधान सभा के अध्यक्ष को दिया गया। तत्पश्चात् इस संस्करण की प्रतिलिपियां संविधान सभा के सदस्यों को दे दी गईं। संविधान सभा में इस प्रारूप पर 4 नवम्बर, 1948 से विचार प्रारम्भ हुआ। इस समय प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि प्रारूप समिति ने एक मौलिक प्रलेख तैयार करने के बजाय विद्यमान परिस्थितियों में एक व्यावहारिक प्रलेख तैयार करने की चेष्टा की है।

संविधान प्रारूप का दूसरा वाचन—इंग्लैण्ड के लोक सदन में कानून निर्माण की प्रक्रिया के अन्तर्गत द्वितीय वाचन में विधेयक पर व्यापक वाद-विवाद किया जाता है। भारतीय-संविधान सभा में भी इस वाचन के समय संविधान की प्रत्येक धारा पर वाद-विवाद किया गया। यह वाचन 15 नवम्बर, 1948 से 17 अक्टूबर, 1947 (संविधान सभा के सातवें अधिवेशन के दसवें अधिवेशन) तक चला। इस प्रकार के वाद-विवाद में सभी वर्गों, हितों और सदस्यों को अपने विचार व्यक्त करने का पूरा अवसर मिला। लगभग 7635 संशोधन विचार के लिए प्राप्त किए गए थे, जिनमें से 2473 संशोधनों पर गम्भीरता से विचार किया गया। धाराओं पर विचार के बाद प्रस्तावना पर विचार कर उसे स्वीकार किया गया। इस प्रकार के समस्त वाद-विवाद की विशेषता यह थी कि सभी प्रश्नों पर निर्णय लगभग पूर्ण सहमति से किए गए।

संविधान प्रारूप का तीसरा वाचन—दसवें अधिवेशन में दूसरा वाचन समाप्त कर लेने के पश्चात् संविधान सभा के ग्यारहवें अधिवेशन में प्रारूप का तीसरा वाचन किया गया। दसवें अधिवेशन को स्थगित करने के पूर्व प्रस्तावित संविधान पुनः प्रारूप समिति को सौंपते हुए उससे आग्रह किया गया था कि वह संशोधनों, वर्तनी, विराम-चिह्नों, आदि की दृष्टि से संविधान में परिवर्तन कर संविधान का परिमार्जित प्रारूप संविधान सभा के सम्मुख विचार के लिए प्रस्तुत करे। प्रारूप समिति ने 17 अक्टूबर, 1949 से 3 नवम्बर, 1949 तक विचार कर अपना प्रतिवेदन अध्यक्ष के सम्मुख प्रस्तुत किया। संविधान सभा ने 14 नवम्बर से 16 नवम्बर तक संविधान प्रारूप का तृतीय वाचन किया। तदनन्तर डॉ. अम्बेडकर ने सभा द्वारा निर्णीत संविधान को पारित करने का प्रस्ताव रखा और यह प्रस्ताव 26 नवम्बर, 1949 को पारित हुआ। संविधान सभा का बारहवां अधिवेशन 24 जनवरी, 1950 को हुआ और 308 सदस्यों द्वारा संविधान पर हस्ताक्षर किए गए। इसी अवसर पर डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को भारतीय गणतन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति चुना गया और यह संविधान 26 जनवरी, 1950 ई. से लागू हो गया।

भारतीय संविधान के स्रोत
(SOURCES OF THE INDIAN CONSTITUTION)

संविधान निर्माताओं को इस बात का अहसास था कि उन्हें भारत जैसे विशाल और विविधताओं से परिपूर्ण देश के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण करना है, जो भारत की विशेष परिस्थितियों और संकट की घड़ियों में भी सफलतापूर्वक चलाया जा सके। इसलिए उन्होंने सिद्धान्तवादिता के आधार पर एक **'मौलिक संविधान'** (Original Constitution) का निर्माण करने की इच्छा करने के बजाय एक व्यावहारिक संविधान का निर्माण करने की बात सोची। संविधान सभा में प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्टतया स्वीकार किया था कि "हमारे संविधान में यदि कोई नवीन बात हो सकती है, तो यही कि उसमें पुराने प्रचलित संविधानों की गलतियों को दूर कर दिया जाए और उसे देश की जरूरतों के अनुसार ढाला जाए। उधार लेने में किसी तरह की साहित्यिक चोरी नहीं है। शासन और विधान के बुनियादी सिद्धान्त के बारे में किसी का कोई एकाधिकार नहीं होता है।"

भारतीय संविधान के स्रोतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

1. जन्म सम्बन्धी स्रोत (Seminal Sources), **2. विकास सम्बन्धी स्रोत** (Developmental Sources)।

1. जन्म सम्बन्धी स्त्रोत (Seminal Sources)

जन्म सम्बन्धी स्रोतों से तात्पर्य उन स्रोतों से है, जिनमें भारतीय संविधान का निर्माण करते समय सहायता ली गई। ये देशी तथा विदेशी दोनों ही हैं।

विदेशी स्त्रोत

भारतीय संविधान में विश्व के विभिन्न संविधानों से जो कुछ ग्रहण किया गया, उसका उल्लेख निम्न प्रकार है :

ब्रिटिश संविधान—ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में हम लगभग 200 वर्षों तक ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक जीवन के सम्पर्क में रहे और इस सम्पर्क का हमारे राजनीतिक चिन्तन और व्यवस्था पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से भारी प्रभाव पड़ा है। भारतीय संविधान की निम्न व्यवस्थाओं पर ब्रिटिश संविधान और राजनीतिक व्यवस्था का प्रभाव देखा जा सकता है :

(i) **संसदात्मक शासन प्रणाली** (Parliamentary System)—**सेठ गोविन्ददास ने संविधान सभा में कहा था—"हम उत्तरदायी सरकार चाहते हैं..........यहां हमें ब्रिटिश शासन पद्धति का अनुसरण करना चाहिए।"**[1] स्वाधीनता संग्राम में हमने ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था से प्रेरणा ली थी और 1909, 1919 तथा 1935 के अधिनियम ने हमें संसदीय व्यवस्था का परिचय दिया था; इसलिए जब संविधान सभा में इस प्रश्न पर विचार हुआ कि भारत में किस प्रकार की शासन व्यवस्था और कार्यपालिका को अपनाया जाए; तब यद्यपि कुछ संदस्यों ने अमरीका की अध्यक्षात्मक व्यवस्था और कुछ सदस्यों ने 'स्विस पद्धति की कार्यपालिका' (Swiss type of executive) को अपनाने का सुझाव दिया; लेकिन संविधान सभा का भारी बहुमत ब्रिटेन की संसदात्मक प्रणाली को अपनाने के पक्ष में था और इसे अपना लिया गया। राष्ट्रपति की नाम-मात्र के प्रधान की भूमिका और प्रधानमन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल को वास्तविक शासक की स्थिति प्रदान करना ब्रिटिश शासन व्यवस्था के समान है और भारतीय संविधान पर ब्रिटिश प्रभाव का परिचय देता है।

(ii) **कानून का शासन** (Rule of Law)—वर्तमान विश्व में कानून और न्याय-व्यवस्था के क्षेत्र में दो प्रकार की व्यवस्थाओं का प्रचलन है; **प्रथम**, ब्रिटेन की 'कानून के शासन' की व्यवस्था और **द्वितीय**, फ्रांस और अन्य यूरोपियन देशों की दो प्रकार के कानूनों और दो प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था। भारत में ब्रिटेन की व्यवस्था को अपनाते हुए सभी व्यक्तियों, सामान्य नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों के लिए, एक ही प्रकार के कानून और एक ही प्रकार के न्यायालय हैं। फ्रांस की तरह अलग से प्रशासनिक कानून और न्यायालयों की व्यवस्था को नहीं अपनाया गया है।

(iii) **एकीकृत संस्थात्मक ढांचा** (Unified Institutional Structure)—भारत में संघात्मक संविधान को अपनाया गया है और इस नाते भारत के द्वारा दोहरी न्यायपालिका, दोहरी नौकरशाही और दोहरी नागरिकता को अपनाया जा सकता था; लेकिन इस प्रसंग में भी भारतीय संविधान निर्माता ब्रिटेन से बहुत प्रभावित थे और इसी कारण एकीकृत संस्थात्मक ढांचे को अपनाया गया है। इसके अन्तर्गत तीन बातें मुख्य हैं : **एकीकृत न्यायिक व्यवस्था, एकीकृत नौकरशाही तथा इकहरी नागरिकता।** ब्रिटेन की ही भांति न्यायिक व्यवस्था में हमने **पदसोपान का सिद्धान्त** (Principle of Hierarchy) अपनाया है।

इसके अतिरिक्त, क्योंकि भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया है; इसलिए ब्रिटेन की सीमा तक 'संसद की सर्वोच्चता' (Supremacy of the Parliament) को नहीं अपनाया जा सकता था, लेकिन सम्भवतया ब्रिटिश संविधान से प्रभावित होने के कारण ही हमने अमरीका जितनी सीमा तक 'न्यायपालिका की सर्वोच्चता' को नहीं अपनाया है तथा हमारे संविधान में ब्रिटेन की 'संसद की सर्वोच्चता' और अमरीका की 'न्यायपालिका की सर्वोच्चता' के बीच समन्वय स्थापित किया गया है।

अमरीका का संविधान—भारतीय संविधान की प्रस्तावना पर अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा का स्पष्ट प्रभाव अंकित है और संविधान का मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित अध्याय स्पष्ट रूप से संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के ही प्रभाव का परिणाम है। इसके अतिरिक्त आंशिक रूप में 'न्यायिक पुनर्विलोकन' (Judical Review) की शक्ति सहित सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का विचार अमरीकी संविधान से ही लिया गया है।

1 **Quoted by Morris Jones : *Parliament in India*. p. 84.**

आयरलैण्ड का संविधान—राज्य की नीति के निदेशक तत्व आयरलैण्ड के संविधान से लिए गए हैं। संविधान की प्रस्तावना में '**हम, भारत के लोग**' शब्दों का प्रयोग संयुक्त राज्य अमरीका और आयरलैण्ड के संविधानों की याद दिलाता है। भारतीय संविधान में राष्ट्रपति के निर्वाचक-मण्डल की व्यवस्था, संसद के दूसरे सदन में साहित्य-कला-विज्ञान और समाज-सेवा के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्तियों का मनोनयन आदि प्रावधानों पर आयरलैण्ड के संविधान का प्रभावी दिखाई देता है।

कनाडा का संविधान—संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना में भारतीय संविधान द्वारा कनाडा के संविधान के आदर्श को अपनाया गया है। कनाडियन आदर्श पर ही भारतीय संघ को '**यूनियन**' (Union) कहा गया है और अवशेष शक्तियां इकाइयों के स्थान पर केन्द्र को प्रदान की गई हैं।

आस्ट्रेलिया का संविधान—भारत का संविधान आस्ट्रेलिया के संविधान के प्रभाव से भी अछूता नहीं है। केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकार के बीच शक्ति विभाजन में 'समवर्ती सूची' की व्यवस्था आस्ट्रेलिया के संविधान से ली गई है। आस्ट्रेलिया के संविधान की पद्धति पर ही यह तय किया गया है कि इस क्षेत्र में केन्द्र और इकाइयों की सरकारों की स्थिति और उनका आपसी सम्बन्ध क्या होगा।

जापान का संविधान—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 की शव्दावली '**कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया**' (Procedure established by Law) जापान के संविधान से ली गई है। इस शव्दावली को अपनाकर हमने 'संसद की सर्वोच्चता' और 'न्यायपालिका की सर्वोच्चता' के बीच मेल स्थापित किया है।

दक्षिणी अफ्रीका का संविधान—भारतीय संविधान में संशोधन के लिए जिस प्रणाली को अपनाया गया है, वह दक्षिणी अफ्रीका के संविधान के समान ही है।

इन सबके अतिरिक्त भारतीय संविधान के अन्तर्गत संकटकाल में राष्ट्रपति को मौलिक अधिकारों के स्थगन सम्बन्धी जो अधिकार दिए गए हैं, वे जर्मनी के 'वीमर संविधान' (Weimer Constitution of 1919) के 48वें अनुच्छेद की नकल है।

देशी या भारतीय स्रोत (Indian Sources)

भारतीय संविधान पर न केवल इन विदेशी संविधानों का प्रभाव है, वरन् स्वयं भारत के भूतकालीन संवैधानिक विकास का भारी प्रभाव भी है। इस प्रसंग में भारतीय संविधान पर प्रमुख रूप से दो प्रभाव देखे जा सकते हैं—**प्रथम**, 1928 की नेहरू रिपोर्ट और **द्वितीय**, 1935 ई. का भारतीय शासन अधिनियम।

नेहरू रिपोर्ट का भारतीय संविधान पर प्रभाव—नेहरू रिपोर्ट में कहा गया था कि भारत का भावी संविधान अपने स्वरूप में संघीय होगा, इसमें देशी रियासतों का कोई अलग अस्तित्व नहीं होगा तथा उन्हें संघ में शामिल होना होगा। वर्तमान संविधान में ऐसा ही किया गया है। नेहरू रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि संसदात्मक शासन प्रणाली अपनाई जाएगी। नेहरू रिपोर्ट का सर्वाधिक मौलिक भाग साम्प्रदायिक समस्या से सम्वन्धित था। इसमें कहा गया था कि पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस समस्या का समाधान अल्पसंख्यकों को मौलिक अधिकार प्रदान करके किया जा सकता है और इन अधिकारों में धर्म, भाषा, शिक्षा आदि के अधिकारों को शामिल किया जाना चाहिए। हमारे संविधान निर्माताओं ने ऐसा ही किया है। इसके अलावा भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की जो व्यवस्था की गई है, उस समस्त व्यवस्था पर 'नेहरू रिपोर्ट' का स्पष्ट प्रभाव अंकित है।

1935 ई. का भारतीय शासन अधिनियम और भारतीय संविधान (Government of India Act 1935 and Indian Constitution)—भारतीय संविधान के अनेक देशी और विदेशी स्रोत हैं, लेकिन यह तथ्य है कि भारतीय संविधान पर सबसे अधिक प्रभाव 'भारतीय शासन अधिनियम, 1935 का ही है। न केवल नवीन संविधान की आधारभूत योजना और महत्वपूर्ण प्रवन्ध, वरन् कुछ प्रबन्धों की भाषा भी 1935 ई. के अधिनियम से ही ली गई है।' राबर्ट एल. हार्डग्रेव अपनी पुस्तक में लिखते हैं—"भारतीय संविधान के 395 अनुच्छेदों में से लगभग 250 अनुच्छेद ऐसे हैं जो 1935 ई. के अधिनियम से या तो शब्दश: ले लिए गए हैं या फिर उनमें वहुत थोड़ा परिवर्तन किया गया है।"[1] आइवर जैनिंग्ज के अनुसार, "**संविधान सीधे तौर पर 1935 के अधिनियम पर आधारित है।**"[2] और डॉ. पंजाब राव देशमुख तो यहां तक कहते हैं कि, "नवीन संविधान 1935 ई. का भारतीय शासन अधिनियम ही है, इसमें केवल वयस्क मताधिकार जोड़ दिया गया है।

1 Robert L. Hardgrave : *Indian Govt. and Politics in a Developing Nation* p. 72.
2 Ivor Jennings : *Some characteristics of the Indian Constitution*, p. 17.

यह तथ्य है कि भारतीय संविधान में 1935 ई. के अधिनियम से बहुत कुछ ग्रहण किया गया है। संघ का प्रस्ताव, द्वि-सदनात्मक विधान मण्डल, राज्यपाल का पद और संविधान भंग होने पर राज्य में केन्द्रीय शासन स्थापित करने की व्यवस्था ऐसे ही प्रावधान हैं। संविधान में कुछ स्थानों पर तो 1935 ई. के अधिनियम की भाषा को भी ग्रहण कर लिया गया है, लेकिन इस सबके बावजूद भारतीय संविधान को 1935 के कानून का वृहत् संस्करण नहीं कहा जा सकता। मौलिक अधिकार, वयस्क मताधिकार और सर्वोच्च न्यायालय आदि अनेक ऐसे प्रावधान हैं, जिनसे सम्बन्धित कोई बात 1935 ई. के अधिनियम में नहीं सोची गई थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि वर्तमान संविधान में 1935 के कानून से बहुत कुछ ग्रहण किया गया है, लेकिन यह संविधान किसी भी प्रकार से 1935 ई. के कानून की नकल नहीं है।

विकास सम्बन्धी स्रोत (DevelopmentalSources)

विकास सम्बन्धी स्रोतों से आशय उन स्रोतों से है जिन्होंने 1950 से 1985 के वर्षों में भारतीय संविधान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज भारतीय संविधान और राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप पूर्णतया वही नहीं हैं, जो 1950 में था। संविधान के स्वरूप का कुछ विकास हुआ है, उसमें कुछ परिवर्तन आया है। संविधान के प्रमुख विकास सम्बन्धी स्रोत के रूप में निम्न का उल्लेख किया जा सकता है :

(1) **संविधियां, नियम, विनिमय और अध्यादेश**—केन्द्रीय और राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित कानूनों को 'संविधियां' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त संसद और राज्य विधानमण्डलों को अपने कार्य संचालन एवं कार्यप्रणाली हेतु नियम बनाने की भी शक्ति प्राप्त है। राष्ट्रपति केन्द्रीय सरकार के कार्यों तथा शासन संचालन के लिए नियम बनाता है। यदि संसद तथा राज्य विधानमण्डल की वैठक नहीं हो रही हो, तो राष्ट्रपति या राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार है। संसद तथा राज्य विधानमण्डल की स्वीकृति से ये अध्यादेश बाद में कानून का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार संविधियां, नियम, विनिमय और अध्यादेश संविधान के स्रोत का कार्य करते हैं, इनमें संविधियां या संसदीय परिनियम निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

केन्द्रीय संसद द्वारा निर्मित जो कानून संविधान के अभिन्न अंग वन गए हैं, उनमें प्रमुख हैं—**भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955; जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 और 1951; राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम, 1952; और अस्पृश्यता दण्ड सम्बन्धी अधिनियम, 1955।**

(2) **अभिसमय और परम्पराएं**—व्यवहार में कुछ समय तक अपनाई जाने वाली स्थिति अभिसमय या परम्परा को जन्म देती है। अब भारतीय संविधान को लागू हुए 50 वर्ष से अधिक वर्ष हो चुके हैं। इस काल में कुछ परम्पराएं अवश्य ही विकसित हुई हैं। उदाहरण के लिए 1998-99 में एक परम्परा यह विकसित हुई है कि मन्त्रिमण्डल जब अपना कोई निर्णय राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजे, तब राष्ट्रपति उस निर्णय को पुनर्विचार के लिए मन्त्रिमण्डल के पास भेज सकता है, और मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति के दृष्टिकोण को यथोचित सम्मान देते हुए अपने निर्णय पर पूरी गम्भीरता के साथ पुनर्विचार अवश्य ही करेगा। राष्ट्रपति ने 1998 में उत्तर प्रदेश और 1999 में बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने के मन्त्रिमण्डलीय निर्णय पर ऐसा ही किया था।

कुछ महत्वपूर्ण परम्पराएं इस प्रकार हैं—**प्रथम,** संविधान के अनुसार कार्यपालिका शक्तियां राष्ट्रपति में निहित हैं परन्तु परम्परा यह है कि वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार ही कार्य करता है। **द्वितीय,** राष्ट्रपति लोकसभा को भंग कर सकता है, किन्तु ऐसा वह प्रधानमन्त्री की सलाह से ही करेगा। **तृतीय,** प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करने का अधिकार राष्ट्रपति को है, किन्तु परम्परा के अनुसार राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त करता है, जो लोकसभा में बहुमत दल का नेता होता है। **चतुर्थ,** देश में संसदात्मक शासन प्रणाली का समस्त विकास पूर्ण रूप से प्रथागत ही हुआ है।

(3) **संवैधानिक संशोधन**—भारतीय संविधान का विकास सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण स्रोत संवैधानिक संशोधन रहा है। 1950 से लेकर अब तक भारतीय संविधान में 92 संवैधानिक संशोधन हो चुके हैं और ये सब भारतीय संविधान के अभिन्न अंग हैं। इन संवैधानिक संशोधनों से संविधान की मूल धारणा और स्वरूप में कुछ अन्तर अवश्य आया है। उदाहरण के लिए, प्रथम, चतुर्थ, सत्रहवें, पच्चीसवें, छब्बीसवें, उन्तीसवें और चौबालीसवें संशोधनों द्वारा सम्पत्ति के अधिकार में आधारभूत अन्तर आया है और अब सम्पत्ति का अधिकार एक मौलिक

अधिकार नहीं रहा है। चौबीसवें संशोधन द्वारा संसद को संविधान के किसी भी भाग में करने का अधिकार प्राप्त हो गया है, जबकि सर्वोच्च न्यायालय ने 'गोलकनाथ निर्णय' (1967) में संसद के इस अधिकार को सीमित कर दिया था। इसी प्रकार 52वें संवैधानिक संशोधन (1985) द्वारा दल-बदल पर कानूनी रोक लगा दी गई है। 86वें संवैधानिक संशोधन द्वारा 6 वर्ष से 14 वर्ष तक के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा का मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है। इन संवैधानिक संशोधनों से हमारे संविधान को आर्थिक और सामाजिक न्याय का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज बनाने की कोशिश की गई है।

(4) **न्यायिक पुनर्विलोकन या न्यायिक निर्णय**—भारतीय संविधान का एक प्रमुख स्रोत वे न्यायिक निर्णय हैं जो सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने समय-समय पर दिए हैं। न्यायाधीश संवैधानिक कानून की व्याख्या करते हैं और उनके निर्णय तब तक प्रभावी रहते हैं जब तक कि न्यायपालिका स्वयं ही कोई अन्य निर्णय न दे दे या संसद संविधान में संशोधन पर कानूनी स्थिति में परिवर्तन न कर दे। भारत के सर्वोच्च न्यायालय और विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा ऐसे अनेक निर्णय दिये गये हैं जो संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों की भांति ही हमारी संवैधानिक व्यवस्था के अभिन्न अंग बन गए हैं। उदाहरण के लिए, **'गोपालन बनाम मद्रास राज्य'** के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्षेत्र परिभाषित किया है। **चिन्तामन राव** के मुकदमे में अनुच्छेद 19 में उल्लेखित 'उचित प्रतिबन्धों' (Reasonable restrictions) की व्याख्या की गई है। **'आत्माराम'** के मुकदमे में 'निवारक निरोध अधिनियम' में नजरबन्द व्यक्ति को प्राप्त सुरक्षाओं की व्याख्या की गई है। अभी हाल ही के वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए निर्णयों में **'केशवानन्द भारतीय बनाम केरल राज्य'** (1973) और **'मिनर्वा मिल्स विवाद सम्बन्धी निर्णय'** (1980) अधिक महत्वपूर्ण हैं, जिनमें सर्वोच्च न्यायालय ने 'संविधान के बुनियादी ढांचे' (Basic Structure of the Constitution) की धारणा का प्रतिपादन किया है।

(5) **संवैधानिक टीकाएं और संविधान विशेषज्ञों के विचार**—भारतीय संविधान का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत भारतीय संविधान पर लिखी गई टीकाएं और ग्रन्थ हैं। इन टीकाओं और ग्रन्थों में दुर्गादास द्वारा लिखित पुस्तक '*Commentary on the Constitution of India*', एलैक्जैण्डरोविच की '*Constitutional Development in India*', ग्लेडहिल की '*The Republic of India*', जैनिंग्ज की '*Some Characteristics of the Constitution of India*', कौल एवं शकधर की '*Practice and Procedure of Parliament*' आदि प्रमुख हैं। संवैधानिक कानून के विशेषज्ञों में एम. सी. सीतलवाड़, एन. ए. पालकीवाला, सिखई, नीरेन डे, लक्ष्मीमल सिंघवी और सी. के दफ्तरी आदि द्वारा समय-समय पर व्यक्त विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

भारतीय संविधान निरन्तर विकासमय है। आवश्यकता इस बात की है कि यह संविधान आर्थिक और सामाजिक न्याय के ठोस दस्तावेज की स्थिति को प्राप्त कर ले।

प्रश्न

1. भारतीय संविधान सभा के गठन का वर्णन कीजिए। भारतीय संविधान सभा के सम्प्रभु एवं वास्तविक प्रतिनिधि स्वरूप की विवेचना कीजिए।
2. भारतीय संविधान के निर्माण में संविधान निर्मात्री सभा की भूमिका की विवेचना कीजिए।
3. 'भारतीय संविधान के निर्माण में श्रेष्ठ प्रक्रिया को अपनाया गया और वह प्रक्रिया थी : सहमति से निर्णय तथा समायोजन का सिद्धान्त' (ग्रेनविल ऑस्टिन) स्पष्टतया विवेचना कीजिए।
4. 26 नवम्बर, 1949 को अपनाए गए भारतीय संविधान के महत्वपूर्ण स्रोत कौन-से थे?
5. 'भारतीय संविधान विविध स्रोतों से उधार लिए गए सिद्धान्तों का समूह है', व्याख्या कीजिए। क्या आप भारतीय संविधान की इस आलोचना से सहमत हैं?
6. भारतीय संविधान के मुख्य स्रोत कौन-से हैं?
7. भारतीय संविधान के विकास में जिन तत्वों ने योग दिया, उनका वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारत में संविधान सभा का गठन किसकी अनुशंसा से किया गया :
   (अ) क्रिप्स योजना (ब) वेवल योजना
   (स) केबिनेट मिशन योजना (द) माउण्टबेटन योजना

2. केविनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा के चुनाव कव सम्पन्न हुए?
(अ) जुलाई 1946 में
(व) अगस्त 1946 में
(स) जुलाई 1947 में
(द) अगस्त 1947 में

3. संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन कव प्रारम्भ हुआ :
(अ) 11 दिसम्बर, 1946
(व) 9 दिसम्बर, 1946
(स) 14 सितम्वर, 1946
(द) 8 सितम्वर, 1946

4. संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष पद पर किसको निर्वाचित किया गया?
(अ) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद
(व) डॉ. राधाकृष्णन
(स) पं. जवाहरलाल नेहरू
(द) डॉ. भीमराव अम्वेडकर

5. संविधान सभा की प्रथम वैठक की अध्यक्षता किसने की थी?
(अ) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद
(व) डॉ. भीमराव अम्वेडकर
(स) के. एम. मुन्शी
(द) डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा

6. मुस्लिम लीग ने कितनी संविधान सभा की मांग की थी?
(अ) एक (व) दो (स) तीन (द) चार

7. संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन किस आधार पर किया गया?
(अ) जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर
(व) जनता द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर
(स) सम्राट के मनोनयन के आधार पर
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

8. संविधान की 'प्रारूप समिति' के अध्यक्ष कौन थे?
(अ) पं. जवाहरलाल नेहरू
(व) डॉ. वी. आर. अम्वेडकर
(स) जे. वी. कृपलानी
(द) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

9. संविधान सभा में किस देशी रियासत के प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए :
(अ) हैदरावाद
(व) जूनागढ़
(स) मैसूर
(द) कश्मीर

10. भारत की संविधान सभा में निम्न में से किस दल को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था?
(अ) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस
(व) हिन्दू महासभा
(स) साम्यवादी दल
(द) अनुसूचित जाति संघ

11. भारतीय संविधान का 'संघात्मक स्वरूप' किस देश से लिया गया है :
(अ) आयरलैण्ड
(ब) ब्रिटेन
(स) कनाडा
(द) संयुक्त राज्य अमेरिका

12. भारतीय संविधान का सवसे वड़ा स्रोत निम्न में से कौन-सा है :
(अ) 1935 का भारतीय शासन अधिनियम
(ब) अमेरिका का संविधान
(स) कनाडा का संविधान
(द) आयरलैण्ड का संविधान

13. भारतीयं संविधान के निर्माताओं ने 'संसदीय शासन प्रणाली' को किस देश से प्राप्त किया :
(अ) ब्रिटेन
(ब) कनाडा
(स) आयरलैण्ड
(द) अमेरिका

14. भारतीय संविधान की 'संशोधन प्रक्रिया' पर किस देश का प्रभाव है :
(अ) कनाडा
(ब) आस्ट्रेलिया
(स) ब्रिटेन
(द) दक्षिण अफ्रीका

15. भारतीय संविधान में 'आपात सम्वन्धी प्रावधान' कहां से लिए गए हैं :
(अ) जर्मनी के वीमर संविधान से
(ब) भारतीय शासन अधिनियम 1858 से
(स) अमेरिका से
(द) आयरलैण्ड से

16. भारत के संविधान में सम्मिलित 'समवर्ती सूची' किस देश की देन है :
(अ) सोवियत संघ (ब) इटली
(स) आस्ट्रेलिया (द) कनाडा

17. 'गणतन्त्र' की स्थापना की प्रेरणा हमें किस देश के संविधान से प्राप्त हुई :
(अ) इटली (ब) दक्षिण अफ्रीका
(स) फ्रांस (द) ब्रिटेन

18. आपातकाल में मूल अधिकारों के स्थगन सम्बन्धी प्रावधान को भारत ने किस देश से ग्रहण किया :
(अ) आस्ट्रेलिया से (ब) जर्मनी के वीमर संविधान से
(स) अमेरिका से (द) कनाडा से

19. भारतीय संविधान में 'राष्ट्रपति पर महाभियोग की व्यवस्था' को किस देश के संविधान से ग्रहण किया है :
(अ) ब्रिटेन (ब) अमेरिका
(स) कनाडा (द) फ्रांस

20. "यदि हम अन्य संविधानों से ग्रहण नहीं करते, तो सम्भवतया अपने अहम् की सन्तुष्टि करते, परन्तु भारत की व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते।" यह कथन किसका है?
(अ) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (ब) जवाहरलाल नेहरू
(स) सरदार वल्लभ भाई पटेल (द) ग्रेनविल ऑस्टिन

21. '*Commentary on the Constitution of India*' पुस्तक के लेखक हैं :
(अ) दुर्गादास (ब) एलैक्लैण्डरोविच
(स) जैनिंग्ज (द) ग्लेडहिल

[उत्तर—1. (स), 2. (अ), 3. (ब), 4. (अ), 5. (द), 6. (ब), 7. (ब), 8. (ब), 9. (अ), 10. (स), 11. (स), 12. (अ), 13. (अ), 14. (द), 15. (अ), 16. (स), 17. (स), 18. (ब), 19. (ब), 20. (अ), 21. (अ)।]

2

भारतीय संविधान के मूल लक्षण
[BASIC FEATURES OF THE INDIAN CONSTITUTION]

संविधान जीवन का वह मार्ग है जिसे राज्य ने अपने लिए अपनाया है। प्रत्येक राज्य का किसी न किसी रूप में संविधान अवश्य ही होता है और संविधान का यह रूप उस देश की परिस्थितियों के अनुसार होता है। प्रत्येक राज्य की परिस्थितियां भिन्न होने के कारण उस देश के संविधान की भी अपनी कुछ विशेष बातें होती हैं जिन्हें संविधान की विशेषताएं कहा जा सकता है। भारतीय संविधान के मूल लक्षण निम्नलिखित हैं :

(1) लोकप्रभुता पर आधारित संविधान—भारतीय संविधान लोकप्रिय सम्प्रभुता पर आधारित है अर्थात् यह भारतीय जनता द्वारा निर्मित संविधान है और इसमें अन्तिम शक्ति भारतीय जनता को ही प्रदान की गई है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है **"हम, भारत के लोग....दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज दिनांक 26 नवम्बर, 1949 ई. को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"**

इस प्रकार भारतीय संविधान 1935 के भारतीय शासन अधिनियम की तरह ब्रिटिश संसद या अन्य किसी वाहरी शक्ति की कृति नहीं वरन् जनता द्वारा निर्मित, अधिनियमित और अंगीकृत है।

(2) लिखित और सर्वाधिक व्यापक संविधान—भारत के संविधान की अधिकांश बातें लिखित हैं और इसका निर्माण एक विशेष समय पर हुआ है। इसके अतिरिक्त यह संसार के दूसरे सभी संविधानों से व्यापक है। भारत के संविधान में 395 अनुच्छेद और 12 अनुसूचियां हैं, जबकि अमरीका के संविधान में केवल 7, कनाडा के संविधान में 147, आस्ट्रेलिया के संविधान में 128 और दक्षिण अफ्रीका के संविधान में 153 अनुच्छेद हैं।

यह कहना असत्य न होगा कि नए संविधान की विशालता 1935 के कानून के प्रभाव के कारण है, प्रमुख रूप से जिसे ध्यान में रखकर इस संविधान का निर्माण किया गया है। इसके अतिरिक्त, भारत के संविधान में अधिक से अधिक बातों को लिखित रूप प्रदान किया गया है जिससे किसी भी प्रकार के भ्रम के लिए गुंजाइश न रहे। इसमें केन्द्रीय शासन के ढांचे के अतिरिक्त राज्यों की सरकारों के संगठन का भी वर्णन किया गया था। संविधान में ही नागरिकता, मौलिक अधिकार, निदेशक तत्व, अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विशेष अधिकारों का समावेश किया गया है, जिसके कारण संविधान इतना अधिक विशाल हो गया है। यद्यपि सामान्यतया संक्षिप्तता को अच्छे संविधान का एक लक्षण समझा जाता है, किन्तु भारत में नवस्थापित प्रजातन्त्र और देश की परिस्थितियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि संविधान की यह विशालता उसका गुण ही है।

(3) सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य—संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है।

सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न—भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य है, इसका तात्पर्य यह है कि हमारा राज्य आन्तरिक और बाहरी दोनों ही प्रकार से सर्वोच्च सत्ताधारी है। आन्तरिक प्रभुता का तात्पर्य यह है कि भारत क्षेत्र में रहने वाले सभी लोगों और भारत राज्य में स्थित सभी समुदायों पर भारत राज्य को अधिकार प्राप्त है और बाहरी प्रभुता का तात्पर्य यह है कि भारत किसी विदेशी राज्य के अधीन नहीं है तथा दूसरे राज्यों से

वह अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। 15 अगस्त, 1947 के पूर्व भारत को यह स्थिति प्राप्त नहीं थी।

लोकतन्त्रात्मक—भारत एक लोकतान्त्रिक राज्य है अर्थात् भारत में राजसत्ता जनता में निहित है। जनता को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार होगा, जो जनता के स्वामी न होकर सेवक होंगे। इस राज्य में साधारण नागरिक राज्य के सबसे बड़े पद को धारण कर सकता है।

गणराज्य—गणराज्य का आशय यह है कि शासन का अध्यक्ष एक निर्वाचित व्यक्ति हो। भारत एक पूर्ण गणराज्य है, क्योंकि भारतीय संघ का अध्यक्ष एक सम्राट न होकर जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति है।

(4) समाजवादी राज्य—संविधान सभा में इस बात पर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ था कि भारत के द्वारा समाजवाद को राज्य दर्शन के रूप में स्वीकार किया जाए अथवा नहीं। अन्त में यहीं सोचा गया कि किसी एक विशेष दर्शन के स्वीकार करने से नवीन विवादों को जन्म मिलेगा, लेकिन इस बात पर सभी भारतीय सहमत रहे हैं कि भारत के लिए समाजवाद का मार्ग ही उपयुक्त हो सकता है। इस सामान्य भावना को स्वीकार करते हुए ही 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में भारत को समाजवादी राज्य घोषित किया गया है। भारत के द्वारा अपनी विशेष परिस्थितियों के आधार पर ही समाजवाद को अपनाया जाएगा और भारतीय समाजवाद अन्य अधिक परिचित समाजवादों से अपने आप में भिन्न है।

(5) कठोरता और लचीलेपन का समन्वय—कानून दो प्रकार के होते हैं : साधारण कानून और संवैधानिक कानून। संवैधानिक कानून उन्हें कहते हैं जिन पर शासन का सारा ढांचा ही आधारित होता है। यदि संविधान में संशोधन करने के लिए साधारण कानून के निर्माण से भिन्न किसी पद्धति को अपनाना आवश्यक होता, तो उसे कठोर संविधान कहते हैं। इस दृष्टि से भारत का संविधान एक कठोर संविधान है। संघात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण ऐसा होना आवश्यक भी था, लेकिन हमारा संविधान व्यावहारिक दृष्टि से अमरीका के संविधान जितना कठोर नहीं है। संविधान की अनेक धाराएं तो संसद द्वारा साधारण बहुमत से ही बदली जा सकती हैं। भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संविधान में काफी लचीलापन रखा गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत का संविधान न तो बहुत कठोर है और न ही बहुत अधिक लचीला।

(6) धर्म निरपेक्ष (पंथ निरपेक्ष) राज्य की स्थापना—संविधान द्वारा भारत में धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है जिसका अर्थ यह है कि राज्य और धर्म का क्षेत्र अलग-अलग है, राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान हैं तथा व्यक्तियों द्वारा अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म की उपासना की जा सकती है। धर्म के नाम पर राज्य और शासन द्वारा भारत को अपनी इच्छानुसार धार्मिक संस्थाएं स्थापित करने और उनके संचालन का अधिकार होगा, किन्तु राज्य धार्मिक संस्थाओं के कार्यों को नियन्त्रित कर सकता है, साथ ही धर्म के नाम पर किए जाने वाले अनैतिक और समाज-विरोधी कार्यों पर भी रोक लगा सकता है।

यद्यपि मूल संविधान में कहीं पर भी भारत को स्पष्टतया धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित नहीं किया गया था, फिर भी ऐसी व्यवस्थाएं की गईं जिनके कारण इसे धर्मनिरपेक्ष राज्य का रूप प्राप्त हो जाता है। प्रस्तावना में सभी नागरिकों को धर्म में विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता दी गई है और मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत संविधान के 25वें अनुच्छेद में कहा गया कि "**सब नागरिकों को अन्तःकरण की तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण तथा प्रसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।**" प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को धार्मिक संस्थाओं की स्थापना और पोषण का अधिकार प्रदान किया गया है। 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में भारत को एक 'धर्मनिरपेक्ष' राज्य घोषित करके धर्मनिरपेक्षता को और बल प्रदान किया गया।

कुछ आलोचकों द्वारा इस धर्मनिरपेक्षता के आधार पर भारत को धर्मविरोधी राज्य की संज्ञा दी गई है, परन्तु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत ही है। भारत एक धर्म-विरोधी राज्य होने के स्थान पर मानवता के व्यापक सिद्धान्तों पर आधारित एक ऐसा वास्तविक नैतिक राज्य है, जिसका उद्देश्य संकीर्ण धार्मिक विवादों से परे रहते हुए अपने सभी नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति की ओर उन्मुख करना है। एक प्रगतिशील राज्य धर्मनिरपेक्षता की नींव पर ही खड़ा हो सकता है। भारत राज्य की एकता और स्वतन्त्रता की सफलता भी धर्मनिरपेक्षता के इस आदर्श पर ही निर्भर है।

(7) एकात्मकता की ओर झुका हुआ संघात्मक शासन—भारतीय संविधान के प्रथम, अनुच्छेद के अनुसार, **'इण्डिया अर्थात भारत राज्यों का एक संघ होगा।''**[1] इस प्रकार भारत में संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है और उसमें संघात्मक शासन के सभी लक्षण विद्यमान हैं। संविधान ने शासन शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित न कर केन्द्र और राज्य सरकारों में विभाजित कर दी है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। संविधान लिखित और वहुत अधिक सीमा तक कठोर है और इसे सर्वोच्च स्थिति प्रदान की गयी है। उच्चतम न्यायालय को संविधान का रक्षक बनाया गया है जिसे संविधान की व्याख्या करने और केन्द्र एवं राज्य के बीच संवैधानिक झगड़ों के निर्णय का अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार भारत में संघात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी है, किन्तु इसमें कुछ ऐसे तत्व भी हैं जिनसे इसका झुकाव एकात्मक शासन की ओर स्पष्ट होता है जैसे—इकहरी नागरिकता, इकहरी न्यायपालिका, अखिल भारतीय सेवाएं, राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति आदि। अन्त में, राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों के अन्तर्गत, संकटकाल की घोषणा द्वारा तो स्पष्ट रूप से संघात्मक व्यवस्था को एकात्मक व्यवस्था के रूप में बदला जा सकता है।

इस प्रकार हमारे संविधान द्वारा एक लचीले संघ का निर्माण किया गया है, जो परिस्थितियों के अनुसार संघात्मक और एकात्मक दोनों ही रूप ग्रहण कर सकता है। इन सब विशेषताओं के कारण कुछ लेखकों ने भारतीय संघ को **अर्द्ध-संघात्मक'** (Quasi-federal) कहा है। वास्तव में, यह एक ऐसी संघात्मक शासन-व्यवस्था है जिसका झुकाव एकात्मकता की ओर है।

(8) संसदात्मक शासन-व्यवस्था—व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से जो दो प्रकार की शासन-व्यवस्थाएं होती हैं, उनमें संविधान निर्माताओं ने केन्द्र और राज्यों में संसदात्मक शासन-व्यवस्था को ही अपनाया है। संसदात्मक शासन के तीन प्रमुख लक्षण होते हैं—(क) शासन का एक नाममात्र का प्रधान, (ख) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का पारस्परिक सम्बन्ध, तथा (ग) कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित न होना।

हमारे देश के संविधान में संसदात्मक शासन के तीनों ही लक्षण विद्यमान हैं। राष्ट्रपति भारतीय शासन का नाममात्र का प्रधान है। संविधान के **अनुच्छेद 75** में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि **''भारतीय मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका अर्थात् संसद के प्रति उत्तरदायी होगा।''** मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल निश्चित नहीं है और लोकसभा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उसे पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार भारत में इंगलैण्ड की ही भांति संसदात्मक शासन पद्धति है।

(9) मूल अधिकार और मूल कर्तव्य—अमरीका और आयरलैण्ड, आदि देशों के संविधानों की तरह हमारे संविधान द्वारा नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं। मूल अधिकारों का तात्पर्य संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त ऐसे अधिकार और स्वतन्त्रताओं से है, जिन्हें राज्य तथा सरकार के विरुद्ध भी लागू किया जा सकता है। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि संविधान द्वारा ही अधिकारों के साथ-साथ प्रतिबन्धों की व्यवस्था भी की गयी है और इन अधिकारों की क्रियान्विति की भी व्यवस्था है।

संविधान द्वारा नागरिकों को 7 मूल अधिकार प्रदान किये गये थे, लेकिन 44वें संविधान संशोधन द्वारा 'सम्पत्ति के अधिकार' को एक मूल अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया है। परिणामतः अव भारतीय नागरिकों को 6 मूल अधिकार ही प्राप्त हैं।

मूल संविधान में तो केवल मूल अधिकारों की ही व्यवस्था की गयी थी, लेकिन 42वें संवैधानिक संशोधन, 1976 के द्वारा मूल संविधान में एक भाग चौथा 'अ' (अनुच्छेद 51क) जोड़ा गया है और इसमें नागरिकों के मूल कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा नागरिकों के 10 मूल कर्तव्य निश्चित किये गये थे। 2002 ई. में नागरिकों का एक और कर्तव्य निश्चित किया गया है, और वह है, माता-पिता का अपने बच्चों को शिक्षित करने का कर्तव्य।

(10) नीति निदेशक तत्व—भारतीय संविधान के चौथे अध्याय में शासन संचालन के लिए मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है और इन्हें ही राज्य की नीति को निश्चित करने वाले तत्व कहा गया है। केन्द्रीय और

1 **"India, that is Bharat, shall be a union of States."**

प्रान्तीय सरकारों का कर्तव्य होगा कि वे राज्य के संचालन और कानून निर्माण में इन तत्वों का ध्यान रखें, किन्तु वे तत्व किसी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किये जा सकेंगे। इस प्रकार निदेशक तत्वों को **वैधानिक शक्ति तो प्राप्त नहीं है, लेकिन इन्हें नैतिक और राजनीतिक शक्ति अवश्य ही प्राप्त है।** इन तत्वों में भारत राज्य को एक वास्तविक लोककल्याणकारी राज्य का स्वरूप देने के लिए आवश्यक सिद्धान्तों की घोषणा की गयी है।

(11) **स्वतन्त्र न्यायपालिका और अन्य स्वतन्त्र अभिकरण**—संघात्मक शासन-व्यवस्था में न्यायपालिका संविधान की व्याख्याता और रक्षक होने के कारण उसका स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त मूल अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका की स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक हो जाती है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता हेतु संविधान में अनेक विशेष व्यवस्थाएं की गयी हैं यथा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होना, न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्राप्त होना, न्यायाधीशों के कार्यकाल में उनके वेतन में कमी न हो सकना और न्यायाधीशों के आचरण पर व्यवस्थापिका द्वारा विचार न कर सकना, आदि।

इस प्रकार न्यायपालिका स्वतन्त्र है और लगभग 53 वर्षों की अवधि में **न्यायपालिका अपनी स्वतन्त्रता का अनेक बार परिचय दे चुकी है।** आज तो भारतीय संघ की न्यायपालिका न केवल अपनी स्वतन्त्र स्थिति, वरन् समस्त भारतीय राज व्यवस्था में बहुत अधिक प्रभावशाली संस्था की स्थिति का परिचय दे रही है।

स्वतन्त्र न्यायपालिका के अतिरिक्त संविधान के अन्य स्वतन्त्र अभिकरणों की भी व्यवस्था की गयी है जिसमें निर्वाचन आयोग, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक व लोक-सेवा आयोग प्रमुख हैं।

(12) **संसदीय प्रभुता तथा न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय**—इंगलैण्ड में संसद सर्वोच्च है और ब्रिटिश संसद द्वारा निर्मित कानून को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इसके विपरीत, अमरीका के संविधान में न्यायपालिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है, जिसका अर्थ है कि न्यायालय संविधान का रक्षक और अभिभावक है तथा इस नाते प्रत्येक ऐसे कानून और प्रशासनिक आदेश को अवैध घोषित कर सकता है जो संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध हों।

भारतीय संविधान के निर्माता संसदीय प्रभुसत्ता में विश्वास करते थे, लेकिन संघात्मक व्यवस्था को अपनाये जाने के कारण न्यायपालिका को कुछ सीमा तक संविधान के अभिभावक और रक्षक की स्थिति भी प्रदान की गयी है। इस प्रकार भारतीय संविधान में मध्यम मार्ग को अपनाते हुए संसदीय प्रभुता और न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय स्थापित किया गया है।

(13) **अल्पसंख्यक तथा पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण की विशेष व्यवस्था**—अनेक बार प्रजातन्त्र की आलोचना करते हुए इसे '**बहुमत का अत्याचार**' कहा जाता है, लेकिन भारतीय संविधान के निर्माताओं ने इस प्रकार की आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं रख छोड़ा है। संविधान में अल्पसंख्यकों के धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक हितों की रक्षा की विशेष व्यवस्था की गयी है। इसके अतिरिक्त, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को संविधान के **अनुच्छेद** 330 और 332 के अन्तर्गत लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं में आरक्षण प्रदान किया गया है। प्रारम्भ में यह व्यवस्था 25 जनवरी, 1960 तक के लिए की गई थी, किन्तु संविधान में संशोधन कर इसकी समय सीमा को बढ़ाया जाता रहा और 79वें **संवैधानिक संशोधन** (2000 ई.) **के आधार** पर इन प्रतिनिधि संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था को 25 जनवरी, 2010 ई. तक के लिए बढ़ा दिया गया है। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए सेवाओं में 'दावों' (Claims) की व्यवस्था **अनुच्छेद** 335 के अन्तर्गत है और संविधान के अनुसार इन दावों, जिन्हें सामान्यतया आरक्षण के नाम से जाना जाता है, के लिए कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गयी है। यह सुविधा इस दृष्टि से दी गयी है कि इन वर्गों की बहुत अधिक गिरी हुई स्थिति होने के कारण इन वर्गों को विकास के लिए विशेष सुविधाओं की आवश्यकता है। **संविधान की यह व्यवस्था समानता और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं वरन् वास्तविक और व्यावहारिक रूप में इन सिद्धान्तों की प्राप्ति के प्रयत्न हैं।** अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था तो प्रारम्भ से ही थी। इसके साथ ही अब केन्द्र सरकार की नौकरियों में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण 8 सितम्बर, '93 से लागू हो गया है।

(14) **एकल नागरिकता**—भारतीय संविधान के द्वारा संघात्मक शासन व्यवस्था स्थापित की गयी है और सामान्यतया ऐसा समझा जाता रहा है कि संघ राज्य के नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होनी चाहिए।

प्रथम, संघ की नागरिकता और **द्वितीय**, संघ की इकाई या राज्य की नागरिकता। संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य संघ राज्यों में ऐसी ही व्यवस्था है, लेकिन भारतीय संविधान-निर्माताओं का विचार था कि दोहरी नागरिकता भारत की एकता को बनाये रखने में बाधक सिद्ध हो सकती है। अतः संविधान-निर्माताओं द्वारा संघ राज्य की स्थापना करते हुए भी दोहरी नागरिकता नहीं वरन् एकल नागरिकता के आदर्श को ही अपनाया गया है।

(15) **सामाजिक समानता की स्थापना**—सामान्यतया संविधान के द्वारा अपने नागरिकों की राजनीतिक और कानूनी समानता पर ही बल दिया जाता है, लेकिन भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि संविधान के द्वारा सामाजिक क्षेत्र में सभी नागरिकों की समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में संविधान के **अनुच्छेद** 17 में कहा गया है कि **''अस्पृश्यता का अन्त किया गया है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। किसी भी रूप में अस्पृश्यता का आचरण विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।''** भारत के दलित वर्गों की गिरी हुई स्थिति में सुधार करने के लिए संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था करना आवश्यक भी था।

(16) **संकटकालीन प्रावधान**—संकटकाल के सम्बन्ध में विशेष प्रावधान हमारे संविधान की एक अन्य विशेषता है जिसके अनुसार संकटकाल में हमारी राज व्यवस्था में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं। संविधान में तीन प्रकार के संकटकाल का उल्लेख किया गया है :

(i) युद्ध या बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति के उत्पन्न होने पर (**अनुच्छेद 352**)।

(ii) राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था के भंग हो जाने पर (**अनुच्छेद 356**)।

(iii) वित्तीय संकट के उत्पन्न होने पर (**अनुच्छेद 360**)

संकटकालीन घोषणा का सबसे प्रमुख प्रभाव यह होता है कि हमारा संघात्मक शासन एकात्मक हो जाता है। ये संकटकालीन प्रावधान संविधान को लचीलापन प्रदान करते हैं जो कि भारत देश की परिस्थितियों में नितान्त आवश्यक है।

(17) **कल्याणकारी राज्य की स्थापना का आदर्श**—संविधान के नीति निदेशक तत्वों के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि संविधान-निर्माताओं द्वारा भारत के लिए एक आदर्श निश्चित किया गया है और वह आदर्श है **कल्याणकारी राज्य की स्थापना।** भारतीय संविधान के निर्माता स्पष्ट रूप से यह चाहते थे कि भारत की केन्द्रीय और राज्य सरकारें, भारतीय नागरिकों को पुष्टिकर भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान कर उनके जीवन स्तर को ऊंचा उठायें तथा इन सबके लिए अधिकाधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना की जाये। केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें संविधान में निर्दिष्ट इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं।

(18) **राष्ट्रीय भाषा की व्यवस्था**—राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए हमारे संविधान में हिन्दी को देवनागरी लिपि में भारत की राष्ट्र भाषा घोषित किया गया है। इसके साथ ही संघीय सरकार के सभी कार्यालयों में संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद तक अंग्रेजी के प्रयोग की आज्ञा दे दी गयी। संविधान में यह भी कहा गया है कि संसद के द्वारा 15 वर्ष बाद भी आज्ञा जारी कर अंग्रेजी के प्रयोग की अनुमति दी जा सकती है। सन् 1965 में **'सहभाषा विधेयक'** पास कर हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी को जारी रखने की अनुमति दी गयी। **एक राष्ट्रभाषा की यह व्यवस्था क्षेत्रीय भाषाओं की प्रगति के मार्ग में बाधक नहीं है।** संविधान में 18 भारतीय भाषाओं को विभिन्न राज्यों में प्रादेशिक भाषा के रूप में प्रयोग के लिए स्वीकार कर लिया गया है।

(19) **ग्राम पंचायतों की स्थापना**—संविधान-निर्माताओं ने जहां एक ओर बीसवीं सदी की शासन व्यवस्था को अपनाया है, वहां दूसरी ओर इस बात को नहीं भुलाया है कि भारतीय व्यवस्था के आधार 'ग्राम' हैं, जिनका प्रबन्ध ग्राम पंचायतों के आधार पर ही भली-भांति सम्पन्न है। नीति निदेशक तत्वों में कहा गया है कि **'ग्राम पंचायतों की स्थापना कर उन्हें स्थानीय शासन की प्राथमिक इकाई बनाया जायगा।'** इसके अनुसार 1959 में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को अपनाया गया और ग्रामीण क्षेत्र में पंचायतों, पंचायत समितियों व जिला परिषदों की स्थापना की गयी है। 1993 में 73वें संवैधानिक संशोधन द्वारा पंचायती राज और 74वें संवैधानिक संशोधन द्वारा शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की समाप्ति, वयस्क मताधिकार का प्रारम्भ, विश्व शान्ति का समर्थन, स्त्री-पुरुष की समानता तथा राजनीतिक एकता का पोषण, आदि भी भारतीय संविधान की विशेषताएं कही जा सकती हैं। संक्षेप में, भारत का नवीन संविधान जनता की प्रभुसत्ता के मूल सिद्धान्त पर आधारित है तथा भारतीय जनता की वास्तविक एकता का प्रतीक है। भारतीय संविधान के स्वरूप और विशेषताओं से स्पष्ट है कि भारत का संविधान एक ऐसा आदर्श प्रलेख है जिसमें सिद्धान्त और व्यावहारिकता का श्रेष्ठ समन्वय है।

संविधान के मूल ढांचे या आधारभूत सिद्धान्तों की धारणा

संविधान के मूल ढांचे की धारणा का आशय यह है कि संविधान की कुछ व्यवस्थाएं अन्य व्यवस्थाओं की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हैं, वे संविधान के मूल ढांचे के समान हैं और समस्त संवैधानिक व्यवस्था उन पर ही आधारित है। सर्वप्रथम इस धारणा का प्रतिपादनं सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 24 अप्रैल, 1973 को मूल अधिकारों से सम्बन्धित एक विवाद **'केशवानन्द भारती वनाम केरल राज्य'** पर निर्णय देते हुए किया गया। इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि संसद मूल अधिकारों को संशोधित या सीमित कर सकती है, किन्तु संविधान के अनुच्छेद 368 से संसद को संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन करने अथवा उसे नष्ट करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता।" **मिनर्वा मिल्स तथा अन्य** बनाम **भारत सरकार** (मई 1980) विवाद में भी सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा पुनः इस बात का प्रतिपादन किया गया।

1973 तथा 1980 के न्यायिक निर्णयों में आवश्यक स्पष्टता के साथ यह नहीं वतलाया गया कि 'संविधान के मूल ढांचे' या 'आधारभूत ढांचे' के अन्तर्गत संविधान की कौन-कौन सी व्यवस्थाएं आती हैं लेकिन **'केशवानन्द भारती विवाद'** (1973), **'इन्दिरा गांधी वनाम राजनारायण विवाद'** (1975) और **'मिनर्वा मिल्स विवाद'** (1980) में संविधान के मूल ढांचे के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख अवश्य किए गए, कुछ संकेत किए गए और कुछ उदाहरण दिए गए हैं। विभिन्न न्यायिक निर्णयों में किए गए उल्लेखों को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि संविधान के मूल ढांचे में निम्न बातें अवश्य ही आती हैं :

1. संविधान की सर्वोच्चता,
2. भारत का सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का स्वरूप,
3. संविधान का पंथ निरपेक्ष स्वरूप तथा अन्तःकरण की स्वतन्त्रता,
4. विधि का शासन,
5. प्रतिष्ठा और अवसर की समता तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य,
6. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था,
7. भारत की एकता तथा अखण्डता,
8. शासन के अंगों में शक्तियों का पृथक्करण,
9. मूल अधिकारों व निदेशक तत्वों के बीच सन्तुलन।

कुछ राजनीतिक नेताओं और विधि विशेषज्ञों का विचार है कि संघात्मक व्यवस्था और संसदीय या मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था को भी संविधान के मूल ढांचे का अंग समझा जाना चाहिए, लेकिन कुछ अन्य पक्ष इस वात को स्वीकार नहीं करते हैं।

इस प्रकार संविधान के मूल ढांचे में अन्तिम रूप से परिवर्तन का अधिकार संसद या राज्य विधान सभाओं को नहीं, वरन् स्वयं जनता को ही है। इस सम्बन्ध में प्रक्रिया यह हो सकती है कि संसद द्वारा संविधान में किये गये उपर्युक्त परिवर्तन पर लोकनिर्णय के माध्यम से जन-स्वीकृति प्राप्त की जाय। जन-स्वीकृति प्राप्त करने के लिए अन्य किसी तरीके को अपनाया जा सकता है, लेकिन संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन के लिए जन-स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। संविधान की समीक्षा के लिए संवैधानिक आयोग का गठन कर या नई संविधान सभा बुलाकर भी संविधान के आधारभूत ढांचे में परिवर्तन किया जा सकता है। संवैधानिक आयोग या नई संविधान सभा गठित करने का कार्य संसद कर सकती है। इसी कारण इस विचार को **'जन सर्वोच्चता या 'जन सम्प्रभुता की धारणा'** (Concept of People's Supremacy or Peoples sovereignty) का नाम भी दिया जा सकता है।

भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया

भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया है, अतः संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैण्ड के संविधानों की तरह भारत में भी एक कठोर संविधान अपनाया गया है, लेकिन संविधान निर्माता अमरीका जैसे अत्यधिक कठोर संविधान को अपनाने से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों से परिचित थे, अतः उनके द्वारा संविधान में संशोधन के लिए एक ऐसी प्रक्रिया को अपनाया गया है, जो न तो इंगलैण्ड के संविधान की तरह अत्यधिक लचीली है और न ही अमरीका के संविधान की तरह कठोर। पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस सम्बन्ध में संविधान सभा में कहा था **"यद्यपि जहां तक सम्भव हो, हम इस संविधान को एक ठोस और स्थायी संविधान का रूप देना चाहते हैं, संविधान में कोई स्थायित्व नहीं होता। इसमें कुछ लचीलापन होना ही चाहिए। यदि आप इसे कठोर और स्थायी बनाते हैं तो आप एक राष्ट्र की प्रगति पर जीवित, प्राणवत् एवं शरीरधारी व्यक्तियों की प्रगति पर रोक लगा देते हैं।"**

भारतीय संविधान में संशोधन के लिए तीन प्रणालियों को अपनाया गया है : (क) साधारण विधि द्वारा संशोधन की प्रक्रिया, (ख) संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया तथा (ग) संसद के विशिष्ट बहुमत और राज्य के विधानमण्डलों की स्वीकृति से संशोधन की प्रक्रिया।

(क) साधारण विधि द्वारा संशोधन की प्रक्रिया—संविधान के अनेक अनुच्छेदों में साधारण विधि निर्माण की प्रक्रिया अर्थात् संसद के दोनों सदनों के पृथक-पृथक साधारण बहुमत द्वारा संशोधन करने की व्यवस्था की गयी है। संसद के साधारण बहुमत द्वारा पारित होने तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने पर किसी विधेयक द्वारा संविधान के इन अनुच्छेदों में परिवर्तन किया जा सकता है। राज्यों के क्षेत्र, सीमा और नाम में परिवर्तन, राज्य की व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन का निर्माण और समाप्ति, नागरिकता, अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों से सम्बन्धित व्यवस्थाएं इसी के अन्तर्गत आती हैं।

(ख) संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया—इसके अन्तर्गत संविधान की वे व्यवस्थाएं आती हैं जिनमें संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा ही संशोधन किया जा सकता है। संविधान के ऐसे संशोधन का विधेयक किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है। यदि संसद का वह सदन कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से उस विधेयक को पारित कर दे तो वह दूसरे सदन में भेज दिया जाता है और उस सदन में भी इसी प्रकार पारित होने के बाद वह राष्ट्रपति की अनुमति से संविधान का अंग बन जाता है। मूल अधिकार, नीति निदेशक तत्व तथा संविधान की अन्य अनेक व्यवस्थाएं इसी के अन्तर्गत आती हैं।

(ग) संसद के विशिष्ट बहुमत और राज्य विधानमण्डलों की स्वीकृति से संशोधन की प्रक्रिया—अन्तिम तथा तीसरे वर्ग में संविधान की वे व्यवस्थाएं आती हैं जिनमें संशोधन के लिए संसद के विशिष्ट बहुमत अर्थात् संसद के दोनों सदनों द्वारा पृथक्-पृथक् अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से विधेयक पारित होना चाहिए तथा इस विधेयक का राज्यों के कुछ विधानमण्डलों में से कम-से-कम आधे द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है। संविधान के निम्नलिखित उपबन्धों को संशोधित करने के लिए इस प्रक्रिया को अपनाना होता है :

(i) राष्ट्रपति का निर्वाचन (अनुच्छेद 54),
(ii) राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति (अनुच्छेद 55),
(iii) संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार (अनुच्छेद 73),
(iv) राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार (अनुच्छेद 162),
(v) संघीय न्यायपालिका (भाग 5 का अध्याय 4),
(vi) राज्यों के उच्च न्यायालय (भाग 6 का अध्याय 5),
(vii) संघीय क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय (अनुच्छेद 241),
(viii) संघ तथा राज्यों के विधायी सम्बन्ध (भाग 2 का अध्याय 1),
(ix) सातवीं अनुसूची में से कोई भी सूची,
(x) संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व,
(xi) संविधान के संशोधन की प्रक्रिया से सम्बन्धित उपबन्ध, जिनका उल्लेख अनुच्छेद 368 में किया गया है।

24वें संवैधानिक संशोधन (1971) द्वारा संशोधन प्रक्रिया की एक अस्पष्टता दूर कर दी गयी है। इस संवैधानिक संशोधन में कहा गया है कि जब कोई संविधान संशोधन विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित होकर राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए रखा जाय तो इन्हें उस पर अनुमति दे देनी चाहिए।

भारतीय संविधान में संशोधन के लिए अपनायी गयी उपर्युक्त प्रक्रिया से नितान्त स्पष्ट है कि भारतीय संविधान लचीलेपन और कठोरता का अपूर्व सम्मिश्रण है। भारतीय संविधान में 31 जुलाई, 2006 ई. तक 94 संवैधानिक संशोधन हो चुके हैं।

प्रश्न

1. भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय गणतन्त्र के संविधान की प्रमुख विशेषताओं का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. 'भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है' स्पष्ट कीजिए।
4. भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान के किस भाग को 'संविधान की आत्मा' की संज्ञा प्रदान की गई है :
(अ) राष्ट्रपति का निर्वाचन (ब) मूल कर्तव्य
(स) नीति निदेशक तत्व (द) प्रस्तावना
2. भारतीय संसद ने नागरिकता के सम्बन्ध में 'भारतीय नागरिकता अधिनियम' कब बनाया?
(अ) 1940 में (ब) 1950 में (स) 1955 में (द) 1960 में
3. निम्न में से कौन-सी विशेषता भारतीय संविधान में नहीं है?
(अ) इकहरी नागरिकता (ब) संघीय शासन
(स) अध्यक्षात्मक शासन (द) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
4. भारत का संविधान कैसा है?
(अ) नम्य (लचीला) (ब) अनम्य (कठोर)
(स) नम्यता तथा अनम्यता का सम्मिश्रण (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
5. 'भारतीय संविधान वकीलों का स्वर्ग है।' भारतीय संविधान के सन्दर्भ में यह कथन किसका है :
(अ) सर आइवर जैनिंग्स (ब) मॉरिस जोन्स
(स) रजनी कोठारी (द) जवाहरलाल नेहरू
6. 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न' का अर्थ है :
(अ) आन्तरिक दृष्टि से भारत पर किसी अन्य देश का अधिकार नहीं है
(ब) बाहरी दृष्टि से भारत पर किसी अन्य देश का अधिकार नहीं है
(स) आन्तरिक या बाहरी दृष्टि से भारत पर किसी विदेशी सत्ता का अधिकार नहीं है
(द) भारत किसी भी देश में हस्तक्षेप कर सकता है
7. भारत एक 'लोकतन्त्रात्मक' राज्य है, अर्थात् :
(अ) भारत में राजसत्ता का प्रयोग जनता के द्वारा किया जाता है
(ब) भारत में राजसत्ता का प्रयोग राजा द्वारा किया जाता है
(स) भारत में राजसत्ता का प्रयोग राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है
(द) भारत में राजसत्ता का प्रयोग संसद द्वारा किया जाता है
8. भारतीय राज्य का स्वरूप 'गणतन्त्रात्मक' है। इसका क्या अभिप्राय है :
(अ) भारत राज्य का सर्वोच्च अधिकारी वंशानुगत सम्राट है
(ब) भारत राज्य का सर्वोच्च अधिकारी मनोनीत किया जाता है
(स) भारत राज्य का सर्वोच्च अधिकारी ब्रिटेन द्वारा नियुक्त किया जाता है
(द) भारत राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी भारतीय जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति है
9. संविधान की प्रस्तावना में निम्नलिखित में से किसका उल्लेख नहीं है :
(अ) स्वतन्त्रता (ब) समानता (स) बन्धुत्व (द) अहिंसा

[उत्तर—1. (द), 2. (स), 3. (स), 4. (स), 5. (अ), 6. (स), 7. (अ), 8. (द), 9. (द)।]

3

प्रस्तावना (उद्देशिका)
[THE PREAMBLE]

भारतीय संविधान की प्रस्तावना

प्रत्येक संविधान के प्रारम्भ में सामान्यतया एक प्रस्तावना होती है जिसके द्वारा संविधान में मूल उद्देश्यों व लक्ष्यों को स्पष्ट किया जाता है। इस प्रस्तावना का मुख्य प्रयोजन संविधान निर्माताओं के विचारों तथा उद्देश्यों को स्पष्ट करना होता है जिससे संविधान की क्रियान्विति तथा उसके पालन में संविधान की मूल भावना का ध्यान रखा जा सके।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना संविधान में जुड़ा हुआ एक श्रेष्ठ आभूषण है। यह तो भारत के प्रजातन्त्रीय गणतन्त्रात्मक राज्य का एक संक्षिप्त, लेकिन सारपूर्ण घोषणापत्र है। संविधान के गौरवपूर्ण मूल्यों को संविधान में इस प्रकार रखा गया है :

संविधान की मूल प्रस्तावना

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय,

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता,

प्रतिष्ठा और अवसर की समानता को प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सबमें

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए

दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् 2006 विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

42वें संवैधानिक संशोधन के बाद प्रस्तावना[1]

42वें संवैधानिक संशोधन (1976) के द्वारा भारतीय संविधान की प्रस्तावना में कुछ और शब्दों तथा भावों को जोड़ा गया है और अब संविधान की प्रस्तावना इस प्रकार है :

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न, <u>समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष</u>, लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय,

विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता,

प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता <u>तथा अखण्डता</u> सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए

1 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा जोड़े गये शब्द रेखांकित (underlined) हैं।

दृढ़-संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् 2006 विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।[1]

प्रस्तावना में व्यक्त किए गए भाव सर्वप्रथम पं. नेहरू द्वारा संविधान सभा के प्रथम अधिवेशन में ही 13 दिसम्बर, 1949 के **'उद्देश्य प्रस्ताव'** (Objective Resolution) में अपनाये गये थे। पं. नेहरू का यह **'उद्देश्य प्रस्ताव'** राष्ट्रीय आन्दोलन के लक्ष्यों तथा महात्मा गांधी के विचारों और भावनाओं पर आधारित था।

प्रस्तावना के कुछ मुख्य तत्वों की विवेचना निम्न प्रकार से की जा सकती है :

(i) हम, भारत के लोग—प्रस्तावना में, **'हम, भारत के लोग संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं'** शब्दों का जो प्रयोग किया गया है, उसमें तीन बातें स्पष्ट होती हैं। **प्रथम**, संविधान के द्वारा अन्तिम प्रभुसत्ता भारतीय जनता में निहित की गयी है; **द्वितीय**, संविधान निर्माता भारतीय जनता के प्रतिनिधि हैं तथा **तृतीय**, भारतीय संविधान भारतीय जनता की इच्छा का परिणाम है और भारतीय जनता ने ही इसे राष्ट्र को समर्पित किया है।

संविधान सभा सही रूप में भारतीय जनता की प्रतिनिधि थी और प्रस्तावना में व्यक्त शब्द **'हम, भारत के लोग'** न केवल भावात्मक दृष्टि से वरन् यथार्थतया भी सत्य हैं। इन शब्दों के विषय में **डॉ. अम्बेडकर** ने संविधान सभा में कहा था, **''मैं समझता हूं कि प्रस्तावना इस सदन के प्रत्येक सदस्य की इच्छानुसार यह प्रकट कर देती है कि इस संविधान का आधार जनता है एवं इनमें निहित प्राधिकार और प्रभुसत्ता सब जनता से प्राप्त हुई है।''**

'हम, भारत के लोग' शब्दों का एक अन्तर्निहित अभिप्राय यह भी है कि क्योंकि भारतीय जनता ने संविधान को निर्मित तथा स्वीकृत किया है, इसलिए भारतीय संघ का कोई एक राज्य अथवा अवयवी एककों का समूह न तो संविधान को समाप्त कर सकता है और न ही संविधान द्वारा निर्मित संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है।

(ii) सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतान्त्रिक गणराज्य—संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतान्त्रिक गणराज्य घोषित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि 26 जनवरी, 1950 ई. से भारत की **'अधिराज्य की स्थिति'** (Dominion Status) समाप्त हो गयी है और भारत संयुक्त राज्य अमरीका या स्विट्ज़रलैण्ड की भांति एक **'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न, लोकतान्त्रिक गणराज्य'** हो गया है।

सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न का अर्थ है कि आन्तरिक या बाहरी दृष्टि से भारत पर किसी विदेशी सत्ता का अधिकार नहीं है। भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी इच्छानुसार आचरण कर सकता है और वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते या सन्धि को मानने के लिए बाध्य नहीं है। भारत के संविधान में कहीं पर भी ब्रिटिश शासन सत्ता का उल्लेख नहीं किया गया है।

संविधान सभा में ही अनेक सदस्यों द्वारा इस बात पर बल दिया गया था कि भारत को एक **'समाजवादी राज्य'** घोषित किया जाना चाहिए। लेकिन सभा के अधिकांश सदस्यों का विचार था कि संविधान को किसी एक विशेष दर्शन के साथ जोड़कर उसे विवाद का विषय नहीं बनाया जाना चाहिए। अन्त मे द्वितीय विचार ही मान्य हुआ। लेकिन 1976 में तत्कालीन शासक वर्ग के द्वारा सोचा गया कि भारतीय राज व्यवस्था को एक दिशा दी जानी चाहिए और इस उद्देश्य से भारत राज्य के लिए **'समाजवाद'** शब्द का उल्लेख किया गया। **'समाजवाद' का भारतीय मॉडल** (Model) अन्य अधिक परिचित समाजवादों से अपने आप में भिन्न है और भारत के द्वारा अपनी विशेष परिस्थितियों के आधार पर ही इसे अपनाया जाएगा।

1 **"We, the people of India, having solemnly resolved to constitute India into a Sovereign, Socialist, Secular, Democratic, Republic and to secure to all its citizens;**
Justice, social, economic and political;
Liberty of thought, expression, faith, belief and worship;
Equality, of status and of opportunity; and to promote among them all;
Fraternity, assuring the dignity of the individual and the unity and integrity of the nation;
In our Constituent Assembly this twenty-sixth day of November 1949, do hereby adopt, enact and give to ourselves this constitution."

भारतीय संविधान द्वारा भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थिति प्रदान की गयी है लेकिन 1976 के पूर्व तक 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द को प्रस्तावना में स्थान नहीं दिया गया था अब इसे प्रस्तावना में स्थान दे दिया गया है। प्रस्तावना में 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द के उल्लेख से धर्मनिरपेक्षता को और बल प्राप्त हो गया है।

भारत एक लोकतन्त्रात्मक राज्य है, अर्थात् भारत में राजसत्ता का प्रयोग जनता के द्वारा किया जाता है। लेकिन भारतीय जनता अपनी इस राजसत्ता का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप में नहीं वरन् अप्रत्यक्ष रूप में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से ही करती है।

ब्रिटेन जैसे विश्व के कुछ ऐसे लोकतन्त्रात्मक राज्य हैं जहां राज्य का प्रधान वंशानुगत राजा होता है। लेकिन भारत एक लोकतन्त्रात्मक राज्य होने के साथ-साथ एक गणराज्य भी है। **भारतीय राज्य का गणतन्त्रात्मक स्वरूप** इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत राज्य का सर्वोच्च अधिकारी वंशक्रमानुगत राजा न होकर भारतीय जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति है। एक ओर तो भारत ने गणतन्त्रीय स्वरूप स्वीकार किया, किन्तु इसके साथ ही 16 मई, 1949 को भारत की संविधान सभा ने यह मान लिया कि भारत 'राष्ट्रमण्डल' (Commonwealth of Nations) का सदस्य बना रहे। राष्ट्रमण्डल की इस सदस्यता के आधार पर अनेक व्यक्तियों द्वारा विचार व्यक्त किया गया कि राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों द्वारा ब्रिटिश सम्राट को अपने प्रधान के रूप में स्वीकार किया जाता है, अतः भारत न तो सर्व प्रभुत्वसम्पन्न राज्य है और न ही गणतन्त्र।

वास्तव में उपर्युक्त विचार ठीक नहीं हैं। इसका कारण यह है कि राष्ट्रमण्डल एक लचीला संगठन है और जिस समय भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता प्रदान की गयी, उसी समय राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया था कि राष्ट्रमण्डल में भारत की स्थिति वैधानिक रूप में अन्य उपनिवेशों या सदस्य राज्यों से कुछ अलग है। वास्तव में भारत राज्य की प्रभुत्वसम्पन्नता या उसका गणतन्त्रात्मक रूप उसकी राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से बिल्कुल अप्रभावित है। इस सम्बन्ध में सदस्यों के भय का निराकरण करते हुए पं. नेहरू ने 10 मई, 1949 को संविधान सभा में कहा था : "हमने बहुत पहले पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति का संकल्प किया था और अब उसे प्राप्त कर लिया है। क्या एक देश द्वारा दूसरे देश के साथ समझौता कर लिए जाने से उसकी स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है? सामान्यतया समझौतों का मतलब किन्हीं प्रतिबद्धताओं (Commitments) से होता है, लेकिन राष्ट्रमण्डल की सदस्यता की कोई प्रतिबद्धताएं नहीं हैं। राष्ट्रमण्डल की शक्ति उसके लचीलेपन और सदस्यों की पूर्ण स्वतन्त्रता में ही निहित है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि यदि कोई भी सदस्य देश राष्ट्रमण्डल की सदस्यता का त्याग करना चाहे तो वह ऐसा कर सकता है।"

(iii) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय—प्रस्तावना के अन्तर्गत इन शब्दों के आधार पर संविधान के लक्ष्य का वर्णन किया गया है। यद्यपि हमारे संविधान के द्वारा प्रतिनिध्यात्मक शासन को अपनाया गया है, जो व्यवहार के अन्तर्गत बहुमत वर्ग का ही शासन होता है, लेकिन हमारे संविधान का लक्ष्य अपने सभी नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त करना है।

सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि समाज में व्यक्ति को व्यक्ति के नाते महत्व दिया जाना चाहिए और जाति, धर्म, वर्ण, लिंग, नस्ल, सम्पत्ति या अन्य किसी आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। सामाजिक न्याय की स्थिति के अन्तर्गत अस्पृश्यता या छुआछूत जैसी कृत्रिम सामाजिक दीवारों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। सामाजिक न्याय का तात्पर्य सभी नागरिकों को स्वतन्त्रता के साथ समानता प्रदान करना है।

आर्थिक न्याय सामाजिक न्याय का पूरक है और इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी व्यवस्था का अन्त कर दिया जाना चाहिए जिसमें कुछ साधन-सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा बहुसंख्यक साधनहीन व्यक्तियों का शोषण किया जाता हो। आर्थिक न्याय के इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी सम्भव है, जबकि उत्पादन और वितरण के साधनों पर समस्त समाज का अधिकार हो और उनका प्रयोग समस्त समाज के हितों की दृष्टि से ही किया जाए। इसमें सभी व्यक्तियों के लिए उनकी क्षमता और योग्यता के अनुसार रोजगार, रोजगार के बदले में भरण-पोषण के लिए पर्याप्त वेतन और गम्भीर आर्थिक विषमताओं का अन्त, आदि बातें निहित हैं। आर्थिक न्याय के इस लक्ष्य की प्राप्ति कल्याणकारी राज्य या समाजवादी ढांचे के समाज की स्थापना के आधार पर ही की जा सकती है।

'राजनीतिक न्याय' का तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियों को राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्र और समान रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। वयस्क मताधिकार और धर्म, जाति, वर्ण, लिंग, आदि के आधार पर राजनीतिक क्षेत्र में किसी भी भेदभाव का निषेध राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के साधन हैं।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के सन्दर्भ में '**समानता**' का जो उल्लेख किया गया है उसमें यह भाव निहित है कि समाज के कमजोर और पिछड़े हुए वर्गों के लिए न केवल अन्य व्यक्तियों के समान वरन् विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए, क्योंकि जब तक उनके लिए ऐसी सुविधाओं की व्यवस्था नहीं की जाएगी तब तक उनके द्वारा समाज के अन्य व्यक्तियों के समान अपने व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय की प्राप्ति का कार्य नहीं किया जा सकेगा। अतः भारतीय संविधान के अन्तर्गत कुछ वर्गों के लिए विशेष सुविधाओं की जो व्यवस्था की गयी है, वह न्याय की धारणा के अनुकूल और उसकी प्राप्ति का एक साधन है।

भारतीय संविधान के द्वारा प्रजातन्त्रीय व्यवस्था और वयस्क मताधिकार को अपनाकर राजनीतिक न्याय को तो तत्काल ही प्राप्त किया गया है। सामाजिक न्याय को प्राप्त करने के लिए मौलिक अधिकारों विशेषतया समानता के अधिकार में व्यवस्था की गयी है। धर्मनिरपेक्षता भी इसी दिशा में एक चरण है। लेकिन न्याय के सन्दर्भ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण '**आर्थिक न्याय**' है। हमारे संविधान निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि आर्थिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति तत्काल ही नहीं की जा सकती अतः उनके द्वारा आर्थिक न्याय से सम्बन्धित प्रावधानों को मौलिक अधिकारों में नहीं, वरन् नीति निदेशक तत्वों में स्थान दिया गया। भारत राज्य में आर्थिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक कदम उठाये गए हैं, लेकिन जो कुछ किया गया है, उसकी तुलना में बहुत अधिक किया जाना शेष है और हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि भारत के करोड़ों लोग आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बहुत लम्बे समय तक और मौन रूप में प्रतीक्षा नहीं करते रहेंगे।

(iv) **स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व**—भारतीय संविधान के अन्तर्गत न केवल न्याय, वरन् इसके साथ ही स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व को भारतीय संविधान का लक्ष्य घोषित किया गया है। हमारे संविधान निर्माता नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा से नहीं, वरन् ऐसी सकारात्मक स्वतन्त्रता से प्रेरित थे, जिसके आधार पर व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विकास सम्भव होता है। इसी आधार पर उनके द्वारा विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता को संविधान में स्थान दिया गया है। स्वतन्त्र न्यायपालिका की धारणा को अपनाते हुए संविधान के अन्तर्गत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उपयुक्त साधनों की भी व्यवस्था की गयी है।

समानता स्वतन्त्रता की पूरक है और हमारे संविधान निर्माताओं द्वारा समानता को दो '**आयामों**' में अपनाया गया है; ये हैं **प्रतिष्ठा की समानता** और **अवसर की समानता**। अवसर की समानता वह साधन है जिसके आधार पर प्रतिष्ठा की समानता को प्राप्त किया जा सकता है।

हमारे संविधान का अन्तिम आदर्श भ्रातृत्व या बन्धुता है और सम्भवतया इसकी प्रेरणा **10 दिसम्बर, 1948 ई. के 'मानवीय अधिकारों के सार्वलौकिक घोषणा-पत्र'** (Universal Declaration of Human Rights) के प्रथम अनुच्छेद से प्राप्त की गयी है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि **"सभी मानव स्वतन्त्र उत्पन्न हुए हैं और सम्मान तथा अधिकारों में समान हैं। उन्हें प्रकृति से विवेक तथा विश्वास प्राप्त हुआ है तथा उनके द्वारा एक-दूसरे के प्रति भाई-चारे की भावना के आधार पर आचरण किया जाना चाहिए।"**

हमारे संविधान निर्माता भारत की विविधताओं के अन्तर्गत मूलभूत रूप में विद्यमान एकता से परिचित थे और वे चाहते थे कि भारत के नागरिक क्षेत्रीयता, प्रान्तवाद, भाषावाद और सम्प्रदायवाद को महत्व न देते हुए भारत की आधारभूत एकता के भाव को अपनायें। अतः हमारे संविधान का बन्धुता का आदर्श दो आधारों पर टिका हुआ है। ये आधार हैं—राष्ट्र की एकता और व्यक्ति की गरिमा। हमारे संविधान निर्माताओं के मन और मस्तिष्क में इस देश के समस्त नागरिकों के लिए बन्धुता और इसके साथ ही राष्ट्र की एकता का विचार बहुत अधिक प्रबल था और इसी कारण उनके द्वारा '**संघात्मकता**' के बावजूद '**एकल नागरिकता**' के आदर्श को अपनाया गया है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्रस्तावना के सम्बन्ध में एक बात को ध्यान में रखना चाहिए कि प्रस्तावना के शब्द बहुत अधिक पवित्र होते हुए भी उन्हें '**न्याय-योग्य**' (Justiciable) स्थिति प्राप्त नहीं होती है। **न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर के शब्दों में, "प्रस्तावना अपने आप में न तो शासन को शक्ति का एक स्रोत होती है और न ही शासन को किसी शक्ति से वंचित करने का साधन।"**[1] वस्तुस्थिति यह है कि जहां संविधान के शब्द अपने आप में नितान्त स्पष्ट हैं वहां

1 **'Preamble by itself is neither a source of power, nor a source of deprivation of power.'**

—*P. B. Gajendra Gadkar*

प्रस्तावना के आधार पर कोई दूसरा अर्थ नहीं दिया जा सकता है, लेकिन जहां संविधान के शब्दों में अस्पष्टता है, वहां उनकी व्याख्या के लिए प्रस्तावना का आश्रय लिया जा सकता है, क्योंकि जैसा कि भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव ने कहा है, "प्रस्तावना संविधान के आदर्शों व आकांक्षाओं को बताती है।"[1] न्यायाधीश महाजन ने 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' में कहा था कि "धारा 22(5) की जो व्याख्या मैंने की है, उसका समर्थन संविधान की प्रस्तावना में अभिव्यक्त शब्दों से होता है। यह प्रस्तावना हमारे संविधान को उत्कृष्ट रूप प्रदान करती है।"

इस प्रकार भारतीय संविधान की प्रस्तावना आज तक अंकित इस प्रकार के प्रलेखों में सबसे श्रेष्ठ है। यह संविधान की कुंजी तथा संविधान का सबसे श्रेष्ठ अंग है।

प्रश्न

1. भारतीय संविधान की प्रस्तावना पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए। 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में क्या परिवर्तन किया गया है?
2. 'भारतीय संविधान की प्रस्तावना का सम्बन्ध हमारी राजनीतिक व्यवस्था के आदर्शों एवं लक्ष्यों से है।' व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संविधान के आधारभूत उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का संविधान के किस भाग में वर्णन किया गया है :
   (अ) प्रस्तावना में (व) संविधान के भाग तीन में
   (स) संविधान के भाग चार में (द) संविधान के भाग आठ में
2. भारतीय संविधान को किस दिन अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया गया है :
   (अ) मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत दो हजार छः विक्रमी
   (व) मिति मार्गशीर्ष कृष्ण सप्तमी, संवत दो हजार छः विक्रमी
   (स) मिति मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी, संवत दो हजार आठ विक्रमी
   (द) मिति मार्ग शीर्ष शुक्ल अष्टमी, संवत् दो हजार आठ विक्रमी
3. संविधान की 'उद्देशिका' किस उद्देश्य की पूर्ति करती है?
   (अ) शासन की अन्तिम सत्ता का स्रोत (व) संविधान का उद्देश्य
   (स) संविधान के प्रवर्तन की तिथि (द) उपर्युक्त सभी उद्देश्यों की
4. भारतीय संविधान की प्रस्तावना के अनुसार भारत की सर्वोच्च सत्ता किसमें निहित है?
   (अ) राष्ट्रपति (व) प्रधानमन्त्री (स) जनता (द) संसद
5. मूल संविधान की प्रस्तावना के अनुसार, भारत एक........है :
   (अ) सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य
   (व) सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी गणराज्य
   (स) सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक धर्मनिरपेक्ष
   (द) सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न धर्मनिरपेक्ष समाजवादी
6. 42वें संविधान संशोधन द्वारा निम्न में से कौनसा शब्द प्रस्तावना में नहीं जोड़ा गया है :
   (अ) धर्मनिरपेक्ष (व) समाजवादी
   (स) एकता तथा अखण्डता (द) विश्वशान्ति
7. संविधान सभा में नेहरू जी द्वारा प्रस्तावित 'उद्देश्य प्रस्ताव' में व्यक्त किए गए भाव संविधान के किस भाग में सम्मिलित किए गए हैं :
   (अ) मूल अधिकार (ब) प्रस्तावना
   (स) नीति निदेशक तत्व (द) मूल कर्तव्य
8. भारतीय संविधान की प्रस्तावना को :
   (अ) न्याय योग्य स्थिति प्राप्त है (ब) न्याय योग्य स्थिति प्राप्त नहीं है
   (स) प्रस्तावना के कुछ भाग को न्याय योग्य स्थिति प्राप्त है
   (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

[उत्तर—1. (अ), 2. (अ), 3. (द), 4. (स), 5. (अ), 6. (द), 7. (ब), 8. (ब)।]

1 'The preamble contains in a nutshell its ideals and its aspirations.'
—C. J. Subba Rao, *Golak Nath vs. State of Punjab*, A.I.R., 1967, p. 1655.

4

मूल अधिकार और मूल कर्तव्य
[FUNDAMENTAL RIGHTS AND FUNDAMENTAL DUTIES]

मूल अधिकारों की आवश्यकता और महत्व

व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या सदैव से ही बहुत अधिक जटिल रही है और वर्तमान समय की प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में इस समस्या ने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया है। वर्तमान समय में ऐसा माना जाता है कि राज्य की शक्ति पर ऐसे नियन्त्रण स्थापित किये जाने चाहिए, जिससे राज्य नागरिकों पर शक्ति का प्रयोग न कर सके। राज्य की शक्ति पर ऐसे प्रतिबन्ध मूल अधिकारों के माध्यम से ही लगाये जा सकते हैं। इसी बात को दृष्टि में रखकर फ्रांस, अमरीका, आदि देशों के संविधानों में मूल अधिकारों को स्थान दिया गया है। भारतीय संविधान सभा के सदस्यों ने ब्रिटिश शासन के अत्याचार प्रत्यक्ष रूप में देखे थे और बहुतों के द्वारा इन अत्याचारों की भयानकता स्वयं अनुभव की गयी थी। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से उनके द्वारा यह सोचा गया कि ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी जानी चाहिए, जिससे अब शासन जनता पर इस प्रकार के अत्याचार न कर सके। भारत में प्रजातन्त्र नया-नया ही स्थापित किया जा रहा था, इस कारण भी नागरिकों के अधिकारों को विधानमण्डल की इच्छा पर छोड़ना उचित नहीं समझा गया। इस सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर ने कहा, **"भारत में इन अधिकारों को विधानमण्डलों या सरकार की इच्छा पर छोड़ देना उचित नहीं था, क्योंकि भारत में लोकतन्त्र अब तक पूर्ण रूप से पनप नहीं पाया है, इसलिए इन अधिकारों को संविधान में रख दिया गया।** इस प्रकार मूल अधिकार नागरिक को कल्याण, न्याय और उचित व्यवहार की सुरक्षा प्रदान करते हैं और राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं।

मूल अधिकार का अर्थ—मूल अधिकार वे अधिकार होते हैं **जो व्यक्ति के जीवन के लिए मूल तथा अपरिहार्य होने के कारण संविधान के द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और व्यक्ति के इन अधिकारों में राज्य के द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता।**

व्यक्ति के इन अधिकारों को कई कारणों से मूल कहा जा सकता है। **प्रथम**, व्यक्ति के भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए ये अधिकार नितान्त आवश्यक हैं। इनके अभाव में उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। इसलिए लोकतन्त्रात्मक राज्य के प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के मूल अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इन अधिकारों को मूल कहने का दूसरा कारण यह है कि इन्हें देश की मूल विधि अर्थात् संविधान में स्थान दिया जाता है और साधारणतया संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया के अतिरिक्त इनमें और किसी प्रकार से परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। **'गोपालन बनाम मद्रास राज्य'** के विवाद में मुख्य न्यायाधीश **श्री पातंजलि शास्त्री** ने कहा था, **"मूल अधिकारों की यह मुख्य विशेषता है कि वे राज्य द्वारा पारित विधियों से ऊपर हैं।"**[1] **तृतीय**, मूल अधिकार को वैधानिक शक्ति प्राप्त है अर्थात् व्यवस्थापिका या कार्यपालिका द्वारा इनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। यदि सरकार के इन अंगों द्वारा मूल अधिकारों के विरुद्ध कोई भी कार्य किया जाय तो न्यायपालिका द्वारा उन्हें अवैधानिक घोषित कर दिया जायेगा।

भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र की विशेषताएं

यद्यपि मूल अधिकारों के सम्बन्ध में भारतीय संविधान द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका और आधुनिक संविधानों से प्रेरणा ली गयी है, लेकिन भारतीय संविधान का अधिकार-पत्र अधिकारों और उनसे सम्बद्ध व्यवस्था के

1 **"Paramountcy to state made laws is the hall-mark of fundamental rights."** —*Patanjali Shastri*

सम्बन्ध में वैसा ही नहीं है जैसे कि अन्य संविधानों के अधिकार-पत्र हैं। भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र की निम्न विशेषताएं हैं :

(1) **सर्वाधिक विस्तृत अधिकार-पत्र**—भारतीय संविधान का तृतीय भाग जिसमें मूल अधिकारों का विवेचन किया गया है, विश्व के अन्य किसी भी संविधान में दिये गये अधिकार-पत्र से विस्तृत है। संविधान के अन्तर्गत मूल अधिकारों के सम्बन्ध में 22 अनुच्छेद (अनुच्छेद 12 से 30 और 32 से 35) हैं और इनमें से कुछ अनुच्छेद तो असाधारण रूप से लम्बे हैं। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में पूर्ण और स्पष्ट व्यवस्था करने के प्रयास में ही अधिकार-पत्र इतना विस्तृत हो गया है।

(2) **मूल अधिकार व्यावहारिकता पर आधारित**—भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार कोरे सिद्धान्तों की अपेक्षा वास्तविकता पर आधारित और सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए, सभी व्यक्तियों हेतु समानता के अधिकार को स्वीकार करते हुए भी पिछड़े हुए और दलित वर्गों के विकास के लिए संविधान में विशेष व्यवस्था की गयी है, शिक्षा और संस्कृति की स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के शिक्षा और भाषा सम्बन्धी हितों की रक्षा का प्रबन्ध किया गया है और धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार की व्यवस्था इस दृष्टिकोण से की गयी है कि समाज में धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन मिले।

(3) **मूल अधिकार सीमित हैं, अमर्यादित नहीं**—हमारे संविधान में असीमित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आदर्श को नहीं अपनाया गया है, वरन् सामाजिक हित में स्वतन्त्रता को सीमित करना स्वीकार कर लिया गया है। संविधान में ही नागरिकों के अधिकारों के साथ-साथ प्रतिबन्धों की व्यवस्था भी कर दी गयी है जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सामाजिक कल्याण और राज्य की सुरक्षा के आदर्शों में सन्तुलन बना रहे।

(4) **मूल अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था**—भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकार केवल कागजी प्रतिज्ञाएं मात्र नहीं हैं। वे पूर्ण वैधानिक अधिकार हैं और संविधान ने न्यायालयों को आज्ञा दी है कि वे देखें कि नागरिकों के मूल अधिकारों का हनन न होने पाये। संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयों की शरण ले सकता है और न्यायपालिका, व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के ऐसे सभी कानूनों और कार्यों को अवैधानिक घोषित कर देगी, जो मूल अधिकारों को अनुचित रूप से प्रतिबन्धित करते हों।

संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार

भारतीय संविधान में भाग 3 द्वारा नागरिकों को 7 मूल अधिकार प्रदान किये गये थे, किन्तु 44वें **संवैधानिक संशोधन** (1979) द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया गया है। अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार के रूप में है। इस प्रकार अब भारतीय नागरिकों को 6 मूल अधिकार प्राप्त हैं।

(1) समानता का अधिकार

समानता का अधिकार प्रजातन्त्र का आधार स्तम्भ है, अतः भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र में सर्वप्रथम **अनुच्छेद** 14 से लेकर 18 तक समानता के अधिकार का उल्लेख किया गया है। संविधान के द्वारा नागरिकों को निम्नलिखित पांच प्रकार की समानताएं प्रदान की गयी हैं :

(1) **कानून के समक्ष समानता**—अनुच्छेद 14 के अनुसार, **"भारत के राज्य क्षेत्र में राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।"** इस व्यवस्था का आशय यह है कि राज्य सभी व्यक्तियों के लिए एक-सा कानून बनायेगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा। दूसरे शब्दों में, समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों के साथ कानून का व्यवहार एक-सा होगा।

कानून के समक्ष समानता का तात्पर्य यह नहीं है कि औचित्यपूर्ण आधार पर और कानून द्वारा मान्य किसी भेदभाव की भी व्यवस्था नहीं की जा सकती। यदि कानून कर लगाने के सम्बन्ध में धनी और गरीब में और सुविधाएं प्रदान करने में स्त्री और पुरुषों में भेद करता है तो इसे कानून के समक्ष समानता का उल्लंघन नहीं कहा जा सकता।

(2) **सामाजिक समानता**—कानून के समक्ष समानता के साथ-साथ संविधान के द्वारा सामाजिक समानता की भी व्यवस्था की गयी है। अनुच्छेद 15 के अनुसार **"राज्य द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान, आदि**

के आधार पर नागरिकों के प्रति जीवन के किसी क्षेत्र में पक्षपात नहीं किया जायेगा।" कानून के द्वारा निश्चित कर दिया गया है कि सब नागरिकों के साथ दुकानों, होटलों तथा सार्वजनिक स्थानों, जैसे कुओं, तालाबों, स्नानघरों, सड़कों, आदि पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा।

(3) सरकारी पदों की प्राप्ति के लिए अवसर की समानता—अनुच्छेद 16 के अनुसार, **"सब नागरिकों को सरकारी पदों पर नियुक्ति के लिए समान अवसर प्राप्त होंगे और इस सम्बन्ध में केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान या इनमें से किसी के आधार पर सरकारी नौकरी या पद प्रदान करने में भेदभाव नहीं किया जायेगा।"** इसके अन्तर्गत राज्य को यह अधिकार भी है कि वह राजकीय सेवाओं के लिए आवश्यक योग्यताएं निर्धारित कर दे। संसद कानून द्वारा संघ में सम्मिलित राज्यों को अधिकार दे सकती है कि वे उस पद के उम्मीदवार के लिए उस राज्य का निवासी होना आवश्यक ठहरा दें। इसी प्रकार सेवाओं में पिछड़े हुए वर्गों के लिए भी स्थान सुरक्षित रखे जा सकते हैं।

(4) अस्पृश्यता का अन्त—अनुच्छेद 17 के द्वारा **अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है** और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध कर दिया गया है। अस्पृश्यता से उत्पन्न होने वाली किसी अयोग्यता को लागू करना अपराध घोषित किया गया है, जो कानून के अनुसार दण्डनीय होगा।

संविधान द्वारा अस्पृश्यता का निषेध कर दिये जाने पर भी व्यवहार में और विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में अस्पृश्यता का व्यवहार होता रहता है। अतः संसद द्वारा पूरे भारत के लिए **'अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति अत्याचार निरोधक कानून, 1989'** बनाया गया है। अस्पृश्यता के अन्त के लिए बने कानूनों में यह सबसे अधिक कठोर है। आवश्यकता इस बात की है कि इस कानून का उपयोग अवश्य हो, लेकिन कोई दुरुपयोग न हो।

(5) उपाधियों का अन्त—अनुच्छेद 18 में व्यवस्था की गयी है कि **"सेना अथवा विद्या सम्बन्धी उपाधि के अतिरिक्त राज्य कोई अन्य उपाधि प्रदान नहीं कर सकता।"** इसके साथ ही भारत का कोई भी नागरिक बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता।

ब्रिटिश शासनकाल में राय बहादुर, खान साहब, सर, आदि की उपाधियां दी जाती थीं, नवीन संविधान के अन्तर्गत उनका अन्त कर दिया गया है, नवीन संविधान के अन्तर्गत भारत राज्य के प्रति की गयी सेवाओं के उपलक्ष में **भारत रत्न, पद्‌म विभूषण, पद्‌म भूषण और पद्‌मश्री**, आदि उपाधियों की व्यवस्था की गयी है।

(2) स्वतन्त्रता का अधिकार

भारतीय संविधान का उद्देश्य विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वाधीनता सुनिश्चित करना है, अतः संविधान के अनुच्छेद 19 से लेकर 22 तक स्वतन्त्रता के अधिकार का उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 19 सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मूल संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को 7 स्वतन्त्रताएं प्रदान की गयी थीं और इनमें छठी स्वतन्त्रता **'सम्पत्ति की स्वतन्त्रता'** थी। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा सम्पत्ति के मूल अधिकार के साथ-साथ 'सम्पत्ति की स्वतन्त्रता' भी समाप्त कर दी गयी है और अब नागरिकों को 6 स्वतन्त्रताएं ही प्राप्त हैं :

(1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता—भारत के सभी नागरिकों को विचार करने, भाषण देने और अपने व अन्य व्यक्तियों के विचारों के प्रचार की स्वतन्त्रता प्राप्त है। प्रेस भी विचारों के प्रचार का एक साधन होने के कारण इसी में प्रेस की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है। बम्बई उच्च न्यायालय की एकल पीठ ने जून 88 में एक ऐतिहासिक निर्णय में कहा कि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार दूरदर्शन और दूरदर्शन के कार्यक्रमों पर भी लागू होता है।[1] सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 10 फरवरी, 1995 के ऐतिहासिक निर्णय में कहा है कि, "विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार में शिक्षित करने, सूचना देने और मनोरंजन करने का अधिकार सम्मिलित है।" नागरिकों को विचार और अभिव्यक्ति की यह स्वतन्त्रता असीमित रूप में प्राप्त नहीं है। वरन् इस स्वतन्त्रता को **अपमान लेख और वचन, न्यायालय अपमान, शिष्टाचार या सदाचार पर आघात और राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मित्रतापूर्वक सम्बन्ध और सार्वजनिक व्यवस्था के हित में सीमित** किया जा सकता है।

1 *The Times of India*, 28 June, 1988.

सर्वोच्च न्यायालय ने विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की व्याख्या व्यापक दृष्टिकोण से करते हुए इस बात पर बल दिया है कि विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में 'सूचना प्राप्त करने का अधिकार सम्मिलित है', क्योंकि सही सूचना के आधार पर ही विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का उचित रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

(2) **अस्त्रशस्त्र रहित तथा शान्तिपूर्ण सम्मेलन की स्वतन्त्रता**—व्यक्तियों द्वारा अपने विचारों के प्रचार के लिए शान्तिपूर्वक और बिना किन्हीं शस्त्रों के सभा या सम्मेलन किया जा सकता है तथा उनके द्वारा जलूस या प्रदर्शन का आयोजन भी किया जा सकता है। यह स्वतन्त्रता भी असीमित नहीं है और राज्य द्वारा सार्वजनिक सुरक्षा के हित में व्यक्ति की इस स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है।

(3) **समुदाय और संघ निर्माण की स्वतन्त्रता**—संविधान के द्वारा सभी नागरिकों को समुदायों और संघों के निर्माण की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है, परन्तु यह स्वतन्त्रता भी उन प्रतिबन्धों के अधीन है, जिन्हें राज्य साधारण जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए लगाता है। इस स्वतन्त्रता की आड़ में व्यक्ति ऐसे समुदायों का निर्माण नहीं कर सकता जो षड्यन्त्र करें अथवा सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था को भंग करें।

(4) **भ्रमण की स्वतन्त्रता**—भारत के सभी नागरिक बिना किसी प्रतिबन्ध या विशेष अधिकार-पत्र के भारतीय क्षेत्र में घूम सकते हैं।

(5) **निवास की स्वतन्त्रता**—भारत के प्रत्येक नागरिक को भारत में कहीं भी रहने या बस जाने की स्वतन्त्रता है। भ्रमण और निवास के सम्बन्ध में यह व्यवस्था संविधान द्वारा अपनायी गयी इकहरी नागरिकता के अनुरूप है। भ्रमण और निवास की इस स्वतन्त्रता पर भी राज्य सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हित में उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है।

(6) **व्यवसाय की स्वतन्त्रता**—भारत के सभी नागरिकों को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे अपनी आजीविका के लिए कोई पेशा, व्यापार या कारोबार कर सकते हैं। राज्य साधारणतया व्यक्ति को न तो कोई विशेष नौकरी, व्यापार या व्यवसाय करने के लिए बाध्य करेगा और न ही उसके इस प्रकार के कार्य में बाधा डालेगा, किन्तु इस सम्बन्ध में राज्य को यह अधिकार प्राप्त है कि यह कुछ व्यवसायों के सम्बन्ध में आवश्यक वृत्ति या योग्यताएं निर्धारित कर सकता है अथवा किसी कारोबार या उद्योग को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से अपने हाथ में ले सकता है।

'स्वतन्त्रता के अधिकार' के अन्तर्गत ही 'गोपनीयता का अधिकार' भी सम्मिलित है। अतः सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय में टेलीफोन टैपिंग को गोपनीयता का उल्लंघन मानते हुए सामान्यतया टेलीफोन टैपिंग का निषेध किया है।[1]

अनुच्छेद 20, 21 और 22 द्वारा नागरिकों को अन्य स्वतन्त्रताएं और अधिकार प्रदान किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं :

कानून का उल्लंघन न होने तक दण्ड से स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 20 में कहा गया है कि **"किसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जब तक कि उसने अपराध के समय में लागू किसी कानून का उल्लंघन न किया हो।"** इसके साथ ही एक अपराध के लिए व्यक्ति को एक ही बार दण्डित किया जा सकता है।

जीवन और शरीर रक्षण का अधिकार—अनुच्छेद 21 में **'जीवन के अधिकार'** को मान्यता दी गयी है। इसमें कहा गया है कि **"किसी व्यक्ति को उसके प्राण तथा शारीरिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता।" 44वें संवैधानिक संशोधन (1979)** द्वारा जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार को और अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अब आपातकाल में भी जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 21 की व्याख्या करते हुए इस बात पर बल दिया है कि 'जीवन के अधिकार का आशय है, सम्मान के साथ जीवन का अधिकार'। अतः इस अधिकार में आवास का अधिकार और रोजगार का अधिकार सम्मिलित है। सभी नागरिकों के लिए इन अधिकारों की प्राप्ति भारतीय राज व्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए।

[1] **PUCL *Vs.* Union of India, 18 Jan. '97, *Hindustan Times*, 19 Jan. 1997.**

बन्दीकरण की अवस्था में अधिकार—अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं। इसमें कहा गया है कि उसके अपराध के बारे में अथवा बन्दी बनाने के कारणों को बताये बिना किसी व्यक्ति को अधिक समय तक बन्दीगृह में नहीं रखा जायेगा। उसे वकील से परामर्श करने और अपने बचाव के लिए प्रबन्ध करने का अधिकार होगा तथा बन्दी बनाये जाने के बाद 24 घण्टे के अन्दर-अन्दर (इसमें बन्दीगृह से न्यायालय तक जाने का समय सम्मिलित नहीं है) उसे निकटतम न्यायालय के सम्मुख उपस्थित किया जायगा। अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्तियों को जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, वे दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होंगे—**प्रथम, शत्रु देश के निवासियों पर और द्वितीय, 'निवारक निरोधक अधिनियम' (Preventive Detention Act) के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर।**

निवारक निरोध (Preventive Detention)

अनुच्छेद 22 के खण्ड 4 में निवारक निरोध की चर्चा की गयी है और यह भारतीय संविधान की सबसे विवादास्पद धारा है। यद्यपि संविधान में निवारक निरोध की परिभाषा नहीं दी गयी है, फिर भी यह कहा जा सकता कि **निवारक निरोध का तात्पर्य वास्तव में किसी प्रकार का अपराध किये जाने के पूर्व और बिना किसी प्रकार की न्यायिक प्रक्रिया के ही नजरबन्दी है।** निवारक निरोध का उद्देश्य व्यक्ति को अपराध के लिए दण्ड देना नहीं, वरन् उसे अपराध करने से रोकना है। सामान्यतया विश्व के अन्य देशों में केवल युद्धकाल में निवारक निरोध की व्यवस्था लागू की जाती है, लेकिन भारतीय संविधान के अन्तर्गत युद्ध और शान्ति दोनों समय के लिए निवारक निरोध की व्यवस्था की जा सकती है।

निवारक निरोध के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों के लिए इन संरक्षणों की व्यवस्था की गयी है—(क) अब किसी व्यक्ति को दो माह से अधिक समय तक के लिए नजरबन्द नहीं रखा जा सकता, जब तक कि 'परामर्शदाता मण्डल' (Advisory Board) द्वारा नजरबन्दी का काल बढ़ाने की सिफारिश न की जाय। **'परामर्शदाता मण्डल'** का गठन ऐसे व्यक्तियों से होगा जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने की योग्यता रखते हों। इस प्रकार एक स्वतन्त्र मण्डल द्वारा कार्यपालिका की शक्ति के अनुचित प्रयोग को रोका जा सकता है। इसके अतिरिक्त, नजरबन्द बनाये गये व्यक्ति को बन्दी बनाये जाने के कारणों से परिचित कराया जायेगा, यद्यपि जिन तथ्यों को प्रकट करना अधिकारी जनहित के विरुद्ध समझते हों, उनको स्पष्ट एवं प्रकट करने के लिए वे बाध्य नहीं होंगे। निवारक निरोध के अन्तर्गत नजरबन्द व्यक्तियों को यह अधिकार भी होगा कि वे नजरबन्दी आदेश के विरुद्ध **'अभ्यावेदन'** (Representation) प्रस्तुत कर सकें।

संविधान में की गई निवारक निरोध की व्यवस्था के अन्तर्गत अब तक निम्न कानूनों का निर्माण किया गया हैं :

निवारक निरोधक अधिनियम, 1950—संविधान में की गई व्यवस्था के अन्तर्गत 1950 में पारित इस अधिनियम की अवधि समय-समय पर बढ़ाई गई और यह 1969 तक चलता रहा। 1969 में इस अधिनियम की अवधि नहीं बढ़ाई जा सकी।

आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम (मीसा MISA)—1971 ई. में जब पाकिस्तान से शरणार्थियों का संकट उपस्थित हुआ तो राष्ट्रपति के द्वारा 7 मई, 1971 को **'आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अध्यादेश'** जारी किया गया और जून 1971 से ही इसने कानून का रूप प्राप्त कर लिया। इस कानून को बोलचाल की भाषा में **मीसा (MISA)** कहा जाता है। 'मीसा' की व्यवस्था 'निवारक निरोधक अधिनियम' से भी कठोर थी।

1971 में जारी किया गया **आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम'** 'मीसा' 44वें **संवैधानिक संशोधन के प्रतिकूल था और इस कारण यह अधिनियम 1979 में स्वतः ही रद्द हो गया।**

राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (National Security Act)—जनवरी 1980 में सत्ता परिवर्तन के बाद स्थापित इन्दिरा कांग्रेस सरकार द्वारा 22 सितम्बर, 1980 को 'राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश' जारी किया गया। घोषणा की गयी कि यह अध्यादेश जम्मू-कश्मीर के अतिरिक्त भारतीय संघ के अन्य सभी राज्यों पर लागू होगा। फरवरी 1981 में इस अध्यादेश को कानून का रूप प्रदान कर दिया गया और उसी समय से अब तक यह कानून के रूप में विद्यमान है।

भारत में केन्द्र और राज्य दोनों को ही निवारक निरोध कानून बनाने और लागू करने का अधिकार प्राप्त है तथा अधिकांश राज्यों ने अपने स्तर पर निवारक निरोध कानून बनाये और लागू किये हुए हैं।

मई '85 से 23 मई '95 तक 'टाडा' और अब उसका अंत—निवारक निरोध व्यवस्था के अन्तर्गत जिन कानूनों का निर्माण किया गया, उनमें संभवतया **सबसे अधिक कठोर कानून था**, 'आतंकवादी और विध्वंसात्मक गतिविधि निरोध अधिनियम' या 'टाडा'। इस कानून का मूल उद्देश्य आतंकवाद को नियंत्रित करना था और लगभग एक दशक तक (मई '85 से 23 मई '95) यह कानून लागू रहा। इस कानून से आतंकवाद को नियंत्रित करने में सफलता मिली, लेकिन इसके साथ ही कुछ राज्यों में टाडा का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों से भी किया गया। ऐसी स्थिति में टाडा की आलोचना की गई और न केवल विपक्ष वरन् शासक दल के भी एक भाग द्वारा मांग की गई कि टाडा को 23 मई '95 के बाद जारी नहीं रखा जाना चाहिए। इस मांग को स्वीकार कर लिया गया और वर्तमान में केन्द्रीय स्तर पर 'टाडा' लागू नहीं है।

'आतंकवाद निरोधक कानून'-पोटा (POTA) मार्च 2002—इस कानून में व्यवस्था थी कि यदि कोई व्यक्ति किसी आतंकवादी संगठन का सदस्य हो, आतंकवादी संगठन से मदद लेता हो या आतंकवादी संगठन के उपयोग के लिए किसी को मदद देता हो, तो उसे कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार किया जा सकता है। अपराध सिद्ध होने पर उसे अधिकतम 14 वर्ष की जेल तथा या जुर्माने की सजा होगी। इस कानून के अन्तर्गत प्रारम्भ में 25 संगठनों (सिमी, लिट्टे, दीनदार अन्जुमन व उल्फा आदि) को तथा 2002 ई. में ही कुछ और संगठनों को आतंकवादी संगठन घोषित किया गया।

'आतंकवाद निरोधक कानून' (पोटा) की समाप्ति—निवारक निरोधक कानून की श्रेणी में एक कठोर कानून **'आतंकवाद निरोधक कानून'** (पोटा) मार्च 2002 ई. में लागू किया गया था, लेकिन यह कानून और व्यवहार में कुछ राज्य सरकारों द्वारा इसका प्रयोग प्रारम्भ से ही भारी विवाद का विषय बन गया। मई, 2004 ई. में गठित 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' की सरकार ने अपने 'सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम' के अन्तर्गत इस कानून को समाप्त करने का संकल्प व्यक्त किया था और 21 सितम्बर, 2004 ई. को अध्यादेश के माध्यम से 'पोटा' कानून निरस्त कर दिया गया। पोटा समाप्त होने के उपरान्त 'राष्ट्रीय समीक्षा समिति' वर्ष भर तक पोटा के तहत दर्ज 333 मामलों की समीक्षा करेगी तथा समिति जिन मामलों को जारी रखने की सिफारिश करेगी, **केवल उन मामलों में पोटा के तहत मुकदमा जारी रहेगा।**

गैर-कानूनी गतिविधियां निवारण अध्यादेश (2004)—'पोटा' कानून को समाप्त करते हुए भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विद्यमान आतंकवाद से निबटने के लिए कठोर कानून की आवश्यकता अनुभव करते हुए सितम्बर, 2004 ई. में ही **'गैर कानूनी गतिविधियां निरोधक अध्यादेश'** जारी किया गया है। यह कानून मूलतः 1967 ई. में वनाया गया था। सितम्बर, 2004 ई. में इसमें 54 संशोधन करते हुए इसे अध्यादेश के रूप में स्वीकृति दी गई है। इस अध्यादेश में रद्द किए गए 'पोटा' कानून के कई प्रावधानों को जैसे का तैसा शामिल कर लिया गया है।

निवारक निरोध कानून या मीसा या 'टाडा' अथवा 'पोटा' की आलोचना और औचित्य

संविधान सभा में निवारक निरोध सम्बन्धी व्यवस्थाओं की कटु आलोचना की गयी थी। पं. ठाकुरदास भार्गव ने इसे **'असफलताओं का चर्मोत्कर्ष'** और बख्शी टेकचन्द्र ने इसे **'दमन और निरंकुशता का पत्र'** कहा था। न्यायालय के द्वारा भी इस व्यवस्था पर गम्भीर आक्षेप किये गये हैं। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश महाजन ने अपने एक निर्णय में कहा था **''निवारक निरोध कानून प्रजातन्त्रीय संविधानों के प्रतिकूल हैं एवं विश्व के अन्य किसी भी प्रजातान्त्रिक राज्य में वे नहीं पाये जाते हैं। यह आश्चर्य है कि भारतीय संविधान में इसे मूल अधिकारों के अध्याय में स्थान दिया गया है।''**

निवारक निरोध व्यवस्था की इन आलोचनाओं के वावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान परिस्थितियों में विध्वंसकारी तत्वों पर रोक लगाने के लिए यह व्यवस्था कुछ सीमा तक आवश्यक और उपयोगी है। न्यायमूर्ति पातंजलि शास्त्री ने गोपालन बनाम मद्रास राज्य के विवाद में कहा था, **''इस भयावह उपकरण की व्यवस्था उन समाज-विरोधी तथा विध्वंसकारी तत्वों के विरुद्ध की गयी है, जिनसे नवजात प्रजातन्त्र के राष्ट्रीय हित को खतरा है।''**

वस्तुतः निवारक निरोध की व्यवस्था एक **'भरी हुई बन्दूक'** (Loaded gun) के समान है और इसका प्रयोग बहुत अधिक सावधानी तथा विवेकपूर्वक ही किया जाना चाहिए।

(3) शोषण के विरुद्ध अधिकार

भारत में सदियों से किसी न किसी रूप में दासता की प्रथा विद्यमान रही है, जिसके अन्तर्गत हरिजनों, खेतिहर श्रमिकों तथा स्त्रियों पर अत्याचार किये जाते रहे हैं। संविधान के अनुच्छेद 23 और 24 द्वारा सभी नागरिकों को शोषण के विरुद्ध अधिकार प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न व्यवस्थाएं हैं :

(1) **मनुष्य के क्रय-विक्रय और बेगार पर रोक**—अनुच्छेद 23 (1) के अनुसार, **मनुष्य के क्रय-विक्रय और बेगार (जबरदस्ती श्रम) पर रोक लगा दी गयी है, जिसका उल्लंघन विधि के अनुसार दण्डनीय अपराध है।** इस सम्बन्ध में की गयी व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अपवाद यह है कि राज्य सार्वजनिक उद्देश्य से अनिवार्य श्रम की योजना लागू कर सकता है, लेकिन ऐसा करते समय राज्य नागरिकों के बीच धर्म, मूल-वंश, जाति, वर्ण या सामाजिक स्तर के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा।

(2) **बाल श्रम अर्थात् बच्चों को कारखानों, खानों, आदि में नौकर रखने का निषेध**—अनुच्छेद 24 में कहा गया है कि **14 वर्ष से कम आयु वाले किसी बच्चे को कारखानों, खानों या अन्य किसी जोखिम भरे, काम पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।**

1997 में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार को '6 माह में बाल मजदूरी खत्म करने का निर्देश दिया' तथा 'वाल पुनर्स्थापना कल्याण कोष' की भी स्थापना की। बाल मजदूरी की स्थिति को समाप्त करने की दिशा में कुछ प्रयत्न किये गये हैं, लेकिन तथ्य यह है कि बाल मजदूरी की स्थिति अव भी बनी हुई है। बन्धक मजदूरी हो या वाल मजदूरी; इन स्थितियों को जन्म देने वाले सामाजिक-आर्थिक कारणों को समाप्त किये विना इन्हें खत्म नहीं किया जा सकता।

(4) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 द्वारा व्यक्तियों को चाहे वे विदेशी हों या भारतीय नागरिक, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान किया है। संविधान में धार्मिक स्वतन्त्रता का उल्लेख बहुत अधिक व्यापक शब्दों में और धार्मिक अल्पसंख्यकों की सन्तुष्टि को ध्यान में रखकर किया गया है। इस सम्बन्ध में की गयी व्यवस्थाएं निम्न प्रकार हैं :

(1) **धार्मिक आचरण और प्रचार की स्वतन्त्रता—25वें अनुच्छेद द्वारा सभी व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक आचरण और धर्म प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। सिक्खों द्वारा कृपाण धारण करना धार्मिक स्वतन्त्रता का अंग माना गया है।**

(2) **धार्मिक मामलों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता**—अनुच्छेद 26 के द्वारा सभी धर्मों के अनुयायियों को यह अधिकार दिया गया है कि वे—

(i) धार्मिक और परोपकारी कार्यों के लिए संस्थाएं बना सकेंगे और उनका संचालन कर सकेंगे।
(ii) अपने धार्मिक मामलों का प्रबन्ध कर सकेंगे।
(iii) चल और अचल सम्पत्ति अर्जित कर सकेंगे और धार्मिक संस्थाओं की सम्पत्ति का प्रबन्ध राज्य के कानूनों के अनुसार कर सकेंगे।

(3) **धार्मिक कार्यों के लिए व्यय की जाने वाली राशि को कर से मुक्ति—अनुच्छेद 27 के द्वारा ऐसी समस्त आय को कर से मुक्त कर दिया गया है जिसे धार्मिक एवं परोपकारी कार्यों में खर्च करना निश्चित किया गया हो।**

(4) **शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने या न करने की स्वतन्त्रता**—भारत राज्य का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष राज्य का है जिसे धर्म के क्षेत्र में निष्पक्ष रहना है। अतः अनुच्छेद 28 में कहा गया है कि **"राजकीय निधि से चलने वाली किसी भी शिक्षण संस्था में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जायगी। इसके साथ ही राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था में किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।"**

किन्तु अन्य अधिकारों की भांति ही धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार भी असीमित नहीं है। राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता, स्वास्थ्य, आदि के हित में इसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसी प्रकार आर्थिक, राजनीतिक या अन्य किसी प्रकार के सार्वजनिक हित की दृष्टि से राज्य धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य सामाजिक हित और सुधार सम्बन्धी कार्य भी कर सकता है चाहे ऐसा करते हुए धार्मिक क्षेत्र में

हस्तक्षेप ही क्यों न करना पड़े। इस प्रकार सार्वजनिक हित की दृष्टि से उचित प्रतिबन्धों के साथ संविधान के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गयी है।

(5) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

संविधान के अनुच्छेद 29 और 30 के द्वारा भारत के सभी नागरिकों को संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में अग्रांकित व्यवस्थाएं हैं :

(1) अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी भाषा लिपि और संस्कृति सुरक्षित रखने का अधिकार—अनुच्छेद 29 के अनुसार, **''नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा लिपि, या संस्कृति सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार है।''** यह भी कह दिया गया है कि किसी राजकीय या राजकीय सहायता से संचालित शिक्षण संस्था में प्रवेश के सम्बन्ध में मूलवंश, जाति, धर्म और भाषा इनमें से किसी आधार पर भेदभाव नहीं किया जायगा।

(2) अल्पसंख्यक वर्गों की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व प्रशासन का अधिकार—अनुच्छेद 30 के अनुसार धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तथा उनके प्रशासन का अधिकार होगा। यह भी व्यवस्था की गयी है शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर भेदभाव नहीं करेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के अधीन हैं।

(6) संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)

संविधान में मूल अधिकारों के उल्लेख से अधिक महत्वपूर्ण बात उन्हें क्रियान्वित करने की व्यवस्था है, जिसके बिना मूल अधिकार अर्थहीन सिद्ध होंगे। संविधान निर्माताओं ने इस उद्देश्य से 'संवैधानिक उपचारों के अधिकार' को भी संविधान में स्थान दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि **नागरिक, अधिकारों को लागू करवाने के लिए सर्वोच्च न्यायालयों की शरण ले सकते हैं।** इन न्यायालयों के द्वारा व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित उन सभी कानूनों और कार्यपालिका के कार्यों को अवैधानिक घोषित कर दिया जाएगा, जो मूल अधिकारों के विरुद्ध हों। संवैधानिक उपचारों के अधिकार की व्यवस्था के महत्व को दृष्टि में रखते हुए **डा. अम्बेडकर** ने कहा था, **''यह संविधान का हृदय तथा आत्मा है।''**[1]

उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए निम्न पांच प्रकार के लेख जारी किये जा सकते हैं :

(1) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए यह लेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है, जो यह समझता है कि उसे अवैध रूप से बन्दी बनाया गया है। इसके द्वारा न्यायालय बन्दीकरण करने वाले अधिकारी को आदेश देता है कि वह बन्दी बनाये गये व्यक्ति को निश्चित समय और स्थान पर उपस्थित करे, जिससे न्यायालय बन्दी बनाये जाने के कारणों पर विचार कर सके। दोनों पक्षों की बात सुनकर न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि नजरबन्दी वैध है या अवैध और यदि अवैध होती है तो न्यायालय वन्दी को फौरन मुक्त करने की आज्ञा दे देता है। इस प्रकार अनुचित एवं गैर कानूनी रूप से बन्दी बनाये गये व्यक्ति बन्दी प्रत्यक्षीकरण के लेख के आधार पर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं।

(2) परमादेश (Mandamus)—परमादेश का लेख उस समय जारी किया जाता है, जब कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता। इस प्रकार के आज्ञा-पत्र के आधार पर पदाधिकारी को उसके कर्तव्यपालन का आदेश जारी किया जाता है।

(3) प्रतिषेध (Prohibition)—यह आज्ञा-पत्र सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालयों तथा अर्द्ध-न्यायिक न्यायाधिकरणों को जारी करते हुए उन्हें आदेश दिया जाता है कि वे इस मामले में अपने यहां कार्यवाही स्थगित कर दें, क्योंकि यह मामला उनके अधिकार-क्षेत्र के बाहर है।

(4) उत्प्रेषण (Certiorari)—यह आज्ञा-पत्र अधिकांशतः किसी विवाद को निम्न न्यायालयों से उच्च न्यायालय में भेजने के लिए जारी किया जाता है, जिससे वह अपनी शक्ति से अधिक अधिकारों का उपयोग न करे या अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हुए न्याय के प्राकृतिक सिद्धान्तों को भंग न करे। इस आज्ञा-पत्र के

1. **"Article 32 (Right of Constitutional Remedies) is the heart and soul of the constitution."**
—Dr. Ambedkar

आधार पर उच्च न्यायालय निम्न न्यायालयों के न्यायाधीशों से किन्हीं विवादों के सम्बन्ध में सूचना भी प्राप्त कर सकते हैं।

(5) अधिकार पृच्छा (Quo warranto)—जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप में कार्य करने लगता है, जिसके रूप में कार्य करने का उसे वैधानिक रूप से अधिकार नहीं है तो न्यायालय अधिकार पृच्छा के द्वारा उस व्यक्ति से पूछता है कि वह किस आधार पर इस पद पर कार्य कर रहा है और जब तक वह इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं देता, वह कार्य नहीं कर सकता।

व्यक्तियों द्वारा साधारण परिस्थितियों में ही न्यायालयों की शरण लेकर अपने मूल अधिकारों की रक्षा की जाती है, लेकिन युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह जैसी परिस्थितियों में जबकि राष्ट्रपति के द्वारा संकटकाल की घोषणा कर दी गयी हो, मूल अधिकारों की रक्षा के लिए कोई व्यक्ति किसी न्यायालय से प्रार्थना नहीं कर सकेगा। इस प्रकार संविधान के द्वारा संकटकाल में नागरिकों के मूल अधिकारों को स्थगित करने की व्यवस्था की गयी है।

शिक्षा (प्रारम्भिक शिक्षा) का मूल अधिकार (दिसम्बर 2002)

एक लम्बे अर्से के संघर्ष के बाद 86वें **संवैधानिक संशोधन** (दिसम्बर 2002) के आधार पर प्रारम्भिक शिक्षा को मूल अधिकार के रूप में संविधान में शामिल कर लिया गया है। अब अनुच्छेद 21 के बाद एक नया अनुच्छेद 21ए के रूप में जोड़ दिया गया है, जिसके अनुसार **'राज्य 6 से लेकर 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा देने को बाध्य होगा'** तथा इसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए कानून बनाकर व्यवस्था की जाएगी।

इस प्रावधान को यदि पूरी निष्ठा के साथ लागू किया गया, तो सन् 2010 ई. तक इस देश में शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्ति आ जाएगी। इसका हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर भी जबरदस्त प्रभाव पड़ेगा। वर्तमान समय में 6 से 14 वर्ष के लगभग 4.5 करोड़ बच्चे ऐसे हैं, जिन्होंने स्कूल का मुंह नहीं देखा। प्रारम्भिक शिक्षा का अधिकार मात्र मूल अधिकार के रूप में न रहे, वरन् इसे वास्तविकता का रूप प्राप्त हो सके। इसके लिए केन्द्र और राज्य दोनों ही सरकारों को बहुत व्यापक शासकीय और आर्थिक प्रबन्ध करने होंगे। इसके साथ ही बच्चों के माता-पिता सहित अन्य सभी को इस सम्बन्ध में जन-जागरूकता की स्थिति अपनानी होगी। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा था कि स्वतन्त्रता का आशय है—''व्यक्ति के लिए सम्मानपूर्ण जीवन' और सम्मानपूर्ण जीवन शिक्षा के बिना सम्भव नहीं है। अतः प्रारम्भिक शिक्षा के मूल अधिकार की व्यवस्था स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत अनुच्छेद 21 के बाद एक नया अनुच्छेद '21 ए' के रूप में जोड़कर की गई है।

सूचना की स्वतन्त्रता का विधेयक पारित होना—नागरिक मूल अधिकारों का व्यवहार में अधिकाधिक सम्भव सीमा तक उपभोग कर सके, इसके लिए उन्हें शासन से सभी आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। इस दृष्टि से मूल अधिकारों की क्रियान्विती की दिशा में एक कार्य दिसम्बर 2002 ई. में सम्पन्न हुआ है और वह है 'सूचना की स्वतन्त्रता का विधेयक पारित होना।' 2002 ई. में पारित इस विधेयक में अनेक कमियां थीं, इन कमियों को दूर करने की आवश्यकता अनुभव करते हुए 2004-05 ई. में संशोधित विधेयक पारित किया गया, लेकिन इस संशोधित विधेयक में भी वे कमियां बनी हुई हैं और सूचना की स्वतन्त्रता या सूचना प्राप्त करने का अधिकार बहुत अधिक सीमित-नियन्त्रित रूप में ही है।

सम्पत्ति का अधिकार—भारतीय नागरिकों को वर्तमान समय में सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार के रूप में प्राप्त नहीं है, लेकिन 1978 तक सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार के रूप में प्राप्त था। 1950 से लेकर 1978 तक इस अधिकार के सम्बन्ध में अनेक संवैधानिक संशोधन हुए और यह अधिकार बहुत अधिक विवाद का विषय रहा। अतः आज भी संवैधानिक इतिहास की दृष्टि से इस अधिकार का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है।

भारतीय संविधान में सार्वजनिक कल्याण को दृष्टि में रखते हुए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार और उस पर नियन्त्रण की आवश्यकता में सन्तुलन स्थापित किया गया है। अनुच्छेद 31 में घोषित किया गया है कि **''किसी भी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से उस समय तक वंचित नहीं किया जाएगा जब तक कि ऐसा करने के लिए 'विधि का प्राधिकार'** (Authority of Law) **प्राप्त न कर लिया जाय और क्षतिपूर्ति की व्यवस्था न कर दी जाय।''**

प्रथम संशोधन, 1951—मूल रूप से संविधान में जो व्यवस्था की गयी थी उसके अनुसार कानून द्वारा भी कोई ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकती थी, जिसके अन्तर्गत किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति बिना उचित मुआवजे के ली जा सके, किन्तु 1951 के प्रथम संवैधानिक संशोधन द्वारा इसमें परिवर्तन किया गया है। इस संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है कि जमींदारी व जागीरदारी, इत्यादि के अन्त से सम्बन्धित विधेयक मुआवजे की व्यवस्था के न होते हुए भी वैध समझे जायेंगे।

चतुर्थ संशोधन, 1955—प्रथम संशोधन के बाद भी राज्य द्वारा व्यक्तियों की भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति ग्रहण करने के मार्ग में कठिनाइयां बनी हुई थीं, अतः 1954 में संविधान में चतुर्थ संशोधन कर निश्चित किया गया कि **"सम्पत्ति ग्रहण करने के बदले में राज्य के द्वारा क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए, लेकिन क्षतिपूर्ति की मात्रा विधानमण्डल द्वारा निर्धारित की जायेगी और क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता की जांच न्यायपालिका द्वारा की जा सकेगी।"**

25वां संवैधानिक संशोधन, 1971—इसके द्वारा अनुच्छेद 31 को संशोधित कर तथा अनुच्छेद 31 (ग) के बाद कुछ शब्दों को छोड़कर यह व्यवस्था की गयी कि **'सम्पत्ति के सार्वजनिक दृष्टि से अर्जन और उसके मुआवजे की राशि को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी।'**

29वां संवैधानिक संशोधन, 1972—इस संशोधन द्वारा केरल की भूमि सुधार के दो विधेयकों को संविधान की 9वीं सूची में शामिल कर लिया गया और अब इन्हें न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा यह निश्चित किया गया कि यदि भूमि के सीमाकरण से व्यक्तिगत जोत की भूमि भी प्रभावित होती है तो राज्य के द्वारा यह भूमि प्राप्त की जा सकती है और व्यवस्थापिका के द्वारा इस भूमि के बदले में मुआवजा निश्चित किया जा सकता है, जो उस भूमि के बाजार मूल्य से कम हो अर्थात् न्यायालय को मुआवजे की धनराशि पर विचार करने का अधिकार नहीं होगा। 34वां संवैधानिक संशोधन, 1974 और 50वां संवैधानिक संशोधन, 1976 भी इसी आशय के थे।

सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति—संविधान लागू किये जाने के बाद से ही अनेक पक्षों द्वारा यह सोचा जा रहा था कि भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किया गया सम्पत्ति का मूल अधिकार सामाजिक-आर्थिक न्याय की प्राप्ति में बाधक बन रहा है और इसी कारण सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में नहीं बनाये रखा जाना चाहिए। 1977 में सत्तारूढ़ जनता पार्टी द्वारा चुनाव घोषणा-पत्र में कहा गया था कि 'सम्पत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार के रूप में नहीं रहेगा, वरन् यह केवल एक कानूनी अधिकार होगा।' अतः सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में **44वें संवैधानिक संशोधन** (अप्रैल 1979) में निम्न प्रकार से व्यवस्था की गयी है :

सम्पत्ति का अधिकार अब एक मूल अधिकार नहीं रहा है, वरन् केवल एक कानूनी अधिकार है। 'सम्पत्ति का अधिकार' मूल अधिकार के रूप में न रहने पर भी कानूनी प्रक्रिया के बिना शासन द्वारा किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं छीनी जा सकेगी। जिन व्यक्तियों के पास 'भूमि सीमाकरण कानून (Land Ceiling Act) की सीमा के भीतर भूमि है और इस भूमि पर वे स्वयं कृषि कार्य करते हैं तो बाजार मूल्य पर मुआवजा दिये बिना इन व्यक्तियों की भूमि राज्य द्वारा नहीं ली जा सकेगी।

मूल अधिकारों का मूल्यांकन

संविधान में वर्णित मूल अधिकारों की प्रमुख रूप से निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) कुछ प्रमुख अधिकारों का अभाव—मूल अधिकारों से सम्बन्धित व्यवस्था की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि इसमें कुछ ऐसी बातों को छोड़ दिया गया है, जिन्हें मूल अधिकार घोषित किया जाना चाहिए था। इस श्रेणी में काम करने का अधिकार, कुछ परिस्थितियों में राज्य से सहायता प्राप्त करने का अधिकार और सूचना प्रांप्त करने का अधिकार, आदि को रखा जा सकता है।

लेकिन उपर्युक्त आलोचना करने वाले व्यक्ति भूल जाते हैं कि किसी भी देश के संविधान द्वारा देश में विद्यमान साधनों के आधार पर ही अधिकार प्रदान किये जा सकते हैं और भारत राज्य के पास इतने आर्थिक साधन नहीं है कि अब भी इन अधिकारों को लागू किया जा सके। इतना होने पर भी भारतीय संविधान के निर्माता इन अधिकारों की ओर से उदासीन नहीं थे, इसलिये उन्होंने इन अधिकारों को उन नीति निदेशक तत्वों में स्थान दिया है, जिन्हें लागू करना शासकों का परम कर्तव्य समझा जाएगा।

(2) मूल अधिकारों पर बहुत अधिक प्रतिबन्ध एवं अपवाद—आलोचकों का कथन है कि भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारों के साथ इतने अधिक अपवाद और प्रतिबन्ध लगा दिए हैं कि यह समझना भी कठिन है कि व्यक्ति को मूल अधिकारों से क्या मिला? संविधान सभा में ही **सरदार हुक्मसिंह** ने कहा कि "यदि हम इन स्वतन्त्रताओं को व्यवस्थापिका की इच्छा पर ही छोड़ देते हैं जो कि एक राजनीतिक दल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, तो इन स्वतन्त्रताओं के अस्तित्व में ही सन्देह हो जाएगा।" इस वर्ग के आलोचक कहते हैं कि संविधान एक हाथ से मूल अधिकार प्रदान करता है और दूसरे हाथ से उन्हें छीन लेता है।

लेकिन इस श्रेणी के आलोचक भूल जाते हैं कि असीमित स्वतन्त्रता और अधिकार प्रदान करना न तो सम्भव है और न ही हितकर। मूल अधिकारों पर जो भी प्रतिबन्ध लगाए जायेंगे, उनका औचित्यपूर्ण होना आवश्यक है और प्रतिबन्धों के औचित्य के निर्णय की शक्ति व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को नहीं वरन् न्यायपालिका को प्रदान की गई है। इस सम्बन्ध में भूतपूर्व **न्यायाधीश** छागला अपनी पुस्तक '***Law, Liberty and Life***' में लिखते हैं कि '**संविधान के द्वारा प्रतिबन्धों के औचित्य के निर्णय की शक्ति व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को नहीं वरन् न्यायपालिका को सौंपी गई है और न्यायपालिका के स्वतन्त्र होने के कारण नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका पर भरोसा कर सकते हैं।**"

(3) संकटकालीन परिस्थितियों में मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था दोषपूर्ण—संविधान के द्वारा संकटकालीन परिस्थितियों में कार्यपालिका को मूल अधिकारों के स्थगन का भी अधिकार दिया गया है और संकटकाल के अतिरिक्त सामान्य परिस्थितियों में भी 'निवारक निरोध' की जो व्यवस्था की गई है, वह कटु आलोचना का विषय रही है। **श्री हरि विष्णु कामथ** ने इन व्यवस्थाओं का विरोध करते हुए संविधान सभा में कहा था, "**इस व्यवस्था द्वारा हम तानाशाही राज्य की और पुलिस राज्य की स्थापना कर रहे हैं।**"

लेकिन संविधान की इन व्यवस्थाओं का अध्ययन करते हुए यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि राष्ट्र की सुरक्षा व्यक्ति की स्वतन्त्रता से कहीं अधिक मूल्यवान है। शासन को मूल अधिकारों के अतिक्रमण का अधिकार केवल असामान्य परिस्थितियों में ही प्राप्त होता है और ऐसी परिस्थिति अल्पकालिक ही होती है। इस दृष्टि से मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था स्वतन्त्रता और मूल अधिकार के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। **अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर** ने मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था के सम्बन्ध में संविधान सभा में कहा था, "**यह व्यवस्था अत्यन्त ही आवश्यक है। यही व्यवस्था संविधान का जीवन होगी। इससे प्रजातन्त्र की हत्या नहीं वरन् रक्षा होगी।**"

मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्थाएं कुछ सीमा तक राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में आवश्यक होने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय संविधान में राष्ट्रीय सुरक्षा के सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक सावधानी बरती गई है। ऐसी स्थिति में मानवीय स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा के लिए स्वयं व्यक्तियों और न्यायालयों को पर्याप्त सजगता का परिचय देना आवश्यक है।

मूल अधिकार, संसद और सर्वोच्च न्यायालय

इस बात पर विवाद रहा है कि संसद मूल अधिकारों को संशोधित-परिवर्तित कर सकती है अथवा नहीं। इस प्रसंग में अन्तिम रूप से मान्य स्थिति, जिसे सर्वोच्च न्यायालय ने भी 1973 तथा 1980 के निर्णय में स्वीकार किया है कि सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में संसद की सत्ता उच्च है। स्थिति यह है कि संसद अधिकारों से सम्बन्धित किसी एक उपबन्ध या कुछ उपबन्धों को संशोधित-परिवर्तित कर सकती है, लेकिन मूल अधिकार संविधान के आधारभूत ढांचे का एक अंग है, अतः संसद मूल अधिकारों को समाप्त नहीं कर सकती। इस प्रकार मूल अधिकारों के प्रसंग में संसद के अधिकार की सीमाएं हैं और सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय इस बात पर विचार कर सकते हैं कि मूल अधिकारों को संशोधित परिवर्तित करने में संसद ने अपनी अधिकार सीमाओं का उल्लंघन तो नहीं किया है।

मानव अधिकारों की रक्षा की दिशा में विशेष प्रयत्न (1993)

मानव अधिकार आयोग और मानव अधिकार न्यायालयों का गठन

पिछले लगभग एक दशक से भारत में कुछ व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर '**एमनेस्टी इण्टरनेशनल**' तथा अन्य कुछ मानवीय अधिकार समर्थकों द्वारा यह कहा जा रहा था कि भारतीय संविधान में

'मूल अधिकारों का प्रावधान' होने के बावजूद व्यवहार में राजसत्ता से जुड़ी विविध एजेन्सियों (राज्य के पुलिस बल, अर्द्ध सैनिक बल, सेना और जेल-व्यवस्था, आदि) द्वारा अनेक बार मूल अधिकारों का हनन किया जाता है। अतः यह अनुभव किया गया कि नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए। अतः दिसम्बर 1993 में 'मानवाधिकार आयोग व न्यायालय' गठन सम्बन्धी विधेयक पारित किया गया।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (NHRC)

रचना—यह एक 8 सदस्यीय आयोग होगा। आयोग की अध्यक्षता[1] सर्वोच्च न्यायालय के वर्तमान या सेवा निवृत्त न्यायाधीश द्वारा की जाएगी। आयोग के अन्य सदस्य होंगे : सर्वोच्च न्यायालय का एक वर्तमान या सेवा निवृत्त न्यायाधीश, उच्च न्यायालय का एक सेवारत या सेवा निवृत्त मुख्य न्यायाधीश, दो प्रतिष्ठित व्यक्ति जिन्हें मानवीय अधिकारों के सम्बन्ध में ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हो, अल्पसंख्यक आयोग का अध्यक्ष, अनुसूचित जाति तथा जनजाति आयोग का अध्यक्ष तथा महिला आयोग का अध्यक्ष। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आयोग को **स्वशासी तथा वैधानिक स्तर प्राप्त है** तथा इसे **वित्तीय स्वायत्तता** प्राप्त होगी। आयोग का मुख्यालय भारत की राजधानी में होगा तथा केन्द्र सरकार की अनुमति से अन्य स्थानों पर आयोग के कार्यालय स्थापित किए जा सकते हैं।

आयोग का कार्यक्षेत्र, कार्य और कार्यविधि—आयोग को मानवीय अधिकारों (भारतीय संविधान से स्वीकृत अधिकारों और अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं से मान्यता प्राप्त व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता, समानता और गरिमा, आदि अधिकारों) के हनन, दुरुत्साहन और मानवीय अधिकारों के हनन की रोकथाम में सरकारी कर्मचारियों की उपेक्षा की सभी शिकायतों पर विचार करने का अधिकार होगा। आयोग अपनी प्रकृति में केवल जांच करने और सिफारिश करने वाली संस्था है, लेकिन यदि आयोग के सुझावों को सरकार द्वारा स्वीकार नहीं किया जाए, तो आयोग अपने तरीके से जनमत को जाग्रत करने की चेष्टा कर सकता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि आयोग को मानवीय अधिकारों के उल्लंघन की घटनाओं की स्वतन्त्र रूप से जांच करने का अधिकार प्राप्त है। जांच के लिए आयोग के अपने कर्मचारीगण होंगे तथा आयोग को केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार की जांच एजेन्सियों से सहायता प्राप्त करने का अधिकार भी होगा। आयोग प्रतिवर्ष अपनी रिपोर्ट सरकार को देगा तथा सरकार आयोग को सूचित करेगी कि उसकी सिफारिशों पर क्या कार्यवाही की गई है। राज्य स्तर पर मानव अधिकार आयोगों की स्थापना राज्य सरकार पर निर्भर करेगी और वे अपने मानव अधिकार आयोग की स्थापना से सम्बन्धित व्यवस्था में इच्छानुसार परिवर्तन कर सकेंगी।

'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग' ने 1994 के प्रारम्भिक दिनों से ही अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है। **'टाडा'** कानून की समाप्ति और **बाल श्रम का निषेध करने की बात पर बल** देने में इस आयोग का महत्वपूर्ण योगदान रहा है तथा अपने कार्यकाल के प्रथम 8 वर्षों में आयोग ने मानवीय अधिकारों की रक्षक संस्था के रूप में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है।

मूल कर्तव्य (Fundamental Duties)

1950 में लागू किए गए भारतीय संविधान में नागरिकों के केवल अधिकारों का ही उल्लेख किया गया था, मूल कर्तव्यों का नहीं, लेकिन 1976 में संविधान में व्यापक संशोधन करते समय यह अनुभव किया गया कि संविधान में नागरिकों के मूल कर्तव्यों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। अतः संविधान के चतुर्थ भाग के बाद भाग **'चतुर्थ अ'** (अनुच्छेद 51क) जोड़ा गया, जिसमें मूल कर्तव्यों की व्यवस्था की गई है। ये 10 मूल कर्तव्य निम्न प्रकार हैं :

1. **संविधान का पालन तथा उसके आदर्शों, संस्थाओं और राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान**—भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा कि वह संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

2. **राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन**—स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोये रखे और उनका पालन करे।

---

1. आयोग के प्रथम अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री रंगनाथ मिश्र थे। वर्तमान में न्यायमूर्ति ए. एस. आनन्द इस आयोग के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं।

3. भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा—प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाये रखे। इसे भारतीय नागरिकों के सर्वोच्च कर्तव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

4. देश की रक्षा और राष्ट्र सेवा—प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह देश की रक्षा करे और बुलाये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।

5. भारत के लोगों में समरसता और भ्रातृत्व की भावना का विकास—भारत के सभी भागों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का विकास करे, जो धर्म, भाषा, प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो और ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं। इस प्रकार दो कर्तव्यों का बोध कराया गया है : (1) समस्त भारतीयों के मध्य समरसता और भ्रातृत्व की भावना का विकास और (2) स्त्रियों का सम्मान करना।

6. समन्वित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा की रक्षा—हमारी समन्वित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और संरक्षण करे।

7. प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और सभी प्राणियों के प्रति दया भाव—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव भी हैं रक्षा करे और उनका सम्वर्द्धन करे तथा प्राणी-मात्र के प्रति दयाभाव रखे।

8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन का विकास—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।

9. सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा व हिंसा से दूर रहना—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे व हिंसा से दूर रहे।

10. व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्कर्ष का प्रयास—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि व्यक्तिगत व सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रगति और उपलब्धि की नवीन ऊंचाइयों को छू सके।

11. 2002 ई. में एक और मौलिक कर्तव्य जोड़ दिया गया है। यह है : "प्रत्येक माता पिता या संरक्षक अपनी सन्तान को या अपनी निगरानी में पल रहे 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों को शिक्षा सम्बन्धी अवसर प्रदान करेंगे।"

आलोचना—मूल कर्तव्यों सम्बन्धी इस व्यवस्था की प्रमुखतया निम्न आधारों पर आलोचना की जा सकती है :

(1) कर्तव्यों के उल्लंघन पर दण्ड की व्यवस्था नहीं—विश्व के अनेक देशों के संविधानों में ऐसी व्यवस्था है कि यदि नागरिक मूल कर्तव्यों का पालन नहीं करेंगे, तो उन्हें मूल अधिकारों से तथा नागरिकता से भी वंचित कर दिया जायेगा, किन्तु भारतीय संविधान में मूल कर्तव्यों का उल्लंघन किये जाने पर दण्ड की व्यवस्था नहीं की गयी है। आलोचकों के अनुसार मूल कर्तव्यों के उल्लंघन पर दण्ड की व्यवस्था न होने के कारण इन कर्तव्यों के संविधान में उल्लेख का कोई महत्व नहीं रहा है।

(2) भाषा की अस्पष्टता—संविधान में वर्णित कई मूल कर्तव्यों की भाषा अस्पष्ट है। उदाहरण के लिए, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद, सुधार की भावना का विकास और सभी क्षेत्रों में उत्कृष्टता के प्रयास, आदि ऐसी बातें हैं, जिनकी व्याख्या विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण एवं मान्यता के अनुसार मनमाने रूप से कर सकते हैं।

(3) अत्यधिक आदर्शवादी—अनेक मूल कर्तव्य व्यावहारिक न होकर अत्यधिक आदर्शवादी और कोरे आदर्शवादी हैं। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन, समन्वित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा की रक्षा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन का विकास, आदि ऐसी ही बातें हैं।

मूल कर्तव्यों का महत्व—यह सर्वमान्य तथ्य है कि कर्तव्यों का पालन किये बिना अधिकारों का उपभोग सम्भव नहीं है। हमारे संविधान निर्माताओं ने सोचा था कि भारतीय नागरिक राष्ट्रीय आन्दोलन के उच्च आदर्शों से प्रेरित हैं, अतः उनमें कर्तव्य बोध सदैव ही जगा रहेगा और वे अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे, लेकिन

छठे-सातवें दशक में देखा गया कि नागरिकों का दायित्व बोध कमजोर पड़ने लगा है। अतः संविधान में मूल कर्तव्यों का उल्लेख करने की आवश्यकता अनुभव की गयी।

वस्तुतः केवल कुछ ही कर्तव्यों की भाषा अस्पष्ट है। अधिकांश कर्तव्यों की भाषा और भाव नितान्त स्पष्ट तथा उनका महत्व स्वयं सिद्ध है। इनमें संविधान के प्रति निष्ठा और राष्ट्रीय ध्वज व राष्ट्रीय गान का आदर तथा भारत की एकता और अखण्डता की रक्षा विशेष उल्लेखनीय हैं। भारत जैसे बहुधर्मी और बहुभाषी समाज में समन्वित संस्कृति की रक्षा भी एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त नागरिक चेतना को विकसित किए जाने की आवश्यकता है, जिससे शासन कभी भी कर्तव्यों को लागू करने के नाम पर मनमाना आचरण न कर सके।

जापान, इटली, सोवियत रूस, चीन और अन्य यूरोपियन देशों के संविधानों में अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का भी उल्लेख है और अब भारत भी इस सम्बन्ध में इन देशों की श्रेणी में आ गया है। संविधान में नागरिक कर्तव्यों के उल्लेख से यह आशा की गयी है कि भारतीय नागरिकों को अपने कर्तव्यों का अधिक स्पष्ट रूप से बोध होगा और वे अधिक अच्छें रूप में इनका पालन कर सकेंगे। इन कर्तव्यों की अवहेलना की जाने पर अभी तक किसी प्रकार की दण्ड-व्यवस्था नहीं की गयी है, लेकिन संसद द्वारा इस सम्बन्ध में दण्ड की व्यवस्था की जा सकती है। इन कर्तव्यों का पालन करना भारत के प्रत्येक नागरिक द्वारा अपना सर्वोच्च धर्म समझा जाना चाहिए।

प्रश्न

1. मूल अधिकारों से आप क्या समझते हैं? भारतीय संविधान में उल्लेख किए गए मूल अधिकारों का वर्णन कीजिए।
2. संविधान द्वारा निर्धारित मूल अधिकारों से आप क्या समझते हैं? उनके महत्व पर प्रकाश डालिए।
3. भारतीय संविधान में समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
4. भारतीय नागरिकों के मूल कर्तव्यों को लिखिए।
5. भारतीय संविधान में मूल अधिकारों का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए एवं इस योजना की सीमाओं की व्याख्या कीजिए।
6. टिप्पणी लिखिए : (i) राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (ii) निवारक निरोध कानून; 'मीसा', 'टाडा' और 'पोटा'।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वर्तमान समय में भारतीय नागरिकों को कितने मूल अधिकार प्राप्त हैं?
   (अ) 4 (ब) 5 (स) 6 (द) 7
2. मौलिक अधिकारों को निलम्बित करने का अधिकार किसे प्रदान किया गया है?
   (क) राष्ट्रपति को (ब) संसद को
   (स) राज्य विधानमण्डलों को (द) उपर्युक्त में से किसी को नहीं
3. 'समानता के अधिकार' का संविधान के किन अनुच्छेदों में उल्लेख मिलता है?
   (अ) अनुच्छेद 14-18 (ब) अनुच्छेद 19-22
   (स) अनुच्छेद 23-24 (द) अनुच्छेद 25-28
4. निम्न में से कौन-सा अधिकार मूल अधिकारों के अन्तर्गत नहीं आता है?
   (अ) स्वतन्त्रता का अधिकार (ब) समानता का अधिकार
   (स) शोषण के विरुद्ध अधिकार (द) सम्पत्ति का अधिकार
5. हिन्दू समाज से अस्पृश्यता के विष को समाप्त करने के लिए संसद द्वारा 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' कब पारित किया गया :
   (अ) 1952 में (ब) 1954 में (स) 1955 में (द) 1956 में
6. निम्नलिखित में से कौन-सा अधिकार अब आपातकाल में भी समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता है :
   (अ) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा जीवन की सुरक्षा का अधिकार
   (ब) भारत राज्य में अबाध निवास की स्वतन्त्रता
   (स) भारत राज्य में अबाध भ्रमण की स्वतन्त्रता
   (द) वृत्ति उपजीविका या कारोबार की स्वतन्त्रता

7. भारतीय नागरिकों को प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता का संरक्षण किस अनुच्छेद द्वारा प्रदान किया गया है?
(अ) अनुच्छेद 17 (ब) अनुच्छेद 18
(स) अनुच्छेद 19 (द) अनुच्छेद 21

8. 'निवारक निरोध' का उद्देश्य है :
(अ) व्यक्ति को अपराध के लिए दण्ड देना
(ब) व्यक्ति को अपराध करने से रोकना
(स) व्यक्ति को अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए गिरफ्तार करना
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

9. संविधान के अनुच्छेद 28 द्वारा शिक्षण संस्थाओं में किस प्रकार की शिक्षा निषिद्ध की गई है?
(अ) किसी धर्म विशेष की शिक्षा (धार्मिक शिक्षा) (ब) सैनिक शिक्षा
(स) नैतिक शिक्षा (द) यौन शिक्षा

10. संसद द्वारा 'मानवाधिकार आयोग व न्यायालय' गठन सम्बन्धी विधेयक कब पारित किया गया :
(अ) सितम्बर 93 में (ब) नवम्बर 93 में
(स) दिसम्बर 93 में (द) जनवरी 94 में

11. राज्य स्तर पर मानवाधिकार आयोगों की स्थापना किस पर निर्भर करती है?
(अ) केन्द्र सरकार पर (ब) राज्य सरकार पर
(स) सर्वोच्च न्यायालय पर (द) उच्च न्यायालय पर

[उत्तर—1. (द), 2. (अ), 3. (अ), 4. (द), 5. (स), 6. (अ), 7. (द), 8. (ब), 9. (अ), 10. (स), 11. (ब)]

5

राज्य नीति के निदेशक तत्व

[DIRECTIVE PRINCIPLES OF STATE POLICY]

हमारे संविधान की एक प्रमुख विशेषता नीति निदेशक तत्व हैं। विश्व के अन्य देशों के संविधानों में आयरलैण्ड के संविधान को छोड़कर अन्य किसी देश के संविधानों में इस प्रकार के तत्व नहीं हैं। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संविधान में केवल राज्य के संगठन की व्यवस्था एवं अधिकार-पत्र का वर्णन ही नहीं किया है, वरन् वह दिशा भी निश्चित की है, जिसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न भविष्य में भारत राज्य को करना है। संविधान-निर्माताओं का लक्ष्य भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना था और इसलिए उन्होंने नीति निदेशक तत्वों में ऐसी बातों का समावेश किया, जिन्हें कार्य रूप में परिणत किए जाने पर लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना सम्भव हो सकती है।

नीति निदेशक तत्वों का अर्थ और स्वरूप

निदेशक तत्व हमारे राज्य के सम्मुख कुछ आदर्श उपस्थित करते हैं, जिनके द्वारा देश के नागरिक का सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक उत्थान हो सकता है। संविधान की प्रस्तावना द्वारा भारत के नागरिकों को समानता, स्वतन्त्रता एवं न्याय प्रदान करवाने का लक्ष्य इन आदेशों को क्रियान्वित किए जाने पर ही पूर्ण हो सकता है। ये निदेशक तत्व एक प्रकार से राज्य के लिए नैतिकता के सूत्र हैं तथा देश में स्वस्थ एवं स्वच्छ प्रजातन्त्र की स्थापना की दिशा में प्रेरणा देने वाले हैं। इन तत्वों की प्रकृति के सम्वन्ध में संविधान की 37वीं धारा में कहा गया है कि **''इस भाग में दिए गए उपबन्धों को किसी भी न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकेगी, किन्तु तो भी इसमें दिए हुए तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि निर्माण में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।''**

इस धारा से यह बात स्पष्ट है कि निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों के समान वैधानिक शक्ति प्रदान नहीं की गई है अर्थात् निदेशक तत्वों की क्रियान्विति के लिए न्यायालय के द्वारा किसी भी प्रकार के आदेश जारी नहीं किए जा सकते हैं। वैधानिक महत्व प्राप्त न होने पर भी ये तत्व राज्य के शासन चलाने के आधारभूत सिद्धान्त हैं और राज्य का यह नैतिक कर्तव्य है कि व्यवहार में सदैव ही इन तत्वों का पालन करे। निदेशक तत्वों की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए श्री जी. एन. जोशी लिखते हैं कि **''इन निदेशक तत्वों का विधानमण्डलों को कानून बनाते समय और कार्यपालिका को इन कानूनों को लागू करते समय ध्यान रखना चाहिए। ये उस नीति की ओर संकेत हैं जिसका अनुकरण संघ और राज्यों को करना चाहिए।''**

मूल अधिकार और नीति निदेशक तत्वों में भेद

मूल अधिकार और नीति निदेशक तत्व यद्यपि इन दोनों का ही लक्ष्य भारत की प्रगति और भारतीय नागरिकों को विकास के अवसर प्रदान करना है और इस दृष्टि से **'मूल अधिकार यदि साध्य हैं तो निदेशक तत्व साधन'**, लेकिन परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हुए भी इन दोनों में निम्नलिखित महत्वपूर्ण अन्तर है :

(1) मूल अधिकार न्याय-योग्य (Justifiable) हैं, लेकिन निदेशक तत्व न्याय-योग्य नहीं हैं—मूलअधिकार और नीति निदेशक तत्वों में सबसे प्रमुख अन्तर यह है कि मूल अधिकार न्याय-योग्य हैं, लेकिन निदेशक तत्व न्याय-योग्य नहीं हैं। यदि कोई कानून किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करता है तो क्योंकि अनुच्छेद 32 ने सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को अधिकार दिया है कि वे मूल अधिकारों को कार्यान्वित करने के लिए उचित कार्यवाही करें, अतः ये न्यायालय अधिकारों का उल्लंघन करने वाले कानूनों को अवैध घोषित

कर सकते हैं, लेकिन यदि कोई कानून निदेशक सिद्धान्त के प्रतिकूल है तो उसे अवैध नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि निदेशक सिद्धान्तों से न तो हमें कोई न्याय-योग्य अधिकार प्राप्त होते हैं और न ही संविधान ने उनके उल्लंघन पर कोई उपचार सुझाए हैं।

(2) **मूल अधिकार निषेधात्मक हैं, जबकि निदेशक तत्व सकारात्मक निदेश हैं**—दूसरा अन्तर यह है मूल अधिकार राज्य के लिए कतिपय निषेधाज्ञाएं (Injunctions) हैं जिनके द्वारा राज्य के कुछ काम न करने का आदेश दिया गया है। इसके विपरीत, निदेशक तत्व नागरिकों के प्रति राज्य का कतिपय सकारात्मक (Positive) उत्तरदायित्व है और राज्य से आशा की गई है कि वह नागरिकों के प्रति अपने इन दायित्वों को पूर्ण करेगा। एलेन ग्लेडहिल के शब्दों में, **"मूल अधिकार तो कतिपय निषेधाज्ञाएं हैं और इनके द्वारा राज्य को कुछ कार्य करने से रोका जाता है। इसके विपरीत, राज्य नीति के निदेशक तत्व सरकार को कुछ सकारात्मक आदेश हैं, जिन्हें पूरा करना उसका कर्तव्य ठहराया गया है।"**[1]

सर्वोच्च न्यायालय ने **'मिनर्वा मिल्स तथा अन्य विवाद'** (मई 1980) में निर्णय देते हुए इस बात पर वल दिया है कि मूल अधिकार और निदेशक तत्व—संविधान की इन दो प्रमुख व्यवस्थाओं में कानूनी दृष्टि से मूल अधिकारों को उच्च स्थिति प्राप्त है।

मूल अधिकार और नीति निदेशक तत्व एक दूसरे के पूरक : सामंजस्यपूर्ण संरचना का सिद्धान्त (Principle of Harmonious Construction)

संविधान के भाग 3 में सम्मिलित मूल अधिकार एवं भाग 4 में उल्लिखित निदेशक तत्व वास्तव में एक ही समूची व्यवस्था के अंग हैं तथा इन दोनों का लक्ष्य एक ही है और वह है व्यक्तित्व का विकास तथा लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना। **न्यायमूर्ति के. सदानन्द हेगड़े** ने इस सम्बन्ध में **'सामंजस्य पूर्ण संरचना का सिद्धान्त'** प्रतिपादित किया है। वे लिखते हैं, "सिद्धान्ततः एक ही संविधान के दो भागों में कोई असंगति नहीं हो सकती। राज्य नीति के निदेशक तत्वों को अपनाकर हमारे संविधान निर्माताओं ने कोई असंगति उत्पन्न नहीं की। उनका प्रयत्न वैयक्तिक अधिकार व सामाजिक कल्याण में समन्वय स्थापित करना था।"

'चन्द्रभवन बोर्डिंग एण्ड लॉजिंग बैंगलोर' बनाम **'मैसूर राज्य और अन्य'** (1970), **मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ (1980)** तथा अन्य कुछ विवादों के निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात पर वल दिया है कि 'मूल अधिकार और निदेशक तत्व एक दूसरे के पूरक हैं।' **पायली, के. सदानन्द हेगड़े और ग्रेनविल आस्टिन** आदि लेखकों ने अपनी पुस्तकों में इसी वात पर वल दिया है तथा यही नितान्त उचित दृष्टिकोण है।

नीति निदेशक तत्व

संविधान की धारा 38 से 51 तक में राज्य की नीति के निदेशक तत्वों का वर्णन किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इन तत्वों को निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है :

1. **आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्व**—भारतीय संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य भारत में एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना था और इस दृष्टि से अधिकांश निदेशक तत्वों द्वारा आर्थिक सुरक्षा और आर्थिक न्याय के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई है। संविधान में इस प्रकार के निम्न तत्वों का उल्लेख है :

(1) राज्य प्रत्येक स्त्री और पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा।

(2) राज्य देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा कि अधिक से अधिक सार्वजनिक हित हो सके।

(3) राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार से केन्द्रीकरण न हो कि सार्वजनिक हित को किसी प्रकार की हानि पहुंचे।

(4) राज्य प्रत्येक नागरिक को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करेगा।

(5) राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न होने देगा।

---
1 Allen Gledhill, *Republic of India*, p. 161.

(6) मूल संविधान में कहा गया था कि 'राज्य बच्चों तथा युवकों की शोषण से तथा भौतिक या नैतिक परित्याग से रक्षा करेगा।' **42वें संवैधानिक संशोधन** द्वारा इसे इस प्रकार संशोधित किया गया है : "राज्य के द्वारा बच्चों को स्वस्थ रूप में विकास के लिए अवसर और सुविधाएं प्रदान की जायेंगी, उन्हें स्वतन्त्रता और सम्मान की स्थिति प्राप्त होगी, बच्चों तथा युवकों की शोषण से तथा भौतिक या नैतिक परित्याग से रक्षा की जाएगी।"

(7) राज्य अपने आर्थिक साधनों के अनुसार और विकास की सीमाओं के भीतर यह प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें, शिक्षा पा सकें एवं बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीनता, आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सकें।

(8) राज्य ऐसा प्रयत्न करेगा कि व्यक्तियों को अपने अनुकूल अवस्थाओं में ही कार्य करना पड़े तथा स्त्रियों को प्रसूतावस्था में कार्य न करना पड़े।

(9) राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि कृषि और उद्योग में लगे हुए सभी मजदूरों को अपने जीवन निर्वाह के लिए यथोचित वेतन मिल सके, उनका जीवन-स्तर ऊपर उठ सके, वे अवकाश के समय का उचित उपयोग कर सकें तथा उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति का अवसर प्राप्त हो सके।

(10) राज्य का कर्तव्य होगा कि गांवों में व्यक्तिगत अथवा सहकारी आधार पर कुटीर उद्योग को प्रोत्साहन दे।

(11) वैज्ञानिक आधार पर कृषि का संचालन करना भी राज्य का कर्तव्य होगा।

(12) राज्य पशुपालन की अच्छी प्रणालियों का प्रचलन करेगा और गायों, बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक पशुओं की नस्ल सुधारने और उनके वध को रोकने का प्रयत्न करेगा। **42वें संवैधानिक संशोधन** द्वारा आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी दो निदेशक तत्व और जोड़े गए हैं। ये इस प्रकार हैं :

(13) राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि कानूनी व्यवस्था का संचालन समान अवसर के आधार पर न्याय की प्राप्ति में सहायक हो और उचित व्यवस्थापन, योजना या अन्य किसी प्रकार से **समाज के कमजोर वर्गों के लिए निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था करेगा**, जिससे आर्थिक असामर्थ्य या अन्य किसी प्रकार से व्यक्ति न्याय प्राप्त करने से वंचित न रहे।

(14) राज्य उचित व्यवस्थापन या अन्य प्रकार से औद्योगिक संस्थानों के **प्रबन्ध में कर्मचारियों को भागीदार बनाने के लिए कदम उठाएगा।**

44वें संवैधानिक संशोधन (अप्रैल 1979) द्वारा आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्वों में एक और तत्व जोड़ा गया है। इसमें कहा गया है कि "**राज्य न केवल व्यक्तियों की आय और उनके सामाजिक स्तर, सुविधाओं और अवसरों सम्बन्धी भेदभाव को कम से कम करने का प्रयत्न करेगा**, वरन् विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों तथा समुदायों के बीच विद्यमान आय, सामाजिक स्तर, सुविधाओं और अवसरों सम्बन्धी **भेदभाव को भी कम से कम करने का प्रयत्न करेगा।**

2. सामाजिक हित सम्बन्धी निदेशक तत्व—इस सम्बन्ध में राज्य के निम्नलिखित कर्तव्य निश्चित किए गए हैं :

(1) राज्य लोगों के जीवन-स्तर को सुधारने और स्वास्थ्य सुधारने के लिए प्रयत्न करेगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए औषधि में प्रयोग किए जाने के अतिरिक्त स्वास्थ्य के लिए हानिकारक मादक द्रव्यों तथा अन्य मादक पदार्थों के सेवन पर प्रतिबन्ध लगाएगा।

(2) राज्य जनता के दुर्बलतर अंगों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के, शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

3. न्याय, शिक्षा और प्रजातन्त्र सम्बन्धी निदेशक तत्व—भारत में सुगम और सुलभ न्याय व्यवस्था, शिक्षा के प्रचार और प्रसार तथा प्रजातन्त्र की भावना के विकास के लिए भी कुछ निदेशक तत्वों का वर्णन किया गया है, जो निम्न प्रकार हैं :

(1) न्याय की प्राप्ति हेतु राज्य सभी नागरिकों के लिए समान कानून बनाएगा और अपनी सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने का प्रयत्न करेगा।

(2) भारतीय संविधान का 45वां अनुच्छेद इस प्रकार था : **बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध**—राज्य इस संविधान के प्रारम्भ से 10 वर्ष की अवधि के भीतर सभी बालकों को 14 वर्ष की आयु पूरी करने तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा। 86वें संवैधानिक संशोधन (मई 2002) के आधार पर अब यह अनुच्छेद इस प्रकार है : **"राज्य का प्रयास होगा कि वह जन्म से लेकर 6 वर्ष तक के बच्चों की प्रारम्भिक देखरेख और उनकी शिक्षा के उपाय करे।"**

(3) प्रजातन्त्र की भावना के विकास के लिए निदेशक तत्वों में कहा गया है कि राज्य ग्राम पंचायतों के संगठन की ओर कदम उठाएगा और इन्हें उतने अधिकार प्रदान किए जाएंगे कि वे स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य कर सकें।

4. प्राचीन स्मारकों की रक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्व—इन तत्वों द्वारा प्राचीन स्मारकों, कलात्मक महत्व के स्थानों और राष्ट्रीय महत्व के भवनों की रक्षा का कार्य भी राज्य को सौंपा गया है। राज्य का कर्तव्य निश्चित किया गया है कि वह प्रत्येक स्मारक, कलात्मक या ऐतिहासिक रुचि के स्थान को, जिसे संसद ने राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दिया हो, रक्षा करने का प्रयत्न करेगा।

42वें संवैधानिक संशोधन में कहा गया है कि राज्य **'देश के पर्यावरण (environment) की रक्षा और उसमें सुधार का प्रयास करेगा।'** राज्य के द्वारा वनों और वन्य जीवन की सुरक्षा का भी प्रयास किया जाएगा।

5. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी तत्व—हमारे देश का आदर्श सदैव ही **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का रहा है और हमने सदैव ही शान्ति तथा **'जीओ और जीने दो'** के सिद्धान्त को अपनाया है। इसी आदर्श को हमारे संविधान के अन्तिम निदेशक तत्व में इस प्रकार बताया गया है :

राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निम्नलिखित आदर्शों को लेकर चलने का प्रयत्न करेगा :

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा में वृद्धि,

(ब) राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखना,

(स) राष्ट्रों के आपसी व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सन्धियों के प्रति आदर का भाव बढ़ाना,

(द) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को मध्यस्थता द्वारा सुलझाने के लिए प्रोत्साहित करना।

निदेशक तत्वों के इस वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि इन तत्वों के आधार पर भारत में वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना हो सकेगी और हमारा देश एक ऐसा लोककल्याणकारी राज्य बन सकेगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता, समता तथा सामाजिक न्याय प्राप्त हो सके।

नीति निदेशक तत्वों की आलोचना

जिस समय संविधान का निर्माण हो रहा था, उस समय संविधान सभा में और बाहर राज्य नीति के निदेशक तत्वों सम्बन्धी उपबन्धों की बहुत आलोचना हुई थी। संविधान के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् भी अनेक विद्वानों ने कई आधारों पर इन तत्वों की आलोचना की है। आलोचकों की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित रहे हैं :

(1) वैधानिक शक्ति का अभाव—निदेशक तत्वों की आलोचना का सबसे प्रमुख आधार यह है कि इन तत्वों को वैधानिक शक्ति प्राप्त न होने के कारण ये निरर्थक हैं। संविधान ने राज्य नीति के निदेशक तत्वों को एक ओर से तो देश के शासन में मूलभूत माना है, किन्तु साथ ही वे वैधानिक शक्ति प्राप्त या न्याय-योग्य नहीं हैं अर्थात् न्यायालय उपर्युक्त सिद्धान्तों को क्रियान्वित नहीं करा सकते। अतः आलोचकों की राय में ये निदेशक तत्व **'शुभ इच्छाएं' (Pious Wishes)**, **'नैतिक उपदेश' (Moral Precepts)** या ऐसी राजनीतिक घोषणाओं के समान हैं जिनका कोई संवैधानिक महत्व नहीं है। संविधान सभा के सदस्य **प्रो. नसीरुद्दीन** ने इन्हें **"नव वर्ष के प्रथम दिन पास किए गए शुभकामना प्रस्ताव कहा था जिसकी अवहेलना दूसरे दिन से ही प्रारम्भ कर दी जाती है।"** **प्रो. के. टी. शाह** के शब्दों में, **"यह एक ऐसा चैक है जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।"** इसी प्रकार **प्रो. ह्वीयर** ने इन्हें **"मात्र उद्देश्यों और आकांक्षाओं का घोषणा-पत्र"** कहा है।

(2) निदेशक तत्व काल्पनिक आदर्श-मात्र—आलोचकों का कथन है कि निदेशक तत्वों में ऐसे काल्पनिक आदर्शों का चित्रण किया गया है जिन्हें क्रियान्वित करना निश्चित रूप से बहुत दूर की बात है। इस आलोचना का प्रतिपादन करते हुए **केम्पसन** ने लिखा है कि **"जो लक्ष्य निश्चित किए गए हैं, उनमें से कुछ का तो सम्भावित कार्यक्रम की वास्तविकता से बहुत ही थोड़ा सम्बन्ध है।"**

(3) एक सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य में अप्राकृतिक—एक सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य में इस प्रकार के सिद्धान्तों को ग्रहण करना अप्राकृतिक भी प्रतीत होता है। एक उच्च सत्ता अधीनस्थ सत्ता को आदेश दे सकती है, लेकिन एक सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य को आदेश दिया जाए, यह नितान्त अस्वाभाविक जान पड़ता है। विधिवेत्ताओं की दृष्टि में एक सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य को इस प्रकार के आदेशों का कोई औचित्य नहीं है।

(4) संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न होने की आशंका—संवैधानिक विधिवेत्ताओं ने आशंका व्यक्त की है कि ये तत्व संवैधानिक द्वन्द्व और गतिरोध के कारण भी बन सकते हैं। संविधान सभा में **सन्थानम्** ने भय प्रकट किया था कि इन निदेशक तत्वों के कारण राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री अथवा राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के बीच मतभेद पैदा हो सकते हैं। यदि शासन निदेशक तत्वों के विरुद्ध व्यवस्थापिका से कोई विधेयक स्वीकृत करवा लेता है तो राष्ट्रपति या राज्यपाल इस आधार पर विधेयक पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकते हैं कि वह शासन के मूलभूत सिद्धान्त निदेशक तत्वों के विरुद्ध है। इस प्रकार की घटनाएं कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान और वास्तविक प्रधान के बीच मतभेदों को जन्म देंगी और इससे संसदीय प्रजातन्त्र को गम्भीर आघात पहुंच सकता है।

नीति निदेशक तत्वों का महत्व

नीति निदेशक तत्वों की जो आलोचना की गई है, उसका यह तात्पर्य नहीं लिया जाना चाहिए कि वे बिलकुल व्यर्थ और महत्वहीन हैं। वास्तव में संवैधानिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से निदेशक तत्वों का बहुत अधिक महत्व है। इन तत्वों के महत्व का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) निदेशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति—यद्यपि इन निदेशक तत्वों को न्यायालय द्वारा क्रियान्वित नहीं किया जा सकता, लेकिन इनके पीछे जनमत की सत्ता होती है जो प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा न्यायालय है। अतः जनता के प्रति उत्तरदायी कोई भी सरकार उनकी अवहेलना का साहस नहीं कर सकती। शासन द्वारा किया गया इन तत्वों का उल्लंघन देश में शक्तिशाली विरोध को जन्म देगा। व्यवस्थापिका के भीतर शासन को विरोधी दल के प्रहारों का सामना करना पड़ेगा और व्यवस्थापिका के बाहर इसे निर्वाचन के समय निर्वाचकों को जवाव देना ही होगा। **अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने संविधान सभा में ठीक ही कहा था कि "कोई लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल संविधान के चतुर्थ भाग के उपबन्धों के उल्लंघन का साहस नहीं कर सकता।"**[1]

(2) नैतिक आदर्शों के रूप में महत्व—यदि निदेशक तत्वों को केवल नैतिक धारणाएं ही मान लिया जाए, तो इस रूप में भी इनका अपार महत्व है। ब्रिटेन में मैग्ना कार्टा, फ्रांस में मानवीय तथा नागरिक अधिकारों को घोषणा तथा अमरीकी संविधान की प्रस्तावना को कोई वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं है, फिर भी इन देशों के इतिहास पर इनका प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार उचित रूप में यह आशा की जा सकती है कि ये निदेशक तत्व भारतीय शासन की नीति को निर्देशित और प्रभावित करेंगे। **एलेन ग्लेडहिल (Alen Gledhill)** के शव्दों में, **"अनगिनत व्यक्तियों के जीवन नैतिक आदर्शों के फलस्वरूप सुधरे हैं और ऐसे उदाहरण भी मिलने कठिन नहीं हैं जबकि उच्च नैतिक आदर्शों का राष्ट्र के इतिहास पर प्रभाव पड़ा हो।"**

(3) शासन के मूल्यांकन का आधार—नीति निदेशक तत्वों द्वारा जनता को शासन की सफलता-असफलता की जांच करने का मापदण्ड भी प्रदान किया जाता है। शासक दल के द्वारा अपने मतदाताओं को निदेशक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में अपनी सफलताएं बतानी होंगी और शासन शक्ति पर अधिकार करने के इच्छुक राजनीतिक दल को इन तत्वों की क्रियान्विति के प्रति अपनी तत्परता और उत्साह दिखाना होगा। इस प्रकार निदेशक तत्व जनता को विभिन्न दलों की तुलनात्मक जांच करने के योग्य बना देंगे।

(4) सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति के साधन—हमने सन् 1947 में राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, लेकिन राजनीतिक स्वतन्त्रता देश की सामान्य जनता की सामाजिक-आर्थिक स्थिति सुधारने का एक साधन ही है। इस प्रकार की सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति का मार्ग निदेशक तत्वों में बताया गया है। अतः निदेशक तत्वों को क्रियान्वित करते हुए सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र के अन्तर्गत नवीन युग में प्रवेश किया जा सकता है।

(5) संविधान की व्याख्या में सहायक—संविधान के अनुसार निदेशक तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं जिसका तात्पर्य यह है कि देश के प्रशासन के लिए उत्तरदायी सभी सत्ताएं उनके द्वारा निर्देशित होंगी।

1 **"No ministry responsible to the people can afford light heartedly to ignore the provisions in part IV of the Constitution."**
—*A. K. Aiyar*

न्यायपालिका भी शासन का एक महत्वपूर्ण अंग होने के कारण यह आशा की जाती है कि भारत में न्यायालय संविधान की व्याख्या के कार्य में निदेशक तत्वों को उचित महत्व देंगे। एम. सी. सीतलवाड के शब्दों में, **"राज्य नीति के इन मूलभूत सिद्धान्तों को वैधानिक प्रभाव प्राप्त न होते हुए भी उनके द्वारा न्यायालयों के लिए उपयोगी प्रकाश स्तम्भ का कार्य किया जाता है।"**[1]

निदेशक तत्व इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं कि इनमें गांधीवादी आदर्शों को स्थान दिया गया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैधानिक शक्ति प्राप्त न होने पर भी निदेशक तत्वों का अपना महत्व और उपयोगिता है।

निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन तथा आलोचना

नीति निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन की समस्या पुलिस राज्य को कल्याणकारी राज्य और संविधान द्वारा स्थापित राजनीतिक लोकतन्त्र को आर्थिक-सामाजिक लोकतन्त्र में परिवर्तित कर सकने की समस्या है। नीति निदेशक तत्वों में अनेक बातें कही गई हैं, लेकिन यदि निदेशक तत्वों का कोई लक्ष्य बतलाया जा सकता है तो वह है **'आर्थिक-सामाजिक न्याय'**। निदेशक तत्वों में आर्थिक-सामाजिक न्याय से सम्वन्धित प्रमुख वातें ये हैं : अधिकतम सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना, सभी व्यक्तियों के लिए आजीविका के साधन, वालकों-महिलाओं-युवकों और श्रमिकों सहित सभी व्यक्तियों की शोषण से रक्षा, छोटे कृषकों और भूमिहीन कृषि मजदूरों के हितों की रक्षा, असहाय व्यक्तियों को राजकीय सहायता और सभी व्यक्तियों के लिए कानूनी न्याय की प्राप्ति, आदि।

आर्थिक-सामाजिक न्याय की प्राप्ति का लक्ष्य इतना बड़ा है कि इसे पूरा करने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न, प्रचुर धन तथा तीव्र गति से आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक विकास आवश्यक है। संविधान लागू किए जाने के समय से ही इस दिशा में शासन द्वारा कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(i) **जमींदारी और जागीरदारी प्रथा का अन्त और भूमि-सुधार**—भारत में जमींदारी और जागीरदारी प्रथा के आधार पर सैकड़ों वर्षों से किसानों का शोषण किया जाता रहा है। अतः 1951 में ही जमींदारी और जागीरदारी व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

इसके साथ ही 1951 से लेकर आज तक अनेक भूमि सुधार कानून पारित किए गए हैं। इन भूमि सुधार कानूनों को **संविधान की नवीं अनुसूची** में रखते हुए उन्हें संवैधानिक स्थिति प्रदान की गई है। इन भूमि सुधार कानूनों का सर्वप्रमुख लक्ष्य है : भूमि पर जोतने वाले का अधिकार।

(ii) **पंचवर्षीय योजनाएं**—देश के आर्थिक विकास के लिए नियोजन के मार्ग को अपनाया गया। अब तक नौ पंचवर्षीय योजनाएं क्रियान्वित की जा चुकी हैं और 1 अप्रैल, 2002 से दसवीं पंचवर्षीय योजना के आधार पर विकास कार्य चल रहा है। इन योजनाओं में कृषि, जल संसाधन, पशु नस्ल सुधार, ग्रामीण विकास, ऊर्जा, उद्योग, वाणिज्य, परिवहन, संचार, श्रम, आवास, स्वास्थ्य, पर्यावरण, वैज्ञानिक अनुसन्धान और शिक्षा, आदि के सम्बन्ध में विविध कार्यक्रम अपनाकर उन्हें क्रियान्वित किया जा चुका है। कुटीर उद्योग और लघु उद्योगों को प्रोत्साहित किया गया है। इसी उद्देश्य से अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड, अखिल भारतीय हाथ करघा बोर्ड और लघु उद्योग बोर्ड, आदि अनेक संगठनों की स्थापना की गई है।

(iii) **पंचायती राज और स्थानीय स्वशासन**—नीति निदेशक तत्वों में ग्राम पंचायतों की स्थापना और उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों का रूप देने की बात कही गई है। अतः 2 अक्टूबर, 1959 से **'पंचायती राज'** की व्यवस्था को अपनाया गया और व्यवहार के अन्तर्गत पंचायती राज की व्यवस्था में जो कमियां देखी गईं, उन्हें दूर करने के लिए 1993 ई. में संसद ने 73वां संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया है। इस संशोधन अधिनियम के आधार पर संविधान में **11वीं अनुसूची** की व्यवस्था कर पंचायती राज को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। इसी प्रकार **74वें संविधान संशोधन अधिनियम** के आधार पर शहरी क्षेत्र में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था को सुदृढ़ करने और उसे संवैधानिक दर्जा देने का कार्य किया गया है।

(iv) **कमजोर वर्गों का कल्याण**—अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए संविधान और शासन ने विशेष सुविधाएं उपलब्ध करवाई हैं। प्रतिनिधि संस्थाओं में अनुसूचित जातियों

1 **"They served as useful beacon-light to the Courts."**

तथा जनजातियों के लिए आरक्षण की अवधि 79वें संवैधानिक संशोधन (2000 ई.) के आधार पर 25 जनवरी, 2010 ई. तक के लिए बढ़ा दी गई है। सरकारी नौकरियों में इनके लिए **'विशेष दावों की व्यवस्था'** को अपनाया गया है, जिसके लिए कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गई है और संसद तथा विधानमण्डलों में इनके लिए जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित हैं।

अस्पृश्यता निवारण के लिए कठोर कानूनों का निर्माण किया गया है। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के वालक-बालिकाओं के लिए उदारतापूर्वक छात्रवृत्तियों, पोशाक और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था के आधार पर उन्हें शिक्षित करने की प्रत्येक सम्भव चेष्टा की जा रही है। 1990 में 65वें संविधान संशोधन अधिनियम के आधार पर एक उच्चस्तरीय 7-सदस्यीय **'अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग'** की स्थापना कर उसे संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। इन जातियों पर अत्याचार से सम्बद्ध घटनाओं की यह आयोग जांच कर सकेगा। भारतीय समाज के अन्तर्गत महिलाएं भी समाज के कमजोर वर्गों में ही आती हैं। **73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के आधार पर पंचायती राज संस्थाओं और शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में महिलाओं के लिए 30 प्रतिशत स्थान आरक्षित किए गए हैं।** आशा की जाती है कि यह कदम महिला जागृति की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ाएगा।

(v) सामाजिक सुरक्षा—युवक वर्ग व वालकों की शोषण से रक्षा करने के लिए अनेक कानून पारित किए गए हैं। कुछ राज्य सरकारों द्वारा **वृद्धावस्था पेन्शन योजना** लागू की गई है। वीमारी तथा दुर्घटना के विरुद्ध सुरक्षा के लिए कुछ सीमा तक मजदूर वर्ग बीमा योजना लागू की गई है तथा बेरोजगारी बीमा योजना को लागू करने और रोजगार की सुविधाएं बढ़ाने के लिए प्रयास किए जा रहे हैं। भारत सरकार ने जुलाई '03 ई. में **'वरिष्ठ पेंशन बीमा योजना'** व निर्धनता रेखा से नीचे के परिवारों के लिए **'सार्वभौमिक स्वास्थ्य बीमा योजना'** लागू की है। राज्य सामाजिक कल्याण की दिशा में धीमी गति से ही सही, लेकिन निरन्तर आगे बढ़ रहा है।

(vi) बड़े-बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण—इसके अन्तर्गत जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण, 20 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण; पर्यटन, परिवहन, कोयला खान और विद्युत आपूर्ति, आदि का राष्ट्रीयकरण किया गया। इसी प्रकार राजाओं के प्रिवीपर्स समाप्त कर दिए गए। वे सभी कार्य आर्थिक समानता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किए गए।

(vii) सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित व्यवस्था में परिवर्तन—सम्पत्ति के मूल अधिकार को आर्थिक-सामाजिक न्याय के मार्ग में बाधक मानते हुए पहले तो विविध संवैधानिक संशोधनों के आधार पर इसे सीमित किया गया और बाद में 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) के आधार पर उसे मूल अधिकारों की सूची से निकाल दिया गया। अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार है, मूल अधिकार नहीं।

(viii) न्यायिक व्यवस्था में सुधार—न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण किया गया, जिससे जनता को निष्पक्ष न्याय मिल सके। इसी प्रकार शीघ्र न्याय की प्राप्ति के लिए **'लोक अदालतों'** की व्यवस्था को अपनाया गया तथा निःशुल्क कानूनी सहायता के लिए भी कुछ व्यवस्थाएं की गई हैं। 2001-2002 में **शीघ्र न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 'त्वरित न्यायालयों' की व्यवस्था को अपनाया गया है।**

उपर्युक्त के अतिरिक्त भी इस दिशा में कुछ अन्य कार्य हुए हैं। 1975 में वन्धक मजदूरी की समाप्ति और स्त्री-पुरुष को समान वेतन दिलाने का कानून पारित किया गया। 1989-92 के वर्षों में छोटे किसानों तथा कारीगरों के छोटे ऋणों को माफ किया गया। 1993 में केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था लागू की गई है। 1997 में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार को निर्देश दिया कि 6 माह में बाल मजदूरी समाप्त कर दी जाय। अतः बाल मजदूरी की समाप्ति हेतु प्रयत्न किये जा रहे हैं और **'बाल पुनर्स्थापना कल्याण कोष'** की स्थापना की गई है। 1 अप्रेल, 2000 ई. से केन्द्र सरकार द्वारा वेसहारा वृद्ध व्यक्तियों के लिए सीमित रूप से मुफ्त अनाज देने की योजना **'अन्नपूर्णा योजना'** लागू की गई है। इस योजना के तहत चयनित लगभग 14 लाख वरिष्ठ नागरिकों को प्रति माह दस किलो अनाज दिया जाएगा।

भारतीय संसद ने 'राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी विधेयक 2004' पारित करते हुए व्यवस्था की है कि निम्न और निम्न मध्यम वर्गीय परिवार के एक सदस्य को वर्ष के 150 दिन रोजगार दिया जाएगा। यह

कानून पूरे देश में नहीं, वरन केवल घोषित स्थानों पर लागू होगा। कानून घोषित तिथि से और केवल घोषित अवधि के लिए लागू होगा। इस प्रकार की समस्त सीमाओं के बावजूद इस प्रकार का अधिनियम सही दिशा में पहला कदम अवश्य ही है।

शासन द्वारा उठाए गए कदमों का प्रभाव

शासन द्वारा निदेशक तत्वों की क्रियान्विति की दिशा में जो कार्य किए गए, उनका निम्न रूपों में उपयोगी प्रभाव भी पड़ा है :

प्रथम, वड़े किसानों की स्थिति तो पहले भी अच्छी थी, शासन द्वारा भूमि सुधार कानूनों और कृषि के विकास की दिशा में जो कार्य किए गए, उनसे मध्यम श्रेणी के किसानों की स्थिति में सुधार हुआ है। **द्वितीय**, अनुसूचित जातियों पर अत्याचार की घटनाएं अव भी घटित होती हैं, लेकिन कुछ तो कालचक्र के प्रभाव से और कुछ शासन द्वारा किए गये कार्यों के परिणामस्वरूप अधिकांश घटनाओं में अनुसूचित जातियों द्वारा इन स्थितियों का विरोध किया जाता है तथा अब यह बात नितान्त स्पष्ट हो गई है कि समाज की उच्च जातियों द्वारा अनुसूचित जातियों और दलित वर्गों को लम्बे समय तक दवा कर नहीं रखा जा सकेगा। **तृतीय**, संगठित श्रमिक वर्ग की स्थिति में निश्चित रूप से सुधार हुआ है। **चतुर्थ**, शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में सुविधाएं पहले से निश्चित रूप से बढ़ी हैं। **पंचम**, रोजगार के अवसर भी पहले से बढ़े हैं लेकिन जनसंख्या वृद्धि के कारण बेरोजगारों की संख्या घटने के बजाय बढ़ गई है।

निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन की आलोचना

निदेशक तत्वों का लक्ष्य है 'सामाजिक-आर्थिक न्याय' और भारत के विविध राजनीतिक दल सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थिति को प्राप्त करने का संकल्प लगातार दोहराते रहे हैं, लेकिन इस दिशा में जैसा ठोस कार्य अपेक्षित था, वैसा नहीं किया गया है। निदेशक तत्वों की क्रियान्विति की आलोचना अग्र प्रकार है :

प्रथम, नीति निदेशक तत्वों का लक्ष्य है, 'अधिकतम सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना' लेकिन छह दशकों में धनी और निर्धन के बीच विषमता में कमी आने के बजाय वृद्धि ही हुई है। सम्पति के मूल अधिकार को संवैधानिक संशोधनों के आधार पर सीमित करना और अन्ततः सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में समाप्त करना, आदि तो नाटकीय कार्य हैं, जिनका व्यावहारिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। भारत का राजनीतिक अभिजन आर्थिक समानता की दिशा में आगे बढ़ने की इच्छा रखता है, इसमें निश्चित रूप से सन्देह है। इस प्रसंग में हमारी असफलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि आज भी लगभग 40 प्रतिशत व्यक्ति गरीबी की सीमा-रेखा के नीचे या गरीबी की सीमा रेखा के समीप रहते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं। निर्धनता के समुद्र में विलासिता के कुछ टापू अवश्य ही खड़े हैं।

द्वितीय, आर्थिक-सामाजिक न्याय की प्राप्ति तभी सम्भव थी, जबकि भारत के सभी नागरिकों को 'रोजगार का अधिकार' दिया जाता। अब तक ऐसा नहीं किया गया है और देश सबके लिए रोजगार की दिशा में आगे नहीं बढ़ रहा है। बेरोजगारों और शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में कमी होने के बजाय निरन्तर वृद्धि हो रही है।

तृतीय, अब तक अनेक भूमि सुधार कानून पारित किए गए, लेकिन इन कानूनों में कुछ कमियां रही हैं और अधिकांश राज्यों में इन कानूनों की क्रियान्विति उचित रूप में नहीं हुई। छोटे किसान और भूमिहीन श्रमिक के दुख-दर्द पहले से कम होने के बजाय बढ़ गए हैं। **'भूमि पर जोतने वाले का अधिकार हो'** (Land to the tiller); यह नारा हमने लगातार लगाया है, लेकिन व्यवहार में आज भी इस स्थिति से हम बहुत दूर हैं।

चतुर्थ, शिक्षा के क्षेत्र में सुविधाओं में कुछ वृद्धि हुई है। 2001 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार अभी भी साक्षरता का प्रतिशत 65.38 ही है। स्त्रियों की साक्षरता का प्रतिशत तो 54.16 प्रतिशत ही है।[1]

अन्य कुछ बातों के सम्बन्ध में भी स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। **'बन्धुआ मजदूरी' और बाल मजदूरी की स्थिति कानूनन तो समाप्त कर दी गई, लेकिन व्यवहार में आज भी बनी हुई है।** बालक, महिलाएं और सभी

1 *'Hindustan Times*, **March 28, 2001.**

निर्धन व्यक्ति आज भी शोषण का शिकार हो रहे हैं। न्याय व्यवस्था ऐसी है कि निर्धन व्यक्ति न्याय प्राप्त करने की बात सोच भी नहीं पाता। यह सारी स्थिति तो इस प्रश्न को जन्म देती है कि क्या भूतपूर्व और वर्तमान शासक वर्ग की निदेशक तत्वों में, दूसरे शब्दों में आर्थिक तथा सामाजिक न्याय में कोई आस्था है।

'सरदार पटेल स्मारक व्याख्यान माला' के अन्तर्गत **'संविधान और सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन'** विषय पर बोलते हुए 16 दिसम्बर, 1977 को सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री हंसराज खन्ना ने कहा था कि **"संविधान में जो सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य और उद्देश्य निर्धारित किए गए थे, वे हमसे पहले की अपेक्षा अधिक दूर हो गए हैं। उन्होंने कहा कि यह विडम्बना ही है कि संविधान लागू होने के बाद, 28 वर्ष बीत जाने पर भी, भावी पीढ़ी को दिए गए वचन पूरे करने की दिशा में ठोस कदम नहीं उठाए गए।"**[1] आज 56 वर्ष बाद भी स्थिति वही है, जो 1977 ई. में थी। वस्तुतः निदेशक तत्वों की क्रियान्विति नारेबाजी पर नहीं, वरन् ठोस कार्यों पर निर्भर करती है और संविधान लागू किए जाने के समय से लेकर अव तक जो भी वर्ग सत्तारूढ़ रहा है, उसने नारेवाजी का ही अधिक आश्रय लिया, सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में ठोस कार्य नहीं किया गया या नहीं किया जा सका। संक्षेप में, निदेशक तत्वों की क्रियान्विति की दिशा में अब तक (2006 ई. के मध्य तक) जो कुछ किया गया, उसकी तुलना में अभी बहुत कुछ किया जाना है और भारतीय लोकतन्त्र के हित में अब यह कार्य, विशेषतया आर्थिक-सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने का कार्य, सच्चे मन से और शीघ्रातिशीघ्र किया जाना चाहिए।

प्रश्न

1. संविधान में उल्लिखित राज्य के नीति-निदेशक तत्वों को समझाकर लिखिए और बताइए कि उनका महत्व क्या है?
2. राज्यों के नीति-निदेशक तत्वों से आप क्या समझते हैं? उनमें तथा मूल अधिकारों में क्या अन्तर है?
3. राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों के स्वरूप एवं महत्व का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए।
4. भारतीय संविधान में राज्य नीति के निदेशक तत्वों तथा मूल अधिकारों का अन्तर और उनका महत्व बतलाइए।
5. राज्य की नीति निदेशक तत्वों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए तथा अब तक इन तत्वों की क्रियान्विति पर एक लेख लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. नीति निदेशक तत्व किस देश के संविधान से लिए गए हैं?
   (अ) अमेरिका (ब) ब्रिटेन
   (स) आयरलैण्ड (द) आस्ट्रेलिया
2. नीति निदेशक तत्वों की अनुपालना की अपेक्षा किससे की जाती है?
   (अ) केन्द्र सरकार से (ब) राज्य सरकार से
   (स) केन्द्र व राज्य सरकार दोनों से (द) उपर्युक्त में से किसी से नहीं
3. नीति निदेशक तत्वों का लक्ष्य किस प्रकार के राज्य की स्थापना करना है?
   (अ) लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना (ब) व्यक्तिवादी राज्य की स्थापना
   (स) साम्यवादी व्यवस्था के राज्य की स्थापना (द) निरंकुश राज्य की स्थापना करना
4. "यह एक ऐसा चैक है, जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।" नीति निदेशक तत्वों के सम्बन्ध में यह विचार किसके हैं?
   (अ) जवाहर लाल नेहरू (ब) सरदार पटेल
   (स) के. टी. शाह (द) मीनू मसानी
5. नीति निदेशक तत्वों के विरुद्ध की जाने वाली आलोचना का प्रमुख आधार है :
   (अ) वैधानिक शक्ति का अभाव (ब) अस्पष्ट तथा अतार्किक रूप से संगृहीत
   (स) एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य में अस्वाभाविक (द) उपर्युक्त सभी

[1] दैनिक हिन्दुस्तान, 18 दिसम्बर, 1977, पृष्ठ 3.

6. नीति निदेशक तत्वों को 'नव वर्ष' के प्रथम दिन पास किए गए शुभकामना प्रस्ताव किसने कहा था :
(अ) प्रो. के. टी. शाह (ब) श्री नासिरुद्दीन
(स) प्रो. ह्वीयर (द) श्री बी. एन. राव

7. नीति निदेशक तत्वों के महत्व का प्रमुख कारण है :
(अ) निदेशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति है
(ब) संविधान की व्याख्या में सहायक है
(स) कार्यपालिका प्रधान इनका दुरुपयोग नहीं कर सकते
(द) उपर्युक्त सभी कारण

8. मूल अधिकार एवं नीति निदेशक तत्वों के सम्बन्ध में 'सामंजस्यपूर्ण संरचना के सिद्धान्त' का अभिप्राय है :
(अ) दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं, अतः सन्तुलन सम्भव नहीं है
(ब) मौलिक अधिकार ही सर्वोच्च हैं, अतः निदेशक तत्व गौण हैं
(स) दोनों एक ही संवैधानिक ढांचे के अभिन्न अंग हैं और उन्हें एक-दूसरे के सन्दर्भ में पढ़ा जाना चाहिए
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

9. 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा निम्न में से किन निदेशक तत्वों को जोड़ा गया है :
(अ) कमजोर वर्ग को समान न्याय एवं निःशुल्क कानूनी सहायता
(ब) औद्योगिक संस्थानों के प्रबन्धं में कर्मचारियों की भागीदारी बनाने की व्यवस्था
(स) बच्चों के स्वस्थ रूप से विकास के लिए अवसर और सुविधाएं
(द) वन एवं वन्य जीवन की रक्षा
(य) उपर्युक्त सभी

[उत्तर—1. (स), 2. (स), 3. (अ), 4. (स), 5. (द), 6. (ब), 7. (द), 8. (स), 9. (य)]

6

चुनाव आयोग और चुनाव सुधार
[ELECTION COMMISSION AND ELECTORAL REFORMS]

'चुनाव व्यवस्था' लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्राण है। प्रत्येक शासन व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार की चुनाव-प्रक्रिया के महत्व को स्वीकार किया जाता है, किन्तु निर्वाचन प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया का संचालन करने वाली मशीनरी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का बुनियादी आधार है। लोकतन्त्र में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि चुनाव होते हैं, अपितु इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि चुनाव किस भांति होते हैं, चुनाव कितने निष्पक्ष होते हैं और आम मतदाता का निर्वाचन व्यवस्था का संचालन करने वाले अभिकरण की निष्पक्षता और ईमानदारी पर कितना विश्वास है?

भारत के संविधान निर्माता चुनावों के महत्व से परिचित थे और इसीलिए भारतीय संविधान में उन्होंने एक ऐसे सांविधानिक आयोग की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य सम्पूर्ण देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा के सदस्य एवं राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों का निर्वाचन सम्पन्न कराना है। इस सांविधानिक आयोग को **'चुनाव आयोग'** (Election Commission) के नाम से जाना जाता है। जहां विश्व के अधिकांश शासन विधानों में निर्वाचन को अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विषय समझकर उसे व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ दिया गया है वहां भारतीय संविधान निर्माताओं ने निर्वाचन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन का प्रावधान संविधान के अन्तर्गत ही कर लिया है। स्वतन्त्र निर्वाचन तन्त्र के महत्व को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान के एक पृथक अध्याय—**अनुच्छेद 324 से 329 में निर्वाचन** तन्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवस्था की गयी है।

भारत में निर्वाचन आयोग : संरचना एवं संगठन

सांविधानिक प्रावधान—संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए निर्वाचन आयोग की स्थापना की गयी है। निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा उतनी संख्या में निर्वाचन आयुक्त होंगे जितने कि राष्ट्रपति समय-समय पर मनोनीत करें। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की **नियुक्ति संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन रहते हुए** राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्श करके आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता है जैसा कि आवश्यक समझे। निर्वाचन आयुक्तों और प्रादेशिक आयुक्तों की सेवा की शर्तें और पदावधियां ऐसी होंगी जो कि राष्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करें। मुख्य चुनाव आयुक्त का कार्यकाल 6 वर्ष या 65 वर्ष की आयु, जो भी पहले हो, तक होगा। अन्य चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल 6 वर्ष या 62 वर्ष की आयुं, जो भी पहले हो, तक होगा। अक्टूबर 1993 से मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों को सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर वेतन तथा भत्ते प्राप्त होंगे। इन चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति के बाद उनके कार्यकाल, वेतन तथा अन्य सेवा शर्तों में उनके हितों के विरुद्ध कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकेगा। मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद से उन्हीं कारणों पर और उन्हीं रीतियों से हटाया जाएगा जिन कारणों और रीतियों से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अपने पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निश्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन संसद के दोनों सदनों को अलग-अलग अपने कुल सदस्यों की

संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई मत से प्रस्ताव पारित करना होगा और वह प्रस्ताव राष्ट्रपति को भेजा जाएगा। उसके बाद राष्ट्रपति मुख्य निर्वाचन आयुक्त की पदच्युति का आदेश जारी करेगा।

चुनाव आयोग : अब बहु सदस्यीय (त्रिसदस्यीय)

चुनाव आयोग के सम्बन्ध में लम्बे समय से विवाद चला आ रहा है कि चुनाव आयोग एक सदस्यीय होना चाहिए या बहु सदस्यीय। व्यवहार के अन्तर्गत 1989 में लगभग तीन महीने (अक्टूबर 89 से दिसम्बर 89) के समय को छोड़कर 1992 तक चुनाव आयोग सदैव एक सदस्यीय ही रहा है।

अक्टूबर 1993 से चुनाव आयोग को **'तीन सदस्यीय आयोग'** बना दिया गया है। यह व्यवस्था की गई है कि आयोग के अन्य दो सदस्यों को मुख्य चुनाव आयुक्त के समान ही अधिकार एवं स्थिति प्राप्त होगी। सदस्यों के बीच **मतभेद की स्थिति में यह तीन सदस्यीय आयोग बहुमत से निर्णय लेगा तथा बहुमत निर्णय ही मान्य होगा।**

चुनाव आयुक्तों की समानता कानूनी स्थिति है, लेकिन चुनाव सम्बन्धी मामलों में तत्काल निर्णय लेने होते हैं तथा यह बात मुख्य चुनाव आयुक्त को अन्य चुनाव आयुक्तों पर प्रमुखता की स्थिति प्रदान कर देती है। इसके अतिरिक्त संविधान के **अनुच्छेद** 324(3) में उल्लेख है :

"जब कोई अन्य निर्वाचन आयुक्त नियुक्त किया जाता है, तब मुख्य निर्वाचन आयुक्त निर्वाचन आयोग के अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा। यह प्रावधान मुख्य चुनाव आयुक्त को अन्य चुनाव आयुक्तों पर प्रमुखता की स्थिति प्रदान कर देता है, लेकिन इस प्रमुखता की सीमाएं हैं। इसके साथ ही मुख्य चुनाव आयुक्त से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अन्य चुनाव आयुक्तों को आयोग के कामकाज में बराबर के भागीदार बनाकर सहयोग और सद्भाव का परिचय देंगे।"

चुनाव आयोग के कार्य या भूमिका

चुनाव से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था करना चुनाव आयोग का कार्य है। इस प्रसंग में उसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन—चुनाव आयोग का सर्वप्रथम कार्य चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन होता है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950' के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए आदेश के आधार पर किया गया था। लेकिन यह व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं पायी गयी, अतः संसद ने **'परिसीमन आयोग अधिनियम**, 1952' पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दस वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है और उसके अतिरिक्त इनमें सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के दो अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होते हैं। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से लेकर 7 तक सहायक सदस्यों का प्रावधान है।

(2) मतदाता सूचियां तैयार करना—चुनाव आयोग के द्वारा लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक चुनाव या मध्यावधि चुनाव के पूर्व मतदाता सूचियां तैयार करवायी जाती हैं और इस कार्य के सम्पन्न होने पर ही चुनाव होते हैं। मतदाता सूची तैयार करने का कार्य इस उद्देश्य से किया जाता है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे जो मताधिकार की योग्यता रखता है।

(3) विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना—चुनाव आयोग का एक महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को **राष्ट्रीय दल, राज्य स्तरीय (क्षेत्रीय दल)** और **'अमान्यता प्राप्त पंजीकृत दल'** के रूप में मान्यता प्रदान करना है। चुनाव आयोग इस हेतु मान्यता के आधार निश्चित करता है तथा इनके आधार पर दलों को विभिन्न श्रेणी की मान्यता प्रदान की जाती है, मान्यता के इन आधारों में चुनाव आयोग समय-समय पर परिवर्तन भी करता है।

(4) राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करना—आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित (Reserved) चुनाव चिह्न प्रदान करता है और भारत की पृष्ठभूमि में आयोग का यह कार्य निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है। यदि चुनाव चिह्न के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाए

तो उस स्थिति में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निबटारा करेगा। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील भी की जा सकती है।

(5) **चुनाव करवाना**—चुनाव आयोग का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, संसद और राज्य विधानसभाओं के तथा अन्य चुनाव करवाना है। चुनाव के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकार से परामर्श प्राप्त करते हुए निर्णय चुनाव आयोग ही लेता है। उसे निष्पक्ष चुनाव से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था करने और केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार के समस्त कर्मचारियों को सभी आवश्यक निर्देश देने का अधिकार प्राप्त है। यदि चुनाव आयोग देखे कि चुनाव निष्पक्षतापूर्वक नहीं हो रहे हैं, तो वह चुनावों को स्थगित कर सकता है। उसे चुनाव से सम्बन्धित समस्त प्रक्रिया के निरीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त है।

(6) **अर्द्ध-न्यायिक कार्य** (Quasi-Judicial Functions)—संविधान के द्वारा आयोग को कुछ अर्द्ध-न्यायिक कार्य भी सौंपे गए हैं, जिसमें दो उल्लेखनीय हैं : अनुच्छेद 103 के अन्तर्गत राष्ट्रपति आयोग से संसद सदस्यों की अयोग्यताओं (Disqualifications) के सम्बन्ध में परामर्श कर सकता है तथा 192वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल के सदस्यों के सम्बन्ध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों को दिया गया है। लेकिन संविधान अथवा जन प्रतिनिधित्व अधिनियम में इस कार्य को करने की कोई प्रक्रिया निश्चित नहीं की गयी है और इसलिए इस कार्य को करने में आयोग ने कठिनाइयां अनुभव की हैं।

(7) **अन्य कार्य**—आयोग को उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी सौंपे गए हैं, जो इस प्रकार हैं—1. राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता (Code of Conduct) तैयार करना, 2. राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएं दिलवाना, 3. उम्मीदवारों द्वारा किए जाने वाले कुल व्यय की राशि को निश्चित करना, 4. मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देना, 5. चुनाव याचिकाओं, आदि के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक परामर्श देना।

इन सबके अतिरिक्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहेगा और चुनाव प्रक्रिया में सुधार के लिए सुझाव देता रहेगा।

चुनाव आयोग की भूमिका (1951-1990)

संविधान ने चुनाव आयोग को समस्त भारत में चुनाव संचालित करने से सम्बन्धित समस्त कार्य, शक्तियां और दायित्व सौंपे हैं, लेकिन चुनाव कार्य में चुनाव आयोग की भूमिका हो या अन्य कोई गतिविधि; ये स्थैतिक स्थितियां नहीं होतीं, वरन् इनमें गतिशीलता होती है। चुनाव आयोग तो 1951 से ही था, लेकिन 1951 से 1990 के वर्षों में एक संस्था के रूप में चुनाव आयोग ने बहुत अधिक मर्यादित रूप में अपनी भूमिका निभाई तथा चुनाव आयोग पर ये आरोप भी लगते रहे कि चुनाव आयोग एक स्वतन्त्र संवैधानिक संस्था के रूप में (संविधान की अपेक्षा यही है) नहीं, वरन् शासन के अधीन संस्था के रूप में अपने कार्य सम्पन्न कर रहा है। केवल कुछ ही सीमा तक यह आरोप सही भी था, लेकिन 1991 ई. से स्थिति पूर्णतया परिवर्तित हो गई।

चुनाव आयोग की महत्वपूर्ण भूमिका (1991-2005 ई.)

चुनावों में भारी शोर-शराबे, बाहुबल की शक्ति, धन की शक्ति और सत्ता के दुरुपयोग की स्थितियां निरन्तर बढ़ती चली जा रही थीं, अतः 1991 में मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर श्री शेषन की नियुक्ति के साथ ही, उन्होंने इन स्थितियों को नियन्त्रित करते हुए, अधिकतम सम्भव सीमा तक 'स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव' सम्पन्न करवाने का निश्चय किया। इस दृष्टि से विभिन्न आदेश निर्देश जारी किए गए, जिनमें से कुछ ये हैं : लोकसभा/विधानसभा के सभी उम्मीदवारों द्वारा चुनाव खर्च का ब्यौरा चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित प्रारूप में दिया जाना आवश्यक है तथा आयोग खर्च के इस विवरण की सत्यता की जांच करेगा; चुनाव प्रचार में सार्वजनिक और निजी भवनों की दीवारों को गन्दा नहीं किया जा सकेगा; किसी क्षेत्र के लिए चुनाव घोषणा के बाद शासन और शासन से जुड़े मन्त्री नीति सम्बन्धी घोषणाएं, नवीय योजनाओं की घोषणाएं या सम्बन्धित क्षेत्रों के प्रसंग में अनुदान की घोषणाएं नहीं कर सकेंगे। इसके साथ ही चुनाव के समय मन्त्रियों की सरकारी यात्राओं और शस्त्रों के नये लाइसेंसों को भी नियन्त्रित किया गया।

इसके अतिरिक्त मुख्य चुनाव आयुक्त ने इस बात पर बल दिया कि 'फर्जी मतदान' को रोकने के लिए सभी मतदाताओं को 'पहचान-पत्र' (Indentity Card) दिये जाने चाहिए। 'पहचान-पत्र' दिये जाने का कार्य

1994 में ही प्रारम्भ तो हो गया, लेकिन इस कार्य में विशेष रूप से कुछ राज्यों में अनेक बाधाएं खड़ी हुईं, खड़ी की गईं तथा इस कार्य को बीच में ही छोड़ दिया गया। 2001-02 के वर्षों में विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं तथा अप्रैल-मई 2004 में चौदहवीं लोकसभा के जो चुनाव हुए, उन सभी चुनावों में चुनाव आयोग ने यह निर्देश दिया कि मतदाता अपने मताधिकार का प्रयोग तभी कर सकेंगे जबकि उनके पास चुनाव आयोग द्वारा जारी किया गया पहचान पत्र या राशन कार्ड, ड्राइविंग लाइसेंस, पासपोर्ट आदि अन्य कोई वैध पहचान पत्र हो। 1997 में चुनाव आयोग ने सभी राजनीतिक दलों से अपने इस निर्देश का पालन करवाया है कि एक निर्धारित अवधि के भीतर सभी राजनीतिक दल अपने संगठनात्मक चुनाव पूरे करवायें।

भारत की चुनाव व्यवस्था की एक गम्भीर समस्या है : अपराधी तत्वों का विधायी संस्थाओं में प्रवेश। इस स्थिति को नियन्त्रित करने के लिए चुनाव आयोग और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 2003 ई. में यह व्यवस्था की गई कि लोकसभा/विधानसभा के सभी उम्मीदवारों को अपने नामांकन पत्र के साथ एक शपथ-पत्र पर अपनी शिक्षा, सम्पत्ति, लेनदारियों-देनदारियों और आपराधिक रिकॉर्ड के सम्बन्ध में समस्त विवरण प्रस्तुत करना होगा। इस व्यवस्था के पीछे सोच यह है कि जनता को उम्मीदवारों के आपराधिक रिकॉर्ड की जानकारी मिल जाएगी, तब जनता ऐसे उम्मीदवारों को विजयी नहीं बनाएगी, लेकिन यह व्यवस्था 2004 ई. में सम्पन्न लोकसभा चुनावों में तथा फरवरी 2005 में सम्पन्न तीन राज्यों के विधानसभा चुनावों में अपराधी तत्वों के प्रवेश को नहीं रोक पाई है।

इन सबके अतिरिक्त चुनाव आयोग ने अपने आचरण के आधार पर सभी पक्षों को समझाया कि चुनाव आयोग में अपने निर्देशों के पालन करवाने की क्षमता है तथा यदि चुनाव में फर्जी मतदान और मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने की घटनाएं होती हैं, तो मतगणना के पूर्व ही चुनाव को निरस्त किया जा सकता है।

इन उपायों और चुनाव आयोग द्वारा धारण की गई संकल्प शक्ति के आधार पर आयोग ने चुनाव व्यवस्था की कमियों, त्रुटियों और बुराइयों को पर्याप्त सीमा तक नियन्त्रित करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार (1991-2005) के वर्षों में चुनाव आयोग ने देश की राजनीतिक व्यवस्था में पहले से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर ली है।

चुनाव कार्य के सुचारु संचालन की दृष्टि से 2000 ई. से चुनाव आयोग को कुछ और शक्तियां दी गई हैं। अब यह बात अन्तिम रूप से निश्चित हो चुकी है कि चुनाव कार्य में लगे समस्त स्टाफ पर चुनाव आयोग का नियन्त्रण होगा तथा आयोग को चुनाव कार्य में नियुक्त कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का अधिकार होगा।[1]

निर्वाचन आयोग एक निष्पक्ष और स्वतन्त्र संस्था

अथवा

निर्वाचन आयोग की स्वतन्त्रता के लिए संवैधानिक प्रावधान

भारत में निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र सांविधानिक निकाय है और संविधान इस बात को सुनिश्चित करता है कि यह उच्चतम और उच्च न्यायालयों की भांति कार्यपालिका के विना किसी हस्तक्षेप के स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से अपने कार्यों को सम्पादित कर सके। इसकी स्वतन्त्रता को बनाए रखने की दृष्टि से निम्नलिखित प्रावधान बड़े महत्वपूर्ण हैं—

1. निर्वाचन आयोग एक संवैधानिक संस्था है अर्थात् इसका निर्माण संविधान ने किया है न कि कार्यपालिका या संसद ने।
2. मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं।
3. मुख्य चुनाव आयुक्त को महाभियोग जैसी प्रक्रिया से ही हटाया जा सकता है।
4. मुख्य चुनाव आयुक्त का दर्जा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर है।
5. नियुक्ति के पश्चात् मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य चुनाव आयुक्तों की सेवा शर्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

1 **'Govt. gives E.C. disciplinary Powers over Poll Officials'** —***Hindustan Times*, 30 Dec., 2000.**

6. मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य आयुक्तों का वेतन भारत की संचित निधि में से दिया जाता है।

संक्षेप में, संविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है जिससे वे अपने कार्यों को निडरता, निष्पक्षता तथा बिना किसी हस्तक्षेप के सम्पादित कर सकें।

'चुनाव आयोग एक स्वतन्त्र संवैधानिक संस्था है' इस वात पर वल देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने 28 अक्टूबर, 2002 ई. को दी गयी अपनी राय में कहा है कि अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत चुनाव कार्यक्रम निर्धारित करने का अधिकार केवल चुनाव आयोग को है। चुनाव आयोग का यह अधिकार संविधान के अन्य किसी अनुच्छेद से सीमित नहीं होता तथा संसद भी चुनाव आयोग के इस अधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकती।[1]

भारत की चुनाव पद्धति की विशेषताएं

लोकतान्त्रिक व्यवस्था के सुचारु संचालन में चुनावों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। चुनाव के इस महत्व को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान का भाग 15 (अनुच्छेद 324 से 329) निर्वाचन से ही सम्बन्धित है। भारत में चुनाव पद्धति की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

1. **वयस्क मताधिकार**—भारतीय संविधान में वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है और तेरहवीं लोकसभा चुनाव के समय सम्पूर्ण भारत में मतदाताओं की संख्या 60 करोड़ 58 लाख 84 हजार (60 करोड़ 50 लाख से अधिक) थी।[2]

1989 में **61वें संवैधानिक संशोधन** के आधार पर वयस्कता की आयु सीमा 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई है। अब भारत में अमरीका, इंग्लैण्ड, रूस गणतन्त्र और चीन, आदि राज्यों की भांति 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त है।

2. **आरक्षित स्थानों सहित संयुक्त निर्वाचन की पद्धति**—ब्रिटिश शासन ने भारत में साम्प्रदायिक निर्वाचन की पद्धति अपनाई थी, जिसके अन्तर्गत मुसलमानों, ईसाइयों, सिखों और आंग्ल भारतीयों को साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इस साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व ने विभिन्न सम्प्रदायों को एक दूसरे का प्रबल विरोधी बना दिया। अतः नवीन संविधान में इस साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को समाप्त कर संयुक्त निर्वाचन की पद्धति को अपनाया गया है। लेकिन इसके साथ ही अनुसूचित जातियों और जनजातियों की विशेष स्थिति को स्वीकार करते हुए उनके लिए लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में स्थानों का आरक्षण किया गया है। मूल संविधान में 1960 तक के लिए स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था थी, इस अवधि को संवैधानिक संशोधनों के आधार पर बढ़ाया गया और अब 79वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार 25 जनवरी 2010 ई. तक के लिए आरक्षण की यह व्यवस्था है। लोकसभा में अनुसूचित जातियों के लिए स्थान आरक्षित हैं। इन आरक्षित स्थानों पर सम्बद्ध जाति के व्यक्ति ही उम्मीदवार हो सकते हैं, लेकिन उसे चुनने का कार्य उस क्षेत्र के सभी मतदाताओं द्वारा किया जाता है।

3. **प्रादेशिक प्रतिनिधित्व**—भारत में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को नहीं, वरन् प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को अपनाया गया है। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत एक क्षेत्र विशेष के सभी मतदाता अपना प्रतिनिधि निर्वाचित करते हैं।

4. **गुप्त मतदान**—भारत में लोकसभा, राज्यसभा, विधानसभा, विधानपरिषद्, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और स्थानीय संस्थाओं सभी के चुनाव के लिए गुप्त मतदान की पद्धति को अपनाया गया है।[3]

5. **प्रत्यक्ष निर्वाचन-अप्रत्यक्ष निर्वाचन**—भारत में प्रत्यक्ष निर्वाचन और अप्रत्यक्ष निर्वाचन दोनों ही पद्धतियों को अपनाया गया है। लोकसभा और विधानसभा के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति लेकिन राज्यसभा, विधानपरिषद् राष्ट्रपति को निर्वाचित करने के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति को अपनाया गया है। इनमें सबसे प्रमुख

1 *Hindustan Times*, 29 October 2002.
2 *The Times of India*, Sept. 28, 1999, p. 6.
3 राज्य सभा के चुनाव में गुप्त मतदान के कारण भ्रष्टता की स्थितियां देखी गईं, अतः 2003 ई. में संसद में शासन की सहमति प्राप्त इस आशय का प्रस्ताव विचाराधीन है कि 'राज्य सभा के सदस्यों को गुप्त मतदान के स्थान पर खुले मतदान की पद्धति के आधार पर चुना जाय।'

संस्थाएं लोकसभा और विधानसभा ही हैं। अतः कहा जा सकता है कि प्रमुख रूप से प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति को अपनाया गया है।

6. **एकल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र**—प्रथम और द्वितीय आम चुनाव में लोकसभा और विधानसभा के अधिकांश निर्वाचन क्षेत्र तो एकलसदस्यीय थे, लेकिन कुछ निर्वाचन क्षेत्र 'द्विसदस्यीय' थे। दूसरे आम चुनाव में 91 लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र और 584 विधानसभा क्षेत्र द्विसदस्यीय थे और काफी बड़ी संख्या में अवैध मतों का एक कारण द्विसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों से उत्पन्न अस्पष्टता भी थी। अतः जनवरी 1961 में '**द्विसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र उन्मूलन विधेयक**' पारित किया गया और तृतीय आम चुनाव से भारत में लोकसभा और राज्य विधानसभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र एकलसदस्यीय ही हैं। एकलसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के कारण मतदाता और उनके प्रतिनिधि के वीच सीधे सम्बन्ध की स्थिति है।

7. **साधारण बहुमत की पद्धति और आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति**—भारत में विविध संस्थाओं के चुनाव के लिए इन दोनों ही पद्धतियों को अपनाया गया है। लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव साधारण वहुमत की पद्धति के आधार पर होते हैं लेकिन राज्यसभा, विधानपरिषद्, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल संक्रमणीय मत पद्धति के आधार पर होते हैं। इस प्रकार राज व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करने वाले प्रमुख चुनाव साधारण बहुमत की पद्धति के आधार पर ही होते हैं।

भारत की चुनाव पद्धति : गुण

गुण—भारत में अव तक 14 आम चुनाव हो चुके हैं और इन आम चुनावों के आधार पर अब तक केन्द्र में 7 बार (1977, 1980, 1989, 1991, 1996, 1998 तथा 2004) सत्ता परिवर्तन हो चुका है। 'मतपेटी के आधार पर सत्ता परिवर्तन' स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव का परिचायक है। एशिया और अफ्रीका के कुछ देशों के सम्बन्ध में यह बात कही जाती है कि शासक दल मत पत्रों में बड़े पैमाने पर हेराफेरी करता है, लेकिन भारत में मतपेटी में मत पड़ने के बाद मत पत्रों में कोई हेराफेरी नहीं होती। भारत की चुनाव पद्धति का यह इतना भारी गुण है कि अपने समस्त दोषों, कुछ गम्भीर दोषों के बावजूद मूल रूप से श्रेष्ठ चुनाव पद्धति कहने के लिए विवश करता है।'

निर्वाचन पद्धति : दोष और सुधार
(ELECTORAL SYSTEM : DEFECTS AND REFORMS)

भारत में अब तक चौदह आम चुनाव हो चुके हैं। ये सभी चुनाव सामान्यतया शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुए हैं, लेकिन इसके साथ ही चुनाव पद्धति और चुनावों में कुछ ऐसी बातें देखने में आयी हैं, जिन्होंने जनता की चुनावों में आस्था को कम किया है अथवा यदि उन्हें समय रहते नियन्त्रित नहीं किया गया तो वे कालान्तर में चुनावों के प्रति आस्था को आघात पहुंचा सकती हैं।

चुनावों से सम्बन्धित व्याधियों की विवेचना और चुनाव सुधार का विषय पिछले कुछ वर्षों से संसद और देश के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान आकर्षित करता रहा है। अनेक पक्षों द्वारा इस सम्बन्ध में अध्ययन कर अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की गई हैं। इन अध्ययनकर्ताओं में सबसे प्रमुख हैं : 'सिटिजन फॉर डेमोक्रेसी' नामक संगठन की ओर से जयप्रकाश नारायण द्वारा नियुक्त 'तारकुण्डे समिति'। इसी प्रकार 1972 में 'संयुक्त संसदीय समिति' ने अपने सुझाव दिये और अप्रैल 1975 में 'आठ-दलीय स्मरण पत्र' प्रस्तुत किया गया।

1983-84 में मुख्य चुनाव आयुक्त श्री आर. के. त्रिवेदी ने चुनाव व्यवस्था की प्रमुख रूप से ये कमियां बतलाई थीं : प्रथम, चुनावों में धन की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति; द्वितीय, फर्जी मतदान और तृतीय, चुनावों में बाहुवल की शक्ति का प्रयोग तथा मतदान केन्द्रों पर कब्जा।

दिनेश गोस्वामी समिति के सुझाव—मई 1990 ई. में गोस्वामी समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिए :

1. मतदान केन्द्रों पर कब्जे की घटनाओं को रोकने के लिए पुनर्मतदान कराया जाये।
2. आरक्षित सीटों के लिए 'चक्रानुक्रम' (Rotation) की पद्धति अपनाई जाए।
3. चुनाव याचिकाओं का शीघ्र निबटारा किया जाए।
4. इलेक्ट्रोनिक मतदान मशीनों का प्रयोग प्रारम्भ किया जाए।

5. किसी भी रिक्त स्थान के लिए 6 माह के भीतर उप चुनाव का प्रावधान अनिवार्य किया जाए।

6. सभी मतदाताओं को फोटो युक्त पहचान पत्र दिये जाएं।

विविध पक्षों द्वारा जो सुझाव दिये गये, उनमें से कुछ महत्वपूर्ण सुझाव तो स्वीकार किये जा चुके हैं, तथा अन्य कुछ सुझावों के सम्बन्ध में प्रक्रिया प्रारम्भ की जा चुकी है लेकिन आज भी चुनाव व्यवस्था में अनेक गम्भीर त्रुटियां हैं और चुनाव व्यवस्था की इन गंभीर त्रुटियों का कोई प्रभावी उपचार अब तक नहीं ढूंढा जा सका है। चुनाव व्यवस्था की इन गम्भीर त्रुटियों और इन त्रुटियों के उपचार का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

1. **राजनीतिक दलों को प्राप्त जन समर्थन और स्थानों के अनुपात में गम्भीर अन्तर**—भारत में साधारण बहुमत की जो निर्वाचन पद्धति अपनाई गई है, उसके अन्तर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से वह उम्मीदवार निर्वाचित घोषित होता है जिसे सबसे अधिक मत मिले हों, चाहे विरोधी अथवा पराजित उम्मीदवारों को मिले मतों का योग उसे प्राप्त मतों से कितना ही अधिक हो। इसके परिणामस्वरूप बहुधा उस दल को सरकार बनाने का अवसर मिल जाता है जिसे देश के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है और छोटे दलों को उन्हें प्राप्त जन समर्थन की तुलना में बहुत ही कम स्थान प्राप्त होते हैं। लोकसभा के अब तक जो 14 चुनाव हुए उनमें से किसी भी चुनाव में कोई राजनीतिक दल 50 प्रतिशत मत प्राप्त नहीं कर सका है। उदाहरण के लिए कांग्रेस (इ) ने 1984 के लोकसभा चुनावों में लोकसभा के लगभग 80 प्रतिशत स्थान प्राप्त किये थे, उसने यह सफलता 49.5 प्रतिशत मतों के आधार पर ही प्राप्त की थी। 1980 के लोकसभा चुनावों में एक विसंगति इस रूप में देखी गई कि जनता पार्टी ने मतदाताओं के 18.94 प्रतिशत और जनता 'एस' (लोकदल) ने 9.43 प्रतिशत मत प्राप्त किये, लेकिन जनता 'एस' (भारतीय लोकदल) को जनता पार्टी की तुलना में 10 स्थान अधिक प्राप्त हुए।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत इस स्थिति को न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतः निर्वाचन प्रणाली की इस असंगति को दूर करने के लिए कुछ क्षेत्रों से यह सुझाव दिया जाता है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की **'सूची पद्धति'** (List System) को अपनाया जाना चाहिए। कुछ अन्य पक्षों द्वारा इस विसंगति को दूर करने के लिए **'द्वितीय मतपत्र योजना'** (Second Ballot System) को अपनाने का सुझाव दिया जा रहा है।

परन्तु इन सुझावों को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयां हैं। सूची प्रणाली या आनुपातिक प्रतिनिधित्व का अन्य कोई रूप एक जटिल पद्धति है और भारतीय मतदाता इसका उचित रूप से प्रयोग कर सकेंगे, इसमें निश्चित रूप से सन्देह है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में भी चुनाव आयोग के पास कुल मिलाकर 250 से अधिक राजनीतिक दलों का पंजीकरण हो चुका है, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के किसी भी रूप को अपनाने पर छोटे-छोटे राजनीतिक दलों में और अधिक वृद्धि होगी, जिसका परिणाम राजनीतिक अस्थिरता हो सकता है।

वस्तुतः उपर्युक्त त्रुटि का उपचार चुनाव प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं वरन् राजनीतिक दलों की सुसंगत व्यवस्था को अपनाकर **'राजनीतिक ध्रुवीकरण'** (Political Polarisation) की अर्थात् विचारधारा पर आधारित तीन, या अधिकतम चार राजनीतिक दलों की दिशा में आगे बढ़ना है। 1996-99 की राजनीतिक अस्थिरता को दृष्टि में रखते हुए तो यह सुझाव दिया जा रहा है तथा अन्य बातों की दृष्टि से भी यह सुझाव महत्वपूर्ण है कि 10 **प्रतिशत से कम मत प्राप्त करने वाले राजनीतिक दलों को चुनाव लड़ने के अधिकार से वंचित कर दिया जाना चाहिए।** यह कदम छोटे दलों को उनसे मिलते-जुलते बड़े दलों में मिलने के लिए प्रेरित करेगा और इससे राजनीतिक दलों की संख्या को कम करने में मदद मिलेगी।

2. **चुनावों में धन की बढ़ती हुई भूमिका**—चुनावों में एक अत्यधिक गम्भीर दोष चुनावों में धन की बढ़ती हुई भूमिका के रूप में सामने आया है। हमारे कानून निर्माता इस दोष के प्रति सचेत थे और इसी कारण उनके द्वारा चुनाव में उम्मीदवार द्वारा किये जाने वाले व्यय की सीमा निश्चित की गयी है। मुद्रा प्रसार तथा राजनीतिक वास्तविकताओं को दृष्टि में रखते हुए चुनाव खर्च की इस सीमा को समय-समय पर बढ़ाया गया तथा 2002 ई. में निश्चित किया गया है कि बड़े संसदीय क्षेत्रों में चुनाव खर्च की सीमा 25 लाख तथा विधानसभा क्षेत्र में 10 लाख होगी। चुनावों में भाग लेने वाले उम्मीदवार के लिए आवश्यक है कि निर्वाचन परिणाम की घोषणा के 30 दिन के भीतर चुनाव व्यय का हिसाब सम्बद्ध अधिकारी के पास प्रस्तुत कर दे।

इस प्रकार कानून में चुनाव खर्च की सीमा विद्यमान है, लेकिन व्यावहारिक राजनीति में इसका कोई अस्तित्व नहीं रहा है। एक अनुमान यह है कि 2004 ई. के लोकसभा चुनावों में उम्मीदवारों ने न्यूनतम 50 लाख रुपये की धनराशि खर्च की और कुछ उम्मीदवारों द्वारा तो लोकसभा चुनाव में दो करोड़ से भी बहुत अधिक धनराशि खर्च की गई। यह स्थिति आर्थिक क्षेत्र और राजनीतिक क्षेत्र दोनों में ही अनेक दोषों को जन्म देकर समस्त व्यवस्था को विकृत करने वाली है। चुनावों में धन की निरन्तर वढ़ती हुई इस भूमिका के कारण ही काला धन और भ्रष्ट राजनीतिज्ञ एक दूसरे के साथ जुड़ गये हैं। वस्तुतः चुनावों में धन की शक्ति को नियन्त्रित करना बहुत अधिक आवश्यक हो गया है तथा इस सम्वन्ध में प्रमुखतया निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं :

(i) **राजनीतिक दलों के आय-व्यय विवरण की विधिवत् जांच**—प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए प्रतिवर्ष मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा निश्चित किये गये लेखा परीक्षक (Auditor) द्वारा जांचशुदा हिसाब प्रकाशित करना अनिवार्य होना चाहिए, जिसमें आय के स्रोत और व्यय के मद पूरे विवरण सहित बतलाये जायें। राजनीतिक दल द्वारा इस सम्बन्ध में बरती गयी किसी भी अनियमितता या लापरवाही पर चुनाव आयोग द्वारा कड़ा दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।

(ii) **संसद और राज्य विधानसभाओं के लिए एक साथ चुनाव की व्यवस्था**—संसदीय व्यवस्था में सरकार का कार्यकाल निश्चित नहीं होता और आज केन्द्र तथा राज्य स्तर पर राजनीतिक अस्थायित्व का जो वातावरण हे उसके अन्तर्गत यह तो सम्भव नहीं है कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव अनिवार्य रूप से साथ-साथ हों, लेकिन इस सम्बन्ध में शासन और सभी राजनीतिक दलों द्वारा प्रयत्न अवश्य ही किये जाने चाहिए। इस सम्वन्ध में संविधान और कानूनों में आवश्यक संशोधन कर इस व्यवस्था को अपनाया जा सकता है कि लोकसभा चुनाव के साथ उन सभी राज्यों की विधानसभाओं के चुनाव अनिवार्य रूप से होंगे, जिन विधानसभाओं ने चार वर्ष का कार्यकाल पूरा कर लिया है अथवा लोकसभा चुनाव के समय जिन राज्यों में राष्ट्रपति शासन की स्थिति है।

(iii) **चुनाव खर्च का भार पूर्णतया या आंशिक रूप से राज्य सरकार द्वारा वहन करना**—इस सम्बन्ध में सवसे प्रमुख सुझाव यह दिया जा रहा है कि चुनाव खर्च का भार पूर्णतया या आंशिक रूप से राज्य के द्वारा वहन किया जाना चाहिए। 14 जनवरी, 1999 को गठित इन्द्रजीत गुप्त की अध्यक्षता वाली संसदीय समिति ने मानसून सत्र 2000 ई. में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की है कि राजनीतिक दलों और उम्मीदवारों द्वारा किए जाने वाले वैध चुनाव खर्चों का बोझ धीरे-धीरे राज्य द्वारा अपने ऊपर ले लिया जाना चाहिए। 100 से अधिक पृष्ठों की रिपोर्ट में इसे संवैधानिक दृष्टि से न्यायोचित बतलाया गया है। सरकार इस रिपोर्ट को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया है।

वर्तमान समय में विश्व के कुछ देशों (स्वीडन, जर्मनी, ब्रिटेन आदि देश) में राज्य द्वारा चुनाव खर्च का भार वहन किये जाने की व्यवस्था है।

भारतीय परिस्थितियों में राज्य द्वारा खर्च का समस्त भार अपने ऊपर लेना अव्यावहारिक हो सकता है, लेकिन रजनी कोठारी के इस सुझाव को स्वीकार किया जा सकता है कि **"शासन के द्वारा दलों के शामियाने, दरी, जीप, पोस्टर छपवाने के लिए धनराशि, आदि मूल सुविधाएं दी जानी चाहिए, जिससे चुनाव समान शक्तियों के बीच एक खेल बन सके और चुनावों में धन की भूमिका को कम किया जा सके।"**[1] शासन के द्वारा सभी दलों के लिए चुनाव सभाओं की व्यवस्था करने और मतदाताओं में परची (slips) बांटने का कार्य और उन्हें चुनाव स्थल तक पहुंचाने का कार्य भी अपने हाथ में लिया जा सकता है। **इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की जा सकती है कि मतदाताओं का एक निश्चित प्रतिशत मत प्राप्त करने या अन्य कुछ शर्तों को पूरा करने वाले** राजनीतिक दलों को ही शासन से यह सहायता प्राप्त होगी।

चुनाव में धन की वढ़ती हुई शक्ति की समस्या के दो पहलू हैं : प्रथम, चुनाव में प्रयोग किये जाने वाले धन की मात्रा में निरन्तर वृद्धि और द्वितीय, चुनावों में काले धन का प्रयोग।

वस्तुतः यह समस्या कानूनी नहीं, वरन् व्यावहारिक राजनीति से सम्बन्धित है। राजनीति में धन की भूमिका को नियन्त्रित करने में सफलता तभी संभव है जबकि राजनीति और प्रशासन में भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण

1 *The Times of India*; Nov. 7, 1994.

लगे, समस्त व्यवस्था में पारदर्शिता आये, **अर्थव्यवस्था में काले धन की भूमिका पर नियन्त्रण लगे** और मतदाता गहरी राजनीतिक जागरूकता की स्थिति को अपनाकर अपने स्तर पर धन की भूमिका का विरोध करें।

3. चुनाव में बाहुबल (Muscle Power) और हिंसा का प्रयोग, मतदान केन्द्रों पर कब्जा और जाली मतदान—यह चुनावों की एक अत्यधिक गम्भीर त्रुटि और समस्या है और इसे सीमित करने के विविध उपाय किये जाने पर भी 1971-90 के दो दशकों में यह बुराई बढ़ती चली गई। चुनाव में बाहुबल और हिंसा के प्रयोग की सबसे अधिक प्रवृत्ति तो बिहार राज्य में है। इसके बाद उत्तर प्रदेश, हरियाणा, प. बंगाल, जम्मू-कश्मीर और अन्य कुछ राज्यों के विभिन्न क्षेत्रों में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है। 'चिन्ताजनक बात यह देखने में आयी है कि चुनावी हिंसा की आग आम तौर पर शान्त समझे जाने वाले दक्षिण में भी फैल गयी है।' चुनाव में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग धन की बढ़ती हुई भूमिका की तुलना में भी अधिक चिन्ताजनक स्थिति है और इस स्थिति की रोकथाम के लिए सभी सम्भव कदम उठाये जाने चाहिए! इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव तथा इन सुझावों को दृष्टि में रखते हुए चुनाव आयोग द्वारा किये गये प्रयत्नों का विवरण इस प्रकार है :

(i) संवेदनशील क्षेत्रों में चुनाव आयोग द्वारा स्थानीय पुलिस के स्थान पर अर्द्ध-सैनिक बल तैनात किये गये तथा स्थिति से निवटने के लिए उन्हें समस्त आवश्यक अधिकार दिये गये।

(ii) जाली मतदान को रोकने के लिए सभी मतदाताओं को 'फोटोयुक्त पहचान पत्र' देने की प्रक्रिया 1993 ई. में प्रारम्भ कर दी गई थी, देश के एक बड़े भाग में इस प्रक्रिया को पूरा कर लिया गया तथा 2001 ई. के बाद विधानसभाओं तथा लोकसभा के जो भी चुनाव हुए उनमें मतदाताओं के लिए कोई न कोई **'पहचान पत्र'** (चुनाव आयोग का पहचान पत्र, राशन कार्ड, ड्राइविंग लाइसेंस आदि) प्रस्तुत करना अनिवार्य कर दिया गया।

(iii) 2003 ई. के विधानसभा चुनावों तथा 2004 ई. के लोकसभा चुनावों में 'मतपत्रों को चिह्नित करने की पद्धति' के स्थान पर सभी निर्वाचन क्षेत्रों में **'इलेक्ट्रोनिक वोटिंग मशीनों'** का प्रयोग किया गया। इन मशीनों के प्रयोग तथा पहचान पत्र की अनिवार्यता कर दिये जाने से फर्जी मतदान पर कुछ रोक अवश्य ही लगी है।

(iv) अहतियात के तौर पर दो दिन के लिए समस्त चुनाव क्षेत्र में आग्नेय अस्त्रों एवं हथियारों के लाने ले जाने पर प्रतिबन्ध तथा शराब की बिक्री पर रोक लगाई गई है।

(v) इस सम्बन्ध में एक सुझाव यह दिया जाता रहा है कि 'फर्जी मतदान और चुनाव धांधलियों की स्थिति में पूरे निर्वाचन क्षेत्र के मतदान को रद्द कर, अधिक कठोर व्यवस्था में पूरे चुनाव क्षेत्र में पुनर्मतदान करवाया जाना चाहिए। 2004 ई. के लोकसभा चुनावों के अन्तर्गत पहली बार **बिहार के छपरा संसदीय क्षेत्र** में सम्पन्न हुए चुनाव को रद्द कर 31 मई, 2004 ई. को पूरे संसदीय क्षेत्र में अधिक कठोर निगरानी में पुनर्मतदान करवाया गया।

चौदहवीं लोकसभा के चुनाव में चुनावी हिंसा और चुनावी धांधलियों में निश्चित रूप से कुछ कमी आई है। 13वीं लोकसभा चुनावों में 138 व्यक्ति चुनावी हिंसा में मारे गये थे, 14वीं लोकसभा चुनावों में 32 व्यक्ति चुनावी हिंसा में मारे गये हैं।[1] इसके बावजूद वांछित स्थिति से हम अब भी बहुत दूर हैं। इस सम्बन्ध में सुझाव हैं :

प्रथम, जाली मतदान को भ्रष्ट आचरण घोषित कर दिया जाना चाहिए, जिसके आधार पर निर्वाचन अवैध घोषित किया जा सके। निर्वाचन कानून में ऐसा संशोधन करना भी जरूरी है, जिसके फलस्वरूप पीठासीन अधिकारी के लिए जाली मतदान में संलग्न व्यक्ति को पुलिस को सौंपना और थाने में आवश्यक शिकायत दर्ज करना अनिवार्य हो जाए। **द्वितीय**, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि हिंसा, बाहुबल की शक्ति या भ्रष्ट साधन अपनाये जाने के आधार पर जो चुनाव याचिकाएं उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जाएं, सम्बन्धित अंदालतों के लिए 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्ष की अवधि में उन पर निर्णय करना अनिवार्य कर दिया जाए। प्रत्यक्ष या परोक्ष में दोषी पाये गये व्यक्ति पर 10 वर्ष या इससे भी अधिक अवधि के लिए कोई भी चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाये और जिस किसी सरकारी कर्मचारी

1 सहारा समय : अंक : 22 मई, 2004, पृष्ठ 37.

पर अपराधी के साथ सहयोग करने या कर्तव्य पालन में ढिलाई बरतने का आरोप सिद्ध हो, उसके विरुद्ध तत्काल कठोर कार्यवाही की जानी चाहिए।

चुनाव में बल प्रयोग की सभी स्थितियों का मूल कारण यह है कि तथाकथित जन प्रतिनिधि, प्रशासन और गुण्डा तत्व के बीच गठबन्धन की स्थिति बन गई है। अनेक तो ऐसी स्थितियां देखी गई हैं जिनमें तस्कर, माफिया और गुण्डा तत्व मन्त्री या जन प्रतिनधि से आश्रय पाता है और प्रशासन पर हावी है। 'सेवाओं और प्रशासन का राजनीतिकरण इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है' और इसे दूर करने के लिए समस्त व्यवस्था में परिवर्तन करना जरूरी है।

4. चुनावों में अपराधी तत्वों की उम्मीदवारी और परिणामतया राजनीति का अपराधीकरण—समस्त चुनाव व्यवस्था और भारतीय राजनीति का एक अत्यधिक गंभीर दोष संसद और राज्य विधानसभाओं में अपराधी तत्वों का प्रवेश है। प्रतिनिधि संस्थाओं में अपराधी प्रकृति के व्यक्तियों का प्रवेश गत तीन दशक पूर्व प्रारम्भ हुआ तथा समय के साथ बढ़ता ही जा रहा है। 1993-97 के वर्षों में 'अपराधियों के राजनीति में प्रवेश' और 'राजनीति के अपराधीकरण' पर बहुत चर्चा हुई थी, सभी राजनीतिक दलों ने राजनीति में अपराधियों के प्रवेश को रोकने की आवश्यकता पर बल दिया था, लेकिन व्यवहार में बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनाव, बिहार विधानसभा चुनाव (2005 ई.), उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव (फरवरी 2002) सहित कुछ अन्य राज्यों के विधानसभा चुनावों में उम्मीदवारों का चयन करते समय उम्मीदवार की जीत की सम्भावना तथा इस दृष्टि से उसके समस्त साधनों पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया तथा किसी भी राजनीतिक दल ने अपराधियों को अपना उम्मीदवार बनाने से परहेज नहीं किया।

अपराधियों के विधायी संस्थाओं में प्रवेश को रोकने के उद्देश्य से 2003 ई. में सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश पर चुनाव आयोग ने व्यवस्था की है कि चुनाव में सभी उम्मीदवारों को अपना नामांकन पत्र भरते समय अपनी आपराधिक पृष्ठभूमि, सम्पत्ति, वित्तीय दायित्व और शैक्षणिक योग्यता से सम्बन्धित समस्त जानकारियां शपथ-पत्र पर देना अनिवार्य होगा। यह व्यवस्था इस उद्देश्य से किया गया उपाय है, लेकिन यह उपाय प्रभावी सिद्ध नहीं हुआ। अपराधी तत्वों ने चौदहवीं लोकसभा में भी प्रवेश पा लिया है तथा उनमें से कुछ मन्त्री पद पर आसीन हैं।

इस पृष्ठभूमि में अपराधी तत्व, माफिया और हिस्ट्रीशीटर चुनावों में उम्मीदवार न बन सकें, इसके लिए **जन प्रतिनिधित्व अधिनियम में संशोधन कर पूरी पक्की कानूनी व्यवस्था की जानी चाहिए।** इस सम्बन्ध में पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त एम. एस. गिल का सुझाव है कि **''जिन व्यक्तियों के खिलाफ प्रथम दृष्टि में ऐसे आपराधिक मामलों में लिप्त होने का मामला बनता है, जिनके लिए पांच वर्ष या उससे अधिक की सजा हो सकती है, उन्हें चुनाव लड़ने से वंचित कर दिया जाना चाहिए।''**[1] मुख्य चुनाव आयुक्त के इस सुझाव को सर्वदलीय बैठक में अस्वीकार कर दिया गया है, लेकिन इस गम्भीर व्याधि को नियन्त्रित करने के लिए यह उचित सुझाव है तथा ऐसे सुझावों पर गम्भीर विचार की आवश्यकता है। प्रतिनिधि संस्थाओं में अपराधी तत्वों के प्रवेश पर कठोर और प्रभावी रोक लगाए जाने की आवश्यकता है। इसके लिए कानूनी प्रावधानों के साथ-साथ सभी सम्बद्ध पक्षों को आवश्यक मनोबल जुटाना होगा। अपराधी तत्वों के न केवल प्रतिनिधि संस्थाओं में प्रवेश, वरन् उनके राजनीतिक दल की सदस्यता प्राप्त करने पर भी रोक लगाई जानी चाहिए। राजनीतिक दलों के लिए आचरण संहिता होनी चाहिए। यदि कोई राजनीतिक दल स्थानीय स्तर पर जाने-माने अपराधी तत्वों को अपने दल की सदस्यता प्रदान करता है तो चुनाव आयोग द्वारा उन्हें ऐसा न करने के लिए आदेश दिया जाना चाहिए। अपराधी तत्व जब **'राजनीतिक कार्यकर्ता का बैज'** प्राप्त कर लेते हैं तो समस्त व्यवस्था विकृति के मार्ग पर तेजी के साथ आगे बढ़ती है।

5. निर्दलीय उम्मीदवारों की बड़ी संख्या—अब तक के सभी चुनावों में एक समस्या निर्दलीय उम्मीदवारों की एक बड़ी संख्या ने पैदा की है। यह बड़ी संख्या चुनाव व्यवस्था करने में कठिनाइयां पैदा करती है और समस्त चुनाव दृश्य को धुंधला भी कर देती है। अधिकांश निर्दलीय उम्मीदवार तो मखौल के रूप में चुनाव लड़ते हैं या कई बार में प्रमुख उम्मीदवारों से चुनाव मैदान से हटने के लिए धनराशि प्राप्त करने की आशा में उम्मीदवार बन जाते हैं। चौदहवीं लोकसभा में 2384 निर्दलीय उम्मीदवार थे, जिनमें यद्यपि केवल 4 विजयी

1 *The Times of India*; 30 April, 2000.

हुए, लेकिन इन निर्दलीय उम्मीदवारों ने समस्त मतदाताओं के 4.18 प्रतिशत मत[1] प्राप्त कर समस्त चुनाव दृश्य को धुंधला किया।

निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या में कमी करने के लिए 1996 में जमानत की धनराशि में दस गुना वृद्धि की गई है तथा इससे निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या आधी से कम हो गई, लेकिन उम्मीदवारों की संख्या में और कमी लाने की आवश्यकता है।

6. चुनाव याचिकाओं पर निर्णय में अत्यधिक विलम्ब—चुनाव याचिका में बहुत अधिक खर्च होता है तथा विवादों का शीघ्र निपटारा नहीं हो पाता है। यह चिन्तनीय है कि जब तक याचिका का निर्णय होता है, तब तक तो लोकसभा और विधानसभा का कार्यकाल ही समाप्त हो जाता है और विवादग्रस्त व्यक्ति लगभग पूरे काल तक अपने पद पर बना ही रहता है। चुनाव याचिकाओं पर शीघ्रता के साथ निर्णय की स्थिति को अपनाना बहुत अधिक आवश्यक है। इस सम्बन्ध में कानून बनाकर 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्ष में चुनाव याचिका पर निर्णय अनिवार्य किया जा सकता है। चुनाव याचिकाओं पर शीघ्र निर्णय के लिए '**सर्वोच्च न्यायालय की एक विशेष पीठ**' स्थापित की जा सकती है जब भ्रष्ट साधनों को अपनाकर विजयी बने सदस्यों का चुनाव, चुनाव के बाद शीघ्र ही अवैध घोषित होते हुए देखा जायेगा तब चुनाव में भ्रष्ट साधन अपनाने पर भी कुछ रोक लगने की आशा की जा सकती है।

2000-05 के वर्षों में चुनाव व्यवस्था में दो ऐसी त्रुटियां देखी गई हैं, जिनका उपचार चुनाव आयोग को ही करना है, ये त्रुटियां हैं :

मतदाता सूचियों में भारी गड़बड़ियां—2003 ई. के विधानसभा चुनावों और अप्रैल-मई 2004 के लोकसभा चुनावों तथा इसके पूर्व भी कुछ चुनावों में यह बात देखी गई कि 'मतदाता सूचियों में भारी गड़बड़ियां हैं। काफी बड़ी संख्या में मतदाता, जो लम्बे समय से एक ही स्थान पर रह रहे हैं, उनके नाम मतदाता सूचियों से गायब हैं तथा दूसरी ओर मतदाता सूचियों में बड़ी संख्या में ऐसे नाम हैं, जिनका मतदाता सूची में बतलाये गये स्थान पर कोई अता-पता ही नहीं है। इससे स्पष्ट है कि मतदाता सूचियां तैयार करने तथा उन्हें संशोधित करने आदि के समस्त कार्य में आवश्यक सतर्कता नहीं बरती जा रही है। राज्य सरकारों को निर्देश देकर उनसे आवश्यक सहयोग प्राप्त कर, इस सम्बन्ध में समस्त आवश्यक व्यवस्था चुनाव आयोग को ही करना है।

अत्यधिक लम्बा चुनाव कार्यक्रम और प्रक्रिया—द्वितीय त्रुटि यह देखी गई है कि चुनाव से सम्बन्धित समस्त प्रक्रिया बहुत अधिक लम्बे समय तक चलती है। चौदहवीं लोकसभा के चुनाव पांच चरणों (20, 22 व 26 अप्रैल, 5 और 10 मई) में सम्पन्न हुए। 6 फरवरी, 2004 को तेरहवीं लोकसभा भंग हुई और चुनाव प्रक्रिया 29 फरवरी से प्रारम्भ होकर 19 मई को समाप्त हुई। इस लम्बे चुनाव कार्यक्रम और प्रक्रिया के पीछे तर्क यह है कि चुनावी हिंसा तथा चुनावी धांधलियों पर रोक लगाने के लिए अर्ध सैनिक बलों की आवश्यकता है, अर्ध सैनिक बलों की अपर्याप्तता के कारण उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना होता है। चुनाव के नाम पर लगभग तीन महीने तक समस्त **शासन व्यवस्था को पंगु बनाने का न तो कोई औचित्य है और न ही यह बात समस्त राज व्यवस्था के हित में है।** अतः सुझाव यह है कि चुनाव आयोग द्वारा समस्त भारत में एक या दो चरणों में चुनाव करवाकर, समस्त चुनाव प्रक्रिया को लगभग 40 दिन या अधिकसे अधिक 45 दिन में पूरा कर लिया जाना चाहिए। चुनावी धांधलियों और चुनावी हिंसा को रोकना चुनाव आयोग की पहली प्राथमिकता है और होनी ही चाहिए; इस प्राथमिकता को बनाये रखते हुए उपर्युक्त सुझाव पर पूरी गम्भीरता के साथ विचार और आवश्यक प्रयत्न किये जाने पर यह अवश्य ही सम्भव है।

निर्वाचन पद्धति में सुधार के लिए कुछ अन्य सुझाव ये हैं : चुनावों में सामान्यतया 50 से 60 प्रतिशत मतदाता ही अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में भी 58.036% मतदाताओं ने ही अपने मताधिकार का प्रयोग किया है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था की दृष्टि से यह अच्छी स्थिति नहीं है, अधिकाधिक मतदाता अपने मताधिकार का प्रयोग करें, इसके लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिए। इसी प्रकार समस्त चुनाव प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के सभी उपाय किये जाने चाहिए आदि।

1 इंटरनेट (www/CEI/GOI) से प्राप्त तथ्य।

चुनाव सुधार के लिए चुनाव आयोग की नई सिफारिशें

देश की लोकतान्त्रिक प्रक्रिया में धन बल एवं बाहुबल के निरन्तर और तेजी से बढ़ रहे प्रभाव से चिन्तित चुनाव आयोग ने **'चुनाव सुधारों पर प्रस्ताव'** (Proposals on Electoral Reforms) शीर्षक से 5 जुलाई, 2004 ई. को प्रधानमन्त्री डॉ. सिंह को अपने सुझाव प्रेषित किये हैं। इन प्रस्तावों का प्रमुख उद्देश्य राजनीति के अपराधीकरण पर रोक लगाना है और चुनाव आयोग ने प्रस्तावों के प्रारम्भ में कहा है कि, '14वीं लोकसभा के चुनावों के अनुभवों के आधार पर कहा जा सकता है कि चुनाव सुधार के लिए अभी कुछ और कदम उठाये जाने की आवश्यकता है। सुझाव इस प्रकार हैं : **प्रथम**, 1951 के जन प्रतिनिधित्व कानून में केवल ऐसे व्यक्तियों को चुनाव से प्रतिबन्धित किया गया है जिन्हें किसी अपराध में सिद्ध दोष ठहराते हुए कम से कम दो वर्ष की सजा दी गई हो। यह अयोग्यता भी तब लागू होगी, जब दोष सिद्धि पर अन्तिम न्यायालय की मोहर लग जाए। अत्यधिक धीमी और जटिल न्यायिक प्रक्रिया के कारण यह प्रावधान चुनावों में अपराधी तत्वों की उम्मीदवारी रोकने में असफल रहा है। चुनाव आयोग ने जन प्रतिनिधित्व अधिनियम में ऐसे संशोधन का सुझाव दिया है जिससे 5 वर्ष या अधिक की सजा के मामलों के आरोपी अदालत द्वारा आरोप निर्धारित किये जाने के बाद ही चुनाव से प्रतिबन्धित किये जा सकें। आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि जांच आयोग द्वारा दोषी करार दिये गये व्यक्तियों को भी चुनाव लड़ने की अयोग्यता के दायरे में शामिल किया जाए। राज्यों में राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण विरोधियों को झूठे मामलों में फंसाये जाने की शिकायतों के परिप्रेक्ष्य में आयोग का सुझाव है कि, 'चुनाव के 6 माह पहले तक दर्ज मामलों में ही अभियुक्त को चुनाव लड़ने की अयोग्यता के दायरे में शामिल किया जाए।'

द्वितीय, निर्दलीय उम्मीदवारों की बढ़ती संख्या से चिन्तित चुनाव आयोग का सुझाव है कि नामांकन के साथ जमानत राशि में पुनः वृद्धि करते हुए उसे दुगुना कर दिया जाए। आयोग का यह भी सुझाव है कि जन प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 34 में संशोधन करके जमानत की राशि के निर्धारण का अधिकार चुनाव आयोग को ही दे दिया जाए। इससे कानून में बार-बार संशोधन की आवश्यकता समाप्त जो जाएगी।

तृतीय, दल-बदल अधिनियम के अन्तर्गत सांसदों/विधायकों को सदस्यता के लिए अयोग्य घोषित करने का अधिकार पीठासीन अधिकारी के बजाय चुनाव आयोग को देने का सुझाव दिया गया है। ऐसा करने से सम्बन्धित निर्णय को अधिक सम्मान प्राप्त होगा तथा उसकी स्वीकार्यता भी बढ़ेगी।

चतुर्थ, ऋणात्मक अथवा तटस्थ मतदान के प्रावधान की आवश्यकता स्वीकार करते हुए आयोग ने चुनाव नियमों में ऐसे परिवर्तन कर सुझाव दिया है ताकि **'मतपत्र'** (Ballot) में **'उपर्युक्त में से कोई नहीं'** (None of the above) का प्रावधान किया जा सके, इससे मतदाताओं को अधिकार प्राप्त हो जाएगा कि वे अपने निर्वाचन क्षेत्र में सभी उम्मीदवारों को अस्वीकार कर सकें।

पंचम, चुनाव आयोग ने सुझाव दिया है कि किसी भी प्रत्याशी के एक से अधिक निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए।

षष्टम, आयोग के अनुसार स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनावों के लिए 'जनमत सर्वेक्षणों' (Opinion Polls) तथा मतदान के बाद होने वाले सर्वेक्षणों (Exit Polls) के आंकड़ों के प्रकाशन एवं प्रसारण पर एक निश्चित अवधि के लिए रोक लगाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

सप्तम, राजनीतिक दलों के लेखों (Accounts) के वार्षिक प्रकाशन को अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए।

इन सुझावों में सर्वाधिक प्रमुख बात अपराधियों के चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्ध से सम्बन्धित है।

प्रश्न

1. चुनाव आयोग के गठन एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. भारत की चुनाव व्यवस्था की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
3. भारत की चुनाव व्यवस्था के प्रमुख दोषों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए। ग्यारहवीं लोकसभा चुनाव के बाद भारत की चुनाव व्यवस्था में क्या सुधार किए गए हैं?
4. भारत की चुनाव व्यवस्था के प्रमुख दोषों का उल्लेख करते हुए इस व्यवस्था में सुधार के लिए सुझाव दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. "अगर निर्वाचनतन्त्र दोषपूर्ण है या निष्पक्ष नहीं है या गैर-ईमानदार लोगों द्वारा संचालित होता है तो लोकतन्त्र अपने उद्भव स्थान में ही डगमगा जाएगा।" यह कथन किसका है?
(अ) महात्मा गांधी (ब) डा. अम्बेडकर (स) पं. हृदयनाथ कुंजरू (द) जवाहरलाल नेहरू
2. प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?
(अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति
(स) प्रधानमन्त्री (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
3. पहली बार निर्वाचन आयोग का गठन कब किया गया था :
(अ) 1947 में (ब) 1950 में (स) 1951 में (द) 1952 में
4. प्रथम बार निर्वाचन आयोग को 'तीन सदस्यीय आयोग' कब बनाया गया :
(अ) अक्टूबर 1988 में (ब) अक्टूबर 1989 में
(स) अक्टूबर 2000 में (द) सितम्बर 2002 में
5. 'परिसीमन आयोग' का अध्यक्ष कौन होता है?
(अ) सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश (ब) मुख्य चुनाव आयुक्त
(स) लोकसभा अध्यक्ष (द) राज्यसभा के उपसभापति
6. विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता कौन प्रदान करता है?
(अ) राष्ट्रपति (ब)प्रधानमन्त्री (स) चुनाव आयोग (द) सर्वोच्च न्यायालय
7. चुनाव आयोग का प्रमुख कार्य है?
(अ) चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन
(ब) मतदाता सूचियां तैयार करना
(स) विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना
(द) उपर्युक्त सभी कार्य
8. निर्वाचन प्रक्रिया प्रारम्भ करने सम्बन्धी अधिसूचना किसके द्वारा जारी की जाती है :
(अ) राष्ट्रपति (ब)प्रधानमन्त्री
(स) मुख्य चुनाव आयुक्त (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
9. भारतीय संविधान का कौन-सा भाग निर्वाचन से सम्बन्धित है?
(अ) भाग 8 (ब) भाग 11 (स) भाग 15 (द) भागं 16
10. 61वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार वयस्कता की आयु सीमा कितने वर्ष कर दी गई है?
(अ) 20 वर्ष (ब) 19 वर्ष (स) 18 वर्ष (द) 17 वर्ष
11. भारत में चुनाव पद्धति की प्रमुख विशेषता है :
(अ) वयस्क मताधिकार (ब) प्रादेशिक प्रतिनिधित्व
(स) गुप्त मतदान (द) उपर्युक्त सभी
12. भारत में अब तक कितने आम चुनाव हो चुके हैं?
(अ) 11 (ब) 12 (स) 13 (द) 14
13. जन प्रतिनिधित्व (दूसरा संशोधन) अधिनियम 1996 के अनुसार अब चुनाव प्रचार कितने दिन तक किया जा सकेगा :
(अ) 21 दिन (ब) 15 दिन (स) 14 दिन (द) 11 दिन
14. जन प्रतिनिधित्व (दूसरा संशोधन) अधिनियम 1996 के अनुसार निर्दलीय उम्मीदवार को चुनाव मैदान में उतरने के लिए कितने प्रस्तावकों की आवश्यकता होगी?
(अ) पांच (ब) सात (स) दस (द) बीस

[उत्तर—1. (स), 2. (अ), 3. (स), 4. (ब), 5. (ब), 6. (स), 7. (द), 8. (अ), 9. (स), 10. (अ), 11. (द), 12. (द), 13. (स), 14. (स)।]

7

संघीय व्यवस्थापिका : संसद
[THE UNION LEGISLATURE : PARLIAMENT]

संसद के अंग

संविधान के अनुच्छेद 79 द्वारा व्यवस्था की गई है कि भारतीय संघ की एक संसद होगी जिसका गठन राष्ट्रपति तथा दो सदनों से मिलकर होगा, जिनके नाम क्रमशः लोकसभा तथा राज्यसभा होंगे। इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा ब्रिटिश सरकार की ही भांति राज्य के वैधानिक प्रधान को संसद का अंग माना गया है। 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में केन्द्र में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की गई थी और वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की ही व्यवस्था है। अतः भारतीय संविधान भी संघीय क्षेत्र में एक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना करता है। इस द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को संविधान के द्वारा 'संसद' (Parliament) का नाम दिया गया है। संसद के निम्न तीन अंग हैं :

(1) **राष्ट्रपति** जो कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है, लेकिन जिसकी कानून निर्माण के क्षेत्र में भी भूमिका है।

(2) **लोकसभा** (House of People) जो प्रथम या निम्न सदन या लोकप्रिय सदन है।

(3) **राज्यसभा** (Council of States) जो द्वितीय अर्थात् उच्च सदन या वरिष्ठ सदन है।

इस प्रकार राष्ट्रपति, लोकसभा तथा राज्यसभा तीनों का संयुक्त नाम 'संसद' है।

संसद के कार्य तथा शक्तियां अथवा अधिकार

क्या भारतीय संसद सम्प्रभु (Sovereign) है?

भारत में ब्रिटिश शासनकाल में 1919 और 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत जिस विधानमण्डल की स्थापना की गई थी वह बाहरी शक्ति ब्रिटिश संसद के अधीन था, लेकिन नवीन संविधान के अन्तर्गत गठित भारतीय संसद किसी भी बाहरी शक्ति के अधीन नहीं है और इस दृष्टि से इसे **'सम्प्रभुतासम्पन्न विधानमण्डल'** कहा जा सकता है, किन्तु भारतीय संसद उस अर्थ में सर्वोच्च और सम्प्रभुतासम्पन्न संस्था नहीं है, जिस अर्थ में ब्रिटिश संसद है। ब्रिटिश संसद के द्वारा ब्रिटेन के समस्त क्षेत्र और सभी विषयों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के कानून का निर्माण किया जा सकता है और ब्रिटिश संसद द्वारा निर्मित कानून को किसी के भी द्वारा अवैध घोषित नहीं किया जा सकता, किन्तु भारतीय संविधान में तीन ऐसे लक्षण हैं, जिनके कारण संसद की कानून निर्माण की सत्ता सीमित हो गई है। **प्रथम**, संविधान के द्वारा संसद **की सर्वोच्चता** नहीं वरन् **संविधान की सर्वोच्चता** के विचार का प्रतिपादन किया गया है और भारतीय संविधान कठोर है, जिसके कारण संसद की कानून निर्माण की शक्ति सीमित हो गई है। **द्वितीय**, संविधान के द्वारा **संघात्मक व्यवस्था की स्थापना** की जाने के कारण संसद उन विषयों पर कानून का निर्माण नहीं कर सकती, जो विषय संविधान के द्वारा राज्य सरकारों को सौंपे गए हैं। **तृतीय**, संसद के द्वारा **मूल अधिकारों के विरुद्ध** किसी कानून का निर्माण नहीं किया जा सकता। इन सबके अतिरिक्त संविधान के द्वारा **'न्यायिक पुनर्विलोकन'** (Judicial Review) की व्यवस्था की गई है, जिसके अनुसार संसद द्वारा निर्मित कानूनों की न्यायपालिका (सर्वोच्च न्यायालय) द्वारा जांच की जाती है। यदि सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय समझता है कि संसद के द्वारा किन्हीं विशेष कानूनों का निर्माण करने में संविधान का उल्लंघन किया गया है, तो सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय इन कानूनों

को अवैधानिक घोषित कर सकता है। इस दृष्टि से भारतीय संसद की स्थिति ब्रिटिश संसद और अमरीकी कांग्रेस के मध्य में है।

इन सीमाओं के बावजूद संविधान के द्वारा संसद को व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं और संसद की प्रमुख शक्तियों का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) **विधायी शक्तियां**—संसद का सबसे प्रमुख कार्य राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रखते हुए कानूनों का निर्माण करना है। संसद को संघीय सूची के 97 और समवर्ती सूची के 47 विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त है। यद्यपि समवर्ती सूची के विषयों पर संघीय संसद और राज्य विधानमण्डल दोनों के द्वारा ही कानूनों का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु इन दोनों द्वारा निर्मित कानून में पारस्परिक विरोध होने की स्थिति में संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य होंगे। संसद के द्वारा अवशेष विषयों पर कानूनों का निर्माण किया जा सकता है, क्योंकि संविधान के द्वारा अवशेष शक्तियां संघ को सौंपी गई हैं। इसके अतिरिक्त सभी संघीय क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव ही सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है।

संविधान के द्वारा संकटकाल के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की गयी है। संकटकाल की घोषणा के समय संसद राज्यों के लिए राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है। इन सबके अतिरिक्त सामान्य काल में भी कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं, जबकि संसद के द्वारा राज्य सूची के विषयों पर भी कानून का निर्माण किया जा सकता है।

(2) **संविधान के संशोधन की शक्ति**—संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में संसद को महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है। संविधान के अनुसार संविधान में संशोधन का प्रस्ताव संसद में ही प्रस्तावित किया जा सकता है, किसी राज्य के विधानमण्डल में नहीं। संसद के दोनों सदनों द्वारा संविधान के संशोधन का कार्य किया जाता है और संविधान के अधिकांश भाग में अकेली संसद के द्वारा ही या तो सामान्य बहुमत से या पृथक्-पृथक् दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत से परिवर्तन किया जा सकता है। संविधान की केवल कुछ ही व्यवस्थाएं ऐसी हैं जिनमें संशोधन के लिए भारतीय संघ के आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होती है। संसद को विधिवत् प्रक्रिया अपनाकर मूल अधिकार सहित संविधान के सभी प्रावधानों में संशोधन की शक्ति प्राप्त है लेकिन संसद को यह शक्ति प्राप्त नहीं है कि वह संविधान के मूल ढांचे को बदल सके या नष्ट कर सके।

(3) **वित्तीय शक्तियां**—जनता के प्रतिनिधि होने के नाते भारतीय संसद को राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है और प्रतिवर्ष वित्तमन्त्री द्वारा प्रस्तावित बजट (राष्ट्रीय आय-व्यय का लेखा) जब तक संसद से स्वीकार न करा लिया जाय, उस समय तक आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं किया जा सकेगा। लोकसभा के द्वारा बजट में कटौती की जा सकती है, जिसका आशय शासन के प्रति अविश्वास होता है। संसद ही अनुमान और सार्वजनिक लेखा समिति नियुक्त करती है तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार कर उचित कार्यवाही करती है।

(4) **प्रशासनिक शक्तियां**—भारतीय संविधान द्वारा संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गयी है, अतः संविधान के अनुसार संघीय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल संसद (व्यवहार में लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर रहता है, जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रख सकती है। **प्रथम**, संसद के सदस्य कार्यपालिका के सदस्यों से सरकारी नीतियों तथा कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं तथा प्रशासन की आलोचना कर सकते हैं। **द्वितीय**, संसद 'कामरोको प्रस्ताव' के आधार पर सरकारी नीतियों और कार्यों की त्रुटियों को प्रकाश में ला सकती है। **तृतीय**, संसद सरकारी विधेयक को अस्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में कोई ऐसा संशोधन करके, जिससे सरकार सहमत न हो, अपना विरोध प्रदर्शित कर सकती है। **चतुर्थ**, संसद के द्वारा बजट में कटौती की जा सकती है। बजट में कटौती की जाने पर मन्त्रिमण्डल को पद त्याग करना होता है। इन सबके अतिरिक्त संसद को मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास करके उसे पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार संसद संघ की वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल पर प्रभावशाली रूप में नियन्त्रण रखती है।

(5) **निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियां**—**अनुच्छेद** 54 के द्वारा संसद को कुछ निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियां प्रदान की गयी हैं। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मण्डल

के अंग हैं। अनुच्छेद 66 के अनुसार संसद सदस्य दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं।

(6) **विविध शक्तियां**—उपर्युक्त के अतिरिक्त संसद को कुछ अन्य शक्तियां भी प्राप्त हैं :

(क) संसद के दोनों सदन संविधान द्वारा निर्धारित विशेष प्रक्रिया के आधार पर राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पास कर उसे पदच्युत कर सकते हैं। इसी प्रकार ये दोनों सदन सर्वोच्च या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को अक्षमता व दुराचरण के आधार पर पदच्युत करने का प्रस्ताव पास कर सकते हैं। इस प्रकार का प्रस्ताव प्रत्येक सदन में दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित होना चाहिए। उपराष्ट्रपति को हटाने के लिए राज्यसभा द्वारा पारित प्रस्ताव लोकसभा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए।

(ख) राष्ट्रपति द्वारा घोषित संकटकालीन घोषणा को एक निश्चित अवधि (एक माह) से अधिक समय तक लागू रखने के लिए संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है।

(ग) अन्त में संसद सार्वजनिक विवाद स्थल का कार्य करती है। इस दृष्टि से संसद लोकप्रिय भावना के दर्पण तथा शिक्षण का कार्य करती है।

लोकसभा की रचना या संगठन

लोकसभा संसद का प्रथम या निम्न सदन है। **इसे लोकप्रिय सदन** भी कहते हैं, क्योंकि इसके सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। लोकसभा राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली है और अनेक प्रसंगों में संसद का आशय लोकसभा से ही लिया जाता है।

(1) **सदस्य संख्या**—मूल संविधान में लोकसभा की सदस्य संख्या 500 निश्चित की गयी थी। समय-समय पर सदस्य संख्या में परिवर्तन किया जाता रहा है। अब **'गोवा, दमन और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987'**[1] द्वारा निश्चित किया गया है कि अधिकतम 530 सदस्य राज्यों के निर्वाचन क्षेत्रों से व अधिकतम 20 सदस्य संघीय क्षेत्रों से निर्वाचित किये जा सकेंगे एवं 2 सदस्य मनोनीत हो सकते हैं। इस प्रकार लोकसभा की **अधिकतम सदस्य संख्या (530+20+2); 552 हो सकती है।** वर्तमान में इसकी सदस्य संख्या (530+13+2); इस प्रकार 545 है। भारतीय संविधान में व्यवस्था की गयी थी कि प्रति दस वर्ष पश्चात् होने वाली जनगणना पर **'परिसीमन आयोग'** लोकसभा में राज्य व संघीय क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित करेगा। संविधान की इस व्यवस्था के अन्तर्गत 1971 की जनगणना के आधार पर 'परिसीमन आयोग' द्वारा अगली लोकसभा के सम्बन्ध में निर्णय लिये गये। **42वें संवैधानिक संशोधन** के अनुसार, **अनुच्छेद** 82 में संशोधन करते हुए व्यवस्था की गई थी कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं की सदस्य संख्या 2001 ई. तक वही रहेगी, जो 1971 की जनगणना के आधार पर निर्धारित की गई है। 71वें संवैधानिक संशोधन (1992) और 84वें संवैधानिक संशोधन (2002 ई.) द्वारा इस व्यवस्था में पुनः परिवर्तन किया गया है। 84वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर लोकसभा के कुल सदस्यों की संख्या और लोकसभा में राज्यवार प्रतिनिधित्व 2026 ई. **तक यथावत् रखने का निर्णय लिया गया है।** कुल स्थानों और राज्यवार प्रतिनिधित्व को यथावत् रखते हुए राज्यों में निर्वाचन क्षेत्रों का पुनर्सीमांकन किया जाएगा। पुनर्सीमांकन के आधार पर आरक्षित सीटों की संख्या में परिवर्तन हो सकता है। साधारण (अनारक्षित) सीट को आरक्षित सीट बनाया जा सकता है और आरक्षित सीट को अनारक्षित (सामान्य) बनाया जा सकता है। संसद द्वारा यह निर्धारित कर दिया गया है कि निर्वाचन क्षेत्रों के पुनर्सीमांकन का कार्य 2001 ई. की जनगणना पर आधारित होगा। वर्तमान समय में राज्यों व संघीय क्षेत्रों को लोकसभा में जो प्रतिनिधित्व प्राप्त है उसे अग्र तालिका (पृष्ठ 120) के आधार पर समझा जा सकता है :

(2) **निर्वाचन**—लोकसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से और वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। भारत में अब 61वें **संवैधानिक संशोधन** के अनुसार 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को वयस्क माना गया है। लोकसभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र **'एकल सदस्यीय'** रखे गये हैं। प्रतिनिधित्व का अनुपात कुछ अपवादों को छोड़कर यथासम्भव समस्त देश में समान रखने का प्रयत्न किया जायेगा। मूल संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु 10 वर्ष की अवधि के लिए स्थान सुरक्षित रखे गये थे, किन्तु बाद में यह अवधि बढ़ा दी गयी। संविधान के 79वें संशोधन (2000 ई.) के अनुसार अब उनके लिए 25 जनवरी, 2010 ई. तक के लिए स्थान आरक्षित किये गये हैं।

1 **भारत का संविधान (विधि और न्याय मन्त्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित, प्रकाशन वर्ष 1990), पृष्ठ 22.**

(3) **मतदाताओं के लिए योग्यताएं**—लोकसभा के चुनाव में उन सभी व्यक्तियों को मतदान का अधिकार होगा, जो

(i) भारत के नागरिक हैं,
(ii) जिनकी आयु 18 वर्ष या अधिक है,
(iii) जिनका नाम अपने निवास क्षेत्र की मतदाता सूची में है,
(iv) जो पागल या दिवालिया नहीं है,
(v) जिन्हें संसद के कानून द्वारा किरी अपराध, भ्रष्टाचार या गैर-कानूनी व्यवहार के कारण मतदान से वंचित नहीं कर दिया गया है।

(4) **सदस्यों की योग्यताएं**—लोकसभा की सदस्यता के लिए संविधान के अनुसार निम्नलिखित योग्यताएं होनी आवश्यक हैं :

(i) वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो।
(ii) उसकी आयु 25 वर्ष या इससे अधिक हो।
(iii) भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत वह कोई लाभ का पद धारण न किये हो।
(iv) वह किसी न्यायालय द्वारा पागल न ठहराया गया हो तथा दिवालिया न हो।

इन योग्यताओं के अतिरिक्त अन्य योग्यताएं निर्धारित करने का अधिकार संविधान के द्वारा संसद को दिया गया है। इस अधिकार के अन्तर्गत संसद ने 1951 में **'जनप्रतिनिधित्व अधिनियम'** (People's Representation Act) पास कर संसद सदस्यों के लिए योग्यताएं निर्धारित की गई हैं।

(5) **कार्यकाल** (Term)—लोकसभा का कार्यकाल पांच वर्ष है। प्रधानमन्त्री के परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति के द्वारा लोकसभा को समय के पूर्व भी भंग किया जा सकता है, ऐसा अब तक 9 बार 1970, 1977, 1979, नवम्बर 1984, नवम्बर 1989 मार्च 1991, दिसम्बर 1997 अप्रैल 1999 तथा फरवरी, 2004 में किया गया है। संकटकाल की घोषणा लागू होने पर संसद विधि द्वारा लोकसभा के कार्यकाल में वृद्धि कर सकती है, जो एक बार में एक वर्ष से अधिक न होगा। 1976 में लोकसभा का कार्यकाल दो बार एक-एक वर्ष के लिए बढ़ाया गया।

लोकसभा में स्थानों का आबंटन

राज्य/संघ राज्यक्षेत्र का नाम	कुल सदस्य संख्या	अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित	अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित
राज्य			
आन्ध्र प्रदेश	42	—	2
उत्तर प्रदेश	80	17	—
उत्तरांचल	5	1	—
बिहार	40	7	—
झारखण्ड	14	1	4
महाराष्ट्र	48	3	4
मध्य प्रदेश	29	4	7
छत्तीसगढ़	11	2	4
तमिलनाडु	39	7	—
कर्नाटक	28	4	—
गुजरात	26	2	4
राजस्थान	25	4	3
उड़ीसा	21	3	5
केरल	20	2	—
असम	14	1	2
हरियाणा	10	2	—
जम्मू-कश्मीर	6	—	—
हिमाचल प्रदेश	4	1	—
त्रिपुरा	2	—	1
मणिपुर	2	—	1
पंजाब	13	3	—
प. बंगाल	42	8	2
मेघालय	2	—	2
नगालैण्ड	1	—	1
सिक्किम	1	—	—
मिजोरम प्रदेश	1	—	1
अरुणाचल प्रदेश	2	—	2
गोवा	2	—	—
संघीय क्षेत्र			
दिल्ली	7	1	—
पाण्डिचेरी	1	—	—
चण्डीगढ़	1	—	—
दादरा तथा नागर हवेली	1	—	1
अण्डमान और निकोबार	1	—	—
लक्षद्वीप	1	—	1
दामन व दीव	1	—	—
	543	73	47

(6) **अधिवेशन**—लोकसभा और राज्यसभा के अधिवेशन राष्ट्रपति के द्वारा ही बुलाए और स्थगित किए जाते हैं और इस सम्बन्ध में नियम केवल यह है कि लोकसभा की बैठकों में 6 माह से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए।

(7) **लोकसभा के पदाधिकारी : अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष**—संविधान के अनुच्छेद 93 के अनुसार लोकसभा स्वयं ही अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करेगी। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को उनके पद से हटाया भी जा सकता है। यदि लोकसभा के तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास हो जाए, परन्तु इस प्रकार का कोई प्रस्ताव लोकसभा में तभी पेश हो सकेगा जबकि इस प्रकार के प्रस्ताव को पेश करने के लिए कम से कम 14 दिन की पूर्व सूचना दी गई हो। संविधान के अनुसार लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को संसद द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ते प्राप्त होंगे। वर्तमान में लोकसभा अध्यक्ष को **40 हजार रुपये मासिक वेतन** प्राप्त होता है। इन दोनों पदाधिकारियों को निःशुल्क निवास स्थान तथा केन्द्रीय मन्त्रियों को मिलने वाली अन्य सुविधाएं भी प्राप्त होती हैं।

अध्यक्ष द्वारा पदत्याग, पदच्युति या अन्य किसी कारण से अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष लोकसभा की अध्यक्षता करता है। अध्यक्ष, सभापतियों का एक मण्डल (Panel) भी नियुक्त करता है, जिनके सदस्य अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में लोकसभा की अध्यक्षता करते हैं। सामान्यतया इस पैनल या मण्डल में 6 सदस्य रखे जाते हैं।

अध्यक्ष के कार्य और शक्तियां—भारतीय लोकसभा के अध्यक्ष को लगभग वे ही अधिकार प्राप्त हैं जो ब्रिटिश लोकसदन (House of Commons) के अध्यक्ष को हैं। उसकी शक्तियों का उल्लेख निम्न प्रकार है :

(1) अध्यक्ष के द्वारा लोकसभा की सभी बैठकों की अध्यक्षता की जाती है और अध्यक्ष होने के नाते उसके द्वारा सदन में शान्ति-व्यवस्था और अनुशासन वनाए रखने का कार्य किया जाता है। यदि उसकी दृष्टि में सदन के किसी सदस्य का आचरण अनुचित हो तो वह उसे सदन से बाहर भेज सकता है। यदि कोई सदस्य उसकी आज्ञाएं न माने व सदन की कार्यवाही में निरन्तर वाधा डाले, तो वह उसकी सदस्यता को निलम्बित (suspend) भी कर सकता है।

(2) लोकसभा का समस्त कार्यक्रम और कार्यवाही अध्यक्ष के द्वारा ही निश्चित की जाती है। वह सदन के नेता के परामर्श से विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में वाद-विवाद का समय निश्चित करता है। संसद के सदस्यों को भाषण देने की अनुमति वही देता है और भाषणों का क्रम भी उसी के द्वारा निश्चित किया जाता है। वह विभिन्न विधेयकों, प्रस्तावों, आदि पर मतदान कराकर परिणाम घोषित करता है। प्रश्नों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का कार्य वही करता है और 'कामरोको प्रस्ताव' भी उसकी अनुमति से ही पेश हो सकता है। प्रक्रिया सम्बन्धी सभी विवादों पर उसका निर्णय अन्तिम होता है।

(3) वह सदन की कुछ समितियों का पदेन सभापति होता है। प्रवर समितियों (Select Committee) के सभापतियों को वह नियुक्त करता है और इन समितियों के द्वारा उसके निर्देशन में ही कार्य किया जाता है।

(4) अध्यक्ष ही यह निश्चय करता है कि कोई विधेयक वित्त विधेयक है अथवा नहीं।

(5) संसद और राष्ट्रपति के बीच सारा पत्र-व्यवहार उसके ही द्वारा होता है।

(6) कार्यपालिका व शासन की अन्य सत्ताओं से सदन के सदस्यों के अधिकारों की रक्षा का कार्य अध्यक्ष के द्वारा ही किया जाता है।

इस प्रकार लोकसभा के अध्यक्ष की शक्तियां काफी विस्तृत हैं। वस्तुतः वह सदन की शक्ति, प्रतिष्ठा तथा गौरव का द्योतक होता है।

लोकसभा की शक्तियां अथवा अधिकार और कार्य

भारतीय संसद के दोनों सदनों में लोकसभा लोकप्रिय सदन है, क्योंकि इसके गठन का आधार जनसंख्या है और लोकसभा सदस्यों को जनता के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। संसदीय व्यवस्था का यह निश्चित सिद्धान्त है कि कानून निर्माण और प्रशासन पर नियन्त्रण की अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त होती है। भारतीय संविधान द्वारा भी लोकसभा को राज्यसभा की तुलना में उच्च्व स्थिति प्रदान की गई है। संसद लोकसभा, राज्यसभा तथा राष्ट्रपति से मिलकर बनती है, लेकिन लोकसभा संसद की

सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई है। लोकसभा की शक्तियों तथा उसके कार्यों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **विधायी शक्ति**—संविधान के अनुसार भारतीय संसद संघीय सूची, अवशेष विषयों और कुछ परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण कर सकती है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण अवित्तीय विधेयकों और संविधान संशोधन विधेयकों के सम्वन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्ति प्रदान की गई है। संविधान में कहा गया है कि इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जा सकते हैं और दोनों सदनों से पारित होने पर ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भेजे जाएंगे। लेकिन इसके साथ ही दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त वैठक बुलाए जाने की व्यवस्था है और लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगनी से भी अधिक होने के कारण इस वैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय लोकसभा की इच्छानुसार ही होता है। इस प्रकार कानून निर्माण के सम्वन्ध में अन्तिम शक्ति लोकसभा है और राज्यसभा साधारण अवित्तीय या संविधान संशोधन सम्बन्धी विधेयक को 6 महीने तक रोके रखने के अलावा और कुछ भी नहीं कर सकती है। व्यवहार के अन्तर्गत अव तक सभी महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते रहे हैं।

(2) **वित्तीय शक्ति**—भारतीय संविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र के सम्वन्ध में शक्ति लोकसभा को ही प्रदान की गई है और इस सम्वन्ध में राज्यसभा की स्थिति बहुत गौण है। अनुच्छेद 109 के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। लोकसभा से पारित होने के बाद वित्त विधेयक, प्राप्ति की तिथि से 14 दिन के अन्दर-अन्दर राज्यसभा द्वारा लोकसभा को लौटा देना होगा। राज्यसभा विधेयक में संशोधन के लिए सुझाव दे सकती है, लेकिन उन्हें स्वीकार करना या न करना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। वार्षिक बजट और अनुदान सम्बन्धी मांगें भी लोकसभा के समक्ष ही रखी जाती हैं और इस प्रकार के समस्त व्यय की स्वीकृति देने का एकाधिकार लोकसभा को ही प्राप्त है।

(3) **कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति**—भारतीय संविधान के द्वारा संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गई है। अतः संविधान के अनुसार संघीय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल संसद (व्यवहार में लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर रहता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रख सकती है। संसद के सदस्य मन्त्रियों से सरकारी नीति के सम्बन्ध में व सरकार के कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं तथा उनकी आलोचना कर सकते हैं। संसद सरकारी विधेयक अथवा बजट को अस्वीकार करके मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में कोई ऐसा संशोधन करके जिससे सरकार सहमत न हो, अपना विरोध प्रदर्शित कर सकती है। वह कामरोको प्रस्ताव (Adjournment motions) पास करके भी सरकारी नीति की गलतियों को प्रकाश में ला सकती है। अन्तिम रूप में लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास करके कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद को उसके पद से हटाया जा सकता है।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति के अन्तर्गत ही लोकसभा संघीय लोकसेवा आयोग, भारत के नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक, वित्त आयोग, भाषा आयोग व अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग की रिपोर्ट पर विचार करती है।

(4) **संविधान में संशोधन सम्बन्धी शक्ति**—लोकसभा को राज्यसभा के साथ मिलकर संविधान में संशोधन-परिवर्तन का अधिकार भी प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान के अधिकांश भाग में संशोधन का कार्य अकेली संसद के द्वारा ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में प्रक्रिया यह है कि संशोधन का प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है और प्रस्ताव के पारित होने के लिए आवश्यक है उसे संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाए। संशोधन प्रस्ताव के सम्बन्ध में संसद के दोनों सदनों में असहमति होने पर प्रस्ताव अस्वीकृत समझा जाएगा। **संविधान संशोधन के प्रस्ताव पर विचार के लिए संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाने का प्रावधान नहीं है।**

(5) निर्वाचक मण्डल के रूप में कार्य—लोकसभा निर्वाचक मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। अनुच्छेद 54 के अनुसार लोकसभा के सदस्य राज्यसभा के सदस्यों तथा राज्य विधानसभाओं और संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति को निर्वाचित करते हैं। अनुच्छेद 66 के अनुसार लोकसभा और राज्यसभा मिलकर राष्ट्रपति का चुनाव करती हैं। लोकसभा के द्वारा सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को निर्वाचित किया जाता है तथा वह उन्हें पदच्युत भी कर सकती है।

(6) जनता की शिकायतों का निवारण—लोकसभा के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित होकर जाते हैं, अतः उनके द्वारा जनता की शिकायतें जनता के विचार तथा भावनाएं सरकार तक पहुंचाई जाती हैं। लोकसभा के सदस्यगण इस बात की भी चेष्टा करते हैं कि सरकार अपनी नीतियों का निर्माण एवं कार्यों का सम्पादन जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए करे। यदि सैद्धान्तिक अध्ययन के स्थान पर वास्तविक अध्ययन किया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि लोकसभा सबसे अधिक प्रमुख रूप में यही कार्य सम्पादित करती है।

विविध कार्य—लोकसभा कुछ अन्य कार्य भी करती है जो इस प्रकार हैं :

(i) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा सकती हैं।

(ii) उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटाने के लिए यदि राज्यसभा प्रस्ताव पास कर दे, तो इस प्रस्ताव का लोकसभा द्वारा अनुमोदन आवश्यक होता है।

(iii) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के विरुद्ध महाभियोग प्रस्ताव पास कर सकती हैं।

(iv) राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा को एक महीने के अन्दर संसद से स्वीकार कराना आवश्यक है अन्यथा इस प्रकार की घोषणा एक महीने वाद स्वयं ही समाप्त मान ली जाती है।

(v) यदि राष्ट्रपति सर्वक्षमा (Amnesty) देना चाहे तो उसकी स्वीकृति संसद से लेनी आवश्यक है।

लोकसभा की शक्तियों के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि संसद देश का सर्वोच्च अंग है तो लोकसभा संसद का सर्वोच्च अंग है। जनता का प्रतिनिधि सदन होने के कारण लोकसभा संसद का महत्वपूर्ण, शक्तिशाली एवं प्रभावशाली अंग है।

राज्यसभा में स्थानों का आवंटन

राज्य	सदस्य संख्या	राज्य	सदस्य संख्या
आन्ध्र प्रदेश	18	असम	7
विहार	16	झारखण्ड	6
गुजरात	11	जम्मू-कश्मीर	4
केरल	9	मध्य प्रदेश	11
छत्तीसगढ़	5	महाराष्ट्र	19
कर्नाटक	12	उड़ीसा	10
पंजाब	7	राजस्थान	10
तमिलनाडु	18	उत्तर प्रदेश	31
उत्तरांचल	3	पश्चिमी वंगाल	16
हरियाणा	5	हिमाचल प्रदेश	3
नगालैण्ड	1	मेघालय	1
मणिपुर	1	त्रिपुरा	1
सिक्किम	1	मिजोरम प्रदेश	1
अरुणाचल प्रदेश	1	गोवा	1
संघ राज्य क्षेत्र			
दिल्ली	3		
पाण्डिचेरी	1		
योग			233

राज्यसभा की रचना या संगठन

राज्यसभा भारतीय संसद का द्वितीय या उच्च सदन है। इसे लोकसभा की तुलना में कम शक्तियां प्राप्त हैं, लेकिन फिर भी इसका अपना महत्व और उपयोगिता है :

(1) सदस्य संख्या और निर्वाचन पद्धति—राज्यसभा के सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या 250 हो सकती है, परन्तु वर्तमान समय में यह संख्या 245 ही है। इसमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। ये ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें कला, साहित्य, विज्ञान, समाज-सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान या अनुभव प्राप्त हो। शेष सदस्य संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करते हैं और ये जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। इन सदस्यों का चुनाव एकल संक्रमणीय मत तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार संघ के विभिन्न क्षेत्रों की विधानसभाओं के द्वारा किया जाता है। जिन क्षेत्रों में विधानसभाएं नहीं होतीं, वहां पर राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव के लिए विशेष निर्वाचक मण्डल गठित किए जाते हैं।

हमारे संविधान में इकाइयों को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर दिया गया है और अमरीका के समान भारत में संघ की छोटी-बड़ी सभी इकाइयों को द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में संविधान यह व्यवस्था करता है कि एक राज्य की जनसंख्या के प्रथम दस लाख पर एक और उसके वाद प्रत्येक 20 लाख पर एक के हिसाब से राज्य को राज्य सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। इसके साथ ही यह व्यवस्था है कि प्रत्येक राज्य को राज्यसभा में कम-से-कम एक स्थान अवश्य ही प्राप्त होगा।

राज्य सभा की रचना की पद्धति में परिवर्तन—2003 ई. में राज्य सभा की रचना की पद्धति में दो परिवर्तन किए गए हैं। **प्रथम,** मूल संविधान में व्यवस्था थी कि राज्य सभा के उम्मीदवार का नाम उस राज्य की मतदाता सूची में होना आवश्यक है, जिस राज्य से वह राज्य सभा का चुनाव लड़ना चाहता है। अव व्यवस्था की गई है कि राज्य सभा के उम्मीदवार के लिए उस राज्य का निवासी होना आवश्यक नहीं होगा, जिस राज्य से वह राज्य सभा का चुनाव लड़ना चाहता है। **द्वितीय,** गुप्त मतदान की व्यवस्था के कारण राज्य सभा के चुनाव में विधायक धन के प्रलोभन से प्रभावित होकर अपने मताधिकार का प्रयोग करते हुए पाए गए हैं। इस भ्रष्ट आचरण को समाप्त करने के लिए राज्य सभा के चुनाव में गुप्त मतदान के स्थान पर खुले मतदान की व्यवस्था को अपनाया गया है।

वर्तमान समय में विभिन्न राज्यों और संघीय क्षेत्रों को राज्यसभा में निम्न प्रकार प्रतिनिधित्व प्राप्त है :

पांच संघीय क्षेत्रों (अण्डमान निकोबार द्वीप समूह, दमन व दीव, लक्षद्वीप, चण्डीगढ़, दादरा व नागर हवेली) को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है।

(2) सदस्यों की योग्यताएं—राज्यसभा के सदस्यों के लिए वे ही योग्यताएं हैं जो लोकसभा की सदस्यता के लिए हैं। अन्तर केवल यह है कि लोकसभा की सदस्यता के लिए 25 वर्ष की आयु किन्तु राज्यसभा की सदस्यता के लिए 30 वर्ष या इससे अधिक की आयु होना आवश्यक है।

राज्यसभा सदस्य के लिए कानूनन उस राज्य का निवासी होना आवश्यक है जिस राज्य की विधानसभा से वह राज्यसभा के लिए चुना जाना चाहता है।

(3) सदस्यों का कार्यकाल—राज्यसभा एक स्थायी सदन है जो कभी भंग नहीं होता। इसमें सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है और राज्यसभा के एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष वाद सेवानिवृत्त हो जाते हैं।

(4) राज्य सभा के पदाधिकारी—राज्यसभा के दो प्रमुख पदाधिकारी होते हैं : **सभापति और उपसभापति।** भारत का उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है और उसका कार्यकाल 5 वर्ष है। राज्यसभा अपने सदस्यों में से किसी एक को 6 वर्ष के लिए उपसभापति निर्वाचित करती है। सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति सभापति के कर्तव्यों का पालन करता है तथा उपसभापति का स्थान भी रिक्त हो, तब राज्यसभा का ऐसा सदस्य, जिसे राष्ट्रपति इस कार्य के लिए नियुक्त करे इस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा।

उपसभापति को राज्यसभा के सदस्यों द्वारा अपने कुल बहुमत से प्रस्ताव पारित कर हटाया जा सकता है।

राज्यसभा के सभापति के अधिकार तथा कर्तव्य वही हैं जो कि लोकसभा के अध्यक्ष के हैं। अन्तर केवल यह है कि राज्यसभा के सभापति को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी विधेयक को वित्त विधेयक घोषित कर सकें।

दोनों सदनों पर समान रूप से लागू होने वाली बातें

(1) सदस्यों के विशेषाधिकार—संसद सदस्य अपना कार्य उचित रूप में कर सकें, इसके लिए उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। **प्रथम,** संसद के नियमों तथा आदेश का पालन करते हुए सदस्यों को सदन में भाषण की स्वतन्त्रता प्राप्त है। संसद अथवा उसकी किसी समिति में कही गई बात पर सदस्य के विरुद्ध किसी भी यायालय में किसी भी प्रकार की कार्यवाही नहीं की जा सकती। **द्वितीय,** सदस्यों को बन्दी न होने का अधिकार प्राप्त है। संसद के अधिवेशन प्रारम्भ होने के 40 दिन पूर्व और पश्चात् कोई सदस्य बन्दी नहीं बनाया जा सकता है, किन्तु फौजदारी विषयों से सम्बन्धित अपराधों में अथवा निवारक निरोध या 'पोटा' में उन्हें बन्दी वनाया जा सकता है। सदस्य की गिरफ्तारी की सूचना तुरन्त अध्यक्ष को दी जानी अनिवार्य है। किसी भी सदस्य को सदन क्षेत्र में बिना अध्यक्ष की आज्ञा के गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है। संसद विधि के आधार पर संसद सदस्यों को अन्य और अधिकार तथा उन्मुक्तियां प्रदान कर सकती है।

(2) संसद सदस्यों का वेतन तथा भत्ता—15 सितम्बर, 2006 से प्रत्येक सांसद को प्रतिमाह निम्न वेतन भत्ते देय हैं :

वेतन—16,000 रु., दैनिक भत्ता 1,000 रु., निर्वाचन क्षेत्र भत्ता—20,000 रु., कार्यालय खर्च 14,000 रु., यात्रा भत्ता 13 रु. प्रति किलोमीटर, 50,000 यूनिट विजली व 4,000 किलोलीटर निःशुल्क जल।

इसके अतिरिक्त संसद सदस्यों को अनेक सुविधाएं भी प्राप्त हैं :

पेन्शन—**15 सितम्बर, 2006 ई. में 'सांसदों के वेतन, भत्ते व पेन्शन अधिनियम 1954'** को संशोधित करते हुए सांसदों की पेन्शन और पूर्व सांसदों की सुविधाओं में पुनः वृद्धि की गई है। अब सभी पूर्व सांसदों को न्यूनतम 8,000 रु. **प्रतिमाह पेन्शन** तथा कार्यशील सांसद के निधन की स्थिति में परिवार को 3,000 रु. प्रतिमाह पेन्शन प्राप्त होगी। भूतपूर्व सांसद तथा उनके आश्रित के लिए मुफ्त रेल यात्रा व निःशुल्क चिकित्सा सुविधा की व्यवस्था की गई है।

प्रति वर्ष दो करोड़ रु. के विकास कार्यों के सुझाव देने का अधिकार—इन सबके अतिरिक्त 'स्थानीय क्षेत्र विकास योजना' के अन्तर्गत प्रत्येक सांसद को प्रतिवर्ष दो करोड़ रु. के विकास कार्यों के सुझाव देने का अधिकार प्राप्त है। इस योजना के अन्तर्गत लोकसभा सदस्य अपने निर्वाचन क्षेत्र में तथा राज्यसभा सदस्य अपने राज्य के चुनिंदा क्षेत्र में अपने पसन्द की विकासपरक योजनाएं सुझा सकेंगे। कोई भी परियोजना 25 लाख रुपये से अधिक की नहीं होगी और एक वर्ष में अधिकतम दो करोड़ रुपये तक की योजनाएं सुझाई जा सकेंगी। संसद सदस्य सुझाव देंगे और योजना का क्रियान्वयन सरकारी एजेन्सियों के माध्यम से ही होगा।

(3) सदस्यों की सदस्यता का अन्त—कुछ परिस्थितियों में संसद सदस्य की सदस्यता का अन्त हो जाता है। ये परिस्थितियां हैं : 60 दिन तक सदन की अनुमति के बिना अनुपस्थित रहना, दल वदल कानून का उल्लंघन अथवा संसद सदस्य के लिए निर्धारित योग्यता खो देना आदि।

(4) गणपूर्ति (Quorum)—लोकसभा अथवा राज्यसभा दोनों के लिए गणपूर्ति अपनी सदस्य संख्या का 1/10 है अर्थात् जब तक सदन के 1/10 सदस्य उपस्थित न हों, सम्बन्धित सदन की बैठक नहीं हो सकती।

राज्यसभा के कार्य और शक्तियां अथवा अधिकार

राज्यसभा की रचना लोकसभा के सहयोगी और सहायक सदन के रूप में की गई है। राज्यसभा के कार्य और शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) विधायी शक्तियां—लोकसभा के साथ-साथ राज्यसभा भी विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य करती है। संविधान के द्वारा अवित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्तियां दी गई हैं। अवित्तीय विधेयक लोकसभा या राज्यसभा दोनों सदनों में से किसी सदन में पहले प्रस्तावित किया जा सकता है और दोनों सदनों से पारित होने के बाद ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए जाता है। व्यवहार में स्थिति यह है कि सामान्यतः सभी महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जाते हैं, राज्यसभा में नहीं।

अनुच्छेद 108 के अनुसार यदि किसी साधारण विधेयक के सम्बन्ध में लोकसभा में मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो उस विधेयक पर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में विचार किया जाएगा और विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर होगा।

(2) संविधान संशोधन की शक्ति—संविधान संशोधन के सम्बन्ध में राज्यसभा को लोकसभा के समान ही शक्ति प्राप्त है। संशोधन प्रस्ताव तभी स्वीकृत समझा जाएगा, जबकि उसे संसद के दोनों के द्वारा अलग-अलग अपने कुल वहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पास कर दिया जाए। **संशोधन प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों में असहमति होने पर संविधान में संशोधन का प्रस्ताव गिर जाएगा।** संविधान संशोधन के प्रसंग में राज्यसभा की शक्ति का परिचय इस बात से मिलता है कि 45वां संविधान संशोधन विधेयक उसी रूप में पारित हुआ, जिस रूप में राज्यसभा चाहती थी। 1989 में 64वां और 65वां संविधान संशोधन विधेयक राज्यसभा में दो-तिहाई वहुमत प्राप्त न होने के कारण समाप्त हो गए।

(3) वित्तीय शक्ति—राज्यसभा को कुछ वित्तीय शक्ति प्राप्त है, यद्यपि इस सम्बन्ध में संविधान के द्वारा राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में निर्बल स्थिति प्रदान की गई है। संविधान के अनुसार वित्त विधेयक पहले लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जायेंगे। लोकसभा से स्वीकृत होने पर वित्त विधेयक राज्यसभा में भेजे जायेंगे, जिसके द्वारा अधिक से अधिक 14 दिन तक इस वित्त विधेयक पर विचार किया जा सकेगा। राज्यसभा वित्त

विधेयक के सम्बन्ध में अपने सुझाव लोकसभा को दे सकती है, लेकिन यह लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि उन प्रस्तावों को माने या न माने।

(4) **कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति**—संसदात्मक शासन व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् संसद के लोकप्रिय सदन के प्रति ही उत्तरदायी होती है। अतः भारत में भी मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति ही सामूहिक रूप से उत्तरदायी है, राज्यसभा के प्रति नहीं। राज्यसभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न पूछ सकते हैं और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं, परन्तु इन्हें अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मन्त्रियों को हटाने का अधिकार नहीं है।

(5) **विविध शक्तियां**—उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त राज्यसभा को कुछ अन्य शक्तियां भी प्राप्त हैं, जिनका प्रयोग वह लोकसभा के साथ मिलकर करती है। ये शक्तियां और कार्य इस प्रकार हैं :

(i) राज्यसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं।

(ii) राज्यसभा के सदस्य लोकसभा के सदस्यों के साथ मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करते हैं।

(iii) राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा कुछ पदाधिकारियों पर महाभियोग लगा सकती है, महाभियोग केवल तभी पारित समझा जाता है, जब दोनों सदन इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें।

(iv) राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर बहुमत से प्रस्ताव पास कर उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटा सकती है। उपराष्ट्रपति को पद से हटाने का प्रस्ताव प्रथम बार राज्यसभा में ही पारित होकर लोकसभा के पास जाता है।

(v) एक माह से अधिक की अवधि तक यदि आपातकाल लागू रखना हो, तो इस प्रकार के प्रस्ताव का अनुमोदन लोकसभा और राज्यसभा दोनों सदनों द्वारा पृथक्-पृथक् अपने विशेष बहुमत से किया जाना आवश्यक है, लोकसभा के भंग हो जाने की स्थिति में केवल राज्यसभा का विशेष बहुमत से अनुमोदन ही आवश्यक है। आपातकाल में मूल अधिकारों के निलम्बन के लिए किए गए आदेशों को भी यथाशीघ्र संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाना चाहिए।

(6) **विशेष अधिकार (अनन्य शक्तियां)**—अन्त में, राज्यसभा को दो ऐसे अनन्य अधिकार भी प्राप्त हैं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं हैं और जिनका प्रयोग अकेले राज्यसभा ही करती है। इस प्रकार की शक्तियों का सम्बन्ध देश के संघीय ढांचे से है और राज्यसभा को राज्यों का एकमात्र प्रतिनिधि होने के नाते इस प्रकार की दो शक्तियां प्राप्त हैं :

(i) **अनुच्छेद** 249 के अनुसार, राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का विषय घोषित कर सकती है। राज्यसभा द्वारा ऐसा प्रस्ताव पास कर दिए जाने पर संसद उस विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है। ऐसा प्रस्ताव प्रारम्भ में एक वर्ष के लिए पारित किया जाएगा, किन्तु उसका काल बढ़ाया जा सकता है।

(ii) संविधान के **अनुच्छेद** 312 के अनुसार, राज्यसभा ही अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर नई अखिल भारतीय सेवाएं स्थापित करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दे सकती है। राज्यसभा जब तक इस प्रकार का प्रस्ताव पारित न कर दे, तब तक संसद या भारत सरकार किन्हीं नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था नहीं कर सकती है।

राज्यसभा की शक्तियों का मूल्यांकन—राज्यसभा की शक्तियों के अध्ययन से नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि राज्यसभा न केवल द्वितीय सदन वरन् द्वितीय महत्व का सदन भी है। शक्तियों की दृष्टि से इसकी स्थिति ब्रिटिश लार्ड सभा और अमरीकी सीनेट के बीच ही कहीं है। वास्तव में, संविधान-निर्माताओं द्वारा राज्यसभा को प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन की भूमिका ही प्रदान की गई है, प्रतिद्वन्द्वी या प्रतियोगी सदन की नहीं। लोकसभा की तुलना में निर्बल होते हुए भी उसकी स्थिति और शक्तियों का महत्व है। **पायली** के शब्दों में **"राज्यसभा एक निरर्थक सदन या व्यवस्थापन पर रोक लगाने वाला सदन ही नहीं है। वास्तव में, राज्यसभा शासनतन्त्र का आवश्यक अंग है, केवल दिखावे मात्र का सदन नहीं।"**

राज्यसभा उन सभी कार्यों को कर रही है जो परम्परागत रूप में द्वितीय सदन के द्वारा किए जाते हैं और भारत जैसे विशाल तथा संघात्मक व्यवस्था वाले देश के लिए संघात्मक व्यवस्थापिका का द्विसदनात्मक

होना नितान्त स्वाभाविक और आवश्यक है। सामान्यतया राज्यसभा का कार्यकरण सफल रहा है और इसके अस्तित्व के औचित्य पर भी कोई सन्देह नहीं किया जाता है। प्रो. जितेन्द्र रंजन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि **''राज्यसभा न केवल रचना की दृष्टि से विश्व का सबसे अधिक श्रेष्ठ द्वितीय सदन है, वह आधुनिक प्रजातन्त्र के योग्य तथा द्वितीय सदन के उद्देश्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से भी सर्वाधिक सन्तुलित द्वितीय सदन है।**

लोकसभा और राज्यसभा की तुलना और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध

लोकसभा और राज्यसभा का तुलनात्मक अध्ययन या दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(1) **नामकरण के सम्बन्ध में**—भारतीय संसद के दो सदन हैं : लोकसभा तथा राज्यसभा। लोकसभा संसद का प्रथम अथवा निम्न सदन है और राज्यसभा द्वितीय तथा उच्च सदन है। लोकसभा को **'लोकप्रिय सदन'** और राज्यसभा को **'वरिष्ठ सदन'** भी कहा जाता है।

(2) **प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में**—लोकसभा भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करती है, राज्यसभा भारतीय संघ की इकाइयों अर्थात् राज्यों और संघीय क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करती है, लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि राज्यसभा में भारतीय संघ के सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया है।

(3) **सदस्य संख्या के सम्बन्ध में**—लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 552 हो सकती है। वर्तमान समय में यह सदस्य संख्या 545 है। राज्यसभा में अधिक से अधिक सदस्य 250 हो सकते हैं, जिनमें से 12 मनोनीत और 238 परोक्ष रूप में निर्वाचित होंगे। वर्तमान समय में यह सदस्य संख्या (233+12) है। इस प्रकार लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगनी से भी अधिक है और संयुक्त बैठक में यह सदस्य संख्या ही लोकसभा की शक्ति का आधार है।

(4) **निर्वाचन के सम्बन्ध में**—लोकसभा के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर और प्रत्यक्ष निर्वाचन के तरीके से होता है। राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है।

(5) **कार्यकाल के सम्बन्ध में**—लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है, लेकिन राज्यसभा एक स्थायी सदन है जो कभी भंग नहीं होता है। राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। इसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष के वाद अवकाश ग्रहण कर लेते हैं और इतने ही नए सदस्य निर्वाचित कर लिए जाते हैं।

(6) **साधारण विधेयक के सम्बन्ध में**—सैद्धान्तिक दृष्टि से साधारण या अवित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों सदनों की शक्तियां बरावर हैं। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से पहले किसी में भी पेश किए जा सकते हैं और यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक के वारे में मतभेद उत्पन्न हो जाए तो अनुच्छेद 108 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है। संयुक्त बैठक में बहुमत के आधार पर उस विधेयक के सम्बन्ध में निर्णय लिया जाएगा। लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगनी से भी अधिक होने के कारण संयुक्त बैठक में लोकसभा की ही इच्छानुसार कार्य होने की सम्भावना अधिक रहती है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्यसभा को साधारण विधेयकों के बारे में लोकसभा के बराबर शक्ति प्राप्त होते हुए भी व्यवहार में उसकी स्थिति लोकसभा से बहुत निर्बल होती है।

(7) **संवैधानिक संशोधन के सम्बन्ध में**—संसद के दोनों सदनों को इस सम्बन्ध में न-केवल सिद्धान्त, वरन् व्यावहारिक दृष्टि से भी समान शक्ति प्राप्त है। संविधान संशोधन से सम्बन्धित विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है और उसे संसद के दोनों सदनों द्वारा अपने विशेष बहुमत से अलग-अलग पारित किया जाना आवश्यक है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक केवल एक बार (1975 में 40वां संशोधन विधेयक) संविधान संशोधन विधेयक राज्यसभा में प्रस्तावित किया गया है।

(8) **वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में**—वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में संविधान के द्वारा ही लोकसभा को राज्यसभा से अधिक शक्ति दी गई है। संविधान के अनुसार, वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किए जायेंगे और लोकसभा से पारित होने पर ये विधेयक राज्यसभा में आयेंगे, जिसके द्वारा अधिक से अधिक 14 दिन तक ऐसे किसी विधेयक पर विचार किया जा सकता है। राज्यसभा के सुझावों को मानना या न मानना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है।

(9) कार्यपालिका पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में—संसदात्मक शासन में मन्त्रिमण्डल संसद के लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होता है, अतः भारत में भी मन्त्रिमण्डल लोकसभा के ही प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है, राज्यसभा के प्रति नहीं। राज्यसभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं, परन्तु अविश्वास प्रस्ताव के आधार पर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करने का अधिकार केवल लोकसभा को ही प्राप्त है। अतः कार्यपालिका पर नियन्त्रण की दृष्टि से लोकसभा राज्यसभा की तुलना में निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली है।

(10) अन्य कार्यों और अधिकारों के सम्बन्ध में—निम्न मामलों में दोनों सदनों की शक्तियां समान हैं :

(i) राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में दोनों ही सदनों के सदस्य समान रूप से भाग लेते हैं।

(ii) राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का अधिकार दोनों ही सदनों को है। एक सदन अभियोग लगाता है और दूसरा उसकी जांच करता है।

(iii) सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक तथा मुख्य चुनाव आयुक्त को पदच्युत करने के लिए दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है।

(iv) राष्ट्रपति द्वारा की गई संकटकालीन उद्घोषणा की स्वीकृति संसद के दोनों सदनों से आवश्यक है।

(11) राज्यसभा की अनन्य शक्तियां—राज्यसभा को राज्यों के एकमात्र प्रतिनिधि होने के नाते दो अनन्य शक्तियां भी प्राप्त हैं। **प्रथम, अनुच्छेद** 249 के अनुसार, राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से घोषित कर सकती है कि राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य सूची के अमुक विषय का कानून बनाना चाहिए। **द्वितीय, अनुच्छेद** 312 के अनुसार, उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से राज्यसभा नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के लिए प्रस्ताव पास करती है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचना से यह नितान्त स्पष्ट है कि राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में कम शक्तियां प्राप्त हैं और ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक भी है। संसदीय व्यवस्था में अन्तिम निर्णय की शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त हो सकती है, परोक्ष रूप में निर्वाचित द्वितीय सदन को नहीं। संविधान-निर्माताओं के द्वारा राज्यसभा की कल्पना प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन के रूप में की गई थी, प्रतिद्वन्द्वी सदन के रूप में नहीं और राज्यसभा के द्वारा इसी रूप में आचरण किया गया है।

विधि निर्माण की प्रक्रिया

साधारण विधेयक मन्त्रियों अथवा संसद के निजी सदस्यों द्वारा संसद के किसी भी सदन में रखे जा सकते हैं। इंगलैण्ड की भांति भारत में भी विधेयक के तीन वाचन होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं :

प्रथम वाचन—विधेयक को प्रस्तावित करना—कुछ विषयों से सम्बन्धित विधेयकों को सदन में प्रस्तावित करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति आवश्यक होती है जैसे राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने वाले विधेयक। साधारणतया किसी विधेयक को प्रस्तुत करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए एक माह का नोटिस देना आवश्यक होता है। यदि कोई सदस्य किसी विधेयक को पेश करना चाहता है, तो उसे सदन की आज्ञा लेनी होती है। आज्ञा मिलने पर विधेयक प्रस्तुत करने वाला सदस्य विधेयक महत्वपूर्ण हुआ, तो उसकी मुख्य बातों के सम्बन्ध में एक भाषण भी दे सकता है। इसी समय विधेयक के विरोधी सदस्य द्वारा भी अपने विचार व्यक्त किए जा सकते हैं। यही विधेयक का प्रथम वाचन कहलाता है और इसके बाद विधेयक सरकारी गजट में प्रकाशित किया जाता है। परन्तु जब कभी लोकसभा का अध्यक्ष किसी विधेयक को सदन में पेश करने की आज्ञा प्रदान करने के पूर्व ही उसे सरकारी गजट में प्रकाशित करने की आज्ञा दे दे तो, प्रथम वाचन इससे पूरा हुआ समझ लिया जाता है।

द्वितीय वाचन—इसके बाद एक निश्चित दिन विधेयक का द्वितीय वाचन प्रारम्भ होता है। उस दिन विधेयक का प्रस्तावक इन तीन में कोई एक प्रस्ताव रखता है—(1) विधेयक प्रवर समिति को विचारार्थ सौंप दिया जाए। (2) जनमत जानने के लिए प्रस्तावित किया जाए। (3) उस पर तत्काल ही विचार किया जाए। साधारणतः अति आवश्यक सरकारी अथवा विवाद रहित विधेयकों को छोड़कर अन्य विधेयकों पर तत्काल विचार नहीं किया जाता है। समाज सुधार सम्बन्धी विधेयक बहुधा जनमत जानने के लिए प्रसारित किया जाता है, किन्तु अधिकांश विधेयकों पर विचार हेतु 'प्रवर समितियां' बना दी जाती हैं। उनमें से कोई-सा भी प्रस्ताव

पास होने पर सदन में विधेयक के मूल सिद्धान्तों पर वाद-विवाद नहीं होता और न ही कोई संशोधन पेश किया जाता है।

इसके उपरान्त विधेयक तीसरी स्थिति में आता है, जिसे समिति स्थिति कहते हैं। प्रवर समिति में विधेयक का प्रस्तावक तथा कुछ अन्य सदस्य होते हैं। प्रवर समिति विधेयकों की प्रत्येक धारा पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करती और उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन करती है। इसके उपरान्त विधेयक का प्रस्तावक निश्चित दिन सदन के सम्मुख प्रवर समिति की रिपोर्ट पर विचार करने का प्रस्ताव रखता है। उसके स्वीकार हो जाने पर सदन में विधेयक के संशोधित रूप की एक-एक धारा पर विस्तारपूर्वक विचार होता है। इस समय विचाराधीन अनुच्छेद या उसके खण्ड पर सदस्य अपनी ओर से संशोधन प्रस्तुत करते हैं। पहले संशोधन पर वाद-विवाद होता है और उस पर मत लिया जाता है, तब संशोधित अनुच्छेद पर मत लिया जाता है। इस पर विधेयक के एक-एक अनुच्छेद को स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जाता है। वस्तुतः विधेयक के पास होने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण चरण यही होता है।

तृतीय वाचन—अन्त में विधेयक को किसी निश्चित दिन सदन के विचारार्थ लाया जाता है, यह वाचन मुख्यतया औपचारिक ही होता है, क्योंकि इस चरण में विधेयक में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया जा सकता। तृतीय वाचन में साधारणतया विधेयक के अस्पष्ट शब्दों को अधिक स्पष्ट किया जाता है और उसमें भाषा सम्बन्धी सुधार किए जाते हैं। विधेयक पर मत लिए जाते हैं और यदि बहुमत विधेयक के पक्ष में हो, तो सदन का अध्यक्ष विधेयक को पास हुआ प्रमाणित करके उसे दूसरे सदन में भेज देता है। दूसरे सदन द्वारा भी विधेयक के सम्बन्ध में यही प्रक्रिया अपनाई जाती है। दूसरे सदन द्वारा विधेयक अस्वीकृत किए जाने या उसमें ऐसे संशोधन किए जाने पर जो प्रथम सदन को स्वीकार्य न हों, अनुच्छेद 108 के अनुसार, राष्ट्रपति दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुला सकता है और संयुक्त बैठक में बहुमत के आधार पर विधेयक के भाग्य का निर्णय होता है। **यदि दूसरा सदन 6 माह तक विधेयक पर कोई कार्यवाही न करे तो भी राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलवा सकता है।**

विधेयक के दोनों सदनों द्वारा पारित होने पर राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति उसे स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकता है या विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। राष्ट्रपति द्वारा विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटाने पर यदि दोनों सदन विधेयक को संशोधन के साथ या बिना संशोधन के स्वीकार कर लेते हैं तो राष्ट्रपति उस पर स्वीकृति प्रदान करने के लिए बाध्य होता है।

संविधान संशोधन विधेयक पारित किए जाने की भी वही प्रक्रिया है जो प्रक्रिया अन्य विधेयकों के पास किए जाने की है। अन्तर केवल यह है कि संविधान संशोधन विधेयक के सम्बन्ध में संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की कोई व्यवस्था नहीं है और इस प्रकार के विधेयक के लिए संसद के दोनों सदनों से पृथक्-पृथक् स्वीकृत होना आवश्यक है। संविधान संशोधन विधेयक जब संसद से पारित होकर राष्ट्रपति के सम्मुख स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाएगा, तब राष्ट्रपति को उस पर अपनी स्वीकृति देनी होगी।

वित्त विधेयक के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें—साधारणतया आय-व्यय से सम्बन्धित सभी विधेयक वित्त विधेयक कहे जा सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 110 में यह स्पष्ट भी किया गया है कि किस प्रकार के विधेयक वित्त विधेयक कहे जाएंगे। कोई विधेयक वित्त विधेयक है अथवा नहीं, इसका अन्तिम निर्णय लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा किया जाएगा।

वित्त विधेयक पारित करने की प्रक्रिया लगभग वही है जो साधारण विधेयक पारित करने की है, फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें हैं। **प्रथम**, वित्त विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति से ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं और ये विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित हो सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। **द्वितीय**, लोकसभा द्वारा पारित होने पर वित्त विधेयक राज्यसभा में उपस्थित किए जाते हैं और राज्यसभा को 14 दिन के भीतर विधेयक पर अपना मत प्रकट करने का अधिकार है। यदि लोकसभा राज्यसभा की सिफारिश स्वीकार न करे, तो विधेयक उस रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है, जिस रूप में वह लोकसभा द्वारा पारित हुआ था। यदि राज्यसभा 14 दिन में विधेयक पर अपना मत व्यक्त नहीं करती है तो 14 दिन की समाप्ति पर विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर से कानून बन जाता है।

प्रश्न

1. लोकसभा की रचना, कार्यों तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (अ) लोकसभा (ब) लोकसभा का अध्यक्ष (स) वित्त विधेयक
3. राज्यसभा का गठन कैसे होता है? इसके कार्यों तथा शक्तियों पर प्रकाश डालिए।
4. भारतीय संसद की शक्तियों का वर्णन कीजिए। क्या संसद सम्प्रभु है?
5. लोकसभा तथा राज्यसभा के अधिकारों एवं शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
6. लोकसभा के स्पीकर (अध्यक्ष) का चुनाव किस प्रकार होता है? उसकी शक्तियों तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संसद का स्थायी सदन कौन-सा होता है?
   (अ) लोकसभा (ब) राज्यसभा (स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या कितनी हो सकती है?
   (अ) 230 (ब) 240 (स) 250 (द) 260
3. राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष होता है?
   (अ) 2 वर्ष (ब) 4 वर्ष (स) 5 वर्ष (द) 6 वर्ष
4. राज्यसभा की सदस्यता के लिए उम्मीदवार की निम्न में से कौन-सी योग्यता होनी चाहिए?
   (अ) वह भारत का नागरिक हो (ब) उसकी आयु 30 वर्ष से कम न हो
   (स) वह किसी लाभ के पद पर न हो (द) उपर्युक्त सभी
5. राज्यसभा की गणपूर्ति कुल सदस्य संख्या का कितना भाग होता है?
   (अ) $\frac{1}{4}$ भाग (ब) $\frac{1}{5}$ भाग (स) $\frac{1}{10}$ भाग (द) $\frac{1}{2}$ भाग
6. किसी विधेयक को धन विधेयक के रूप में कौन प्रमाणित करता है?
   (अ) वित्त मन्त्री (ब) राज्यसभा का सभापति (स) लोकसभा का अध्यक्ष (द) राज्यसभा का उप-सभापति
7. लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या कितनी हो सकती है?
   (अ) 540 (ब) 547 (स) 550 (द) 552
8. राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन होता है :
   (अ) राज्य की पंचायतों एवं नगरपालिकाओं द्वारा (ब) राज्य की विधानपरिषदों द्वारा
   (स) राज्य की विधानसभाओं द्वारा (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
9. किस सभा का सभापति उस सदन का सदस्य नहीं होता है?
   (अ) राज्यसभा (ब) लोकसभा (स) विधानसभा (द) विधानपरिषद
10. 'प्राक्कलन समिति' संसद के किस सदन की समिति है?
    (अ) लोकसभा (ब) राज्यसभा
    (स) उपर्युक्त दोनों सदनों की (द) उपर्युक्त में से किसी की नहीं
11. संसद में 'सरकारी विधेयक' किसके द्वारा रखा जाता है?
    (अ) राष्ट्रपति द्वारा (ब) उपराष्ट्रपति द्वारा
    (स) संसद का कोई भी सदस्य (द) मन्त्रिपरिषद का कोई भी सदस्य
12. लोकसभा अध्यक्ष द्वारा निम्न में से क्या किया जा सकता है?
    (अ) लोकसभा का विघटन (ब) लोकसभा का स्थगन
    (स) लोकसभा का सत्रावसान (द) उपर्युक्त सभी
13. निम्न में से किन मामलों में लोकसभा व राज्यसभा की शक्तियां समान हैं :
    (अ) राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में (ब) उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में
    (स) राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग के सम्बन्ध में (द) उपर्युक्त सभी

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (द), 4. (द), 5. (स), 6. (स), 7. (द), 8. (स), 9. (अ), 10. (अ), 11. (द), 12. (ब), 13. (द)।]

8

संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति

[UNION EXECUTIVE : PRESIDENT]

भारतीय संविधान में कहा गया है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं अथवा अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा। इस प्रकार संघीय कार्यपालिका में राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद होंगे। राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान होगा और मन्त्रिपरिषद कार्यपालिका की वास्तविक प्रधान।

राष्ट्रपति—भारतीय संघ की कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा गया है। यद्यपि कार्यपालिका के प्रधान का यह नामकरण अमरीकी संविधान के समान है, लेकिन भारतीय राष्ट्रपति के कार्य और शक्तियां अमरीकी राष्ट्रपति के समान नहीं हैं। अमरीकी अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान ही वास्तविक प्रधान होता है, लेकिन भारत में ब्रिटेन जैसी संसदात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका का एक वैधानिक प्रधान होता है और दूसरा वास्तविक प्रधान। राष्ट्रपति भारतीय संघ की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है और भारतीय संघ में उसकी स्थिति अमरीकी राष्ट्रपति के स्थान पर ब्रिटिश सम्राट जैसी होती है।

राष्ट्रपति पद की योग्यताएं—संविधान में राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित होने वाले व्यक्ति के लिए निम्नलिखित योग्यताएं निश्चित की गई हैं :

(1) वह भारत का नागरिक हो।

(2) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(3) वह लोकसभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।

इसके अतिरिक्त ऐसा कोई भी व्यक्ति जो भारत सरकार, राज्य सरकार या किसी स्थानीय सरकार के अन्तर्गत पदाधिकारी हो, राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में संघ के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल और संघ अथवा राज्य के मन्त्रियों को सरकारी अधिकारी नहीं समझा जाएगा।

राष्ट्रपति भारतीय संसद अथवा राज्य के विधानमण्डलों के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होगा। यदि निर्वाचन के पूर्व वह इनका सदस्य है तो निर्वाचन की तिथि से उसका स्थान उस सभा से रिक्त समझा जाएगा। राष्ट्रपति अपने कार्यकाल की अवधि में कोई अन्य वेतनभोगी पद ग्रहण नहीं कर सकता।

राष्ट्रपति का निर्वाचन

राष्ट्रपति के चुनाव के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति को अपनाया गया है और यह चुनाव एकल-संक्रमणीय मत पद्धति के आधार पर होता है। यह पद्धति इस प्रकार है :

अप्रत्यक्ष निर्वाचन—राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे निर्वाचक-मण्डल द्वारा किया जाएगा, जिसमें **(1) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, और (2) राज्य विधानसभाओं और 70वें संवैधानिक संशोधन (1992) के अनुसार संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होंगे।** राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में राज्यों की विधानसभाओं को भी इसलिए सम्मिलित किया गया है कि राष्ट्रपति न केवल केन्द्रीय शासन वरन् सम्पूर्ण भारतीय संघ का प्रधान होता है। संविधान सभा में पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि **''राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में संघीय संसद के साथ-साथ राज्यों के विधानमण्डल के सदस्यों को सम्मिलित कर इस बात का प्रयत्न किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो और संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तविक रूप में राष्ट्रीय पद का रूप प्राप्त हो सके।''**

एकल संक्रमणीय मत पद्धति—संसद तथा राज्य की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव एक विशेष मत पद्धति के अनुसार होगा, जिसे '**एकल संक्रमणीय मत पद्धति**' (Single Transferable Vote System) कहा जाता है। इस चुनाव में मतदान गुप्त मतपत्र द्वारा होगा और चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार के लिए '**न्यूनतम कोटा**' (Quota) प्राप्त करना आवश्यक होगा। '**न्यूनतम कोटा**' निर्धारित करने के लिए यह सूत्र अपनाया जाता है :

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिए गए मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या} + 1} + 1$$

न्यूनतम कोटा की व्यवस्था इसलिए की गई है, ताकि स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने पर ही एक व्यक्ति को पद प्राप्त हो सके। इस व्यवस्था से ही वह पद के अनुकूल सम्मान का पात्र हो सकता है।

इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता के द्वारा अपने मत पत्र में उतनी ही पसन्द व्यक्त की जा सकती हैं, जितनी संख्या में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार होते हैं। सर्वप्रथम पहली पसन्द या प्रथम वरीयता (First preference) के मतों की गणना की जाती है। यदि पहली पसन्द के मतों की गणना से ही किसी उम्मीदवार को 'चुनाव कोटा' प्राप्त न हो, तो फिर क्रमशः दूसरी-तीसरी पसन्द के मतों की गणना की जाती है।

जन प्रतिनिधित्व के आधार पर मतदाता के मत का मूल्य निर्धारण (मतों की संख्या)—भारत के राष्ट्रपति को जिस '**निर्वाचक मण्डल**' द्वारा निर्वाचित किया जाता है, उस निर्वाचक मण्डल के सदस्य हैं : (1) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, और (2) राज्यों तथा संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य। व्यवहार के अन्तर्गत स्थिति यह है कि लोकसभा का एक निर्वाचित सदस्य लगभग 11 लाख निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व करता है, उत्तर प्रदेश राज्य की विधानसभा का सदस्य लगभग तीन लाख मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन सिक्किम या अरुणाचल प्रदेश की विधानसभा का सदस्य केवल कुछ हजार जनता का प्रतिनिधित्व करता है। उपर्युक्त स्थिति को दृष्टि में रखते हुए यह व्यवस्था की गयी है कि निर्वाचक मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य समान नहीं होता। प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य या मतों की संख्या निम्न सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित की जाती है :

प्रथम, भारतीय संघ के कुछ राज्यों (विशाल राज्यों) की विधानसभा के सदस्य अधिक जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं और कुछ राज्यों (छोटे राज्यों) की विधानसभाओं के सदस्य कम जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। राष्ट्रपति के चुनाव में विधानसभा के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य उस अनुपात में निश्चित होता है, जितनी जनसंख्या का वह प्रतिनिधित्व करता है।

द्वितीय, सिद्धान्त यह अपनाया गया है कि राष्ट्रपति के चुनाव में केन्द्र तथा राज्यों का बराबर का हिस्सा होना चाहिए। इसलिए समस्त राज्यों की विधानसभाओं के समस्त सदस्यों के जितने मत हों, उतने ही मत संसद सदस्यों द्वारा दिये जाने चाहिए।

निर्वाचक मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य या मतों की संख्या निश्चित करने के '**सूत्र**' (**फार्मूले**) इस प्रकार हैं :

(1) किसी भी राज्य की विधानसभा के सदस्य के मतों की संख्या (मत का मूल्य)

$$= \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{राज्य विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} \div 1{,}000$$

(2) संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या (मत का मूल्य)

$$= \frac{\text{समस्त राज्यों की विधानसभाओं के समस्त सदस्यों को प्राप्त मतों की संख्याओं का कुल योग}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}}$$

उदाहरण के लिए, जुलाई 2002 ई. में सम्पन्न राष्ट्रपति के चुनावों में निर्वाचक मण्डल के कुल सदस्यों की संख्या 4,896 थी, जिनमें 776 सांसद (543 लोकसभा और 233 राज्यसभा सदस्य) और 4,120 विधायक थे। सांसद के मत का मूल्य 708 था और विधायक के मत का मूल्य राज्यवार गणनानुसार अलग-अलग था।

इस प्रकार के मतों के मूल्य के आधार पर मतों की गणना की जाती है और यदि प्रथम वरीयता (First Preference) के मतों की गणना में किसी उम्मीदवार को जीत के लिए आवश्यक 50 प्रतिशत से अधिक मत नहीं मिल पाते, तो द्वितीय वरीयता (Second Preference) के मतों की गणना कर उसके आधार पर चुनाव का निर्णय किया जाता है। अगस्त 1969 में भारतीय राष्ट्रपति का जो पांचवां चुनाव हुआ, उसमें द्वितीय वरीयता के मतों की गणना भी आवश्यक हो गई थी। राष्ट्रपति के चुनाव की समस्त प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से 1969 के चुनाव का उदाहरण ही अधिक महत्वपूर्ण है।

राष्ट्रपति के चुनाव का परिणाम, 1969

प्रथम मतगणना								द्वितीय मतगणना श्री देशमुख के मतों का हस्तान्तरण			
श्री गिरि		श्री रेड्डी		श्री देशमुख		अन्य		श्री गिरि		श्री रेड्डी	
कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य
1,910	4,71,515	1,503	3,13,418	509	1,12,759	45	8,487	103	18,291	391	91,449

विधानसभा भंग होने पर भी राष्ट्रपति का चुनाव सम्भव—1974 में जबकि राष्ट्रपति का चुनाव होना था, गुजरात विधानसभा भंग की जा चुकी थी, अतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या गुजरात विधानसभा भंग होने की स्थिति में राष्ट्रपति के चुनाव हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति ने 29 अप्रैल, 1974 को अनुच्छेद 143 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मांगा और सर्वोच्च न्यायालय ने अपने परामर्श में कहा कि **''राष्ट्रपति का चुनाव वर्तमान राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व होना चाहिए और एक या एक से अधिक राज्यों की विधानसभा भंग होने की स्थिति में भी ये चुनाव हो सकते हैं।''**

उम्मीदवार के नाम की प्रस्तावना और अनुमोदन—राष्ट्रपति के चुनाव से सम्बन्धित अन्य बातें **'राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम, 1952'** के अनुसार निश्चित की गयी हैं। देश के सर्वोच्च पदों के चुनाव से गैर गम्भीर प्रत्याशियों को हतोत्साहित करने के इरादे से 5 जून 1997 को राष्ट्रपति द्वारा एक अध्यादेश जारी किया गया और अब राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार प्रत्येक व्यक्ति का नाम कम-से-कम 50 निर्वाचकों द्वारा प्रस्तावित व कम-से-कम 50 निर्वाचकों द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार उपराष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार का नाम कम-से-कम 20 निर्वाचकों द्वारा प्रस्तावित और कम-से-कम 20 निर्वाचकों द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए। इसी अध्यादेश द्वारा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पद के लिए जमानत की धनराशि 15,000 रु. निश्चित की गयी है। राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन को उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी जा सकेगी।

राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों?—संविधान सभा में राष्ट्रपति के चुनाव की पद्धति पर पर्याप्त वाद विवाद हुआ था। कुछ सदस्य चाहते थे कि राष्ट्रपति का चुनाव भारतीय जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए। उनका विचार था कि प्रत्यक्ष निर्वाचन ही लोकतन्त्र के अनुकूल होगा और इस प्रकार से निर्वाचित व्यक्ति ही उचित रूप से भारत राष्ट्र के प्रतीक के रूप में कार्य कर सकता है, लेकिन अन्त में अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति ही अपनाई गई, क्योंकि भारत की संसदात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति केवल एक औपचारिक या वैधानिक प्रधान होता है और वास्तविक कार्यपालिका सत्ता उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के हाथ में रहती है। संथानम् के शब्दों में, **''यह महसूस किया गया कि जब राष्ट्रपति को औपचारिक प्रधान मात्र बनाना है, तो फिर उसे प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कराना व्यर्थ ही परिश्रम होगा।''** यह भी सोचा गया कि करोड़ों मतदाताओं वाले देश में प्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाने में बड़ी बाधाएं और कठिनाइयां उपस्थित होंगी।

संविधान सभा में यह भय भी प्रकट किया गया और ऐसा सोचना उचित ही था कि शायद प्रत्यक्ष रूप में निर्वाचित राष्ट्रपति, राष्ट्र का केवल वैधानिक प्रधान बना रहना स्वीकार न करे और उस स्थिति में उसका मन्त्रिमण्डल से संघर्ष हो सकता है, जिसका परिणाम संवैधानिक द्वन्द्व होगा।

उपलब्धियां (Emoluments), भत्ते, पेन्शन तथा कार्यकाल

संसद ने 4 अगस्त, 1998 को एक विधेयक पारित कर राष्ट्रपति की उपलब्धियां 50 हजार रुपये मासिक कर दी हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें निःशुल्क निवास स्थान व संसद द्वारा स्वीकृत अन्य भत्ते प्राप्त होते हैं। राष्ट्रपति के कार्यकाल में उनकी उपलब्धियां तथा भत्ते में कोई कमी नहीं की जा सकती है। जब तक कोई व्यक्ति राष्ट्रपति पद पर आसीन है तब तक उसके विरुद्ध किसी दीवानी या फौजदारी न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।

राष्ट्रपति की पेन्शन में समय-समय पर वृद्धि की गई तथा अब राष्ट्रपति के लिए तीन लाख रुपये वार्षिक पेन्शन निर्धारित की गई है। फरवरी 2000 ई. में राष्ट्रपति के जीवित जीवन साथी को आवास और पेन्शन (एक लाख पचास हजार रुपए वार्षिक) देने का निर्णय लियां गया है। पूर्व राष्ट्रपति को सचिवालय के खर्च के लिए 12 हजार रुपये वार्षिक की राशि तथा निःशुल्क आवास, रोशनी, पानी, कार और एकसाथी सहित रेल तथा हवाई जहाज की उच्चतम श्रेणी में निःशुल्क यात्रा, आदि की भी सुविधा उपलब्ध होती है।

राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित किया गया है। यदि मृत्यु, त्यागपत्र अथवा महाभियोग द्वारा पदच्युति के कारण राष्ट्रपति का पद इस अवधि के बीच में ही रिक्त हो जाय, तो इस स्थिति में राष्ट्रपति का निर्वाचन पुनः 5 वर्ष की सम्पूर्ण अवधि के लिए होता है न कि शेष अवधि के लिए। यद्यपि संविधान द्वारा राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है, फिर भी यह एक संवैधानिक परम्परा विकसित हो रही है कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित नहीं होगा।

महाभियोग—भारत के राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष है, किन्तु भारतीय संविधान के अनुच्छेद 61 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा संविधान का उल्लंघन किये जाने पर संविधान में दी गयी पद्धति के अनुसार उस पर महाभियोग लगाकर उसे पदच्युत किया जा सकता है। अभियोग चलाने के लिए अभियोग चलाने वाले सदन की समस्त संख्या के 1/4 सदस्यों के हस्ताक्षर होने आवश्यक हैं। अभियोग चलाने के 14 दिन बाद अभियोग लगाने वाले सदन में उस पर विचार किया जायेगा और यदि अभियोग का प्रस्ताव सदन की कुल सदस्य संख्या के 2/3 सदस्यों द्वारा स्वीकृत हो जाय, तो उसके उपरान्त प्रस्ताव द्वितीय सदन को भेज दिया जाता है। दूसरा सदन इन अभियोगों की या तो स्वयं जांच करेगा या इस कार्य के लिए एक विशेष समिति नियुक्त करेगा। राष्ट्रपति स्वयं उपस्थित होकर या अपने प्रतिनिधि द्वारा अपना पक्ष प्रस्तुत कर सकता है। यदि इस सदन में राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाये गये आरोप सिद्ध हो जाते हैं और दूसरा सदन भी अपने कुल सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले, तो प्रस्ताव स्वीकृत होने की तिथि से राष्ट्रपति पदच्युत समझा जायेगा।

राष्ट्रपति अपने पद पर निश्चित अवधि की समाप्ति के उपरान्त भी उस समय तक आसीन रहेगा, जब तक कि उसका उत्तराधिकारी राष्ट्रपति पद को ग्रहण नहीं करता है। मृत्यु, त्यागपत्र या महाभियोग स्वीकृत होने से राष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर यथासम्भव 6 माह के अन्दर-अन्दर नया निर्वाचन हो जाना चाहिए। निर्वाचन तक, भारत का उपराष्ट्रपति उसके पद पर कार्य करेगा।

राष्ट्रपति के अधिकार अथवा शक्तियां और कार्य

भारत के संविधान के द्वारा भारत के राष्ट्रपति को अनेक प्रकार की शक्तियां प्रदान की गयी हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए राष्ट्रपति की समस्त शक्तियों को प्राथमिक रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है : (1) **सामान्यकालीन शक्तियां, और (2) संकटकालीन शक्तियां।**

सामान्यकालीन शक्तियां अथवा अधिकार

संविधान के द्वारा सामान्यकाल में राष्ट्रपति को जो शक्तियां प्रदान की गयी हैं, उनका अध्ययन अग्रलिखित पांच शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(1) कार्यपालिका अथवा प्रशासनिक शक्तियां—संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार, **''संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा।''** इस प्रकार शासन का समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से होगा और सरकार के समस्त निर्णय उसके ही माने जायेंगे। उसे संघीय शासन से सम्वन्धित सभी मामलों में सूचना पाने का अधिकार है। प्रधानमन्त्री के लिए यह आवश्यक है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद के सभी निर्णयों और प्रशासन सम्बन्धी उन सभी मामलों की सूचना दे, जिसके वारे में राष्ट्रपति ऐसी सूचना मांगे।

प्रशासनिक क्षेत्र में वह इन शक्तियों का उपयोग करेगा :

(i) महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति व पदच्युति की शक्ति—राष्ट्रपति भारत संघ के अनेक महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति करता है जैसे प्रधानमन्त्री, उनकी सलाह से अन्य मन्त्री, राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, महालेखा परीक्षक, संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्य और विदेशों के राजदूत, आदि। इन उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त राष्ट्रपति को कुछ प्रशासनिक आयोगों की नियुक्ति का भी अधिकार प्राप्त है जैसे अन्तर्राज्य परिषद, निर्वाचन आयोग, वित्त आयोग, राज भाषा आयोग तथा पिछड़े हुए वर्गों की दशा सुधार सम्बन्धी आयोग, आदि। राष्ट्रपति व्यक्तिगत रूप से मन्त्रियों को, राज्यपालों को तथा भारत के महान्यायवादी को पदमुक्त भी कर सकता है।

(ii) शासन संचालन सम्बन्धी शक्ति—राष्ट्रपति को शासन संचालन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है। इस सम्बन्ध में उसके द्वारा विभिन्न प्रकार के नियम बनाये जा सकते हैं। वह संसद के दोनों सदनों की संयुक्त वैठक, सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक की शक्तियों से सम्वन्धित नियमों का निर्माण करता है। मन्त्रिपरिषद के सदस्यों के बीच विभागों का वितरण भी उसी के द्वारा किया जाता है।

(iii) वैदेशिक क्षेत्र में शक्ति—भारतीय संघ का वैधानिक प्रमुख होने के नाते राष्ट्रपति वैदेशिक क्षेत्र में भारत का प्रतिनिधित्व करता है। वह विदेशों में स्थित भारतीय दूतावासों के लिए राजदूतों व कूटनीतिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति करता है और विदेशों के राजदूत व कूटनीतिक प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों को स्वीकार करता है। विदेशों से सन्धियां और समझौते भी राष्ट्रपति के नाम से किये जाते हैं, यद्यपि इन समझौतों के सम्वन्ध में पहल (initiative) मन्त्रियों के हाथ में रहती है और इनकी संसद से पुष्टि आवश्यक है।

(iv) सैनिक क्षेत्र में शक्ति—राष्ट्रपति भारत की समस्त सेनाओं का प्रधान सेनापति है, किन्तु इस अधिकार का प्रयोग वह कानून के अनुसार ही कर सकता है। प्रतिरक्षा सेनाओं, युद्ध और शान्ति, आदि के विषय में कानून वनाने की शक्ति केवल संसद को प्राप्त है। अतः भारत का राष्ट्रपति संसद की स्वीकृति के विना न तो युद्ध की घोषणा कर सकता है और न ही सेनाओं का प्रयोग कर सकता है।

(2) विधायी शक्ति—भारत का राष्ट्रपति भारतीय संघ की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान तो है ही, उसे भारतीय संसद का भी अभिन्न अंग माना गया है और इस रूप में राष्ट्रपति को विधायी क्षेत्र की विभिन्न शक्तियां प्राप्त हैं।

(i) विधायी क्षेत्र का प्रशासन—राष्ट्रपति को विधायी क्षेत्र के प्रशासन से सम्बन्धित अनेक शक्तियां प्राप्त हैं। वह संसद के अधिवेशन बुलाता और अधिवेशन समाप्ति की घोषणा करता है। वह लोकसभा को उसके निश्चित काल के पूर्व भी भंग कर सकता है। अब तक 9 बार (दिसम्बर 1970, जनवरी 1977, अगस्त 1979, नवम्वर 1984, नवम्बर 1989, मार्च 1991, दिसम्बर 1997, अप्रेल '99 तथा फरवरी 2004) लोकसभा को समय के पूर्व भंग किया जा चुका है। संसद के अधिवेशन के प्रारम्भ में राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में भाषण देता है। उसके द्वारा अन्य अवसरों पर भी संसद को सन्देश भेजने या उसकी बैठकों में भाषण देने का कार्य किया जा सकता है। राष्ट्रपति के इन भाषणों में शासन की सामान्य नीति की घोषणा की जाती है।

(ii) सदस्यों को मनोनीत करने की शक्ति—राष्ट्रपति को राज्य सभा में 12 ऐसे सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है जिनके द्वारा साहित्य, विज्ञान, कला या अन्य किसी क्षेत्र में विशेष सेवा की गयी हो। वह लोकसभा में 2 आंग्ल भारतीय सदस्यों को मनोनीत कर सकता है।

राष्ट्रपति उस परामर्श के अनुसार कार्य करेंगे।" राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रिमण्डल से अपने परामर्श पर पुनर्विचार के लिए कहना कुछ परिस्थितियों में बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है। 1997 और 1998 में ऐसी दो स्थितियां देखी गई हैं और भविष्य की राजनीति में ऐसी स्थितियां उत्पन्न होने की सम्भावनाएं हैं। यदि प्रधानमन्त्री मिली-जुली सरकार का नेतृत्व कर रहा है या देश की राजनीति में प्रधानमन्त्री की स्थिति कमजोर है तो मन्त्रिमण्डल के साथ सम्बन्धों में राष्ट्रपति अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय भूमिका अपना सकता है। लेकिन इन स्थितियों के बावजूद अन्तिम रूप से शासन के संचालन का दायित्व मन्त्रिमण्डल पर है, राष्ट्रपति पर नहीं।

मन्त्रिमण्डल तथा संसद (संसद का कार्यपालिका से सम्बन्ध)

मन्त्रिमण्डल तथा संसद के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है : (1) **सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से**, और (2) **व्यावहारिक दृष्टिकोण से।**

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण—संविधान द्वारा भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था अपनाई गई है और संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती हैं तथा कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) व्यवस्थापिका (संसद) के प्रति उत्तरदायी होती है। उत्तरदायित्व के प्रसंग में संसद का आशय लोकसभा से ही होता है। उत्तरदायित्व का तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल लोकसभा के अधीन है, वह उसकी इच्छानुसार हीं कार्य करेगा और मन्त्रिमण्डल उसी समय तक अपने पद पर बना रह सकेगा, जब तक कि उसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। संसद के द्वारा मन्त्रिमण्डल पर निम्नलिखित साधनों से नियन्त्रण रखा जा सकता है :

(1) **प्रश्नोत्तर (Interpellations)**—संसद को अधिकार है कि वह संसद के अधिवेशनों में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से विभिन्न प्रशासनिक बातों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे। इन प्रश्नों के आधार पर संसद सदस्य सरकार के विभिन्न प्रशासनिक विभागों की त्रुटियों से परिचित हो जाते हैं और उनके द्वारा निन्दा आलोचना के आधार पर सरकार को सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

(2) **कामरोको प्रस्ताव** (Adjournment Motion)—यदि प्रशासन के किसी भी क्षेत्र में कोई गम्भीर घटना घटित हो गई है, तो प्रत्येक संसद सदस्य को अधिकार है कि वह अपने सदन में इस आशय का प्रस्ताव रखे कि पहले से चले आ रहे सभी विषयों पर विचार स्थगित कर इस गम्भीर घटना पर विचार करें। इसे ही '**कामरोको प्रस्ताव**' कहते हैं और यह प्रस्ताव मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन होता है।

(3) **विधेयक या नीति की अस्वीकृति**—संसद को अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल के सदस्य द्वारा प्रस्तावित किसी विधेयक या नीति को अस्वीकार कर दे। यदि यह अस्वीकृति लोकसभा की ओर से होती है, तो मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है।

(4) **बजट पर कटौती**—मन्त्रिमण्डल संसद की स्वीकृति के बिना आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं कर सकता। लोकसभा का बजट पर पूर्ण नियन्त्रण होता है और लोकसभा द्वारा बजट में कटौती का आशय अविश्वास का प्रस्ताव होता है।

(5) **प्रशासनिक जांच**—संसद मन्त्रिमण्डल के कार्यों की जांच-पड़ताल के लिए जांच समिति स्थापित कर सकती है। यह सरकार के हिसाब-किताब की जांच के लिए लेखा-परीक्षक नियुक्त कर सकती है और बाद में लेखा-परीक्षकों की रिपोर्ट पर विचार कर सकती है।

(6) **अविश्वास प्रस्ताव**—लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सरकार को पदच्युत किया जा सकता है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से संसद मन्त्रिमण्डल के सभी कार्यों पर नियन्त्रण रखती है और यदि संसद मन्त्रिमण्डल के कार्य करने के ढंग से असन्तुष्ट हो तो लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण—सैद्धान्तिक दृष्टि से तो मन्त्रिमण्डल पर संसद के द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है, किन्तु व्यावहारिक स्थिति सामान्यतया नितान्त विपरीत है। व्यवहार में संसद मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण नहीं रखती वरन् मन्त्रिमण्डल द्वारा संसद पर अग्रलिखित साधनों के आधार पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाता है :

(1) मन्त्री संसद के बहुमत दल के महत्वपूर्ण सदस्य होते हैं और उनके पीछे संसद का बहुमत रहता है। प्रधानमन्त्री संसद (लोकसभा) के बहुमत दल का नेता होता है और प्रधानमन्त्री की नीतियों के समर्थन के लिए संसद में बहुमत दल सदैव विद्यमान रहता है।

(2) संसद पर मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन दलीय अनुशासन होता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का प्रधान होने के साथ-साथ लोकसभा में बहुमत दल का नेता होता है और प्रधानमन्त्री के दल के सदस्य लोकसभा में उसकी नीति का समर्थन करने के अतिरिक्त और कुछ कार्य नहीं कर सकते। यदि वे प्रधानमन्त्री की नीति की कड़ी आलोचना करें तो उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है। इसलिए लोकसभा में बहुमत दल के सदस्य प्रधानमन्त्री का लगभग पूर्ण समर्थन करते हैं।

(3) कानून निर्माण के क्षेत्र में विधेयक तैयार करने, विधेयक प्रस्तावित करने और उन्हें पास करने-करवाने में मन्त्रिमण्डल के द्वारा प्रभावशाली रूप में कार्य किया जाता है। अधिक महत्वपूर्ण विधेयक तो अनिवार्य रूप से मन्त्रिमण्डल के सदस्य ही प्रस्तावित करते हैं और वर्तमान समय में यदि यह कहा जाए कि कानून निर्माण का कार्य संसद की सहमति से मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है, तो अनुचित न होगा।

(4) वित्तीय क्षेत्र में व्यवहार के अन्तर्गत वित्त मन्त्री जिस रूप में बजट पेश करता है, उसी रूप में संसद के द्वारा बजट को स्वीकार कर लिया जाता है। संसद खर्च में वृद्धि तो कर ही नहीं सकती और बजट में कटौतीं का मतलब होता है सरकार का पतन, जो संसद सामान्यतया चाहती नहीं है। अतः संसद के सम्मुख बजट को पूरे-पूरे तौर पर स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता।

(5) संसद पर मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण का अन्तिम महत्वपूर्ण साधन प्रधानमन्त्री के हाथ में लोकसभा को भंग करने की शक्ति है। सामान्यतया लोकसभा के सदस्य पांच वर्ष की अवधि पूरी होने के पूर्व अपना पद नहीं छोड़ना चाहते और ऐसी स्थिति में प्रधानमन्त्री का समर्थन करने को बाध्य होते हैं।

वास्तव में मन्त्रिमण्डल और संसद का पारस्परिक सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करता है कि एक राजनीतिक दल का मन्त्रिमण्डल है या मिला-जुला मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिमण्डल के राजनीतिक दल की संसद, विशेषतया लोकसभा में स्थिति कैसी है। एक राजनीतिक दल का मन्त्रिमण्डल मिले-जुले मन्त्रिमण्डल की अपेक्षा संसद के साथ सम्वन्धों में अधिक शक्ति का परिचय देता है। भारत में अपवादस्वरूप कुछ समय (1977-79 के वर्ष) को छोड़कर सामान्यतया 1988 तक एक राजनीतिक दल के मन्त्रिमण्डलों का ही गठन हुआ और 1991-95 के काल में नरसिंह राव मन्त्रिमण्डल को भी लगभग यही स्थिति प्राप्त थी। अतः इस समस्त काल में मन्त्रिमण्डल और संसद के आपसी सम्बन्धों में सामान्यतया मन्त्रिमण्डल की सुदृढ़ स्थिति ही देखी गई।

लेकिन नौवीं लोकसभा, ग्यारहवीं लोकसभा और बारहवीं लोकसभा के चुनावों में कोई एक राजनीतिक दल लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। ऐसी स्थिति में मिली-जुली सरकारों का गठन हुआ। ये सभी सरकरें संसद पर नियन्त्रण रख पाने में समर्थ नहीं हो सकती थीं। परिणामतः संसद ने अविश्वास प्रस्ताव पारित कर या अविश्वास प्रस्ताव जैसी स्थिति को अपनाकर इन सरकारों को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया। भारत में अब तक तीन मन्त्रिमण्डलों (देसाई मन्त्रिमण्डल 1979, वी. पी. सिंह मन्त्रिमण्डल 1990 और देवगौड़ा मन्त्रिमण्डल 1997) का पतन अविश्वास प्रस्ताव के कारण हुआ और तीन मन्त्रिमण्डलों (चरणसिंह मन्त्रिमण्डल 1979, चन्द्रशेखर मन्त्रिमण्डल 1991 और गुजराल मन्त्रिमण्डल 1997) ने यह समझकर त्यागपत्र दे दिया कि उन्हें लोकसभा में बहुमत का विश्वास अब प्राप्त नहीं है। अप्रेल 1999 में वाजपेयी मन्त्रिमण्डल 'विश्वास मत' प्राप्त करने में असफल रहा और उसे त्यागपत्र देना पड़ा। भारत की बहुदलीय व्यवस्था में अब एक दल की प्रधानता समाप्त हो गई है। आम चुनाव 'त्रिशंकु लोकसभा और विखण्डित जनादेश' को जन्म दे रहे हैं। तेरहवीं लोकसभा के चुनाव में भी किसी एक राजनीतिक दल को नहीं, वरन् चुनाव पूर्व गठित एक गठबन्धन 'राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन' ने बहुमत प्राप्त कर एक मिलीजुली सरकार बनाई है। चौदहवीं लोकसभा चुनाव के बाद भी एक मिली-जुली सरकार 'संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन' की सरकार ही अस्तित्व में आई है। आज स्थिति यह है कि प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल पर संसद के नियन्त्रण की स्थिति तो बनी हुई है, लेकिन यह नियन्त्रण 1996-99 के वर्षों की तुलना में निश्चित रूप से कम है।

प्रश्न

1. प्रधानमन्त्री का केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल तथा संसद से क्या सम्बन्ध है?
2. केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् का निर्माण कैसे होता है? उसके अधिकारों और कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. संविधान के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है? प्रधानमन्त्री के कर्तव्यों तथा अधिकारों का वर्णन कीजिए।
4. मन्त्रिपरिषद् का निर्माण कैसे होता है? उसका राष्ट्रपति व लोकसभा के साथ सम्बन्ध समझाइए।
5. भारत के प्रधानमन्त्री की शक्तियों एवं पद स्थिति का परीक्षण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संविधान के किस अनुच्छेद में उल्लेख है कि, "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा।"
   (अ) अनुच्छेद 73 (ब) अनुच्छेद 74 (स) अनुच्छेद 75 (द) अनुच्छेद 78
2. भारत में मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से किसके प्रति उत्तरदायी है?
   (अ) संसद के प्रति (ब) लोकसभा के प्रति
   (स) राज्यसभा के प्रति (द) राष्ट्रपति के प्रति
3. मन्त्रिपरिषद का अध्यक्ष कौन होता है?
   (अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति (स)प्रधानमन्त्री (द) वित्त मन्त्री
4. मन्त्रिपरिषद के सदस्य के लिए किस सदन की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक है?
   (अ) लोकसभा (ब) राज्यसभा
   (स) संसद के किसी भी सदन की सदस्यता (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
5. यदि मन्त्रिपरिषद का कोई सदस्य किसी सदन का सदस्य नहीं है, तो वह अधिकतम कितने दिनों तक मन्त्रिपरिषद में रह सकता है?
   (अ) 2 माह तक (ब) 6 माह तक (स) 10 माह तक (द) 1 वर्ष तक
6. भारत में मन्त्रिपरिषद के सदस्यों व प्रधानमन्त्री को पद की गोपनीयता की शपथ कौन दिलवाता है?
   (अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति
   (स) सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश (द) लोकसभा अध्यक्ष
7. मन्त्रिमण्डल का प्रमुख कार्य है :
   (अ) राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना (ब) वैदेशिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण
   (स) देश की आर्थिक नीति का निर्धारण (द) उपर्युक्त सभी कार्य
8. भारत में प्रधानमन्त्री का पद :
   (अ) परम्परा पर आधारित है (ब) संविधान द्वारा निर्धारित है
   (स) संसदीय अधिनियम द्वारा निर्धारित है (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
9. भारत में मन्त्रिपरिषद के सदस्यों की नियुक्ति :
   (अ) राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सलाह पर करेगा
   (ब) प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति की सलाह पर करेगा
   (स) प्रधानमन्त्री लोकसभा के अध्यक्ष के परामर्श से करेगा
   (द) प्रधानमन्त्री अपनी इच्छा से करेगा
10. निम्न में से मन्त्रिमण्डल में कौन सम्मिलित होते हैं?
   (अ) मन्त्रिपरिषद के सभी सदस्य (ब) केवल केबिनेट स्तर के मन्त्री
   (स) केबिनेट व राज्यमन्त्री (द) राज्य व उपमन्त्री
11. निम्न में से कौन प्रधानमन्त्री, पद ग्रहण के समय विधानसभा के सदस्य थे?
   (अ) श्रीमती इन्दिरा गांधी (ब) चौधरी चरण सिंह
   (स) एच. डी. देवगौड़ा (द) चन्द्रशेखर

[उत्तर—1. (ब), 2. (ब), 3. (स), 4. (स), 5. (ब), 6. (अ), 7. (द), 8. (ब), 9. (अ), 10. (ब), 11. (स)]

10

सर्वोच्च न्यायालय
(संगठन, शक्तियां और न्यायिक सक्रियता)
[SUPREME COURT]
(ORGANISATION, POWERS AND JUDICIAL ACTIVISM)

सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व

भारतीय राज व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) संविधान का रक्षक—भारत में एक लिखित और कठोर संविधान को अपनाया गया है और इसके साथ ही संविधान की सर्वोच्चता को बनाये रखने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के द्वारा ही किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा संविधान के रक्षक और संविधान के अधिकारिक व्याख्याता के रूप में कार्य किया जाता है। वह संसद द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि को अवैध घोषित कर सकता है जो संविधान के विरुद्ध हो। अपनी इस शक्ति के आधार पर वह संविधान की प्रभुता और सर्वोच्चता की रक्षा करता है। संविधान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर संविधान की अधिकारपूर्ण व्याख्या उसी के द्वारा की जाती है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय संविधान की रक्षा करता है।

(2) संघात्मक व्यवस्था का रक्षक—संविधान के द्वारा भारत में एक संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की गयी है, जिसके अन्तर्गत संविधान द्वारा ही संघीय और राज्य सरकार के बीच शक्ति विभाजन किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय इस शक्ति विभाजन की रक्षा करता है और संघीय या राज्य सरकारों को अपने अधिकार-क्षेत्र के बाहर कोई कार्य करने से रोक सकता है।

(3) मूल अधिकारों की रक्षा—भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं और इन मूल अधिकारों की रक्षा भी सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय ही करते हैं। यदि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या अन्य कोई सत्ता नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रता में किसी प्रकार हस्तक्षेप करती है, तो सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय **बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण** जब जैसी आवश्यकता हो, वैसा आदेश जारी कर नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है।

इस प्रकार संविधान के रक्षक, संघात्मक व्यवस्था के रक्षक और मूल अधिकारों के रक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है।

सर्वोच्च न्यायालय की रचना या संगठन

(1) न्यायाधीशों की संख्या—मूल रूप से सर्वोच्च न्यायालय के लिए एक मुख्य न्यायाधीश तथा सात अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गयी थी और संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या, सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार, न्यायाधीशों के वेतन या सेवा-शर्तें निश्चित करने का अधिकार संसद को दिया गया था। संसद के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि की जाती रही है और अब **'सर्वोच्च न्यायालय न्यायाधीशों की संख्या अधिनियम 1985'** के द्वारा व्यवस्था की गयी है कि **इस न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और 25 अन्य न्यायाधीश होंगे।** सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति करता है। भारत के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय अथवा

उच्च न्यायालयों के ऐसे अन्य न्यायाधीशों से परामर्श लेता है, जिनसे वह इस सम्बन्ध में परामर्श लेना आवश्यक समझता है।

(2) न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रक्रिया—राष्ट्रपति द्वारा भेजे गये सन्दर्भ (reference) और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 28 **अक्टूबर** 1998 को दिये गये निर्णय के आधार पर अब सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है : राष्ट्रपति द्वारा ये नियुक्तियां **सर्वोच्च न्यायालय** से प्राप्त लिखित परामर्श के आधार पर की जायेंगी। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश इस प्रसंग में राष्ट्रपति को परामर्श देने के पूर्व '**चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह**' से परामर्श प्राप्त करेंगे तथा न्यायाधीशों से प्राप्त लिखित परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति को परामर्श देंगे।

सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया है कि "यदि भारत के मुख्य न्यायाधीश परामर्श की प्रक्रिया पूरी किए बिना न्यायाधीशों की नियुक्ति और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सिफारिशें करते हैं तो सरकार ऐसी सिफारिशें मानने के लिए बाध्य नहीं है।"

(3) न्यायाधीशों की योग्यताएं—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है :

1. वह भारत का नागरिक हो।

2. वह किसी उच्च न्यायालय अथवा दो या दो से अधिक न्यायालयों में लगातार कम-से-कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो, अथवा

किसी उच्च न्यायालय या न्यायालयों में लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो, अथवा

3. राष्ट्रपति की दृष्टि में कानून का उच्च कोटि का ज्ञाता हो।

(4) कार्यकाल तथा महाभियोग—साधारणतया सर्वोच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर आसीन रह सकता है। इस अवस्था के पूर्व वह स्वयं त्यागपत्र दे सकता है। सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के कारण संसद के द्वारा न्यायाधीश को उसके पद से हटाया जा सकता है। यदि संसद के दोनों सदन अलग-अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत तथा दोनों सदनों की बैठकों में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से इसको अयोग्य या आपत्तिजनक आचरण करने वाला प्रमाणित कर देते हैं तो भारत के राष्ट्रपति के आदेश से उस न्यायाधीश को उसके पद से हटना होगा। न्यायाधीश को हटाने वाला प्रस्ताव संसद के एक ही सत्र में स्वीकृत होना चाहिए। महाभियोग की प्रक्रिया में न्यायाधीश को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का पूरा अवसर दिया जायेगा।

(5) वेतन, भत्ते और अन्य सुविधाएं—संविधान के **अनुच्छेद** 125 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेतन दिये जायेंगे, जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। ये वेतन और भत्ते '**भारत की संचित निधि**' से दिये जाते हैं और सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन-भत्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

1998 में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन में आवश्यक सुधार किया गया है। अब सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 33 **हजार रु. प्रति माह** व अन्य न्यायाधीशों को 30 **हजार रु. प्रति माह** वेतन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों को निवास स्थान, मासिक भत्ता, यात्रा भत्ता, मनोरंजन भत्ता, स्टाफ कार, सीमित मात्रा में पैट्रोल तथा अन्य कुछ आवश्यक सुविधाएं प्राप्त होती हैं।

न्यायाधीशों के लिए पेंशन व सेवा निवृत्ति वेतन (ग्रेच्युटी) की व्यवस्था सर्वप्रथम 1976 ई. में की गई थी और 1998 में उनकी पेंशन, सेवा निवृत्ति वेतन व अन्य सेवा शर्तों में आवश्यक सुधार किये गये हैं।

(6) उन्मुक्तियां—न्यायाधीशों को अपने सभी कार्यों पर निर्णयों के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गयी है, किन्तु न्यायालय के किसी निर्णय या किसी न्यायाधीश की किसी सम्मति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीशों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता है कि उन्होंने किसी प्रेरणा या हितवश एक विशेष प्रकार का निर्णय दिया। संसद के द्वारा भी महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता।

(7) न्यायालय का मुख्य स्थान—अनुच्छेद 130 के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान कार्यालय दिल्ली में है। मुख्य न्यायाधीश, राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति लेकर दिल्ली के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर सर्वोच्च न्यायालय की बैठकें बुला सकता है। अब तक **हैदराबाद** और **श्रीनगर** में इस प्रकार की बैठकें की जा चुकी हैं।

(8) न्यायाधीशों पर प्रतिबन्ध—संविधान में यह निश्चित किया गया है कि जो व्यक्ति भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश रह चुके हैं, वे पद से निवृत्ति के बाद भारत में किसी भी न्यायालय या किसी भी अधिकारी के सामने वकालत नहीं कर सकते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार या शक्तियां तथा कार्य

भारतीय संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को बहुत अधिक व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं, जिनका अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को निम्नांकित दो वर्गों में रखा जा सकता है :

(क) प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार—प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार का आशय उन विवादों से है, जिनकी सुनवाई भारत के सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न विषय आते हैं :

(i) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद,

(ii) भारत सरकार संघ का कोई राज्य या राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद,

(iii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच संवैधानिक विषयों के सम्बन्ध में उत्पन्न कोई विवाद।

(ख) प्रारम्भिक समवर्ती क्षेत्राधिकार—संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को लागू करने के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के साथ-साथ उच्च न्यायालय को भी अधिकार प्रदान किया गया है। अतः मूल अधिकारों के उल्लंघन से सम्बन्धित जो विवाद हैं, वे चाहे तो पहले किसी राज्य के उच्च न्यायालय में और चाहे तो सीधे सर्वोच्च न्यायालय में उपस्थित किये जा सकते हैं।

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ-साथ संविधान ने अपीलीय क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है और यह भारत का अन्तिम अपीलीय न्यायालय है। उसे समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्न चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : **संवैधानिक, दीवानी, फौजदारी व विशिष्ट।**

(क) संवैधानिक—संविधान के **अनुच्छेद** 132 के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण-पत्र न दे तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है, यदि उसको यह विश्वास है कि उस विषय में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कोई प्रश्न निहित है।

(ख) दीवानी—इस सम्बन्ध में मूल संविधान के अन्तर्गत जो व्यवस्था थी, उसे 1973 में हुए संविधान के 30वें संशोधन द्वारा संशोधित कर दिया गया है। अनुच्छेद 133 को संशोधित कर धनराशि की सीमा हटाते हुए अव यह निश्चित किया गया है कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे सभी दीवानी विवादों की अपील की जा सकेगी, जिनमें उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाय कि इस विवाद में कानून की व्याख्या से सम्बन्धित सारपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।

(ग) फौजदारी—फौजदारी क्षेत्र में उन विवादों में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है, जिनमें (1) उच्च न्यायालय ने नीचे के न्यायालय के ऐसे किसी निर्णय को रद्द करके अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दे दिया हो, जिसमें नीचे के न्यायालय ने अभियुक्त को अपराध-मुक्त कर दिया हो या (2) उच्च न्यायालय ने नीचे के न्यायालय में चल रहे किसी विवाद को अपने यहां लेकर अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दे दिया हो या (3) उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील के योग्य है।

(घ) **विशिष्ट**—कुछ ऐसे मामले हो सकते हैं जो उपर्युक्त श्रेणी में नहीं आते, लेकिन जिनमें सर्वोच्च न्यायालय का हस्तक्षेप आवश्यक हो सकता है। अतः अनुच्छेद 135 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि सैनिक न्यायालय को छोड़कर वह भारत के अन्य किसी न्यायालय या न्यायमण्डल (Tribunal) के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने की अनुमति प्रदान कर दे। अपीलीय क्षेत्राधिकार की दृष्टि से भारत का सर्वोच्च न्यायालय विश्व में सबसे शक्तिशाली है। संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय को अपीलीय क्षेत्र में इतनी व्यापक शक्तियां प्राप्त नहीं हैं।

(3) **अपील के लिए विशेष आज्ञा देने का अधिकार**—संविधान के अनुच्छेद 136 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को स्वयं भी यह अधिकार प्राप्त है कि वह सैनिक न्यायालय को छोड़कर भारत राज्य क्षेत्र के किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण (Tribunal) के निर्णय के विरुद्ध अपने यहां अपील की अनुमति दे सकता है। उसकी इस शक्ति पर कोई संवैधानिक प्रतिबन्ध नहीं है। **दुर्गादास बसु** इस अधिकार के सम्बन्ध में लिखते हैं कि ''सर्वोच्च न्यायालय अपने इस अधिकार का प्रयोग प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार कर सकता है।''

(4) **पुनर्विचार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार**—संविधान के **अनुच्छेद** 137 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह स्वयं द्वारा दिये गये आदेश या निर्णय पर पुनर्विचार कर उचित समझे तो उसमें आवश्यक परिवर्तन कर सके। ऐसा उस समय किया जाता है जबकि सर्वोच्च न्यायालय को यह सन्देह हो कि उसके द्वारा दिये गये निर्णय में किसी पक्ष के प्रति न्याय नहीं हुआ है। यदि उस विवाद के सम्बन्ध में कोई नवीन तथ्य प्रकाश में आये हों, तब भी ऐसा किया जा सकता है।

(5) **परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार**—संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है। **अनुच्छेद** 143 के अनुसार यदि किसी समय राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न पैदा हुआ है जो सार्वजनिक महत्व का है, तो वह उस प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श मांग सकता है। न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर होगा। अभी तक राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से केवल 10 बार परामर्श प्राप्त किया है। 'अयोध्या विवाद' के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से यह बात स्पष्ट हो गई है कि सर्वोच्च न्यायालय किसी विषय विशेष पर राष्ट्रपति को परामर्श देने से इंकार भी कर सकता है।

(6) **अभिलेख न्यायालय** (Court of Record)—**अनुच्छेद** 129 सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय की स्थिति प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय के दो आशय हैं : **प्रथम**, इस न्यायालय के निर्णय सब जगह तथा साक्षी रूप में स्वीकार किये जायेंगे और इन्हें किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में प्रश्न नहीं उठाया जायेगा। **द्वितीय**, इस न्यायालय के द्वारा **'न्यायालय अवमान'** (Contempt of Court) के लिए किसी भी प्रकार का दण्ड दिया जा सकता है।

(7) **मूल अधिकारों का रक्षक**—भारत का सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों का रक्षक है। **अनुच्छेद** 32 सर्वोच्च न्यायालय को विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराता है कि वह मूल अधिकारों को लागू करने के लिए आवश्यक कार्यवाही करे। न्यायालय मूल अधिकारों की रक्षा के लिए **बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण** के लेख जारी कर सकता है। किसी व्यक्ति के अधिकारों का हनन होने पर वह सीधे सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के अब तक के कार्य के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय मूल अधिकारों की रक्षा के प्रति सदा सजग रहा है और इस कार्य में सफल रहा है।

(8) **संविधान का संरक्षक : न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति** (Power of Judicial Review)—संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षक का कार्य भी प्रदान किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि सर्वोच्च न्यायालय को कानूनों की वैधानिकता की जांच करने की शक्ति प्राप्त है। **अनुच्छेद** 131 और 132 सर्वोच्च न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार देता है। अतः यदि संघीय संसद अथवा राज्य विधानमण्डल संविधान का अतिक्रमण करते हैं या मूल अधिकारों के विरुद्ध विधि का निर्माण करते हैं, तो संघीय या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित ऐसी विधि को सर्वोच्च न्यायालय अवैधानिक घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति को **'न्यायिक पुनर्विलोकन की**

शक्ति' (Power of Judicial Review) कहा जाता है। सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति शासन को मर्यादित रखने का एक प्रमुख साधन है। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय की सबसे अधिक महत्वपूर्ण शक्ति है।

(9) **न्यायिक क्षेत्र का प्रशासन**—सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक क्षेत्र के प्रशासन का अधिकार प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 146 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकी सेवा शर्तें निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त है, लेकिन राष्ट्रपति आवश्यक समझे तो यह निर्देश दे सकता है कि इस प्रकार की नियुक्तियां लोक सेवा आयोग से परामर्श के बाद की जायें। सर्वोच्च न्यायालय उच्च न्यायालय को भी न्यायिक प्रशासन के सम्बन्ध में निर्देश दे सकता है।

इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय को संघीय व्यवस्था और मूल अधिकारों के रक्षक तथा भारतीय संघ के अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में बहुत अधिक व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र विशेषतया अपीलीय क्षेत्राधिकार की इस व्यापकता को देखकर ही भारत के भूतपूर्व महान्यायवादी एम. सी. सीतलवाड ने कहा था कि **"इस न्यायालय का न्यायक्षेत्र तथा उसकी शक्तियां राष्ट्रमण्डल के किसी भी देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र तथा शक्तियों से व्यापक हैं।"** सर्वोच्च न्यायालय के अव तक के क्रियाकलाप को देखकर कहा जा सकता है कि संघीय व्यवस्था, मूल अधिकार और संविधान की रक्षा करने में सर्वोच्च न्यायालय ने सदैव ही निष्पक्षता, निर्भीकता और न्यायपरायणता का परिचय दिया है।

जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता—1980 के बाद से ही और विशेषतया 1993-2003 ई. के वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता के आधार पर पहले से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर ली है। अपनी इस भूमिका के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय और इन न्यायालयों ने विभिन्न सरकारी एजेन्सियों को अपना कार्य ठीक ढंग से करने के निर्देश दिये हैं और इस बात का प्रतिपादन किया है कि 'व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा हो, कानून उससे ऊपर है, तथा सरकारी एजेन्सी को अपना कार्य निष्पक्षता के साथ करना चाहिए। विधायिका और कार्यपालिका अपना दायित्व पूरा करने में असफल रहें और इसी कारण न्यायपालिका को 'न्यायिक सक्रियता' की स्थिति अपनानी पड़ी। न्यायिक सक्रियता की इस धारणा को **'संविधान की रचनात्मक व्याख्या'** करते हुए अपनाया गया है।

सर्वोच्च न्यायालय या न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

एक स्वतन्त्र न्यायपालिका ही निष्पक्ष न्याय प्रदान कर सकती है। अतः भारतीय संविधान द्वारा न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है। न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गयी हैं :

(1) **न्यायाधीशों की नियुक्ति**—संविधान के द्वारा सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा गया है, जो मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों से परामर्श प्राप्त करते हुए न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रसंग में सर्वोच्च न्यायालय ने अक्टूबर 1998 के निर्णय के आधार पर व्यवस्था कर दी है कि अब इस प्रसंग में सरकार या भारत के मुख्य न्यायाधीश किसी के भी द्वारा मनमाना आचरण नहीं किया जा सकता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में इसे निश्चित रूप से श्रेष्ठ प्रक्रिया और स्थिति कहा जा सकता है।

(2) **दीर्घ कार्यकाल और पद की सुरक्षा**—भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर आसीन रहते हैं। उन्हें साधारणतया पदच्युत नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को केवल सिद्ध कदाचार या अक्षमता के आधार पर हटा सकता है, लेकिन वह ऐसा तभी कर सकता है जब इस हेतु संसद के प्रत्येक सदन की समस्त संख्या के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित प्रस्ताव उसके समक्ष रखा जाय। पदच्युति की इस पद्धति को व्यवहार में अपनाया जाना बहुत कठिन होता है।

(3) **वेतन पर्याप्त और संसदीय नियन्त्रण से परे**—न्यायाधीशों को अपनी प्रतिष्ठा तथा स्थिति को बनाये रखने के लिए पर्याप्त वेतन तथा भत्ते और अन्य सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। वित्तीय संकट को छोड़कर अन्य

किसी भी स्थिति में न्यायाधीशों के वेतन व भत्ते में कमी नहीं की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय को संसद के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रखने के लिए व्यवस्था की गयी है कि सर्वोच्च न्यायालय के सभी व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होंगे।

(4) **कार्यप्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति**—सर्वोच्च न्यायालय की कार्यप्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने का अधिकार स्वयं सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त है।

(5) **कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण**—सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण प्राप्त है। न्यायालय के सभी अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों द्वारा की जाती है। उनकी सेवा शर्तें भी न्यायालय द्वारा ही निश्चित की जाती हैं।

(6) **उन्मुक्तियां**—सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय तथा कार्य आलोचना से परे हैं। संसद भी न्यायाधीशों के किन्हीं भी ऐसे कार्यों पर जिसे उन्होंने कर्तव्य पालन करते हुए किया है, विचार-विमर्श नहीं कर सकती।

(7) **अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत पर प्रतिबन्ध**—संविधान सर्वोच्च न्यायालय के एक अवकाश प्राप्त न्यायाधीश को भारतीय क्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकारी के समक्ष वकालत करने से मना करता है; लेकिन जांच-पड़ताल या अन्वेषण, आदि विशेष प्रकार के कार्यों के सम्पादन हेतु इनकी नियुक्ति की जा सकती है।

व्यवहार में, भारत के अन्तर्गत उच्चस्तरीय न्यायपालिका अब तक नितान्त निष्पक्ष रही है तथा इसके द्वारा व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के दबाव से अपने आपको पूर्णतया मुक्त रखा गया है।

न्यायिक स्वतन्त्रता पर बल देते हुए ही सर्वोच्च न्यायालय ने 1995 में अपने एक निर्णय में घोषित किया है कि न्यायाधीश और उच्च न्यायालय के अधिकारी राजकीय सेवा के सदस्य नहीं हैं।[1]

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति पर विवाद और उसका निराकरण—1973 में जब वरिष्ठता का उल्लंघन करते हुए मुख्य न्यायाधीश के पद पर ए. एन. रे की नियुक्ति की गई तब इस नियुक्ति ने भारी विवाद और तीव्र आलोचना को जन्म दे दिया। लेकिन अब सभी पक्षों ने 1973 के पूर्व प्रचलित परम्परा और **विधि आयोग की 80वीं रिपोर्ट** (1980) को स्वीकार कर लिया है कि 'सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा तथा लोकतंत्र के सुचारु संचालन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

आचार संहिता—6 दिसम्बर 1999 को मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में सम्पन्न 'मुख्य न्यायाधीशों के वार्षिक सम्मेलन' में न्यायाधीशों के लिए पहली बार '15 सूत्रीय आचार संहिता' अपनाई गई है।

न्यायिक पुनर्विलोकन या संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय

न्यायिक पुनर्विलोकन का तात्पर्य—**न्यायिक पुनर्विलोकन का तात्पर्य सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान तथा उसकी सर्वोच्चता की रक्षा करने की व्यवस्था से है।** यदि संघीय या राज्य विधानमण्डलों द्वारा संविधान का अतिक्रमण किया जाता है, अपनी निश्चित सीमाओं के बाहर कानूनों का निर्माण किया जाता है या मूल अधिकारों के विरुद्ध कानूनों का निर्माण किया जाता है, तो संघीय संसद या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि अथवा संघीय या राज्य प्रशासन द्वारा किये गये प्रत्येक कार्य को सर्वोच्च न्यायालय अवैधानिक घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति को ही न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहा जाता है। राज्यों के सम्बन्धों में इस शक्ति का प्रयोग सम्बन्धित उच्च न्यायालय के द्वारा किया जा सकता है। मर्यादित शासन की धारणा, संघात्मक व्यवस्था और मूल अधिकारों की व्यवस्था ने न्यायिक पुनर्विलोकन को जन्म दिया है।

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन : प्रकृति और सीमाएं

यद्यपि भारतीय संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गयी है, फिर भी भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है जितना कि वह संयुक्त राज्य अमरीका में है। वस्तुतः ऐसे कुछ कारण हैं, जिन्होंने भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था को संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में सीमित कर दिया है। इस स्थिति के कारण हैं : **प्रथम**, भारतीय संविधान बहुत

1 *Ibid.*, Nov. 25, 1995.

व्यापक है, **द्वितीय,** मूल अधिकार के साथ-साथ उसकी सीमाएं संविधान में ही निश्चित कर दी गई हैं। इन दो बातों के कारण न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र सीमित हो गया है लेकिन **सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर इन दोनों देशों की संवैधानिक व्यवस्थाओं में ही निहित है।** अमरीकी संविधान में **'कानून की उचित प्रक्रिया'** (Due Process of Law) शब्दावली को अपनाया गया है, लेकिन भारतीय संविधान में अमरीकी संविधान की शब्दावली के स्थान पर जापानी संविधान की शब्दावली **'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया'** (Procedure Established by Law) को अपनाया गया है। संविधान में की गयी इस व्यवस्था के आधार पर अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून की वैधानिकता की जांच दो बातों के आधार पर कर सकता है : (i) संघ या राज्य, जिसके भी विधानमण्डल ने उस कानून को बनाया है, उसके द्वारा इसका निर्माण उसकी कानून निर्माण की क्षमता के अन्तर्गत था या नहीं, (ii) वह 'कानून की उचित प्रक्रिया' (अर्थात् प्राकृतिक न्याय के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों) की शर्तों को पूरा करता है अथवा नहीं। भारत में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' की शब्दावली को अपनाया गया है जिसका आशय यह है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय **केवल प्रथम आधार पर ही** किसी कानून को अवैध घोषित कर सकता है।

अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय उसकी कानून की उचित प्रक्रिया वाली धारा के आधार पर लगभग एक **'तीसरा सदन'** या **'उच्च विधानमण्डल'** (Super Legislature) बन गया है, लेकिन हमारे देश में सर्वोच्च न्यायालय को निश्चित रूप में ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं है। अमरीका में जहां न्यायिक सर्वोच्चता को अपनाया गया है, भारत में न्यायिक सर्वोच्चता और विधायी सर्वोच्चता के बीच समन्वय स्थापित किया गया है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना

यदि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग का अध्ययन किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतया सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी शक्ति का प्रयोग विवेकपूर्वक ही किया है, लेकिन कुछ निर्णयों में, विशेषतया 1967 में गोलकनाथ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों में ऐसी कुछ प्रवृत्तियां देखी गयी हैं, जिन्होंने उसे आलोचना का पात्र बना दिया है। इस प्रकार की आलोचना के प्रमुख आधार निम्न प्रकार हैं :

(1) अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य—इसमें सन्देह नहीं कि सर्वोच्च न्यायालय ने अब तक व्यक्ति स्वातन्त्र्य और नागरिक अधिकारों के रक्षक के रूप में कार्य किया है, लेकिन यह भी तथ्य है कि सम्पत्ति सम्बन्धी प्रश्नों पर इसने एक अनुदारवादी न्यायालय और अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य किया। 1950-51 में इसने जमींदारी और जागीरदारी उन्मूलन के अन्तर्गत पारित कुछ भूमि सुधार कानूनों को अवैध घोषित किया; 1953 में, **'शोलपुर स्पिनिंग एण्ड बीविंग कम्पनी'** के शासन द्वारा अधिग्रहण को अवैध ठहराया और **'कुन्हीकोमान वनाम केरल राज्य'** में, केरल कृषि सम्बन्धी अधिनियम को अवैध घोषित किया। सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी अनुदारवादिता का सर्वाधिक परिचय 1967 के **'गोलकनाथ विवाद'** में 6-5 के बहुमत से यह निर्णय देकर दिया कि **"संसद ऐसा कोई अधिनियम पारित नहीं कर सकती, जो मौलिक अधिकारों को छीनता या सीमित करता हो।"** इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने बैंकों के राष्ट्रीयकरण और प्रिवीपर्स के अन्त सम्बन्धी आदेशों को अवैध घोषित किया। यह अनुदारवादिता जनकल्याणकारी राज्य और प्रगतिशीलता में बाधक बनती है।

(2) सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने पूर्व निर्णयों में परिवर्तन—सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रयोग पर एक प्रमुख आपत्ति यह की जाती है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने पूर्व निर्णयों में अनवरत परिवर्तन करता रहा है, जिसके परिणामस्वरूप संवैधानिक कानून की समस्त व्यवस्थाओं के प्रति भ्रान्तियां उत्पन्न हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय को वैधानिक दृष्टि से यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपने निर्णयों पर पुनर्विचार कर उनमें परिवर्तन कर सकें और **न्यायमूर्ति हेगड़े इसे 'न्यायिक पुनर्विलोकन' का अनिवार्य अंग मानते हैं।** लेकिन 1967-71 के काल में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णयों को जिस प्रकार से परिवर्तित किया है, उसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

(3) संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण—सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 1967-71 के काल में जिस प्रकार से न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया गया, उससे यह नितान्त स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय

ने अपनी संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए भारतीय राज-व्यवस्था में वह भूमिका अदा करने की चेष्टा की जो संविधान-निर्माता उसे नहीं देना चाहते थे।

(4) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता—न्यायिक पुनर्विलोकन के कारण सदैव ही इस बात का भय रहता है कि संसद द्वारा निर्मित कानून और शासन द्वारा अपनायी गयी नीति न्यायपालिका द्वारा सदैव अवैध घोषित की जा सकती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता का वातावरण बना रहता है जो कि निश्चित रूप में समस्त व्यवस्था के लिए बहुत अधिक हानिकारक है।

(5) संसद और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति को जन्म—न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के कारण जब संसद द्वारा निर्मित कानूनों को न्यायपालिका के द्वारा अवैधानिक घोषित कर दिया जाता है तो संसद और न्यायपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा होती है और जब राज-व्यवस्था के दो प्रमुख अंगों के बीच ऐसी स्थिति हो, तो शासन ठीक प्रकार से नहीं चल सकता।

न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व—न्यायिक पुनर्विलोकन की उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था भारतीय लोकतन्त्र के लिए नितान्त आवश्यक और भारत की समस्त राज-व्यवस्था के लिए अत्यधिक हितकर है। संविधान द्वारा संघीय व राज्य-सरकारों के बीच जो शक्ति-विभाजन किया गया है, न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही उसकी रक्षा सम्भव है। शासन की शक्ति पर अंकुश रखने तथा नागरिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की रक्षा करने का कार्य भी न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही किया जा सकता है। न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था संविधान के सन्तुलन चक्र का कार्य करती है और न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय संविधान के अधिकारी व्याख्याता तथा रक्षक के रूप में कार्य कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में की गयी कुछ आलोचनाएं नितान्त भ्रमपूर्ण हैं। **तथ्यों से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुदारवादी या प्रगतिविरोधी शक्ति के रूप में कार्य किया है।** कुलदीप नैयर ने अपने एक लेख में नितान्त सही रूप में लिखा है कि '**न्यायालय से न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार छीना जाना लोकतन्त्र के हित में नहीं होगा।**' न्यायिक पुनर्विलोकन शासन की शक्ति को मर्यादित रखने का एक प्रमुख साधन है। 1997 में **सर्वोच्च न्यायालय की सात सदस्यीय संविधान पीठ ने अपने सर्वसम्मत निर्णय में कहा है : "न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का एक मूलभूत लक्षण (संविधान के मूलभूत ढांचे का एक अंग) है। संसद संवैधानिक संशोधन के आधार पर भी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को सीमित नहीं कर सकती।"**[1]

प्रश्न

1. भारत के सर्वोच्च न्यायालय की रचना एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. सर्वोच्च न्यायालय के संगठन तथा क्षेत्राधिकार को समझाइए।
3. भारतीय संविधान के अन्तर्गत न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए क्या प्रबन्ध किये गये हैं? इस प्रसंग में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति से सम्बन्धित विवाद पर टिप्पणी लिखिए।
4. न्यायिक पुनर्विलोकन से आप क्या समझते हैं? भारत के सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
5. 'न्यायिक सक्रियतावाद' (Judicial Activism) से आप क्या समझते हैं? आज की परिस्थितियों में न्यायिक सक्रियतावाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति कौन करता है?
   (अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति (स) प्रधानमन्त्री (द) विधि मन्त्री
2. वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश के अलावा कितने न्यायाधीशों का प्रावधान है :
   (अ) 40 (ब) 20 (स) 25 (द) 28

[1] "Power of Judicial Review is a basic feature of the Constitution. Parliament cannot curb power of judicial review even by way of constitutional amendment." (Quoted in *'The Hindustan Times*; 20 March, 1997)

3. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के लिए निम्न में से कौन-सी योग्यता होनी चाहिए?
   (अ) भारत का नागरिक हो
   (ब) किसी उच्च न्यायालय का लगातार कम से कम पांच वर्षों तक न्यायाधीश रहा हो
   (स) किसी उच्च न्यायालय में लगातार दस वर्षों तक अधिवक्ता रहा हो
   (द) राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवेत्ता हो
   (य) उपर्युक्त सभी
4. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु क्या है?
   (अ) 58 वर्ष (ब) 60 वर्ष (स) 62 वर्ष (द) 65 वर्ष
5. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को निम्न में से किन आधारों पर उनके पद से हटाया जा सकता है?
   (अ) सिद्ध कदाचार (ब) अक्षमता (स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
6. सर्वोच्च न्यायालय में न्यायिक कामकाज के लिए किस भाषा का प्रयोग किया जाता है?
   (अ) हिन्दी (ब) अंग्रेजी
   (स) हिन्दी अथवा अंग्रेजी (द) आठवीं अनुसूची में से कोई-सी भाषा
7. सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न में से कौन-से विवाद आते हैं?
   (अ) संघ तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद
   (ब) संघ राज्य या कई राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद
   (स) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद .
   (द) उपर्युक्त सभी
8. उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति निम्न में से किससे परामर्श करता है?
   (अ) सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से
   (ब) सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल से
   (स) सम्बन्धित राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से
   (द) उपर्युक्त सभी से
9. सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के अलावा अन्य न्यायाधीशों का मासिक वेतन कितना है?
   (अ) 20 हजार (ब) 30 हजार (स) 40 हजार (द) 50 हजार
10. उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को पद से हटाने का प्रस्ताव :
   (अ) प्रत्येक सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित होना चाहिए
   (ब) लोकसभा के कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से समर्थित होना चाहिए
   (स) प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से समर्थित होना चाहिए
   (द) प्रत्येक सदन के सामान्य बहुमत से समर्थित होना चाहिए

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (य), 4. (द), 5. (स), 6. (ब), 7. (द), 8. (द), 9. (ब), 10. (अ)]

11

राज्य कार्यपालिका : राज्यपाल, मन्त्रिपरिषद और मुख्यमन्त्री

[STATE EXECUTIVE : GOVERNOR, COUNCIL OF MINISTERS AND CHIEF MINISTER]

राज्य की कार्यपालिका : राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद—राज्य की कार्यपालिका में राज्यपाल और एक मन्त्रिपरिषद होती है। संविधान के द्वारा राज्यों में भी संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गई है और संसदात्मक व्यवस्था में राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान होता है, जबकि मन्त्रिपरिषद राज्य की कार्यपालिका सत्ता की वास्तविक प्रधान होती है।

राज्य का वैधानिक प्रधान : राज्यपाल

राज्यपाल की नियुक्ति—संविधान के मूल प्रारूप में यह प्रस्तावित किया गया था कि राज्य की कार्यपालिका के प्रधान राज्यपाल का चुनाव राज्य की जनता के द्वारा किया जाना चाहिए, लेकिन संविधान सभा के द्वारा यह विचार इस आधार पर स्वीकार नहीं किया गया कि निर्वाचित प्रधान वास्तविक शक्तियां ग्रहण कर सकता है और राज्य प्रशासन के वैधानिक प्रधान के स्थान पर वास्तविक प्रधान बन सकता है। निर्वाचित प्रधान होने पर राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। संविधान निर्माता व्यवस्थापिका द्वारा राज्य के प्रधान के चुनाव की पद्धति को भी नहीं अपनाना चाहते थे, क्योंकि इससे राज्य का प्रधान राजनीतिक दलों के हाथ का खिलौना बनकर रह जाता। इन सब कारणों से संविधान सभा ने संसदात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत एक निर्वाचित प्रधान की अपेक्षा मनोनीत प्रधान ही उपयुक्त समझा। अतः राज्यपाल की नियुक्ति संघ की कार्यपालिका के प्रधान राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपना पद धारण किया जाता है। उसकी नियुक्ति 5 वर्ष की अवधि के लिए की जाएगी, लेकिन वह अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण करने तक अपने पद पर बना रह सकता है। संविधान के अनुसार एक ही व्यक्ति को दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल भी नियुक्त किया जा सकता है।

पद की योग्यताएं व वेतन—राज्यपाल के पद पर नियुक्ति के लिए दो योग्यताएं होनी आवश्यक हैं। प्रथम, वह भारत का नागरिक हो और द्वितीय, उसकी आयु 35 वर्ष से अधिक हो। राज्यपाल संसद अथवा राज्य के विधानमण्डल का सदस्य नहीं हो सकता है और यदि वह किसी सदन का सदस्य है तो राज्यपाल के पद पर नियुक्ति की तिथि से उसे सदस्यता का त्याग करना होगा। राज्यपाल कोई लाभ का पद धारण नहीं कर सकता।

अगस्त '98 में संसद द्वारा पारित अधिनियम के अनुसार राज्यपाल को 36,000 रु. मासिक वेतन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसे निःशुल्क निवास-स्थान, भत्ते व अन्य सुविधाएं प्राप्त होंगी। वेतन तथा भत्तों में उसके कार्यकाल में कोई कमी नहीं की जा सकती है।

राज्यपाल की शक्तियां और कार्य

संविधान के द्वारा राज्यपाल को पर्याप्त और व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं। राज्य में राज्यपाल की वही स्थिति है जो केन्द्र में राष्ट्रपति की है। अतः दोनों की शक्तियों में कुछ क्षेत्रों को छोड़कर बहुत समानता है।

दुर्गादास बसु के शब्दों में, "**थोड़े में राज्यपाल की शक्तियां राष्ट्रपति के समान हैं, सिर्फ कूटनीतिक, सैनिक तथा संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर**"[1] राज्यपाल की शक्तियों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) कार्यपालिका शक्तियां—राज्य की कार्यपालिका शक्तियां राज्यपाल में निहित हैं, जिनका प्रयोग वह स्वयं या अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करता है। वह मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है तथा उसके परामर्श पर अन्य मन्त्रियों की। वह महाधिवक्ता और लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति करता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल से भी परामर्श लेता है। राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियां राज्य सूची के 66 विषयों तक विस्तृत हैं। समवर्ती सूची के विषयों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति से वह अपने अधिकार का प्रयोग करता है। राज्य सरकार के कार्य के सम्बन्ध में नियमों का निर्माण करता है। वह मन्त्रियों के बीच कार्यों का वितरण करता है। उसे मुख्यमन्त्री से शासन से सम्बन्धित सभी विषयों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। वह मुख्यमन्त्री से किसी मन्त्री के व्यक्तिगत निर्णय को सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के सम्मुख विचार के लिए रखने को कह सकता है।

(2) विधायी शक्तियां—राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका का एक अविभाज्य अंग है और विधायी क्षेत्र में उसे महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं। यह व्यवस्थापिका का अधिवेशन बुलाता, स्थगित करता और व्यवस्थापिका के निम्न सदन विधानसभा को भंग करता है। आम चुनाव के बाद वह विधानमण्डल की पहली बैठक को सम्बोधित करता है और उसके बाद भी वह विधानमण्डल को सन्देश भेज सकता है। राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। वह विधेयक को अस्वीकृत कर सकता या उसे पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल को लौटा सकता है। यदि विधानमण्डल दूसरी बार विधेयक पारित कर देता है, तो राज्यपाल को स्वीकृति देनी ही होगी। वह कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित रख सकता है।

यदि राज्य के विधानमण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो, तो राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है। अध्यादेश को राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियमों के समान ही मान्यता प्राप्त होगी। यह अध्यादेश विधानमण्डल की बैठक आरम्भ होने के 6 सप्ताह बाद तक लागू रहता है। यदि 6 सप्ताह पूर्व ही विधानमण्डल इस अध्यादेश को अस्वीकृत कर दे तो उस अध्यादेश को उसी समय से समाप्त समझा जाएगा। कुछ विषयों के सम्बन्ध में अध्यादेश जारी करने के पूर्व राज्यपाल को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। राज्यपाल राज्य विधानपरिषद के सदस्यों को ऐसे लोगों में से नामजद करता है जिन्हें साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आन्दोलन तथा समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो। यदि वह ऐसा समझे कि विधानसभा में आंग्ल भारतीय समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो वह इस वर्ग के कुछ सदस्यों को मनोनीत कर सकता है।

(3) वित्तीय शक्तियां—राज्यपाल को कुछ वित्तीय शक्तियां भी प्राप्त हैं। राज्य विधानसभा की स्वीकृति के बिना कोई भी धन विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वह व्यवस्थापिका के समक्ष प्रतिवर्ष बजट प्रस्तुत करता है और उसकी अनुमति के बिना किसी भी अनुदान की मांग नहीं की जा सकती है। राज्यपाल विधानमण्डल से पूरक, अतिरिक्त तथा अधिक अनुदानों की भी मांग कर सकता है। राज्य की संचित निधि राज्यपाल के ही अधिकार में रहती है। इस निधि में से व्यय कर लिया जाता है और बाद में विधानमण्डल से यह व्यय स्वीकार करवा लिया जाता है।

(4) न्यायिक शक्तियां—संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार जिन विषयों पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार होता है, उन विषयों सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को राज्यपाल कम कर सकता है, बदल सकता या उन्हें क्षमा प्रदान कर सकता है।

(5) विविध शक्तियां—उपर्युक्त के अतिरिक्त राज्यपाल को कुछ अन्य शक्तियां भी प्राप्त हैं :

(i) वह राज्य लोकसेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन और राज्य की आय-व्यय के सम्बन्ध में महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उन्हें विधानमण्डल के समक्ष रखता है।

(ii) अगर वह देखता है कि राज्य का प्रशासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो वह राष्ट्रपति को राज्य में संवैधानिक तन्त्र की विफलता के सम्बन्ध में सूचना देता है और उसकी रिपोर्ट

1 **"Shortly speaking the powers of Governor of the state are analogous to those of President excepting that the Governor has no diplomatic, military or emergency powers."**

—**D. D. Basu**, ***Commentary on the Constitution of India*, Vol. III.**

के आधार पर ही राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होता है। संकटकालीन स्थिति में वह राज्य में राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है।

राज्यपाल की स्थिति—संविधान के **अनुच्छेद** 163(1) के अनुसार, "जिन बातों के सम्बन्ध में संविधान द्वारा या संविधान के अधीन राज्यपाल से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों का निर्वाह करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए मन्त्रिपरिषद होगी, जिसका प्रमुख मुख्यमन्त्री होगा।" वर्तमान समय में **जम्मू-कश्मीर, नगालैण्ड, सिक्किम** और **अरुणाचल प्रदेश** के राज्यपाल को ही इस प्रकार की विवेकात्मक शक्तियां प्राप्त हैं और इन राज्यपालों को भी केवल कुछ निश्चित विषयों के सम्बन्ध में ही ये शक्तियां प्राप्त हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि साधारणतया राज्यपाल राज्य का वैधानिक अध्यक्ष मात्र है और उसकी शक्तियां वास्तविक नहीं हैं।

किन्तु उसकी शक्तियां वास्तविक न होते हुए भी राज्य शासन में उसका स्थान सबसे अधिक सम्मानित और प्रतिष्ठित होता है। वह दलगत राजनीति से ऊपर होने के कारण निष्पक्ष होता है और राज्य के वास्तविक शासक (मन्त्रिगण) सदैव ही आवश्यकतानुसार उससे मन्त्रणा प्राप्त कर सकते हैं। वह अपने निर्दलीय व्यक्तित्व के आधार पर राज्य शासन की ढिलमुल व्यवस्था में स्थायित्व व स्थिरता उत्पन्न करने की स्थिति में होता है, यदि राज्यपाल प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला है तो वह विरोधी पक्ष और मन्त्रिमण्डल के बीच अनेक मतभेदों को दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। **एम. बी. पायली** के अनुसार, **"राज्यपाल मन्त्रिमण्डल का सूझबूझ वाला परामर्शदाता है और राज्य की अशान्त राजनीति में शान्त वातावरण पैदा कर सकता है।"**[1] के. एम. मुन्शी स्वीकार करते हैं, **"कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल के द्वारा बहुत अधिक हितकारी और प्रभावशाली रूप में कार्य किया जा सकता है।"**

यद्यपि संविधान के द्वारा राज्यपाल को स्वविवेकी शक्ति प्रदान नहीं की गयी है और संसदात्मक शासन की परम्परा के अनुसार उससे यह आशा की गयी है कि वह एक वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करेगा, फिर भी कुछ ऐसे अवसर आ सकते हैं जबकि वह अपने विवेक का प्रयोग कर सके। ऐसे अवसर निम्नलिखित हो सकते हैं : (1) विशेष परिस्थितियों में मुख्यमन्त्री की छांट, (2) मन्त्रिपरिषद को अपदस्थ करना, (3) विधानसभा का विघटन, (4) मुख्यमन्त्री से सूचना प्राप्त करना, (5) राष्ट्रपति को राज्य की संवैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में रिपोर्ट भेजना। (6) 1995 में राज्यपाल की एक और विवेकात्मक शक्ति सामने आई है। तमिलनाडु के घटनाचक्र से स्पष्ट हुआ है कि जब कोई व्यक्ति भ्रष्टाचार के आरोप या किन्हीं आधारों पर मुख्यमंत्री के विरुद्ध मुकदमा दायर करने के लिए राज्यपाल से अनुमति मांगता है तब अनुमति देना या न देना राज्यपाल के स्वविवेक पर निर्भर करता है। इसी प्रकार 1997 में बिहार के मुख्यमन्त्री के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों पर मुकदमा चलाने के लिए राज्यपाल से अनुमति मांगी गई। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में राज्यपाल के इस अधिकार का महत्व बहुत बढ़ जाता है। सम्भवतः ऐसे अवसरों को दृष्टि में रखते हुए **बी. जी. खेर** ने संविधान सभा में कहा था कि **"एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुंचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल दुष्टता भी कर सकता है यद्यपि संविधान द्वारा उसे कम शक्ति दी गयी है।"**

भारत की संवैधानिक व्यवस्था में राज्यपाल पद अब तक जितना विवादास्पद रहा, उतना अधिक विवादास्पद अन्य कोई भी पद नहीं रहा है। 1996-98 में गुजरात के राज्यपाल और सर्वाधिक प्रमुख रूप से उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था और संविधान के प्रति घोर असम्मान भाव का परिचय दिया है। यह राजनीतिक व्यवस्था पर आघात है। आवश्यकता इस बात की है कि राज्यपाल पदधारी व्यक्ति अपने आपको दलीय राजनीति से पूर्णतया दूर रख नितान्त निष्पक्षतापूर्वक और संविधान की भावना को ध्यान में रखते हुए अपनी भूमिका निभायें।

इन सब बातों से यह नितान्त स्पष्ट है कि यद्यपि राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसके साथ ही **"वह केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं है, वह एक ऐसा अधिकारी है जो राज्य के शासन में महत्वपूर्ण रूप से भाग ले सकता है।"**

1 **"A sagacious Councillor and advisor to the ministry, one who an throw oil on the troubled waters of the state politics."** **—M. V. Pylee, *India's Constitution*, p. 234.**

वास्तविक कार्यपालिका : मन्त्रिपरिषद

संविधान द्वारा राज्यों में भी संसदात्मक शासन व्यवस्था स्थापित की गयी है और संसदात्मक शासन में राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद में निहित होती है, जो कि राज्य की विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। संविधान के अनुच्छेद 163 के अनुसार, **"उन बातों को छोड़कर जिनमें राज्यपाल स्वविवेक से कार्य करता है, अन्य कार्यों के निर्वाह में उसे सहायता प्रदान करने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान मुख्यमन्त्री होगा।"** राज्यपाल को मन्त्रियों ने कब और क्या सलाह दी, इस सम्बन्ध में न्यायालय में प्रश्न नहीं पूछा जा सकता है।

राज्य की मन्त्रिपरिषद की रचना या गठन

(1) मुख्यमन्त्री की नियुक्ति—मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्य की मन्त्रिपरिषद के गठन का प्रथम चरण है। अनुच्छेद 164 में कहा गया है कि राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करेगा और फिर मुख्यमन्त्री की सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा। इस सम्बन्ध में निश्चित परम्परा यह है कि राज्य की विधानसभा के बहुमत दल के नेता को मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता है, लेकिन यदि राज्य की विधानसभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो अथवा बहुमत प्राप्त दल या विभिन्न दलों द्वारा बनाये किसी **'संयुक्त-मोर्चे'** का कोई निश्चित नेता न हो तो राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति में अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है।

(2) मन्त्रियों का चयन—अन्य मन्त्रियों का चयन मुख्यमन्त्री ही करता है और वह मन्त्रियों के नामों तथा उनके विभागों की सूची राज्यपाल को देता है। मन्त्रिपरिषद में कितने सदस्य हों इसका निर्णय भी मुख्यमन्त्री करता है। उत्तर प्रदेश या मध्य प्रदेश जैसे विशाल राज्य की मन्त्रिपरिषद की सदस्य संख्या अधिक और मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा या सिक्किम की मन्त्रिपरिषद की सदस्य संख्या कम होना नितान्त स्वाभाविक है। मन्त्रियों के चयन में मुख्यमन्त्री व्यावहारिक दृष्टि से निम्न बातों को ध्यान में रखता है :

(i) राज्य के सभी क्षेत्रों और वर्गों को मन्त्रिपरिषद में न्यायसंगत ढंग से प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

(ii) सामान्यतः मुख्यमन्त्रियों द्वारा केवल अपने ही दल में से मन्त्रिपरिषद का निर्माण किया जाता है जिससे मन्त्रिपरिषद एक इकाई के रूप में कार्य कर सके।

(iii) दल के प्रभावशाली सदस्यों को मन्त्रिपरिषद में स्थान दिया जाता है, जिससे मुख्यमन्त्री को दल का विश्वास प्राप्त रहे।

(iv) मन्त्रिपरिषद में ऐसे सदस्यों को स्थान दिया जाता है जो मुख्यमन्त्री के विश्वासपात्र हों और उसके नेतृत्व को प्रसन्नता के साथ स्वीकार करें।

(v) ऐसे व्यक्तियों को लिया जाता है जिनमें प्रशासनिक योग्यता हो और जो कानून निर्माण तथा प्रशासन के दायित्वों को पूरा कर सकें एवं विधानमण्डल में स्थिति का सामना कर सकें।

(3) मन्त्रियों की योग्यताएं—मन्त्रिपरिषद के सभी सदस्यों के लिए आवश्यक है कि वे विधानमण्डल के किसी सदन के सदस्य हों। यदि कोई व्यक्ति मन्त्रिपद पर नियुक्ति के समय विधानमण्डल का सदस्य नहीं है तो उसके लिए 6 माह के भीतर विधानमण्डल की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक होता है। ऐसा करने में असफल रहने पर उसे मन्त्रिपद छोड़ना होता है।

(4) मन्त्रियों में कार्य-विभाजन—राज्यपाल मुख्यमन्त्री के परामर्श के अनुसार मन्त्रियों में कार्य-विभाजन करता है। मन्त्री के अधिकार के अन्तर्गत प्रायः एक ही प्रमुख विभाग, किन्तु कभी-कभी एक से अधिक विभाग भी रहते हैं। मन्त्रियों के अतिरिक्त प्रत्येक विभाग में सचिव, अतिरिक्त सचिव, संयुक्त सचिव तथा लिपिक, आदि स्थायी पदाधिकारी होते हैं।

(5) मन्त्रियों द्वारा शपथ ग्रहण—पद ग्रहण के पूर्व मुख्यमन्त्री व मन्त्रियों को राज्यसभा के समक्ष दो शपथें लेनी होती हैं—**पहली पद के कर्तव्य पालन की दूसरी गोपनीयता की।**

(6) मन्त्रियों की श्रेणियां—राज्यों की मन्त्रिपरिषद में भी मन्त्रियों की तीन श्रेणियां होती हैं—**(i) केबिनेट मन्त्री या मन्त्रिमण्डल के सदस्य, (ii) राज्यमन्त्री और (iii) उपमन्त्री।** केबिनेट के द्वारा ही सामूहिक रूप से शासन की नीति का निर्धारण किया जाता है। दूसरे स्तर पर राज्यमन्त्री होते हैं कुछ राज्यमन्त्रियों को तो स्वतंत्र रूप से किसी विभाग के प्रधान की स्थिति प्राप्त होती है और कुछ राज्यमन्त्री केबिनेट मन्त्री के कार्य में हाथ बंटाते हैं। राज्यमन्त्री के बाद उपमन्त्री आते हैं जो कि केबिनेट मन्त्री के सहायक के रूप में कार्य करते हैं।

मन्त्रियों की इन श्रेणियों के आधार पर ही मन्त्रिपरिषद और मन्त्रिमण्डल में अन्तर समझा जा सकता है। प्रथम स्तर के मन्त्रियों को सामूहिक रूप से मन्त्रिमण्डल कहते हैं। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल या केबिनेट एक छोटी, लेकिन बहुत अधिक महत्वपूर्ण इकाई है, मन्त्रिपरिषद एक बड़ी इकाई है। मन्त्रिमण्डल चक्र के भीतर चक्र है।

(7) **मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते**—मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते राज्य के विधान मण्डल द्वारा निश्चित किये जाते हैं, अतः भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में स्थितियों में भेद है।

(8) **मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल**—मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल विधानसभा के विश्वास पर निर्भर करता है। सामान्य तौर पर मन्त्रिपरिषद का अधिकतम कार्यकाल 5 वर्ष ही हो सकता है, क्योंकि विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष ही है। व्यक्तिगत रूप में किसी मन्त्री का कार्यकाल मुख्यमन्त्री के उसमें विश्वास पर निर्भर करता है।

(9) **सामूहिक उत्तरदायित्व**—मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है अर्थात् मन्त्रिपरिषद के सदस्य साथ-साथ ही डूबते या तैरते हैं। विधानसभा किसी एक मन्त्री के विरुद्ध प्रस्ताव पारित कर दे या किसी मन्त्री द्वारा रखे गये विधेयक को अस्वीकार कर दे तो समस्त मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना होता है।

इसी प्रकार मन्त्रिपरिषद के द्वारा जो भी निर्णय लिए जाते हैं, सभी मन्त्रियों को उनका समर्थन करना होता है, चाहे व्यक्तिगत रूप में वे इस निर्णय से सहमत हों या न हों। नीति सम्बन्धी मामलों में मन्त्रिपरिषद का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है, लेकिन किसी मन्त्री के भ्रष्ट आचरण या व्यक्तिगत दोष के लिए सम्बन्धित मन्त्री ही उत्तरदायी है, समस्त मन्त्रिपरिषद नहीं।

मन्त्रिपरिषद की कार्यप्रणाली—मन्त्रिपरिषद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई मन्त्रिमण्डल है और मन्त्रिमण्डल ही सभी महत्वपूर्ण मामलों में निर्णय लेता है। मन्त्रिमण्डल की बैठक प्रायः सप्ताह में एक बार होती है, वैसे मुख्यमन्त्री जब चाहे तब इसकी बैठक बुला सकता है। इन बैठकों की अध्यक्षता मुख्यमन्त्री करता है और मुख्यमन्त्री की अनुपस्थिति में वरिष्ठतम मन्त्री। बैठक का कोई 'कोरम' नहीं होता है।

मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही के दो प्रमुख नियम हैं : **सामूहिक उत्तरदायित्व और गोपनीयता।** मन्त्रिमण्डल की बैठकों में सामान्यतया सभी निर्णय एकमत से लिये जाते हैं। मतभेद की स्थिति में पारस्परिक विचार-विमर्श के आधार पर किसी एक निर्णय को अपना लिया जाता है और यह निर्णय सभी मन्त्रियों का संयुक्त निर्णय माना जाता है। यदि कोई मन्त्री इसे स्वीकार करने में स्वयं को असमर्थ पाता है तो उसे त्यागपत्र देना होता है।

मन्त्रिपरिषद के प्रत्येक सदस्य द्वारा गोपनीयता की शपथ ली जाती है और मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही तथा निर्णय गुप्त रखे जाते हैं। यदि कोई मन्त्री गोपनीयता को भंग करता है तो उसे त्यागपत्र देना होता है। बजट के सम्बन्ध में इस नियम का और अधिक कड़ाई से पालन किया जाता है।

मन्त्रिपरिषद की शक्तियां और कार्य

यद्यपि संविधान के **अनुच्छेद** 163 में मन्त्रिपरिषद का कार्य राज्यपाल को सहायता और परामर्श देना ही बतलाया गया है, किन्तु वास्तविक स्थिति इसके नितान्त विपरीत ही है। संविधान के द्वारा राज्यपाल को राज्य के शासन के सम्बन्ध में जो शक्तियां प्रदान की गयी हैं, व्यवहार में उन सबका उपभोग मन्त्रिपरिषद के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिपरिषद शासन सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण निर्णय लेती है और मुख्यमन्त्री इन निर्णयों से राज्यपाल को सूचित करता है। राज्यपाल इस प्रक्रिया में मुख्यमन्त्री को परामर्श अवश्य ही दे सकता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिपरिषद में ही निहित है। मन्त्रिपरिषद के कार्यों तथा शक्तियों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **शासन की नीति निर्धारित करना**—मन्त्रिपरिषद का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य शासन की नीति निर्धारित करना है। चाहे गृह विभाग हो या शिक्षा, स्वास्थ्य अथवा कृषि, शासन की नीति का निर्धारण मन्त्रिपरिषद के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिपरिषद न केवल नीति निर्धारित करती, वरन् उसे कार्य रूप में भी परिणत करती है।

(2) **उच्चपदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्यपाल को परामर्श**—संविधान के अनुसार राज्यपाल महाधिवक्ता, राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों तथा अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करता है। व्यवहार

के अन्तर्गत राज्यपाल के द्वारा ये सभी नियुक्तियां मन्त्रिपरिषद के परामर्श के आधार पर ही की जाती हैं। मन्त्रिपरिषद ही राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में परामर्श देती है।

(3) विधानमण्डल में शासन का प्रतिनिधित्व—विधानमण्डल की वैठकों में मन्त्रिगण शासन का प्रतिनिधित्व करते हैं। मन्त्रिगण विधानसभा तथा विधान परिषद् में उपस्थित होकर सदस्यों के प्रश्नों तथा आलोचनाओं का उत्तर देते और शासन की नीति का समर्थन करते हैं।

(4) कानून निर्माण का कार्यक्रम निश्चित करना—मन्त्रिपरिषद न केवल शासन वरन् कानून निर्माण के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यदि कहा जाय कि मन्त्रिपरिषद विधानमण्डल की सहमति से कानूनों का निर्माण करती है तो इसमें कुछ अनुचित न होगा। विधानमण्डल में कौन-कौनसे विधेयक तथा किस क्रम में प्रस्तुत किये जायेंगे, इसका निर्णय मन्त्रिपरिषद को ही करना होता है। प्रायः अधिकांश विधेयक शासन की ओर से ही प्रस्तुत किये जाते हैं और मन्त्रिपरिषद अपने बहुमत के बल पर ही इन्हें स्वीकृत कराती है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद कानून निर्माण के क्षेत्र में विधानमण्डल का नेतृत्व करती है।

(5) बजट तैयार करवाना—राज्य का वार्षिक बजट वित्तीय वर्ष के आरम्भ के पूर्व वित्तमन्त्री द्वारा विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन यह बजट मन्त्रिपरिषद द्वारा निश्चित की गयी नीति के आधार पर ही तैयार किया जाता है। वजट को पारित कराने का उत्तरदायित्व भी मन्त्रिपरिषद का ही होता है।

संक्षेप में, मन्त्रिपरिषद राज्य के प्रशासन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई होती है।

मुख्यमन्त्री

राज्य की मन्त्रिपरिषद के प्रधान को मुख्यमन्त्री कहा जाता है। मुख्यमन्त्री राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान है। अतः राज्य के प्रशासनिक ढांचे में उसे लगभग वही स्थिति प्राप्त है, जो केन्द्र में प्रधानमन्त्री की है।

मुख्यमन्त्री की नियुक्ति—संविधान के अनुच्छेद 164 में केवल यह कहा गया है कि मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा। व्यवहार के अन्तर्गत राज्यपाल के द्वारा विधानमण्डल के बहुमत दल के नेता को ही मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता है। मुख्यमन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्यपाल दो परिस्थितियों में अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। **प्रथम**, जवकि विधानसभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो और एक से अधिक पक्ष मुख्यमन्त्री पद के लिए दावे कर रहे हों। **द्वितीय**, स्थिति उस समय हो सकती है जवकि विधानसभा के वहुमत दल का कोई सर्वमान्य नेता न हो। 1966-1970 और उसके बाद 1977-2003 ई. के काल में भारतीय संघ के अनेक राज्यों में समय-समय पर ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो चुकी हैं तथा भविष्य में ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होने की सम्भावनाएं और आशंकाएं हैं। उ. प्र. विधानसभा चुनाव (फरवरी 2002) ने इस राज्य में ऐसी ही स्थिति को जन्म दिया है।

मुख्यमन्त्री की शक्तियां तथा कार्य

मन्त्रिपरिषद राज्य के प्रशासन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई है और मुख्यमन्त्री मन्त्रिपरिषद का प्रधान है। मुख्यमन्त्री की शक्तियों तथा उसके कार्यों का अध्ययन निम्नांकित रूपों में किया जा सकता है :

(1) मन्त्रिपरिषद का निर्माण—मुख्यमन्त्री का सर्वप्रथम कार्य अपनी मन्त्रिपरिषद का निर्माण करना होता है। मुख्यमन्त्री मन्त्रियों का चयन कर सूची राज्यपाल को दे देता है जिसे राज्यपाल स्वीकार कर लेता है। मन्त्रियों के चयन में मुख्यमन्त्री बहुत कुछ सीमा तक अपने विवेक के अनुसार कार्य कर सकता है। मन्त्रियों की संख्या के सम्बन्ध में मुख्यमन्त्री ही निर्णय करता है।

(2) मन्त्रिमण्डल का कार्य संचालन—मुख्यमन्त्री ही मन्त्रिमण्डल की बैठकें बुलाता तथा उनकी अध्यक्षता करता है। वैठक के लिए 'एजेण्डा' मुख्यमन्त्री के द्वारा ही तैयार किया जाता है। यदि मुख्यमन्त्री पर्याप्त प्रभावशाली है, तो मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही मुख्यमन्त्री की इच्छानुसार ही सम्पादित होती है।

(3) शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय—मुख्यमन्त्री इस बात का प्रयत्न करता है कि शासन के सभी विभाग, दूसरे शब्दों में मन्त्रिपरिषद एक इकाई के रूप में कार्य करे। यदि मन्त्रिपरिषद के दो या अधिक सदस्यों में किसी प्रकार के मतभेद उत्पन्न हो जायें, तो उसके द्वारा इन मतभेदों को दूर कर सामंजस्य स्थापित किया जाता है, मुख्यमन्त्री के रूप में वह विभिन्न विभागों को आदेश-निर्देश देने की स्थिति में होता है।

(4) **मन्त्रियों में कार्य का बंटवारा और परिवर्तन**—मुख्यमन्त्री परिषद के अपने सहयोगियों के बीच विभागों का बंटवारा करता है। एक बार मन्त्रिपरिषद के निर्माण व उसके सदस्यों में विभाग का बंटवारा कर देने के बाद भी वह जब चाहे तब मन्त्रियों के विभागों तथा उनकी स्थिति में परिवर्तन कर सकता है। इस सम्बन्ध में मुख्यमन्त्री के निर्णय को सामान्यतया किसी के भी द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती है।

(5) **मन्त्रिपरिषद और राज्यपाल के बीच सम्बन्ध स्थापितकर्ता**—संविधान के अनुसार मुख्यमन्त्री पर यह भार है कि वह मन्त्रिपरिषद और राज्यपाल के बीच सम्पर्क स्थापित करे। वह मन्त्रिमण्डल के निर्णयों की सूचना राज्यपाल को देता है और राज्यपाल के विचार मन्त्रिमण्डल तक पहुंचाता है। सामान्यतया कोई भी मन्त्री मुख्यमन्त्री को सूचित किये विना राज्यपाल से बात नहीं करता है। राज्यपाल के साथ वार्तालाप के सम्बन्ध में मुख्यमन्त्री जो जानकारी देता है, वही अधिकारिक है।

(6) **विधानसभा का नेता**—मुख्यमन्त्री का दोहरा व्यक्तित्व है। एक ओर यदि वह शासन का प्रधान है तो दूसरी ओर विधानसभा का नेता भी है। विधानसभा के नेता के रूप में उसे कानून निर्माण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त होती है और वहुत कुछ सीमा तक कानून निर्माण कार्य उसकी इच्छानुसार ही सम्पन्न होता है। विधानसभा के नेता के रूप में वह राज्यपाल को विधानसभा भंग करने का परामर्श भी दे सकता है।

(7) **सरकार का प्रधान प्रवक्ता**—मुख्यमन्त्री राज्य का प्रधान प्रवक्ता होता है और सरकार की ओर से अधिकृत घोषणा मुख्यमन्त्री द्वारा ही की जाती है। यदि किन्हीं दो मन्त्रियों के परस्पर विरोधी वक्तव्यों से भ्रम उत्पन्न हो जाय, तो इसे मुख्यमन्त्री के वक्तव्य से ही दूर किया जा सकता है।

(8) **राज्य में बहुमत दल का नेता**—उपर्युक्त के अतिरिक्त मुख्यमन्त्री राज्य में बहुमत दल का नेता भी होता है। उसे दलीय ढांचे पर नियन्त्रण प्राप्त होता है। यह स्थिति उसके प्रभाव तथा शक्ति में अधिक वृद्धि कर देती है।

(9) **राज्य की समस्त शासन व्यवस्था पर नियन्त्रण**—मुख्यमन्त्री राज्य की शासन व्यवस्था पर सर्वोच्च और अन्तिम नियन्त्रण रखता है। चाहे शान्ति और व्यवस्था का प्रश्न हो, कृषि, सिंचाई, स्वास्थ्य और शिक्षा के सम्वन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय लेना हो और चाहे कोई विकास सम्बन्धी प्रश्न हो, अन्तिम निर्णय मुख्यमन्त्री पर ही निर्भर करता है। मुख्यमन्त्री मन्त्रिपरिषद के सदस्यों को उनके विभागों के सम्वन्ध में आदेश-निर्देश दे सकता है। मन्त्रिपरिषद के सदस्य विभिन्न विभागों के प्रधान होते हैं, किन्तु अन्तिम रूप में यदि किसी एक व्यक्ति को राज्य के प्रशासन की अच्छाई या बुराई के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है तो वह निश्चित रूप से मुख्यमन्त्री ही है।

मुख्यमन्त्री पद के सम्बन्ध में व्यवहार के अन्तर्गत एक बात देखने में आती है कि एक-दलीय सरकार का मुख्यमन्त्री अधिक शक्तिशाली होता है, लेकिन मिली-जुली सरकार का मुख्यमन्त्री कम शक्तिशाली होता है। एक-दलीय सरकार में भी मुख्यमन्त्री की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि उसे अपने राजनीतिक दल में कैसी स्थिति प्राप्त है। मुख्यमन्त्री की स्थिति इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसे केन्द्रीय सरकार से और अपने दल के केन्द्रीय संगठन से किस सीमा तक समर्थन और सहयोग प्राप्त है। इन सबके अतिरिक्त स्वयं मुख्यमन्त्री का व्यक्तित्व राज्य शासन में मुख्यमन्त्री की स्थिति को निर्धारित करता है।

मुख्यमन्त्री राज्य के शासन का प्रधान है, किन्तु किसी भी रूप में उसे राज्य के शासन का तानाशाह नहीं कहा जा सकता है। यह राज्य का सर्वाधिक लोकप्रिय जननेता है।

मन्त्रिपरिषद और विधानमण्डल या विधानसभा के बीच सम्बन्ध

संविधान के द्वारा राज्यों में भी संसदात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है और इसी कारण मन्त्रिपरिषद का निर्माण विधानमण्डल में से ही होता है। मन्त्रिपरिषद के प्रत्येक सदस्य के लिए राज्य विधानमण्डल के किसी एक सदन का सदस्य होना आवश्यक होता है। यदि मन्त्रिपद ग्रहण करते समय वह विधानमण्डल का सदस्य न हो तो 6 महीने के अन्दर-अन्दर उसके लिए विधानमण्डल का सदस्य बनना आवश्यक होता है।

संविधान के अनुच्छेद 164 में कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। इसका आशय यह है कि मन्त्रिपरिषद उसी समय तक अपने पद पर रहेगी, जब तक कि उसे विधानसभा का विश्वास प्राप्त रहे। विधानसभा के द्वारा मन्त्रिपरिषद पर अग्रलिखित साधनों से नियन्त्रण रखा जा सकता है :

(1) **प्रश्न पूछकर**—विधानसभा और विधानपरिषद के सदस्यों को अधिकार है कि वे अधिवेशन के दिनों में मन्त्रिपरिषद के सदस्य से विभिन्न प्रशासनिक बातों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछें। इन प्रश्नों के आधार पर प्रशासन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने और प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का कार्य किया जा सकता है।

(2) **कामरोको प्रस्ताव**—कामरोको प्रस्ताव विधानमण्डल द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है। यदि प्रशासन के किसी भी क्षेत्र में कोई गम्भीर घटना घटित हो जाती है तो विधानमण्डल के प्रत्येक सदस्य को अधिकार है कि वह अपने सदन में इस आशय का प्रस्ताव रखे कि पहले से चले आ रहे सभी विषयों पर विचार स्थगित कर इस गम्भीर घटना या स्थिति पर विचार किया जाय।

(3) **विधेयक या नीति की अस्वीकृति**—विधानमण्डल को अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल के सदस्य द्वारा प्रस्तावित किसी विधेयक या नीति को अस्वीकार कर दे। यदि यह अस्वीकृति विधानसभा की ओर से होती है तो मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना होता है।

(4) **बजट पर कटौती**—मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल की स्वीकृति के विना आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं कर सकता। विधानसभा द्वारा बजट में कटौती से मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है।

(5) **प्रशासनिक जांच**—विधानमण्डल मन्त्रिमण्डल के कार्यों की जांच-पड़ताल के लिए एक जांच समिति स्थापित कर सकता है और सरकार हिसाब-किताब की जांच के लिए लेखा परीक्षक नियुक्त कर सकती है।

(6) **अविश्वास प्रस्ताव**—विधानसभा के द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पास कर मन्त्रिपरिषद को पदच्युत किया जा सकता है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से विधानमण्डल, विशेषतया, विधानसभा, मन्त्रिमण्डल के कार्यों पर नियन्त्रण रखती है तथा उसे पदच्युत भी कर सकती है, लेकिन व्यावहारिक स्थिति सामान्यतया नितान्त विपरीत ही है। व्यवहार में विधानसभा मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण नहीं रखती, वरन् मन्त्रिमण्डल द्वारा विधानसभा पर निम्नलिखित साधनों के आधार पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाता है :

(1) मुख्यमन्त्री विधानसभा के बहुमत दल का नेता होने के आधार पर विधानसभा पर नियन्त्रण रखता है। विधानसभा के वहुमत दल के सदस्य दलीय अनुशासन के कारण मुख्यमन्त्री का समर्थन करने के लिए बाध्य होते हैं।

(2) कानून निर्माण के क्षेत्र में भी नेतृत्व मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है और यह कहा जाय कि कानून निर्माण का कार्य विधानमण्डल की सहमति से मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है तो अनुचित न होगा।

(3) वित्तीय क्षेत्र में वित्तमन्त्री जिस रूप में बजट पेश करता है, विधानसभा के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है, क्योंकि वजट में कटौती का मतलव होता है सरकार का पतन और बहुमत दल यह कभी भी नहीं चाहता है।

(4) विधानसभा पर मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण का अन्तिम महत्वपूर्ण साधन मुख्यमन्त्री द्वारा राज्यपाल को परामर्श देकर विधानसभा को भंग करवाने की शक्ति है।

वास्तव में राज्य मन्त्रिमण्डल और विधानसभा का पारस्परिक सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करता है कि एक राजनीतिक दल का मन्त्रिमण्डल है या मिला-जुला मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिमण्डल के राजनीतिक दल की राज्य विधानमण्डल, विशेषतया विधानसभा में स्थिति कैसी है। एक राजनीतिक दल का मन्त्रिमण्डल मिले-जुले मन्त्रिमण्डल की अपेक्षा विधानमण्डल के साथ सम्बन्ध में अधिक शक्ति का परिचय देता है। भारत में नवें दशक की राजनीति तक सामान्यतया विधानमण्डल मन्त्रिमण्डल से नियन्त्रित होते रहे हैं, लेकिन समय-समय पर कुछ राज्यों में अपवादस्वरूप स्थितियां भी रही हैं। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक और 21वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में राज्य स्तर पर भी दलीय राजनीति का दृश्य वहुत धुंधला हो चुका है, भारतीय संघ के लगभग आधे राज्यों की विधानसभाओं में किसी एक ही राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं है, इन राज्यों में मिली-जुली सरकारों का गठन हुआ है और मन्त्रिमण्डल को अपने राज्य की विधानसभा पर नियन्त्रण प्राप्त नहीं है या बहुत थोड़े अंशों में ही नियन्त्रण प्राप्त है। अधिकांश राज्यों में आगे आने वाले कुछ वर्षों तक यही स्थिति वने रहने की सम्भावना है।

राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद या राज्यपाल और मुख्यमन्त्री

संविधान के अनुच्छेद 163 में कहा गया है कि ''राज्यपाल को उसके कार्यों के सम्पादन में 'सहायता और परामर्श' देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान मुख्यमन्त्री होगा।'' किन्तु यह वैधानिक शब्दावली है और जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, मन्त्रिपरिषद राज्य की वास्तविक कार्यपालिका सत्ता होती है, यद्यपि प्रशासन राज्यपाल के नाम से किया जाता है, किन्तु अधिकांश मामलों में वास्तविक निर्णय मन्त्रिपरिषद द्वारा लिये जाते हैं। सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल से मन्त्रियों की मन्त्रणा के आधार पर ही कार्य करने की आशा की जाती है। यद्यपि संविधान में ऐसी कोई बात नहीं है जो राज्यपाल को मन्त्रियों की मन्त्रणा मानने के लिए बाध्य करती हो, किन्तु फिर भी संसदात्मक व्यवस्था की राजनीतिक आवश्यकता के रूप में उसे मन्त्रियों की मन्त्रणा माननी होती है। यदि राज्यपाल ऐसी मन्त्रिपरिषद की सलाह को अस्वीकार कर दे जिसे कि विधानसभा का विश्वास प्राप्त है, तो मन्त्रिपरिषद विरोधस्वरूप त्यागपत्र दे सकती है और ऐसा होने पर राज्यपाल कठिन स्थिति में पड़ जायेगा।

अनुच्छेद 167 के अनुसार राज्य के मुख्यमन्त्री का यह कर्तव्य है कि राज्य प्रशासन से सम्बन्धित मन्त्रिपरिषद के सभी निर्णयों और विचाराधीन विधेयकों की सूचना राज्यपाल को दे और राज्यपाल इस सम्बन्ध में अन्य आवश्यक जानकारी भी मांग सकता है। मुख्यमन्त्री से प्राप्त इन सूचनाओं के आधार पर राज्यपाल द्वारा मन्त्रिपरिषद को परामर्श देने, प्रोत्साहित करने और चेतावनी देने का कार्य किया जा सकता है, लेकिन इस प्रकार की सलाह और चेतावनी के बावजूद मन्त्रिपरिषद द्वारा एक बार निर्णय कर लेने पर राज्यपाल उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है, लेकिन कुछ ऐसी परिस्थितियां हो सकती हैं जिनमें राज्यपाल मन्त्रिपरिषद की सलाह के विना ही कार्य करे। उदाहरण के लिए, राज्य में संवैधानिक तन्त्र की विफलता के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को रिपोर्ट राज्यपाल अपने ही विवेक के आधार पर तैयार कर भेजता है और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने पर राज्यपाल अपने ही विवेक के आधार पर राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था का संचालन करता है।

संविधान में इस बात का उल्लेख है कि मन्त्रियों द्वारा राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपना पद धारण किया जायेगा। इसका शाब्दिक अर्थ यह लिया जा सकता है कि राज्यपाल मन्त्रियों को पदच्युत कर सकेगा, लेकिन इस प्रकार का कार्य उत्तरदायी शासन की भावना और परम्परा के विरुद्ध होगा। इसलिए सैद्धान्तिक रूप में राज्यपाल को इस प्रकार की शक्ति प्राप्त होने पर भी व्यवहार में कोई राज्यपाल इस प्रकार कार्य करने का साहस नहीं कर सकता। राज्यपाल तथा मन्त्रिपरिषद के मध्य यदि किसी कारणवश विरोध उत्पन्न हो जाय तो उसका क्या वैधानिक हल होगा, इस सम्बन्ध में संविधान में कोई उल्लेख नहीं है।

प्रश्न

1. भारतीय राज्य के राज्यपाल की शक्तियों तथा भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. राज्यपाल की नियुक्ति कैसे होती है ? उसके कार्यों तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए।
3. राज्य मन्त्रिपरिषद के गठन तथा कार्यों की व्याख्या कीजिए। विधानसभा तथा राज्यपाल के साथ राज्य मन्त्रिपरिषद के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
4. मुख्यमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है? उसकी राज्य के शासन में क्या भूमिका और स्थिति है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राज्यपाल की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?
   (अ) राष्ट्रपति (ब)प्रधानमन्त्री (स) गृहमन्त्री (द) उपराष्ट्रपति
2. राज्यपाल की नियुक्ति कितने वर्ष के लिए की जाती है :
   (अ) 4 वर्ष (ब) 5 वर्ष (स) 6 वर्ष (द) 9 वर्ष
3. किसी राज्य के 'महाधिवक्ता' की नियुक्ति कौन करता है :
   (अ) राष्ट्रपति (ब) राज्यपाल
   (स)प्रधानमन्त्री (द) मुख्यमन्त्री

4. निम्न में से किसकी नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा नहीं की जाती है :
(अ) राज्य का मुख्यमन्त्री (ब) राज्य के महाधिवक्ता
(स) राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष (द) सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश
5. राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में किस देश के संविधान का अनुसरण किया गया है :
(अ) अमेरिका (ब) कनाडा (स) दक्षिण अफ्रीका (द) आयरलैण्ड
6. राज्यपाल को प्रतिमाह कितना वेतन प्राप्त होता है :
(अ) 20 हजार रुपए (ब) 30 हजार रुपए
(स) 36 हजार रुपए (द) 40 हजार रुपए
7. राज्य की संचित निधि किसके अधिकार में रहती है :
(अ) मुख्यमन्त्री (ब) वित्त मन्त्री (स) राज्यपाल (द) उच्च न्यायालय
8. निम्नलिखित में से किसने अपने आपको 'सोने के पिंजड़े में बन्द चिड़िया' बताया :
(अ) सरोजिनी नायडू (ब) श्रीप्रकाश
(स) श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
9. राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर किसकी स्वीकृति आवश्यक है ?
(अ) मुख्यमन्त्री (ब) राज्यपाल (स) प्रधानमन्त्री (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
10. मुख्यमन्त्री की नियुक्ति कौन करता है ?
(अ) राज्यपाल (ब) प्रधानमन्त्री (स) राष्ट्रपति (द) उपराष्ट्रपति
11. यदि कोई व्यक्ति पद पर नियुक्ति के समय विधानमण्डल का सदस्य नहीं है तो उसे कितनी अवधि में विधानमण्डल की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक होता है :
(अ) 6 माह के भीतर (ब) एक वर्ष के भीतर
(स) 2 वर्ष के भीतर (द) 5 वर्ष के भीतर
12. मुख्यमन्त्री को अपना पद ग्रहण करने से पूर्व किसके समक्ष शपथ लेनी होती है :
(अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति (स) प्रधानमन्त्री (द) राज्यपाल
13. राज्य में मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते किसके द्वारा निश्चित किए जाते हैं :
(अ) राष्ट्रपति (ब) संसद (स) राज्य विधानमण्डल (द) सर्वोच्च न्यायालय
14. राज्यपाल किसकी सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है :
(अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमन्त्री (स) मुख्यमन्त्री (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
15. मन्त्रिपरिषद में किस श्रेणी के मन्त्री होते हैं :
(अ) केबिनेट मन्त्री (ब) राज्यमन्त्री
(स) उपमन्त्री (द) उपर्युक्त तीनों स्तरों के मन्त्री
16. मन्त्रिपरिषद का प्रमुख कार्य है :
(अ) शासन की नीति निर्धारित करना
(ब) विधानमण्डल में शासन का प्रतिनिधित्व करना
(स) उच्च पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्यपाल को परामर्श देना
(द) उपर्युक्त सभी कार्य
17. निम्नलिखित में से किस साधन द्वारा विधानसभा मन्त्रिपरिषद पर नियन्त्रण रख सकती है :
(अ) प्रश्न पूछकर (ब) कामरोको प्रस्ताव द्वारा
(स) अविश्वास प्रस्ताव द्वारा (द) उपर्युक्त सभी साधनों द्वारा

[उत्तर—1. (अ), 2. (ब), 3. (ब), 4. (द), 5. (ब), 6. (स), 7. (स), 8. (अ), 9. (ब), 10. (अ), 11. (अ), 12. (द), 13. (स), 14. (स), 15. (द), 16. (द), 17. (द)]

12

राज्य विधानमण्डल

[THE STATE LEGISLATURE]

संविधान के द्वारा भारत के प्रत्येक राज्य में एक विधानमण्डल की व्यवस्था की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 168 में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक विधानमण्डल होगा जो राज्यपाल तथा कुछ राज्यों में दो सदन से तथा कुछ में एक सदन से मिलकर बनेगा। जिन राज्यों में दो सदन होंगे, उनके नाम **क्रमशः** विधानसभा और विधानपरिषद होंगे। प्रत्येक राज्य में जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियों का एक सदन होता है, विधानमण्डल के इस प्रथम सदन को विधानसभा कहते हैं। जिन राज्यों में विधानमण्डल का दूसरा सदन है, उसे **'विधानपरिषद'** कहते हैं। राज्यों का विधानमण्डल एकसदनात्मक हो या द्विसदनात्मक, इस बात के निर्णय का अधिकार राज्य में निर्वाचित प्रतिनिधियों (राज्य विधानसभा) और भारतीय संसद को ही है। संविधान के **अनुच्छेद** 169 के अनुसार, **संसद को अधिकार प्राप्त है कि राज्यों में विधानपरिषद की स्थापना अथवा अन्त कर दे, यदि सम्बन्धित राज्य की विधानसभा अपने कुल बहुमत व उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास करे।** वर्तमान समय में **भारतीय संघ** के केवल 5 राज्यों : **उत्तर प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, महाराष्ट्र, कर्नाटक और बिहार** में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका व शेष राज्यों में एकसदनात्मक **व्यवस्थापिका** है।

विधानपरिषद वाले 5 राज्यों में राज्य विधानमण्डल के निम्न तीन अंग हैं :

(1) **राज्यपाल** (Governor),

(2) **विधानसभा** (Legislative Assembly), जिसे प्रथम या निम्न सदन कहते हैं।

(3) **विधानपरिषद** (Legislative Council), जिसे द्वितीय या उच्च सदन कहते हैं।

विधानसभा की रचना या संगठन

विधानसभा विधानमण्डल का प्रथम और लोकप्रिय सदन है। जिन राज्यों में विधानमण्डल के दो सदन हैं, वहां पर यह विधानपरिषद से अधिक शक्तिशाली है।

(1) सदस्य संख्या—संविधान में राज्य की विधानसभा के सदस्यों की केवल न्यूनतम और अधिकतम संख्या निश्चित की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 170 के अनुसार राज्य की विधानसभा के सदस्यों की **अधिकतम संख्या** 500 और **न्यूनतम** संख्या 60 होगी।[1] मध्य प्रदेश राज्य की विधानसभा की सदस्य संख्या 230 और छत्तीसगढ़ राज्य की विधानसभा की सदस्य संख्या 90 है। चुनाव के लिए प्रत्येक राज्य को भौगोलिक आधार पर अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि विधानसभा का प्रत्येक सदस्य कम से कम 75 हजार जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करे। इस नियम का अपवाद केवल असम के स्वाधीन जिले, शिलांग की छावनी और नगरपालिका के क्षेत्र, सिक्किम और मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश हैं।

अनुच्छेद 170 (3) में कहा गया है कि प्रत्येक जनगणना के उपरान्त विधानसभा की सदस्य संख्या पुनः निश्चित की जायगी।

42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद 170 को संशोधित करते हुए व्यवस्था की गई है कि राज्य विधान सभाओं की सदस्य संख्या सन् 2001 ई. तक तथा उसके बाद जब तक परिवर्तन न किया जाय, तब तक यही रहेगी। अव 84वें **संवैधानिक संशोधन** (2002) द्वारा राज्य विधानसभाओं की सदस्य संख्या 2026 ई. तक यथावत रखने का निर्णय लिया गया है। विधानसभा की कुल सदस्य संख्या को यथावत् रखते हुए राज्य में निर्वाचन

1 सिक्किम, मिजोरम प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश और गोआ, इस सम्बन्ध में अपवाद हैं।

क्षेत्रों का पुनर्सीमांकन किया जाएगा। पुनर्सीमांकन के आधार पर आरक्षित सीटों की संख्या में परिवर्तन हो सकता है। साधारण (अनारक्षित) सीट को आरक्षित बनाया जा सकता है और आरक्षित सीट को अनारक्षित बनाया जा सकता है। संसद द्वारा यह निर्धारित कर दिया गया है कि निर्वाचन क्षेत्रों के पुनर्सीमांकन का कार्य 2001 ई. की जनगणना पर आधारित होगा। वर्तमान समय में विधानसभाओं की सदस्य संख्या तथा आरक्षित सीटों की संख्या निम्न तालिका में दर्शाई गई है :

विभिन्न राज्यों की विधान सभाओं की सदस्य संख्या

क्र. सं.	राज्य/संघ राज्य क्षेत्र	कुल सदस्य	क्र. सं.	राज्य/संघ राज्य क्षेत्र	कुल सदस्य
1.	आन्ध्र प्रदेश	294	17.	गुजरात	182
2.	असम	126	18.	पंजाब	117
3.	विहार	243	19.	राजस्थान	200
4.	झारखण्ड	81	20.	तमिलनाडु	234
5.	हरियाणा	90	21.	त्रिपुरा	60
6.	हिमाचल प्रदेश	68	22.	उत्तर प्रदेश	403
7.	जम्मू-कश्मीर*	87	23.	उत्तरांचल	70
8.	कर्नाटक	224	24.	पश्चिमी बंगाल	294
9.	केरल	140	25.	सिक्किम	32
10.	मध्य प्रदेश	230	26.	मिजोरम	40
11.	छत्तीसगढ़	90	27.	अरुणाचल प्रदेश	40
12.	महाराष्ट्र	288	28.	गोवा	40
13.	मणिपुर	60		**संघ राज्य क्षेत्र**	
14.	मेघालय	60	1.	दिल्ली	70
15.	नगालैण्ड	60	2.	पाण्डिचेरी	30
16.	उड़ीसा	147			

* इसमें पाकिस्तान के अवैध कब्जे वाले क्षेत्रों के 25 स्थान सम्मिलित नहीं हैं।

(2) स्थान आरक्षण (Reservations)—राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की व्यवस्था 25 जनवरी, 2010 ई. (79वें संवैधानिक संशोधन, 2000) तक के लिए है।

राज्य की विधानसभा के निर्वाचन के बाद यदि सम्बन्धित राज्य का राज्यपाल यह अनुभव करता है कि विधानसभा में आंग्ल भारतीय समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है तो वह उस समुदाय के सदस्य को विधानसभा में मनोनीत कर सकता है।

(3) निर्वाचन पद्धति—आंग्ल भारतीय समुदाय के नामजद सदस्यों को छोड़कर विधानसभा के अन्य सभी सदस्यों का मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनाव होता है। इन चुनावों के लिए वयस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली अपनायी गयी है। प्रारम्भ में विधानसभा के निर्वाचन के लिए कुछ द्वि-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था थी, परन्तु अब सभी निर्वाचन क्षेत्र एकल-सदस्यीय हैं।

(4) मतदाताओं की योग्यताएं—मतदाता होने के लिए अब 61वें **संवैधानिक संशोधन** (1989) के बाद 18 वर्ष की आयु प्राप्त भारतीय नागरिक होना चाहिए। ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि उसे पागल, दिवालिया या अन्य किसी अपराध के कारण मताधिकार से वंचित कर दिया गया हो। उसका नाम मतदाता सूची में होना चाहिए।

(5) सदस्यों की योग्यताएं—विधानसभा की सदस्यता के लिए व्यक्ति को निम्न योग्यताएं प्राप्त होनी चाहिए :

1. वह भारत का नागरिक हो,

2. उसकी आयु कम-से-कम 25 वर्ष हो,
3. भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किये हुए न हो,
4. वह पागल या दिवालिया घोषित न किया जा चुका हो,
5. वह संसद या राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्धारित शर्तों की पूर्ति करता हो,
6. उसे 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम' के अन्तर्गत कोई अयोग्यता प्राप्त न हो।

कोई भी व्यक्ति राज्य के विधानमण्डल के दोनों सदनों का एक साथ सदस्य नहीं हो सकता, न ही वह दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल का सदस्य हो सकता है। कोई भी सदस्य यदि विधानमण्डल के किसी सदन की बैठक में लगातार 60 दिन तक सदन की आज्ञा के बिना अनुपस्थित रहता है तो सदन उसका स्थान रिक्त घोषित कर सकता है।

(6) **कार्यकाल**—राज्य विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है। राज्यपाल द्वारा इसे समय के पूर्व भी भंग किया जा सकता है, परन्तु यदि संकट काल की घोषणा प्रवर्तन में हो तो संसद विधि द्वारा विधानसभा का कार्यकाल बढ़ा सकती है जो एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगा तथा किसी भी अवस्था में संकटकाल की घोषणा समाप्त हो जाने के बाद 6 माह की अवधि से अधिक नहीं होगा।

पदाधिकारी—प्रत्येक राज्य की विधानसभा के दो मुख्य पदाधिकारी होते हैं : (1) **अध्यक्ष** (Speaker) और (2) **उपाध्यक्ष** (Deputy Speaker)। इन दोनों का चुनाव विधानसभा के सदस्य अपने सदस्यों में से ही करते हैं तथा इनका कार्यकाल विधानसभा के कार्यकाल तक होता है। इसके बीच अध्यक्ष अपना त्यागपत्र उपाध्यक्ष को तथा उपाध्यक्ष अपना त्यागपत्र अध्यक्ष को दे सकता है। इन दोनों को विधानसभा सदस्यों के बहुमत द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के आधार पर हटाया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार की सूचना 14 दिन पूर्व अध्यक्ष या उपाध्यक्ष (जिसके विरुद्ध प्रस्ताव हो) को देना आवश्यक है। विधानसभा भंग हो जाने पर भी अध्यक्ष अपने पद पर उस समय तक बना रहता है, जब तक कि नयी विधानसभा की प्रथम बैठक न हो। इन दोनों ही पदाधिकारियों को वेतन तथा अन्य सुविधाएं प्राप्त होती हैं।

अध्यक्ष के अधिकार तथा कार्य (Powers and Functions of the Speaker)—विधानसभा के अध्यक्ष के अधिकार तथा कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) विधानसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है और सदन की कार्यवाही का संचालन करता है।

(2) सदन में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना उसका मुख्य उत्तरदायित्व है तथा इस हेतु उसे समस्त आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार है।

(3) सदन का कोई भी सदस्य सदन में उसकी आज्ञा से ही भाषण दे सकता है।

(4) वह सदन की कार्यवाही से ऐसे शब्दों को निकाले जाने का आदेश दे सकता है, जो असंसदीय या अशिष्ट हैं।

(5) सदन के नेता के परामर्श से वह सदन की कार्यवाही का क्रम निश्चित कर सकता है।

(6) वह प्रश्नों को स्वीकार करता या नियम-विरुद्ध होने पर उन्हें अस्वीकार करता है।

(7) वह किसी प्रश्न पर मतदान करता और परिणाम की घोषणा करता है।

(8) सामान्य स्थिति में वह सदन में मतदान में भाग नहीं लेता, लेकिन यदि किसी प्रश्न पर पक्ष और विपक्ष में बराबर मत आयें, तो वह **'निर्णायक मत'** (Casting Vote) का प्रयोग करता है।

(9) कोई विधेयक 'धन विधेयक' (Money Bill) है अथवा नहीं, इसका निर्णय अध्यक्ष करता है।

(10) विधानसभा और विधानपरिषद के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता वही करता है।

(11) सदन तथा राज्यपाल के बीच 'अध्यक्ष' ही सम्पर्क स्थापित करने का साधन है।

(12) वह सदन के सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करता है।

(13) वह विधानमण्डल की कुछ समितियों का पदेन सभापति होता है।

(14) वह सदन की दर्शक दीर्घा में दर्शकों और प्रेस प्रतिनिधियों के प्रवेश पर नियन्त्रण भी लगा सकता है।

अध्यक्ष की अनुपस्थिति में इन सभी कार्यों का सम्पादन उपाध्यक्ष करता है। यदि दोनों ही अनुपस्थित हों तो विधानसभा अपने सदस्यों में से एक को कार्यवाहक अध्यक्ष चुन लेती है।

विधानपरिषद की रचना या संगठन

(1) सदस्य संख्या—राज्य के विधानमण्डल का द्वितीय या उच्च सदन विधानपरिषद होता है। संविधान में व्यवस्था की गयी है कि प्रत्येक राज्य की विधानपरिषद के सदस्यों की संख्या उसकी विधानसभा के सदस्यों की संख्या के 1/3 से अधिक न होगी, पर साथ ही यह भी कहा गया है कि किसी भी दशा में उसकी सदस्य संख्या 40 से कम नहीं होनी चाहिए। जम्मू-कश्मीर को इस सम्बन्ध में अवश्य ही अपवाद रखा गया है।

(2) सदस्यों का निर्वाचन व मनोनयन—विधानपरिषद के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होता है तथा कुछ सदस्यों को मनोनीत किया जाता है। निम्नलिखित निर्वाचक मण्डल विधानपरिषद के सदस्यों का चुनाव करते हैं :

1. स्थानीय संस्थाओं का निर्वाचन मण्डल—समस्त सदस्यों का **लगभग एक-तिहाई**[1] उस राज्य की नगरपालिकाओं, जिलापरिषदों और ऐसी अन्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा चुना जाता है, जैसाकि संसद कानून द्वारा निर्धारित करे।

2. विधानसभा का निर्वाचक मण्डल—कुल संख्या के **लगभग एक-तिहाई सदस्यों** का निर्वाचन विधानसभा के सदस्य ऐसे व्यक्तियों में से करते हैं जो विधानसभा के सदस्य न हों।

3. स्नातकों (Graduates) का निर्वाचक मण्डल—यह ऐसे शिक्षित व्यक्तियों का निर्वाचक मण्डल होता है जो इस राज्य में रहते हों, जिन्होंने स्नातक स्तर की परीक्षा पास कर ली हो और जिन्हें यह परीक्षा पास किये तीन वर्ष से अधिक हो चुके हों। यह निर्वाचक मण्डल कुल सदस्यों के **लगभग** 1/12 भाग को चुनता है।

4. अध्यापकों का निर्वाचन मण्डल—इसमें वे अध्यापक होते हैं जो राज्य के अन्तर्गत किसी माध्यमिक पाठशाला या इससे उच्च शिक्षण संस्था में 3 वर्ष से पढ़ा रहे हों। यह निर्वाचक मण्डल कुल सदस्यों के **लगभग** 1/12 भाग को चुनता है।

5. राज्यपाल द्वारा मनोनीत सदस्य—उपर्युक्त प्रकार से कुल सदस्य संख्या के **लगभग** 5/6 सदस्यों को तो निर्वाचित किया जाता है, शेष अर्थात् कुल सदस्य संख्या के **लगभग** 1/6 सदस्य राज्यपाल द्वारा उन व्यक्तियों में से मनोनीत किये जाते हैं, जो साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा के क्षेत्रों में विशेष रुचि रखते हों।

(3) सदस्यों की योग्यताएं—विधानपरिषद की सदस्यता के लिए भी वे ही योग्यताएं हैं जो विधानसभा की सदस्यता के लिए हैं, अन्तर केवल यह है कि विधानपरिषद की सदस्यता के लिए आयु 30 वर्ष होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त निर्वाचित सदस्य को उस राज्य की विधानसभा के किसी निर्वाचक क्षेत्र का निर्वाचक होना चाहिए एवं नियुक्त किये जाने वाले सदस्य को उस राज्य का निवासी होना चाहिए, जिसकी विधानपरिषद का वह सदस्य बनना चाहता है।

विधानपरिषदों की सदस्य संख्या

क्रम संख्या	राज्य का नाम	स्थानीय संस्थाओं से निर्वाचित	स्नातकों द्वारा निर्वाचित	शिक्षकों द्वारा निर्वाचित	विधानसभा द्वारा निर्वाचित	राज्यपाल द्वारा मनोनीत	कुल सदस्य संख्या
1.	उत्तर प्रदेश	36	8	8	38	10	100
2.	बिहार	24	6	6	27	12	75
3.	महाराष्ट्र	22	7	7	30	12	78
4.	कर्नाटक (मैसूर)	21	6	6	21	9	63
5.	जम्मू-कश्मीर	7	—	2	22	6	36

निर्वाचक मण्डलों द्वारा विधानपरिषद के सदस्यों का यह निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल-संक्रमणीय मत पद्धति के अनुसार होता है। विधानसभा के निर्वाचक मण्डल के अतिरिक्त अन्य तीनों निर्वाचक मण्डल संसद कानून द्वारा निश्चित करती है।

1 संविधान के अंग्रेजी पाठ में 'as nearly as may be' और हिन्दी पाठ में 'यथाशक्य निकटतम' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका आशय 'लगभग' है। 1/3, 1/6 या 1/12 को व्यवहार में कठोरता पूर्वक लागू नहीं किया गया है।

(4) **कार्यकाल**—विधानपरिषद इस दृष्टि से अस्थायी है कि पूरी विधानपरिषद कभी भी भंग नहीं होती और इसे राज्यपाल द्वारा भी भंग नहीं किया जा सकता। विधानपरिषद के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। प्रति दो वर्ष पश्चात् एक-तिहाई सदस्य अपना पद छोड़ देते हैं और उसके स्थान के लिए नये निर्वाचन होते हैं।

(5) **पदाधिकारी**—विधानसभा अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष तथा विधानपरिषद अपने सदस्यों में से एक सभापति और एक उपसभापति का चुनाव करती है। यदि सदन के अध्यक्ष का पद रिक्त हो, तो उपाध्यक्ष सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा यदि उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त हो, तो सम्बन्धित सदन का ऐसा सदस्य, जिसे राज्यपाल इस कार्य के लिए नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करता है। सभापति और उपसभापति के वेतन राज्य का विधानमण्डल निर्धारित करता है।

दोनों सदनों पर समान रूप से लागू होने वाली बातें

(1) **सदस्यों के विशेषाधिकार**—विधानमण्डल के सदस्यों को विधानमण्डल में अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। उन पर विधानमण्डल अथवा उसकी किसी समिति में कही गयी किसी बात या व्यक्त किये गये किसी मत पर न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती है।

विधानमण्डल के क्षेत्र में विधानमण्डल के किसी भी सदस्य को अध्यक्ष या सभापति की आज्ञा प्राप्त किये विना बन्दी नहीं बनाया जा सकता है। यदि क्षेत्र क्रे बाहर भी किसी व्यक्ति को बन्दी वनाया जाता है तो इसकी अध्यक्ष या सभापति को तुरन्त ही सूचना देना आवश्यक है।

(2) **सदस्यों के वेतन तथा भत्ते**—विधानसभा तथा विधानपरिषद के सदस्यों को ऐसे वेतन तथा भत्ते मिलेंगे जो राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा निर्धारित करे। वर्तमान समय में सभी राज्यों के अन्तर्गत विधानमण्डल के सदस्यों के लिए पेन्शन की व्यवस्था भी है।

(3) **विधानमण्डल की कार्यप्रणाली (अधिवेशन, गणपूर्ति, आदि)**—प्रत्येक वर्ष राज्य विधानमण्डल के कम से कम दो अधिवेशन अवश्य ही होते हैं। संविधान में यह कहा गया है कि एक अधिवेशन की अन्तिम बैठक और दूसरे अधिवेशन की पहली बैठक के वीच का समय 6 माह से अधिक नहीं होना चाहिए। सदनों की बैठक वुलाने और स्थगित करने का कार्य राज्यपाल द्वारा किया जाता है। सम्बन्धित सदन की गणपूर्ति (Quorum) 10 या कुल सदस्य संख्या का 1/10, जो भी अधिक हो, वही होगी। सदन में उपस्थित किये गये प्रश्न का निर्णय उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा किया जाता है, पर दोनों के मत समान होने पर अध्यक्ष या सभापति को अपना निर्णायक मत देने का अधिकार होता है। विधानमण्डल का कार्य हिन्दी, अंग्रेजी या राज्य की क्षेत्रीय भाषा में सम्पन्न होता है।

विधानपरिषद के अधिकार अथवा शक्ति तथा कार्य

विधानपरिषद के अधिकार तथा कार्यों का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) **कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य**—वित्त विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयक राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जा सकते हैं तथा ये विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होने चाहिए, लेकिन इसके साथ ही संविधान के अनुच्छेद 197 में कहा गया है कि यदि कोई विधेयक विधानसभा से पारित होने के पश्चात् विधानपरिषद द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है या परिषद विधेयक में ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार नहीं होते या परिषद के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह तक विधेयक पारित नहीं किया जाता है, तो विधानसभा उस विधेयक को पुनः पारित करके विधानपरिषद को भेजती है। यदि परिषद विधेयक को पुनः अस्वीकृत कर देती है अथवा विधेयक रखे जाने की तिथि से एक माह बाद तक विधेयक पास नहीं करती या परिषद विधेयक में पुनः ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार नहीं होते तो विधेयक विधानपरिषद द्वारा पारित किए जाने के बिना ही दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। इस प्रकार विधानपरिषद किसी साधारण विधेयक को केवल चार माह तक रोक सकती है। विधानपरिषद किसी विधेयक को समाप्त नहीं कर सकती है।

(2) कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य—विधानपरिषद के सदस्य मन्त्रिपरिषद के सदस्य हो सकते हैं। विधानपरिषद प्रश्नों, प्रस्तावों तथा वाद-विवाद के आधार पर मन्त्रिपरिषद को नियन्त्रित कर सकती है, किन्तु उसे मन्त्रिपरिषद को पदच्युत करने का अधिकार नहीं है। यह कार्य केवल विधानसभा के ही द्वारा ही किया जा सकता है।

(3) वित्त सम्बन्धी कार्य—संविधान में स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है कि वित्त विधेयक केवल विधानसभा में प्रस्तावित किए जा सकते हैं, विधानपरिषद में नहीं। विधानसभा जब किसी वित्त विधेयक को पारित कर सिफारिशों के लिए विधानपरिषद के पास भेजती है तो विधानपरिषद 14 दिन तक वित्त विधेयक को अपने पास रोक सकती है। यदि वह 14 दिन के भीतर अपनी सिफारिशों सहित विधेयक विधानसभा को नहीं लौटा देती, तो वह विधेयक उस रूप में दोनों सदनों में पारित समझा जाता है, जिस रूप में उसे विधानसभा ने पारित किया था। यदि वित्त विधेयक के सम्बन्ध में विधानपरिषद कोई सिफारिशें करती हैं तो उन्हें मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है।

इस प्रकार विधानपरिषद विधानसभा की तुलना में एक शक्तिहीन सदन है। सामान्यतया विधानपरिषदों को कम उपयोगी ही समझा जाता है। इसका प्रमाण यह है कि 1967 में पंजाब और पश्चिमी बंगाल विधानपरिषदों को समाप्त करने का प्रस्ताव किया गया और 1969 में इन दोनों राज्यों की विधानपरिषदें समाप्त कर दी गईं। आन्ध्र विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव के आधार पर 1985 में आन्ध्र विधानपरिषद और तमिलनाडु विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव के अनुसार 1986 में तमिलनाडु विधानपरिषद समाप्त कर दी गई।

राज्य विधानमण्डल या राज्य विधानसभा की शक्तियां और कार्य

राज्य विधानमण्डल राज्य की व्यवस्थापिका है और संविधान के द्वारा राज्य विधानमण्डल को व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं। राज्य विधानमण्डल की शक्तियों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है:

(1) विधायी शक्ति—राज्य के विधानमण्डल को सामान्यतया उन सभी विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त है जो राज्य सूची और समवर्ती सूची में दिए गए हैं, परन्तु समवर्ती सूची के विषयों पर राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित कोई विधि यदि उसी विषय पर संसद द्वारा निर्मित विधि के विरुद्ध हो, तो राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्भित विधि मान्य नहीं होगी। राज्य विधानमण्डल की कानून निर्माण की शक्ति पर निम्नलिखित प्रतिवन्ध भी हैं :

(i) **अनुच्छेद** 356 के अनुसार यदि राज्य में संवैधानिक तन्त्र भंग होने के कारण राष्ट्रपति शासन लागू किया गया है अथवा यदि अनुच्छेद 352 या 360 के अन्तर्गत भारत में संकटकाल लागू हो तो ऐसी स्थिति में संसद राज्य सूची के सभी विषयों पर कानून वना सकती है।

(ii) राज्यसभा यदि राज्य सूची के किसी विषय के सम्बन्ध में 2/3 बहुमत से ऐसा प्रस्ताव पास कर दे कि राष्ट्रीय हित में संसद को इस विषय पर कानून बनाना चाहिए, तो संसद ऐसा कर सकती है। (**अनुच्छेद** 249)

(iii) कुछ विधेयकों को राज्य विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत हो जाने पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त होना आवश्यक है। जव तक राष्ट्रपति इन्हें स्वीकृति न दे दे, तब तक ये कानून का रूप नहीं लेंगे। इनमें प्रमुखतया दो प्रकार के विधेयक आते हैं। **प्रथम**, जिनका सम्बन्ध राज्य द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने से हो। (**अनुच्छेद** 31क) **द्वितीय**, समवर्ती सूची के विषय पर बना हुआ ऐसा कानून जो इस विषय पर संसद द्वारा निर्मित कानून के विरोध में हो। (**अनुच्छेद** 254)

(iv) कुछ विधेयक राज्य विधानमण्डल में प्रस्तावित किए जाने के पूर्व उन पर राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होती है। ऐसे विधेयक वे हैं जिनका सम्बन्ध राज्य के भीतर या विभिन्न राज्यों के बीच व्यापार, वाणिज्य पर व आने-जाने की स्वतन्त्रता पर रोक लगाने से होता है। (**अनुच्छेद** 304)

(v) संघीय संसद अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और समझौतों का पालन करने के लिए भी राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बना सकती है।

साधारण विधेयक राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जा सकते हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति विधानसभा को ही प्राप्त है।

(2) वित्तीय शक्ति—विधानमण्डल, मुख्यतया विधानसभा, को राज्य के वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त होता है। आय-व्यय का वार्षिक लेखा (वजट) विधानसभा से स्वीकृत होने पर ही शासन के द्वारा आय-व्यय से

सम्बन्धित कोई कार्य किया जा सकता है। विधानमण्डल से विनियोग विधेयक पास होने पर ही सरकार संचित निधि से व्यय हेतु धन निकाल सकती है।

(3) प्रशासनिक शक्ति—संविधान द्वारा राज्यों के क्षेत्र में भी संसदात्मक व्यवस्था स्थापित किए जाने के कारण राज्य का मन्त्रिमण्डल अपनी नीति और कार्यों के लिए विधानमण्डल, विशेषतया विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। विधानसभा या विधानपरिषद के सदस्यों द्वारा मन्त्रियों से उनके विभागों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जा सकते हैं। मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध निन्दा या आलोचना का प्रस्ताव पास किया जा सकता है या कामरोको प्रस्ताव पास किया जा सकता है। इन सबके अतिरिक्त विधानसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास किया जा सकता है, जिसके कारण मन्त्रिमण्डल को पद त्याग करना होता है।

(4) संविधान के संशोधन की शक्ति—हमारे संविधान की कुछ धाराएं ऐसी हैं जिनमें संशोधन के लिए जरूरी है कि संसद द्वारा विशेष बहुमत के आधार पर पारित प्रस्ताव कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा स्वीकार किया जाए। इस प्रकार राज्य विधानमण्डल संविधान संशोधन के कार्य में भी भाग लेता है।

(5) निर्वाचन सम्बन्धी शक्ति—राज्य की विधानसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।

विधानसभा और विधानपरिषद की तुलना तथा दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध

विधानसभा और विधानपरिषद की तुलना तथा दोनों का पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(1) नामकरण के सम्बन्ध में—विधानमण्डल के दो अंग विधानसभा और विधानपरिषद हैं। विधानसभा विधानमण्डल का प्रथम तथा निम्न सदन है और विधानपरिषद द्वितीय अथवा उच्च सदन है।

(2) प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में—विधानसभा राज्य की समस्त जनता की प्रतिनिधि है, विधानपरिषद कुछ विशेष वर्गों की।

(3) सदस्य संख्या के सम्बन्ध में—किसी राज्य में विधानसभा के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक 500 और कम से कम 60 हो सकती है। विधानपरिषद के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक उस राज्य की विधानसभा के सदस्यों की संख्या की एक-तिहाई होती है, किन्तु वह संख्या 40 से कम किसी अवस्था में नहीं होगी।[1]

(4) निर्वाचन के सम्बन्ध में—विधानसभा में सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से और साधारण बहुमत की पद्धति के आधार पर होता है, परन्तु विधानपरिषद के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से और आनुपातिक प्रतिनिधित्व तथा एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के आधार पर होता है।

(5) कार्यकाल के सम्बन्ध में—साधारणतया विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष होता है, यद्यपि इस अवधि के पूर्व प्रधानमन्त्री के परामर्श पर राज्यपाल के द्वारा इसे भंग किया जा सकता है। इसके विपरीत, विधानपरिषद एक स्थायी सदन है, जिसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। इसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष बाद अवकाश ग्रहण कर लेते हैं और उनके स्थान पर उतने ही नए सदस्य निर्वाचित हो जाते हैं।

(6) पदाधिकारियों के सम्बन्ध में—विधानसभा के दो पदाधिकारी (अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष) हैं तथा विधानपरिषद के दो पदाधिकारी (सभापति तथा उपसभापति) हैं।

(7) कार्यपालिका पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में—राज्य की मन्त्रिपरिषद विधानसभा के ही प्रति उत्तरदायी होती है, विधानपरिषद के प्रति नहीं। विधानपरिषद केवल प्रश्न, पूरक प्रश्न तथा काम रोको प्रस्ताव उपस्थित कर मन्त्रिपरिषद के कार्यों की जांच तथा आलोचना ही कर सकती है। मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उसे पदच्युत करने का कार्य विधानसभा के द्वारा ही किया जा सकता है।

(8) कानून निर्माण के क्षेत्र में—यद्यपि साधारण विधेयक राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तावित किए जा सकते हैं तथा वे विधेयक दोनों सदनों से स्वीकृत होने चाहिए, परन्तु यदि विधानसभा द्वारा पारित होने के पश्चात् विधानपरिषद उसे अस्वीकृत कर दे या उसमें ऐसे संशोधन करे जो विधानसभा को स्वीकार्य नहीं हो या परिषद के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह तक उसे पारित न किया

1 जम्मू-कश्मीर राज्य इस प्रसंग में अपवाद है।

जाए, तो विधानसभा उस विधेयक को पुनः पारित करके विधानपरिषद् के पास भेजती है। अब यदि विधान परिषद् उस विधेयक को पुनः अस्वीकृत कर देती है या उसमें ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार्य नहीं होते अथवा विधेयक रखे जाने की तिथि से एक माह तक विधेयक पारित नहीं करती तो विधेयक विधानपरिषद द्वारा पारित किये जाने के विना ही दोनों सदनों से पारित समझा जाता है। इस प्रकार **विधानपरिषद किसी साधारण विधेयक को केवल चार माह तक रोक सकती है।** इस प्रकार अवित्तीय विषयों पर कानून निर्माण के सम्वन्ध में भी राज्यों में विधानपरिषद विधानसभा के समान नहीं, वरन् कम शक्तिशाली है।

(9) **वित्त के क्षेत्र में**—वित्त विधेयक विधानसभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं। विधानसभा से स्वीकृत होने पर जव कोई वित्त विधेयक परिषद को भेजा जाता है तथा परिषद 14 दिन के भीतर विधेयक संशोधनों सहित वापस कर देती है तो उन संशोधनों को स्वीकार करने या न करने का अधिकार विधानसभा का है। यदि परिषद 14 दिन के भीतर वित्त विधेयक नहीं लौटाती, तो विधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जाता है, अनुदान की मांगों पर मतदान भी केवल विधानसभा में ही होता है। इस दृष्टि से राज्यों में विधानपरिषद को वैसी ही स्थिति प्राप्त है जैसी स्थिति केन्द्र में राज्यसभा की है।

(10) संविधान संशोधन के क्षेत्र में—संविधान के कुछ विशेष प्रकार के उपवन्धों पर संशोधन की पुष्टि राज्य विधानमण्डल करता है और इस सम्वन्ध में विधानमण्डल के दोनों सदनों की शक्तियां समान हैं।

(11) राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्वन्ध में—राष्ट्रपति के निर्वाचन में भी केवल विधानसभा के सदस्य ही भाग लेते हैं, विधानपरिषद के सदस्य नहीं।

विधानसभा तथा विधानपरिषद की शक्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि विधानसभा विधानपरिषद की तुलना में अधिक शक्तिसम्पन्न है। डा. एम. पी. शर्मा के शब्दों में, **"जो समानता का ढोंग लोकसभा और राज्यसभा के बीच है, वह विधानसभा और विधानपरिषद के बीच नहीं।**[1] विधानसभा का अधिक शक्तिशाली होना स्वाभाविक भी है क्योंकि विधानसभा जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित है, विधानपरिषद अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित है।

प्रश्न

1. राज्य विधानसभा की रचना तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. राज्य विधानसभा और विधानपरिषद के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
3. विधानमण्डल के दोनों सदनों के आपसी सम्वन्धों पर प्रकाश डालिए। विधानपरिषद की क्या आवश्यकता है?
4. मध्य प्रदेश या छत्तीसगढ़ राज्य में राज्य विधानमण्डल के गठन और कार्यों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वर्तमान समय में भारतीय संघ के कितने राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका है :
   (अ) 3 राज्यों (ब) 5 राज्यों (स) 7 राज्यों (द) 9 राज्यों
2. निम्नलिखित में से किस राज्य में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका नहीं है?
   (अ) उत्तर प्रदेश (ब) महाराष्ट्र
   (स) राजस्थान (द) कर्नाटक
3. संविधान के अनुच्छेद 170 के अनुसार राज्य की विधानसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या हो सकती है :
   (अ) 200 (ब) 400 (स) 500 (द) 700
4. विधानसभा की सदस्यता के लिए व्यक्ति को निम्न में से कौन-सी योग्यता प्राप्त होनी चाहिए :
   (अ) वह भारत का नागरिक हो
   (ब) उसकी आयु कम से कम 35 वर्ष हो
   (स) भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए न हो
   (द) उपर्युक्त सभी योग्यताएं प्राप्त होनी चाहिए
5. राज्य विधानसभा का कार्यकाल कितने वर्ष है :
   (अ) 4 वर्ष (ब) 5 वर्ष (स) 6 वर्ष (द) 7 वर्ष

1 M. P. Sharma, *The Government of Indian Republic*, p. 255.

6. विधानपरिषद की सदस्यता के लिए आयु कितने वर्ष होनी चाहिए :
(अ) 21 वर्ष (ब) 25 वर्ष (स) 30 वर्ष (द) 35 वर्ष
7. प्रत्येक वर्ष में राज्य के विधानमण्डल के कम से कम कितने अधिवेशन अवश्य होते हैं :
(अ) एक (ब) दो
(स) तीन (द) चार
8. राज्य विधानमण्डल के अधिवेशन की अन्तिम बैठक और दूसरे अधिवेशन की पहली बैठक के बीच का समय कितनी अवधि से अधिक नहीं होना चाहिए ?
(अ) छः माह (ब) तीन माह
(स) एक वर्ष (द) दो वर्ष
9. किसी साधारण विधेयक को विधानपरिषद अधिकतम कितने समय तक रोक सकती है ?
(अ) दो माह (ब) चार माह
(स) छः माह (द) एक वर्ष
10. दिल्ली विधानसभा की सदस्य संख्या कितनी है ?
(अ) 60 (ब) 70 (स) 80 (द) 100
11. राज्य की विधानसभा का अध्यक्ष अपना त्यागपत्र किसे देता है :
(अ) राज्यपाल (ब) मुख्यमन्त्री
(स) उपाध्यक्ष (द) राष्ट्रपति
12. राज्य विधानसभाओं में स्थानों (सीटों) की संख्या कब तक यथावत रखने का निर्णय लिया गया है ?
(अ) 2010 ई. तक (ब) 2015 ई. तक
(स) 2025 ई. तक (द) 2026 ई. तक

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (स), 4. (द), 5. (ब), 6. (स), 7. (ब), 8. (अ), 9. (ब), 10. (ब), 11. (स), 12. (द)

13

संघीय ढांचा और केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

[FEDERAL STRUCTURE AND CENTRE-STATE RELATIONS]

भारत : राज्यों का संघ
(INDIA : UNION OF STATES)

एक देश के संविधान द्वारा क्षेत्र के आधार पर शक्तियों का जो विभाजन या केन्द्रीकरण किया जाता है, उस दृष्टि से दो प्रकार की शासन व्यवस्थाएं होती हैं : एकात्मक शासन और संघात्मक शासन। भारत क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से अत्यधिक विशाल और बहुत अधिक विविधताओं से परिपूर्ण देश है ऐसी स्थिति में भारत के लिए संघात्मक शासन व्यवस्था को ही अपनाना स्वाभाविक था और भारतीय संविधान के द्वारा ऐसा ही किया गया है। संविधान के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि "**भारत राज्यों का एक संघ होगा।**" लेकिन संविधान-निर्माता संघीय शासन को अपनाते हुए भी संघीय शासन की दुर्बलताओं से दूर रहने के लिए उत्सुक थे और इस कारण भारत के संघीय शासन में एकात्मक शासन के भी कुछ लक्षणों को अपना लिया गया है। वास्तव में, भारतीय संविधान में संघीय-शासन के लक्षण प्रमुख रूप से और एकात्मक शासन के लक्षण गौण रूप से विद्यमान हैं।

भारतीय संविधान में संघात्मक लक्षण

संघात्मक शासन के प्रमुख रूप से चार लक्षण कहे जा सकते हैं : **(1) संविधान की सर्वोच्चता, (2) संविधान के द्वारा शक्तियों का विभाजन, (3) लिखित और कठोर संविधान, (4) स्वतन्त्र उच्चतम न्यायालय।** भारतीय संविधान में संघात्मक शासन के ये सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान हैं।

(1) संविधान की सर्वोच्चता—यद्यपि भारतीय संविधान में संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की भांति यह घोषित नहीं किया गया है कि संविधान सर्वोच्च होगा, लेकिन फिर भी भारतीय संविधान इस देश का सर्वोच्च कानून है। इस संविधान की व्यवस्थाएं केन्द्रीय सरकार और सभी राज्य सरकारों पर बन्धनकारी हैं और किसी भी सरकार द्वारा इनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। संविधान की व्यवस्थाओं के विरुद्ध किसी प्रकार के कानून का निर्माण सम्भव नहीं है और भारत के राष्ट्रपति, राज्यपाल व अन्य प्रमुख पदाधिकारियों द्वारा संविधान के अनुसार कार्य करने की शपथ ली जाती है। संक्षेप में, इस देश में कोई भी शक्ति संविधान के ऊपर नहीं है।

(2) शक्तियों का विभाजन—विश्व के अन्य संघात्मक संविधान की तरह भारतीय संविधान द्वारा भी संघ और राज्यों के बीच शक्ति विभाजन किया गया है। संघीय सूची में 97 विषय हैं जिन पर संघीय शासन को क्षेत्राधिकार प्राप्त है। राज्य सूची के विषयों की संख्या 66 है। ये विषय सामान्य परिस्थितियों में राज्य सरकारों के अधिकार में हैं। समवर्ती सूची के विषयों की संख्या 47 है; जिन पर संघ तथा राज्य दोनों को क्षेत्राधिकार प्राप्त है। संघीय और राज्य सरकारों के बीच शक्ति विभाजन का उल्लेख भारतीय संविधान में अन्य किसी भी संघात्मक संविधान की तुलना में अधिक व्यापक रूप में किया गया है।

(3) लिखित और कठोर संविधान—भारतीय संविधान एक लिखित संविधान है और संविधान के संशोधन की दृष्टि से क़ठोर भी है, क्योंकि इस संविधान में साधारण कानून बनाने की पद्धति से भिन्न पद्धति के आधार पर ही परिवर्तन किया जा सकता है।

---

1 **"India that is Bharat, shall be a Union of States."** —*Article one*

(4) स्वतन्त्र उच्चतम न्यायालय—भारतीय संविधान के द्वारा संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए एक स्वतन्त्र उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था की गयी है। संविधान ने एक सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की स्थापना की है, जिन्हें संघीय संसद या राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा पारित किसी भी ऐसे कानून को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार प्राप्त है, जो संविधान की व्यवस्थाओं के विरुद्ध हों। न्यायालय की यह व्यवस्था संघात्मक शासन के पूर्णतया अनुकूल है।

संविधान की उपर्युक्त व्यवस्थाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान एक पूर्ण संघात्मक व्यवस्था की स्थापना करता है।

भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षण अथवा भारतीय संघ की विशेषताएं

भारत एक अत्यन्त विशाल और विविधतापूर्ण देश होने के कारण संविधान निर्माताओं के द्वारा भारत में संघात्मक शासन की स्थापना करना उपयुक्त समझा गया, लेकिन संविधान निर्माता भारतीय इतिहास के इस तथ्य से भी परिचित थे कि भारत में जब-जब केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गयी, तब-तब भारत की एकता भंग हो गयी, और उसे पराधीन होना पड़ा। संविधान-निर्माता यह नहीं चाहते थे कि इतिहास अपने आपको दोहराये। इसके अतिरिक्त, संविधान-निर्माता इस बात से भी परिचित थे कि वर्तमान समय के सभी संघात्मक राज्यों में विविध

भारतीय संघ के राज्य व संघीय क्षेत्र

भारतीय संघ में 2000 ई. में गठित तीन राज्यों (छत्तीसगढ़, उत्तरांचल और झारखण्ड सहित आज 28 राज्य और 7 संघ राज्य क्षेत्र हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार है :

भारत/राज्य	राजधानी	क्षेत्रफल (वर्ग किमी)	जनसंख्या (2001)
भारत	नई दिल्ली	32,87,263	1,02,87,37,436
राज्य			
आंध्र प्रदेश	हैदरावाद	2,75,045	7,62,10,007
असम	दिसपुर	78,438	2,66,55,528
उड़ीसा	भुवनेश्वर	1,55,707	3,68,04,660
उत्तर प्रदेश	लखनऊ	2,40,928	16,61,97,921
केरल	तिरुवनन्तपुरम्	38,863	3,18,41,374
गुजरात	गांधीनगर	1,96,024	5,06,71,017
जम्मू-कश्मीर	श्रीनगर	2,22,236	1,01,47,700
तमिलनाडु	चेन्नई	1,30,058	6,24,05,679
त्रिपुरा	अगरतल्ला	10,486	31,99,209
नगालैण्ड	कोहिमा	16,579	19,90,036
पंजाव	चण्डीगढ़	50,362	2,43,58,999
प. वंगाल	कोलकाता	88,752	8,01,76,197
विहार	पटना	94,163	8,29,98,509
मध्य प्रदेश	भोपाल	3,08,245	6,03,48,023
महाराष्ट्र	मुम्वई	3,07,713	9,68,78,627
मेघालय	शिलांग	22,429	23,18,882
मणिपुर	इम्फाल	22,327	21,66,788
राजस्थान	जयपुर	3,42,239	5,65,07,188
हरियाणा	चण्डीगढ़	44,212	2,11,44,564
हिमाचल प्रदेश	शिमला	55,673	60,77,900
कर्नाटक	बंगलौर	1,91,791	5,28,50,562
सिक्किम	गंगटोक	7,096	5,40,851
मिजोरम	एजल	21,087	8,88,573
अरुणाचल प्रदेश	ईटानगर	83,743	10,97,968
गोवा	पणजी	3,702	13,47,668
छत्तीसगढ़	रायपुर	1,35,191	2,08,33,803
झारखण्ड	रांची	79,714	2,69,45,429
उत्तरांचल	देहरादून	53,484	84,89,349
केन्द्र शासित प्रदेश			
अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह	पोर्टब्लेयर	8,249	3,56,152
चण्डीगढ़	चण्डीगढ़	114	9,00,635
दिल्ली	दिल्ली	1,483	1,38,50,507
दमन दीव	दमन	112	1,58,204
दादरा और नागर हवेली	सिलवासा	491	2,20,490
पाण्डिचेरी	पाण्डिचेरी	479	9,74,345
लक्षद्वीप	कावारत्ती	32	60,650

उपायों से केन्द्रीय सत्ता को पहले से अधिक शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अतः संघात्मक व्यवस्था को अपनाते हुए भी संविधान निर्माताओं ने केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाना उचित समझा। अतः भारतीय संविधान द्वारा स्थापित संघात्मक व्यवस्था में अनेक एकात्मक लक्षणों को भी यथास्थान देखा जा सकता है। संविधान के ये एकात्मक लक्षण या भारतीय संघ की विशेषताएं प्रमुख रूप से निम्नलिखित हैं :

(1) शक्ति विभाजन केन्द्र के पक्ष में—भारतीय संविधान द्वारा संघ और राज्यों के बीच शक्ति विभाजन किया गया है, लेकिन शक्ति विभाजन की इस सम्पूर्ण योजना में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बहुत अधिक प्रबल है। इस शक्ति विभाजन का रूप है : केन्द्रीय सूची में 97 विषय, राज्य सूची में 66 विषय और समवर्ती सूची में 47 विषय। समवर्ती सूची के विषयों पर संघ और राज्य दोनों को ही कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त है, लेकिन इन दोनों द्वारा निर्मित कानून में पारस्परिक विरोध की स्थिति में संघीय सरकार के कानून ही मान्य होंगे। इस प्रकार संघीय सरकार को राज्य सरकारों की तुलना में बहुत अधिक शक्तियां प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त सुरक्षा, जल-थल और वायु शक्ति, रेलवे, मुद्रा और वैदेशिक सम्बन्ध, आदि सभी महत्वपूर्ण विषय अकेली संघीय सरकार के अधिकार में हैं और कनाडा के संघ की तरह अवशेष शक्तियां भी केन्द्रीय सरकार को प्राप्त हैं। इन सब बातों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संविधान द्वारा किया गया शक्ति विभाजन निश्चित रूप से केन्द्रीय सरकार के पक्ष में है।

(2) इकहरी नागरिकता—संघात्मक शासन में साधारणतया संघ की नागरिकता के साथ-साथ राज्यों की नागरिकता की भी व्यवस्था की जाती है, किन्तु भारतीय संविधान दोहरी नागरिकता की इस शर्त को पूरा नहीं करता। भारत में संयुक्त राज्य अमरीका, आदि राज्यों की तरह दोहरी नागरिकता नहीं, वरन् एक ही भारतीय नागरिकता की व्यवस्था है। इकहरी नागरिकता की यह व्यवस्था भारत की एकता को बनाये रखने की दृष्टि से उचित होते हुए भी उसे संघात्मक शासन के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं कहा जा सकता।

(3) संघ और राज्यों के लिए एक ही संविधान—साधारणतया संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्यों के संविधान संघ के संविधान से पृथक् होते हैं, लेकिन भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघ के संविधान के साथ-साथ राज्यों के संविधान भी सम्मिलित हैं। भारतीय संघ की इकाइयों को अमरीकी संघ की इकाइयों की तरह अपने अलग-अलग संविधान के निर्माण का अधिकार नहीं है।

(4) एकीकृत न्याय-व्यवस्था—संघात्मक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण लक्षण संघीय और राज्य के कानूनों को लागू करने के लिए दोहरी न्याय-व्यवस्था है। लेकिन भारतीय संघ में अमरीका या आस्ट्रेलिया के संघ की तरह दोहरी न्याय-व्यवस्था का प्रबन्ध करने के स्थान पर न्यायपालिका को बहुत अधिक सीमा तक एकीकृत कर दिया गया है। राज्यों के उच्च न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय की ही शाखाएं हैं, सर्वोच्च न्यायालय को उन उच्च न्यायालयों पर व्यापक क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया है और उच्च न्यायालयों का निर्माण तथा गठन संघीय सत्ता के द्वारा ही किया जाता है। देहली स्थित सर्वोच्च न्यायालय देश की सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था के शिखर पर स्थित है और यह केवल एक संघीय न्यायालय ही नहीं, वरन् सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय भी है।

(5) संसद राज्यों की सीमाओं के परिवर्तन में समर्थ—अमरीका या आस्ट्रेलिया के संघ राज्य की सीमाओं में उनकी सहमति के विना परिवर्तन नहीं किया जा सकता और इसे संघात्मक व्यवस्था का एक आवश्यक सिद्धान्त समझा जाता है, किन्तु भारतीय संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि उसके द्वारा वर्तमान राज्यों के क्षेत्र में कमी या वृद्धि की जा सकती है, राज्यों के नामों में परिवर्तन किया जा सकता है अथवा दो या अधिक राज्यों को मिलाकर किसी नवीन राज्य का निर्माण किया जा सकता है।

(6) भारतीय संविधान संकटकाल में एकात्मक—भारतीय संविधान में एकात्मकता का यह एक ऐसा लक्षण है, जो साधारणतया अन्य किसी भी संघात्मक व्यवस्था में नहीं मिलता। संघात्मक व्यवस्थाएं शान्तिकाल और संकटकाल दोनों में ही संघात्मक बनी रहती हैं, लेकिन भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि सामान्य काल में तो यह संघात्मक बना रहेगा, लेकिन संकट के समय इसे बिना किसी प्रकार के औपचारिक संशोधन के एकात्मक व्यवस्था का रूप दिया जा सकता है। संकटकाल की घोषणा के क्रियाशील रहने के समय संघीय संसद के द्वारा राज्य सूची के विषयों पर भी कानूनों का निर्माण किया जा सकेगा और संघीय शासन के

द्वारा राज्य सरकारों को उनके निश्चित क्षेत्र में भी आवश्यक निर्देश दिये जा सकेंगे। इस प्रकार संकटकाल में राज्यों की स्वतन्त्रता का पूर्णतया अन्त हो जायेगा।

(7) सामान्य काल में भी संघ की असाधारण शक्तियां—भारतीय संविधान संकटकाल में तो एकात्मक हो ही जाता है, संविधान के द्वारा सामान्य काल में भी संघीय सरकार को असाधारण शक्तियां प्रदान की गयी हैं। **अनुच्छेद** 249 के अनुसार राज्य सभा दो-तिहाई वहुमत से प्रस्ताव पास करके राष्ट्रीय हित में अल्पकाल के लिए संघीय संसद को राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार दे सकती है। **अनुच्छेद** 250 के अनुसार संघीय संसद को इस प्रकार का अधिकार दो या अधिक राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा प्रस्ताव पास करके भी दिया जा सकता है, इसके अतिरिक्त किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते के पालन के लिए भी संघ के द्वारा राज्य सूची के विषयों पर विधि निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार संघ को सामान्य काल में ही राज्य सूची के विषयों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त है जो निश्चित रूप से एकात्मक शासन व्यवस्था का ही एक लक्षण है।

(8) मूलभूत विषयों में एकरूपता—सामान्यतया संघात्मक राज्यों में दोहरा कानूनी प्रशासन तथा दोहरी न्यायिक व्यवस्था होती है, किन्तु भारत में उन समस्त मूलभूत विषयों के सम्बन्ध में जो राष्ट्र की एकता वनाये रखने के लिए आवश्यक है, एकरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से तीन उपाय बताये गये हैं : (क) **न्यायपालिका का एकीकृत ढांचा**, (ख) **सारे देश में फौजदारी और दीवानी कानूनों में समानता**, (ग) संघ और विभिन्न राज्यों के प्रमुख पदों के लिए **सामान्य अखिल भारतीय सेवाएं**।

इसी प्रकार सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही चुनाव आयोग तथा वित्तीय प्रशासन के लिए एक ही 'नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक' के पद की व्यवस्था है।

(9) राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा—संयुक्त राज्य अमरीका में प्रत्येक राज्य के गवर्नर का चुनाव राज्य की जनता के द्वारा किया जाता है, लेकिन भारत में राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और राज्यपाल बहुत कुछ सीमा तक राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में ही कार्य करता है। राज्यपाल की नियुक्ति और कार्य की यह विधि संघात्मक सिद्धान्तों के विरुद्ध ही है।

(10) राज्य सभा में इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व नहीं—संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया और अन्य संघात्मक राज्यों में संघ की छोटी-बड़ी सभी इकाइयों को संघीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, लेकिन भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य सभा में इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया है। भारतीय संविधान में इकाइयों की समान स्थिति को स्वीकार न किये जाने के कारण भी इसे संघात्मक व्यवस्था के अनुरूप नहीं कहा जा सकता है।

(11) आर्थिक दृष्टि से राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता—राज्य वित्तीय दृष्टि से आत्मनिर्भर होने के स्थान पर केन्द्र पर निर्भर है। केन्द्र के द्वारा राज्यों को विभिन्न प्रकार के अनुदान, आदि दिये जाते हैं और आर्थिक सहायता के कारण केन्द्र राज्यों पर छाया रहता है। वित्तीय क्षेत्र में आत्मनिर्भर न होने के कारण राज्यों की स्वतन्त्रता नाममात्र की ही है।

(12) संविधान के संशोधन में संघ को अधिक शक्ति प्राप्त होना—संविधान के संशोधन से सम्बन्धित उपबन्ध भी राज्य सरकारों पर संघ की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर बल देते हैं। संविधान के अनेक उपबन्धों को तो संघीय संसद के द्वारा साधारण कानूनों के निर्माण की प्रक्रिया से ही संशोधित किया जा सकता है और दूसरे कुछ महत्वपूर्ण उपबन्धों को अकेली संघीय संसद के दोनों सदनों द्वारा अपने दो-तिहाई बहुमत से संशोधित किया जा सकता है। संविधान के केवल कुछ ही ऐसे उपबन्ध हैं, जिनके संशोधन के लिए समस्त राज्यों में से आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति भी आवश्यक होती है। राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा संविधान में संशोधन का कोई विधेयक प्रस्तावित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अन्य किसी भी संघ के राज्यों की तुलना में भारतीय संघ के राज्यों को संवैधानिक संशोधन की बहुत कम शक्ति प्राप्त है।

(13) भारतीय संघ में संघीय क्षेत्र—भारतीय संघ में दो प्रकार की इकाइयां हैं—(1) राज्य और (2) संघीय क्षेत्र। वर्तमान समय में 7 संघीय क्षेत्र हैं। संघ के राज्यों को तो राज्य सूची के विषयों पर लगभग पूर्ण अधिकार प्राप्त है, किन्तु संघीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में केन्द्र को नियन्त्रण की प्रभावशाली शक्तियां प्राप्त हैं। संसद को इन क्षेत्रों के सम्बन्ध के कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त है और इन क्षेत्रों का प्रशासन राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त

प्रशासक द्वारा करता है। इन संघीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में डा. महादेव शर्मा ठीक ही लिखते हैं कि **"वास्तव में इन प्रदेशों का केन्द्र के साथ वही सम्बन्ध है जो किसी एकात्मक राज्य के उपखण्डों का उसकी केन्द्रीय सरकार के साथ होता है।"**

(14) **योजना आयोग**—उपर्युक्त संवैधानिक तत्वों के अलावा संविधान के बाहर एक तत्व 'योजना आयोग' ने बहुत अधिक केन्द्रवादी तत्व के रूप में कार्य किया है। योजना आयोग ने केन्द्रीय सूची और राज्य सूची के विभिन्न विषयों पर योजनाओं का निर्माण करते हुए राज्य सरकारों के कार्य-संचालन पर बहुत अधिक नियन्त्रण रखा है और कुछ सीमा तक राज्य सरकारें एक एकात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय प्रशासन की इकाइयां बनकर रह गयी हैं। के.बी. राव इस स्थिति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि **"केन्द्र ही योजना बनाता है, केन्द्र ही निर्णय लेता है, केन्द्र ही निर्देश देता है और राज्य योजना आयोग के द्वार पर दान के लिए प्रतीक्षा करने के अलावा और कोई सकारात्मक कार्य करने के योग्य नहीं है।"**

इस प्रकार यद्यपि भारतीय संविधान में संघीय शासन के सभी लक्षण मिलते हैं फिर भी अनेक दृष्टियों से यह संघीय सिद्धान्तों से भिन्न है और एकात्मक व्यवस्था की स्थापना करता है। अनेक विचारकों द्वारा इस प्रकार का मत व्यक्त किया गया है कि भारतीय संविधान केवल देखने में संघीय है, वास्तव में यह एकात्मक है। प्रो. ह्वीयर (Wheare) का मत है कि **"भारतीय संविधान एक ऐसी शासन प्रणाली की स्थापना करता है, जो अधिक से अधिक अर्द्ध-संघीय है। यह एक ऐसे एकात्मक राज्य की स्थापना करता है, जिसमें संघात्मक शासन के तत्व गौण रूप से हों।"** डा. कृष्ण पी. मुखर्जी का मत है कि **"भारतीय संविधान असंघीय अथवा एकात्मक है।"**[1] श्री दुर्गादास बसु का मत है कि **"भारतीय संविधान न तो नितान्त संघात्मक है और न ही एकात्मक—वरन् यह दोनों का मिश्रण है।"** भारत की संघात्मक व्यवस्था में एकात्मक व्यवस्था के इन लक्षणों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जाता है कि, **'भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक, लेकिन आत्मा एकात्मक है।'**

वास्तव में, "उपर्युक्त विचारकों द्वारा भारतीय संविधान के संघात्मक स्वरूप की जो आलोचनाएं की गयी हैं वे उचित नहीं हैं, यद्यपि संविधान में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज्यों का अपना कोई अस्तित्व नहीं है या उनका स्थान शासन पद्धति में केवल नगरपालिकाओं के समान है। संविधान द्वारा राज्यों के अस्तित्व को उचित सम्मान प्रदान किया गया है। राज्यों का अपना कार्यक्षेत्र है; जिसमें वे सामान्यतया स्वतन्त्र और सर्वोच्च हैं। इसी कारण डा. **अम्बेडकर** ने संविधान-निर्मात्री सभा में कहा था, **"इस आधार पर बड़ा गम्भीर दोषारोपण किया गया है कि केन्द्रीकरण की मात्रा बहुत अधिक हो गयी है और राज्यों का स्थान नगर महापालिकाओं के समान कर दिया गया है। स्पष्ट ही है कि यह विचारधारा न केवल एक अतिशयोक्ति अपितु यह संविधान के लक्ष्य के प्रतिकूल एक भ्रमपूर्ण धारणा पर आधारित है।"**

वास्तविक स्थिति यह है कि भारतीय संविधान में संघात्मक शासन व्यवस्था के सिद्धान्त का पूर्ण पालन नहीं किया है और इसमें एकात्मक शासन के कुछ लक्षण विद्यमान हैं, लेकिन इस कारण से भारतीय संविधान को एकात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना करने वाला संविधान नहीं कहा जा सकता है। संविधान का निर्माण करते समय संविधान-निर्माताओं के मस्तिष्क में सदा ही दो उच्चतम आदर्श रहे : **राष्ट्रीय हित और देश की एकता।** इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए ही संविधान द्वारा स्थापित संघात्मक व्यवस्था में एकात्मक शासन के लक्षणों को अपना लिया गया है। संविधान निर्माण के समय में जो विघटनकारी प्रवृत्तियां विद्यमान थीं, उन्होंने संविधान-निर्माताओं को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे भारत की एकता को बनाये रखने के लिए आवश्यक प्रबन्ध कर लें। वस्तुतः अमरीका में संघात्मक व्यवस्था को अपनाने के बाद से ही संघात्मक व्यवस्था की कुछ कमजोरियां प्रकाश में आयी हैं और भारतीय संविधान में कुछ एकात्मक लक्षणों को अपनाकर इन कमजोरियों को ही दूर करने का प्रयास किया गया है, अतः भारतीय संविधान-निर्माताओं, द्वारा एकात्मकता के इन लक्षणों को अपनाकर संघात्मकता को नष्ट नहीं किया गया है, वरन् संविधान की संघात्मकता के साथ व्यावहारिकता का समन्वय किया गया है। संविधान में कुछ एकात्मक लक्षण अवश्य हैं, लेकिन ये एकात्मक लक्षण गौण रूप में हैं और संविधान मूल रूप में संघात्मक है। **श्री सन्थानम** का विचार ठीक ही है कि **"भारतीय संविधान में संघात्मक लक्षण इतने अधिक प्रमुख रूप में विद्यमान हैं कि यह एक वास्तविक संघात्मक संविधान है।"**

1 *Indian Journal of Political Science*, **July-Sept., 1953, Vol. XII, p. 172.**

संघ व राज्यों में सम्बन्ध

संविधान के द्वारा भारत में एक संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है और संघात्मकता के अनुकूल संघ और इकाइयों के बीच शक्ति का विभाजन किया गया है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघ और राज्यों के पारस्परिक सम्वन्धों का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है : **विधायी सम्वन्ध, प्रशासकीय सम्वन्ध**, और **वित्तीय सम्वन्ध।**

विधायी सम्बन्ध (Legislative Relation)

संघ व राज्यों के विधायी सम्वन्धों का संचालन उन तीनों सूचियों के आधार पर होता है, जिन्हें संघीय सूची (Union list), राज्य सूची (State list) व समवर्ती सूची (Concurrent list) का नाम दिया गया है।

संघीय सूची—इस सूची में राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषयों को रखा गया है, जिनके सम्वन्ध में सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार की नीति का अनुकरण आवश्यक कहा जा सकता है। इस सूची के सभी विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार संघीय संसद को प्राप्त है। इस सूची में कुल 97 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं : रक्षा, वैदेशिक मामले, युद्ध व सन्धि, देशीयकरण और नागरिकता, विदेशियों का आना-जाना, रेल, बन्दरगाह, हवाई मार्ग, डाक, तार, टेलीफोन व वेतार, मुद्रा निर्माण, वैंकिंग, बीमा, खानें व खनिज, आदि।

राज्य सूची—इस सूची में साधारणतया वे विषय रखे गये हैं जो क्षेत्रीय महत्व के हैं। इस सूची के विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार सामान्यतया राज्यों की व्यवस्थापिका को प्राप्त है। इस सूची में 66 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख विषय हैं: पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई और सड़कें, आदि।

समवर्ती सूची—मूल संविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों (राज्य सरकारों) के बीच जो शक्ति विभाजन किया गया, उसमें 42वें संवैधानिक संशोधन, 1976 द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा राज्य सूची के चार विषय (शिक्षा, वन, वन्य जीव-जन्तुओं और पक्षियों का रक्षण और नाप-तौल) समवर्ती सूची में कर दिए गए और समवर्ती सूची में एक नवीन विषय 20क **'जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन'** जोड़ा गया है।

42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा की गई इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप गणना की दृष्टि से राज्य सूची के विषयों की संख्या घटकर 62 रह गई है और समवर्ती सूची के विषयों की संख्या बढ़कर 52 हो गई है। लेकिन यह स्थिति मात्र गणना की दृष्टि से है, संविधान के अध्ययन के अन्तर्गत गणना की तुलना में अधिक महत्व संवैधानिक दृष्टि का होता है। संवैधानिक दृष्टि से आज भी संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची के विषयों की संख्या क्रमशः 97, 66 और 47 ही वनी हुई है। समवर्ती सूची में जो विषय बढ़ाए गए हैं, उनका उल्लेख संविधान के संशोधित अधिकृत पाठ में इस प्रकार है : 17क वन, 17ख वन्य जीव-जन्तुओं और पक्षियों का संरक्षण, 20क जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन, 25क शिक्षा, 33क बाट और नाप-तौल। इसी प्रकार राज्य सूची के विषय क्रमांक 19, 20, 29 और 36 निकाल दिए गए हैं, लेकिन इससे राज्य सूची के विषयों की क्रम संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। भारत सरकार के विधि और न्याय विभाग द्वारा प्रकाशित संविधान के संशोधित नवीनतम अधिकृत पाठ (प्रकाशन वर्ष, 1996) में संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची के विषयों की संख्या क्रमशः 97, 66 और 47 ही बतलाई गई है **और यही सही स्थिति है।**

इस सूची में साधारणतः वे विषय रखे गए, जिनका महत्व संघीय और क्षेत्रीय दोनों ही दृष्टियों से है। इस सूची के विषय में संघ तथा राज्य दोनों को ही विधियां बनाने का अधिकार प्राप्त है। यदि इस सूची के किसी विषय पर संघीय तथा राज्य सरकार द्वारा निर्मित कानून परस्पर विरोधी हों तो सामान्यतः संघ का कानून मान्य होगा। इस सूची में 47 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं : फौजदारी विधि तथा प्रक्रिया, निवारक निरोधक, विवाह और विवाह-विच्छेद, दत्तक और उत्तराधिकार, कारखाने, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, आर्थिक और सामाजिक योजना, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, पुनर्वास और पुरातत्व, जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन, शिक्षा और वन, आदि।

संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैण्ड और आस्ट्रेलिया में अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण का अधिकार इकाइयों को प्रदान किया गया है, लेकिन भारतीय संघ में कनाडा के संघ की तरह अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति संघीय सरकार को प्रदान की गयी है।

संसद को राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति—सामान्यतया संविधान द्वारा किये गये इस शक्ति-विभाजन का उल्लंघन किसी भी सत्ता द्वारा नहीं किया जा सकता। संसद द्वारा राज्य सूची के विषय पर और किसी राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा केन्द्रीय सूची के किसी विषय पर निर्मित कानून अवैध होगा, लेकिन राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से संसद के द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषय पर भी कानून निर्माण किया जा सकता है। ये विशेष परिस्थितियां इस प्रकार हैं :

(1) राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व का घोषित होने पर—संविधान के अनुच्छेद 249 के अनुसार यदि राज्य सभा अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है कि राज्य सूची का कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का है तो संसद को उस विषय पर विधि बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(2) दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा इच्छा प्रकट करने पर (अनुच्छेद 252)—यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास कर इच्छा व्यक्त करते हैं कि राज्य सूची के किन्हीं विषयों पर संसद द्वारा कानून निर्माण किया जाय, तो उन राज्यों के लिए उन समस्त विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उन राज्यों के विधानमण्डल न तो इन कानूनों में संशोधन कर सकते हैं और न इन्हें पूर्ण रूप से समाप्त कर सकते हैं।

(3) संकटकालीन घोषणा लागू होने पर (अनुच्छेद 250)—संकटकालीन घोषणा की स्थिति में राज्य की समस्त विधायी शक्तियों पर भारतीय संसद का अधिकार हो जाता है। इस घोषणा की समाप्ति के 6 माह बाद तक संसद द्वारा निर्मित नियम पूर्ववत् चलते रहेंगे।

(4) विदेशी राज्यों से हुई सन्धि के पालन हेतु (अनुच्छेद 253)—यदि संघ सरकार ने विदेशी राज्यों से कोई सन्धि की है तो इस सन्धि के पालन हेतु संघ सरकार को सम्पूर्ण भारत की सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी विषय पर नियम निर्माण का अधिकार होगा।

(5) राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर (अनुच्छेद 356)—यदि किसी राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाय या संवैधानिक तन्त्र विफल हो जाय तो राष्ट्रपति राज्य विधानमण्डल के समस्त अधिकार संसद को प्रदान कर सकता है।

(6) राज्यपाल द्वारा विधेयक रक्षित करना—राज्य के राज्यपाल को यह शक्ति प्राप्त है कि वह राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित कर सकता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति अपने विवेक के अनुसार विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार करेंगे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संविधान द्वारा साधारणतया संघ तथा राज्य सरकारों को अलग-अलग विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति प्रदान की गयी है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में संघ सरकार द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण किया जा सकता है।

प्रशासनिक सम्बन्ध (Administrative Relations)

श्री दुर्गादास बसु के शब्दों में, **"संघीय व्यवस्था की सफलता और दृढ़ता संघ की विविध सरकारों के बीच अधिकाधिक सहयोग तथा समन्वय पर निर्भर करती है।"** भारतीय संविधान निर्माता इस तथ्य से परिचित थे। इसी कारण प्रशासनिक सम्बन्धों की व्यवस्था करते हुए जहां राज्यों को अपने-अपने क्षेत्र में सामान्यतः स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है, वहां इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि राज्यों के प्रशासनिक तन्त्र पर संघ का नियन्त्रण बना रहे और संघ तथा राज्यों के बीच संघर्ष की सम्भावना कम से कम हो जाय। राज्य सरकारों पर संघीय शासन के नियन्त्रण की व्यवस्था निम्नलिखित उपायों के आधार पर की गयी है :

(1) राज्य सरकारों को निर्देश—केन्द्र द्वारा राज्यों को निर्देश सामान्यतया संघीय व्यवस्था के अनुकूल नहीं समझे जाते हैं, लेकिन भारतीय संघ में केन्द्र द्वारा राज्य सरकारों को निर्देश देने की व्यवस्था की गयी है। संविधान के **अनुच्छेद 256** में स्पष्ट कहा गया है कि **"प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस**

प्रकार होगा कि संसद द्वारा निर्मित कानूनों का पालन सुनिश्चित रहे तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा, जो उस प्रयोजन के लिए भारत सरकार को आवश्यक दिखाई दे।''

अनुच्छेद 257 में कहा गया है कि ''प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होना चाहिए कि संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में बाधा या प्रतिकूल प्रभाव न पड़े तथा इस सम्बन्ध में संघ की कार्यपालिका द्वारा राज्य को निर्देश दिये जा सकेंगे।''

(2) राज्य सरकारों को संघीय कार्य सौंपना (अनुच्छेद 258)—संघीय सरकार राज्य सरकारों को कोई भी कार्य सौंप सकती है। यदि राज्यों की सरकार या उसके अधिकारी उसे पूरा न करें, तो राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर राज्य का शासन अपने हाथ में ले ले।

(3) अखिल भारतीय सेवाएं (अनुच्छेद 312)—संविधान संघ तथा राज्य सरकारों के लिए अलग-अलग सेवाओं की व्यवस्था करता है, लेकिन कुछ ऐसी सेवाओं की भी व्यवस्था है जो संघ तथा राज्य सरकारें दोनों के लिए सामान्य हैं। इन्हें अखिल भारतीय सेवाएं कहते हैं और इन सेवाओं के अधिकारियों पर संघीय सरकार का विशेष नियन्त्रण रहता है।

(4) सहायता अनुदान (अनुच्छेद 275)—संघीय शासन राज्यों को आवश्यकतानुसार सहायता व अनुदान भी दे सकता है। अनुदान देते समय संघ राज्यों पर कुछ शर्तें लगाकर उनके व्यय को भी नियन्त्रित कर सकता है।

(5) अन्तर्राज्यीय नदियों पर नियन्त्रण (अनुच्छेद 262)—संसद को अधिकार है कि वह विधि द्वारा किसी अन्तर्राज्यीय नदी अथवा इसके जल के प्रयोग, वितरण या नियन्त्रण के सम्बन्ध में व्यवस्था करे।

(6) अन्तर्राज्यिक परिषद (अनुच्छेद 263)—विभिन्न राज्यों के पारस्परिक विवादों की जांच करने और लोकहित की रक्षा की दृष्टि से उनके सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए राष्ट्रपति **'अन्तर राज्य परिषद'** (Interstate Councils) की स्थापना कर सकता है।

(7) संचार साधनों की रक्षा—समस्त भारतीय संघ के संचार साधनों की रक्षा का भार भी संघीय सरकार पर ही है। संघ सरकार राज्यों के अन्तर्गत हवाई अड्डों, रेलों तथा राष्ट्रीय महत्व के आवागमन और संचार साधनों की रक्षा के लिए राज्य सरकारों को आवश्यक आदेश दे सकती है, जिनका पालन राज्य सरकारों के लिए आवश्यक है। इन आदेशों के पालन में राज्य सरकारों को जो अतिरिक्त खर्च उठाना पड़ेगा, वह संघ सरकार राज्य सरकार को देगी।

(8) राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति—इन सबके अतिरिक्त राज्य सरकारों पर संघीय शासन के नियन्त्रण का एक प्रमुख उपाय यह है कि प्रधानमन्त्री के परामर्श से राष्ट्रपति राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति करता है जो वहां राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं।

(9) मुख्यमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों के विरुद्ध आरोपों की जांच—यदि किसी राज्य के मुख्यमन्त्री या अन्य मन्त्रियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार या अन्य किसी प्रकार के आरोप लगाये जाते हैं, तो इस प्रकार का आरोप-पत्र कार्यवाही के लिए राष्ट्रपति को दिया जाता है और केन्द्रीय सरकार को ही इस बात के सम्बन्ध में निर्णय लेने का अधिकार है कि इन आरोपों की न्यायिक जांच करवानी चाहिए अथवा नहीं। आरोप सिद्ध हो जाने पर केन्द्रीय सरकार सम्बन्धित मन्त्रियों को पद छोड़ने के लिए कह सकती है। पंजाब के मुख्यमन्त्री कैरो और उड़ीसा के मुख्यमन्त्री वीरेन मित्रा को न्यायिक जांच में दोषी पाये जाने पर ही त्यागपत्र देना पड़ा था।

(10) राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करना—इन सबके अलावा संविधान के अनुच्छेद 356 में कहा गया है कि यदि किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र भंग हो जाता है तो राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या अपने विवेक से राष्ट्रपति द्वारा उस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। राज्य में संवैधानिक तन्त्र भंग हुआ है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में निर्णय लेने की शक्ति राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय शासन को ही प्राप्त है और राष्ट्रपति शासन की यह बड़ी छड़ी राज्यों को केन्द्र के सभी निर्देश मानने के लिए बाध्य करती है।

इस प्रकार प्रशासनिक क्षेत्र में राज्यों पर भारत सरकार का प्रभावदायक नियन्त्रण है, लेकिन इसके साथ यह नहीं भुला दिया जाना चाहिए कि ये प्रावधान बहुत अधिक सावधानीपूर्वक और संकटकाल में ही उपयोग के लिए हैं। सामान्यतया राज्य को कानून निर्माण और प्रशासन के सम्बन्ध में अपने निश्चित क्षेत्र में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होगी।

वित्तीय सम्बन्ध (Financial Relations)

वित्तीय क्षेत्र में भी संविधान के द्वारा संघ व राज्य सरकारों के क्षेत्र अलग-अलग कर दिये गये हैं तथा दोनों ही सरकारें सामान्यतया अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करती हैं। इस सम्बन्ध में संविधान द्वारा की गयी व्यवस्था निम्न प्रकार है :

संघीय आय के साधन—संघीय सरकार को आय के अतिरिक्त साधन प्राप्त हैं। इन साधनों में कृषि आय को छोड़कर अन्य आय कर, सीमा-शुल्क, निर्यात-शुल्क, उत्पादन शुल्क, निगम कर, कम्पनियों के मूल धन पर कर, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति शुल्क, आदि प्रमुख हैं।

राज्यों की आय के साधन—वित्त के क्षेत्र में राज्य सरकार की आय के साधन भी अलग कर दिये गये हैं। उनमें भू-राजस्व, कृषि आय-कर, कृषि भूमि का उत्तराधिकार शुल्क व सम्पत्ति शुल्क, मादक वस्तुओं पर उत्पादन कर, बिक्री कर, यात्री कर, दस्तावेज, आदि प्रमुख हैं।[1]

व्यय की प्रमुख मदें—संघीय शासन के व्यय की मदें सेना, परराष्ट्र सम्बन्ध, आदि हैं, जबकि राज्य शासन के व्यय की प्रमुख मदें पुलिस, कारावास, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शासन, आदि हैं।

राज्यों को वित्तीय सहायता—क्योंकि राज्य की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपयुक्त साधन पर्याप्त नहीं समझे गये, इसीलिए संघीय शासन द्वारा राज्यों को वित्तीय सहायता की व्यवस्था की गयी है, जो निम्न प्रकार है :

पहले प्रकार के कर ऐसे हैं जो केन्द्र द्वारा लगाये व वसूल किये जाते हैं, पर जिनकी सम्पूर्ण आय राज्यों को बांट दी जाती है। इस प्रकार के करों में प्रमुख रूप से उत्तराधिकार कर, सम्पत्ति कर, समाचार-पत्र कर, आदि आते हैं।

दूसरे प्रकार के कर वे हैं जो केन्द्र निर्धारित करता, किन्तु राज्य एकत्रित करते और अपने उपयोग में लाते हैं। स्टाम्प शुल्क एक ऐसा ही कर है। केन्द्रशासित क्षेत्रों में इन करों की वसूली केन्द्रीय सरकार करती है।

तीसरे प्रकार के कर वे हैं जो केन्द्र द्वारा लगाये व वसूल किये जाते हैं पर जिनकी शुद्ध आय संघ व राज्यों के बीच वांट दी जाती है, कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर प्रमुख रूप से इसी प्रकार का कर है।

राज्यों को अनुदान—संविधान के **अनुच्छेद** 275 के अनुसार जिन राज्यों को संसद विधि द्वारा अनुदान देना निश्चित करे, उन राज्यों को अनुदान दिया जायेगा। ये अनुदान पिछड़े हुए वर्गों को ऊंचा उठाने और अन्य विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए दिये जायेंगे।

सार्वजनिक ऋण प्राप्ति की व्यवस्था—संघीय सरकार अपनी संचित निधि की जमानत पर संसद की आज्ञानुसार ऋण ले सकती है। राज्यों की सरकारें भी विधानमण्डल द्वारा निर्धारित सीमा तक ऋण ले सकती हैं। संघीय सरकार विदेशों से भी ऋण ले सकती है, किन्तु राज्य सरकारें ऐसा नहीं कर सकतीं।

वित्त आयोग—संविधान के **अनुच्छेद** 280 में व्यवस्था की गयी है कि प्रति 5 वर्ष बाद राष्ट्रपति एक वित्त आयोग की स्थापना करेगा। इस आयोग के द्वारा संघ और राज्य सरकारों के बीच करों के वितरण, भारत की संचित निधि में धन के व्यय तथा वित्तीय व्यवस्था से सम्बन्धित अन्य विषयों पर सिफारिश करने का कार्य किया जायगा।

छठे, सातवें, आठवें, नवें और दसवें वित्त आयोग की रिपोर्ट तथा राज्यों की वित्तीय स्थिति में निरन्तर सुधार के प्रयत्न—राज्य सरकारें 1967 से ही अपने लिए अधिक वित्तीय साधनों की मांग कर रही थी। छठे, सातवें,

1 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा रेडियो और टेलीविजन से प्रसारित विज्ञापनों पर कर राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची में रख दिया गया है।

आठवें और नौवें वित्त आयोग का ध्यान राज्यों की वित्तीय कठिनाइयों पर गया और उनके द्वारा राज्यों की वित्तीय स्थिति में सुधार के लिए उपयोगी सुझाव दिए गये। इन आयोगों के सुझावों के आधार पर केन्द्र द्वारा राज्यों को अधिक वित्तीय सहायता दी गई।

आठवें वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर केन्द्रीय उत्पाद शुल्क में राज्यों का हिस्सा 40 प्रतिशत से बढ़ाकर 45 प्रतिशत कर दिया गया। प्राकृतिक प्रकोपों से पीड़ित राज्यों के लिए सातवें वित्त आयोग द्वारा निश्चित की गई 100 करोड़ रुपए की राशि के स्थान पर 240 करोड़ रु. की राशि निश्चित की गई। इसके अतिरिक्त राज्यों द्वारा केन्द्र को की जाने वाली ऋणों की अदायगी में उन्हें भारी राहत दी गई।

नौवें वित्त आयोग की रिपोर्ट के आधार पर केन्द्र सरकार ने आयकर के आवंटन मुक्त कोष में से 85 प्रतिशत और उत्पाद शुल्क राजस्व का 45 प्रतिशत राज्यों को देना स्वीकार कर लिया। सरकार ने '**प्राकृतिक विपदा राहत कोष**' स्थापित करने की सिफारिश भी मान ली है। कोष की 75 प्रतिशत राशि केन्द्र सरकार सम्बन्धित राज्य को देगी। इस कोष का अस्तित्व राज्य के सामान्य राजस्व से बाहर होगा और इसे एक राष्ट्रीयकृत बैंक में जमा किया जाएगा। इसी प्रकार दसवें वित्त आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए ही व्यवस्था की गई कि केन्द्रीय राजस्व पुल से राज्यों को अब 27 प्रतिशत के स्थान पर 29 **प्रतिशत धनराशि प्राप्त होगी।** यह स्थिति 1 अप्रेल, 1996 से लागू हो गई है।

ग्यारहवां वित्त आयोग—राष्ट्रपति के. आर. नारायणन ने 6 जुलाई, 1998 को **प्रो. ए. एम. खुसरो की अध्यक्षता में** 11वें वित्त आयोग का गठन किया। आयोग के विचारार्थ विषयों में संविधान के अनुच्छेद 280 के अनुरूप केन्द्रीय करों में राज्यों की भागीदारी और राज्यों को अनुदानं सहायता शामिल है। वित्त आयोग को पहली बार संविधान के 73वें और 74वें संशोधनों के सन्दर्भों में राज्यों में पंचायतों और नगर पालिकाओं के संसाधनों की अनुपूर्ति के लिए राज्यों की समेकित निधि को बढ़ाने हेतु आवश्यक उपाय सुझाने का दायित्व भी सौंपा गया है। राज्य सरकारों के विचार जानने के बाद ही आयोग के विचारार्थ विषय निर्धारित किये गये हैं।

अब तक के 10 वित्त आयोगों ने राज्यों के बीच बांटे जाने वाली रकम के दो हिस्से कर रखे थे। एक फार्मूले के आधार पर वे रकम का अधिकांश हिस्सा राज्यों में बांट देते थे और एक छोटी रकम रख ली जाती थी, जिसे आर्थिक संकट से जूझ रहे राज्यों में बांटा जाता था। ग्यारहवें आयोग ने यह व्यवस्था खत्म करके केन्द्रीय करों से प्राप्त होने वाले समस्त राजस्व का एक कोष बना दिया है तथा इसमें से राज्यों की हिस्सेदारी 29.5 प्रतिशत निर्धारित कर दी गई है। यह भी सिफारिश की गई है कि राज्यों की हिस्सेदारी उनकी आबादी, प्रति व्यक्ति आय, बुनियादी सुविधाओं, कर उगाही और वित्तीय अनुशासन आदि के आधार पर तय होगी।

12वां वित्त आयोग—नवम्बर 2002 ई. में राष्ट्रपति ने देश के प्रमुख अर्थशास्त्री **डॉ. सी. रंगराजन** की अध्यक्षता में 12वां वित्त आयोग नियुक्त किया। आयोग से प्राप्त रिपोर्ट 25 फरवरी 2005 ई. को सार्वजनिक की गई। केन्द्र सरकार ने आयोग की रिपोर्ट को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। आयोग की सिफारिशें **1 अप्रैल, 2005 ई. से 31 मार्च, 2010 ई.** तक लागू रहेंगी।

आयोग ने कर राजस्व में राज्यों का हिस्सा 29.5 प्रतिशत से बढ़ाकर 30.5 प्रतिशत करने की सिफारिश की है। आयोग ने सेवा कर को भी राज्यों में विभाजित करने योग्य माना है और कहा है कि 'सेवा कर' के बारे में केन्द्रीय कानून से राज्यों के राजस्व के कुल हिस्से में नुकसान नहीं होना चाहिए। आयोग ने राज्यों को केन्द्र से मिलने वाली समग्र हस्तान्तरित राशि केन्द्र की राजस्व प्राप्तियों के **38 प्रतिशत के बराबर** रखने की सिफारिश की है, जबकि 11वें वित्त आयोग ने यह हिस्सा **37.5 प्रतिशत** पर रखा था।

इस प्रकार राज्यों के राजस्व में एक बार और वृद्धि की गई है। आयोग ने राजकोषीय स्थिति में सुधार पर बल देते हुए इसे केन्द्र और राज्यों की साझा जिम्मेदारी बताया है तथा उन्हें अपना राजस्व बढ़ाने और अनावश्यक खर्चों पर अंकुश लगाने का सुझाव दिया है।

भारतीय संघ में जम्मू-कश्मीर राज्य की विशेष स्थिति—विशेष परिस्थितियों के कारण भारतीय संघ में जम्मू-कश्मीर राज्य को विशेष स्थिति प्रदान की गयी है। इस विशेष स्थिति का उल्लेख अनुच्छेद 370 में किया गया है और यही अनुच्छेद भारतीय संघ के साथ जम्मू-कश्मीर राज्य के सम्बन्धों को निर्धारित करता है।

जम्मू-कश्मीर राज्य के सम्बन्ध में अवशेष शक्तियां जम्मू-कश्मीर राज्य के पास ही रहेंगी, लेकिन संसद को भारतीय संघ की प्रभुसत्ता, अखण्डता और राष्ट्रीय सम्मान को बनाये रखने के लिए आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार होगा। इस राज्य की विशेष परिस्थितियों के आधार पर जम्मू-कश्मीर राज्य के विधान मण्डल को समवर्ती सूची के कुछ विषयों पर अपनी इच्छानुसार कानून निर्माण का अधिकार दिया गया है।

जम्मू-कश्मीर राज्य को भारतीय संघ में यह विशेष स्थिति विशेष परिस्थितियों के कारण प्रदान की गयी है और यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि भारतीय संघ के अन्य किसी राज्य को भी इस प्रकार की विशेष स्थिति प्रदान की जा सकती है।

अन्तर-राज्य परिषद की स्थापना—अन्तर-राज्य परिषद की स्थापना भारत के संवैधानिक इतिहास में पहली बार 25 जून, 1990 को की गई है।

रचना और कार्य—प्रधानमन्त्री इस परिषद का अध्यक्ष होगा और राष्ट्रपति द्वारा परिषद में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के 6 सदस्यों को मनोनीत किया जाएगा। इसके अतिरिक्त भारतीय संघ के सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों के मुख्यमन्त्री इस समिति के सदस्य होंगे। यह परिषद संघीय व्यवस्था और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के सुचारु संचालन हेतु एक विचार मंच का कार्य करेगी। परिषद के दिन-प्रतिदिन के कार्य हेतु एक स्थायी सचिवालय की स्थापना की गई है।

प्रश्न

1. भारत का संविधान स्वरूप में संघात्मक है, परन्तु आत्मा में एकात्मक है। विवेचना कीजिए।
2. भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षणों का वर्णन कीजिए।
3. 'भारत का संविधान संघात्मक भी है और एकात्मक भी' व्याख्या कीजिए।
4. भारतीय संघ की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। क्या यह कथन सही है कि उसकी भावना एकात्मक है न कि संघात्मक?
5. केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी सम्वन्धों की विवेचना कीजिये।
6. केन्द्र और राज्यों के बीच प्रशासनिक सम्वन्धों की विवेचना कीजिये।
7. केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय सम्वन्ध स्पष्ट कीजिये।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि :
   (अ) भारत राज्यों का एक संघ होगा (व) भारत संघ राज्य होगा
   (स) भारत एक परिसंघ होगा (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. भारतीय संविधान में 'एकात्मक व्यवस्था' का लक्षण है :
   (अ) इकहरी नागरिकता (व) एकीकृत न्याय व्यवस्था
   (स) शक्तियों का वंटवारा केन्द्र के पक्ष में (द) उपर्युक्त सभी लक्षण
3. भारतीय संविधान में 'संघ सूची' में कितने विषय रखे गए हैं?
   (अ) 66 (व) 97 (स) 102 (द) 47
4. "संविधान सभा ने जिस संविधान का निर्माण किया है यह शरीर से संघात्मक है, किन्तु आत्मा से एकात्मक है।" यह मत किसका है?
   (अ) पी. टी. चाको का (व) पी. एस. देशमुख का
   (स) के. सन्थानम का (द) अशोक चन्दा का
5. निम्न में से कौन-सा विषय संघ सूची से सम्वन्धित नहीं है?
   (अ) रक्षा (व) वैदेशिक मामले (स) रेलें (द) कृषि
6. निम्न में से कौन-सा विषय राज्य सूची से सम्बन्धित नहीं है?
   (अ) पुलिस (ब) न्याय (स) जेल (द) शिक्षा
7. संघात्मक व्यवस्था का कौन-सा लक्षण भारतीय संविधान में नहीं है?
   (अ) शक्तियों का विभाजन (व) संविधान की सर्वोच्चता
   (स) लिखित एवं कठोर संविधान (द) दोहरी नागरिकता

8. 42वें संविधान संशोधन के बाद अब समवर्ती सूची में कितने विषय हैं? (गणना की दृष्टि से)
(अ) 97 (ब) 66 (स) 52 (द) 49

9. 42वें संविधान संशोधन के बाद अब राज्य सूची में कितने रह गए हैं? (गणना की दृष्टि से)
(अ) 97 (ब) 62 (स) 47 (द) 60

10. भारतीय संविधान में निम्न में से कौन-सा विषय 'समवर्ती सूची' में नहीं है?
(अ) दत्तक व उत्तराधिकार (ब) श्रमिक संघ
(स) शिक्षा (द) सिंचाई

11. भारत में केन्द्र और राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्धों का संचालन किन सूचियों के आधार पर किया जाता है?
(अ) संघ सूची (ब) राज्य सूची (स) समवर्ती सूची (द) उपर्युक्त सभी

12. निम्न में से कौन-सा पद केन्द्र एवं राज्यों के बीच विवाद का कारण रहा है?
(अ) राज्यों के राज्यपाल का पद (ब) केन्द्र में प्रधानमन्त्री का पद
(स) राज्यों में मुख्यमन्त्री का पद (द) संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष का पद

13. भारतीय संघ में कितने राज्य एवं संघीय क्षेत्र हैं?
(अ) 28 राज्य और 7 संघीय क्षेत्र (ब) 25 राज्य और 7 संघीय क्षेत्र
(स) 16 राज्य और 8 संघीय क्षेत्र (द) 30 राज्य और 9 संघीय क्षेत्र

14. भारत में 'सहयोगी संघवाद' की स्थापना करने वाली प्रमुख संस्था है :
(अ) योजना आयोग एवं राष्ट्रीय विकास परिषद (ब) वित्त आयोग
(स) अन्तर्राज्य परिषद (द) उपर्युक्त सभी

15. भारत में अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति किसको प्रदान की गई है?
(अ) संघीय व्यवस्थापिका को (ब) राज्य विधानमण्डलों को
(स) उपर्युक्त दोनों को (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

16. केन्द्र एवं राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों का निर्धारण किसके द्वारा किया जाता है?
(अ) वित्त मन्त्री द्वारा (ब) योजना आयोग द्वारा
(स) वित्त आयोग द्वारा (द) अन्तर्राज्य परिषद द्वारा

17. निम्न में से कौन-सा आयोग केन्द्र एवं राज्य के सम्बन्ध में गठित आयोग नहीं है?
(अ) प्रशासनिक सुधार आयोग (ब) सरकारिया आयोग
(स) मण्डल आयोग (द) राजमन्नार समिति

18. निम्न में से कौन-सा संघ के राजस्व का स्रोत नहीं है?
(अ) निगम कर (ब) सीमा शुल्क
(स) निर्यात शुल्क (द) कृषि भूमि पर कर

19. निम्न में से कौन-सा राज्यों के राजस्व का स्रोत नहीं है?
(अ) कृषि भूमि पर कर (ब) भूमि व भवनों पर कर
(स) प्रति व्यक्ति कर (द) शेयर बाजार

20. भारत में दूसरे राष्ट्रों से एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से धन प्राप्त करने का अधिकार किसको है?
(अ) राज्य सरकारों को (ब) संघ सरकार को
(स) उपर्युक्त दोनों सरकारों को (द) उपर्युक्त में से किसी को नहीं

21. भारत में वित्त आयोग के सदस्यों की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?
(अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमन्त्री (स) राज्यपाल (द) वित्त मन्त्री

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (ब), 4. (अ), 5. (द), 6. (द), 7. (द), 8. (स), 9. (ब), 10. (द), 11. (द), 12. (अ), 13. (अ), 14. (द), 15. (अ), 16. (स), 17. (स), 18. (द), 19. (द), 20. (ब), 21. (अ)]

14

भारत में राजनीतिक दल
[POLITICAL PARTIES IN INDIA]

दलीय व्यवस्था की विशेषताएं (विकृतियां या दोष[1])

अथवा

दलीय व्यवस्था में उदित हो रही नवीन प्रवृत्तियां

1947 से लेकर 2005 ई. तक के काल में कम-से-कम तीन बार (1967, 1977 तथा 1989 में) ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत की दलीय व्यवस्था नवीन दिशा ग्रहण करने जा रही है और सम्भवतया अब 'राजनीतिक ध्रुवीकरण' की स्थिति (द्विदलीय व्यवस्था) प्राप्त हो जाएगी, लेकिन तीनों ही वार ऐसा नहीं हो पाया और राजनीतिक दलों की बड़ी संख्या राजनीतिक रंगमंच पर बनी रही।

भारत में सदैव ही बहुदलीय व्यवस्था रही है। इस बहुदलीय व्यवस्था का विकास **'बहुदलीय व्यवस्था में एक दल की प्रधानता'** से **'प्रधानता के लिए दो राजनीतिक दलों'** या **'दो राजनीतिक गठबन्धनों में प्रतियोगिता'** की दिशा में हुआ है। अपवादस्वरूप कुछ समय (1977-79 और 1989-90) को छोड़कर स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर 1996 तक की भारतीय राजनीति में कांग्रेस दल को प्रधानता की स्थिति प्राप्त रही है, लेकिन 1989 से ही कांग्रेस की लोकप्रियता में कमी और भाजपा की लोकप्रियता में वृद्धि की स्थिति प्रारम्भ हो गई थी। परिणामतया 1998-2003 ई. के वर्षों में भाजपा ने भारतीय राजनीति के सबसे प्रमुख दल और गठबन्धन के आधार पर केन्द्र में शासक दल की स्थिति प्राप्त कर ली। अप्रैल-मई 2004 ई. में चौदहवीं लोकसभा के चुनाव सम्पन्न हुए और इन चुनावों के परिणामस्वरूप कांग्रेस ने भारतीय राजनीति के सबसे प्रमुख दल और कांग्रेस के नेतृत्व में गठित 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' ने शासक दल की स्थिति प्राप्त कर ली। चौदहवीं लोकसभा ने **'विखण्डित जनादेश'** और **'त्रिशंकु लोकसभा'** (Fractured Mandate and a hung Lok Sabha) को जन्म दिया है, लेकिन यह ऐसी त्रिशंकु लोकसभा है जिसमें 'शासन कौन करेगा' इस बात के प्रसंग में चुनावों ने ही स्थिति स्पष्ट कर दी है। आज भारत में एक राजनीतिक दल नहीं, वरन् एक राजनीतिक गठबन्धन सत्तारूढ़ है।

आज की परिस्थितियों में दलीय व्यवस्था की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **बहुदलीय व्यवस्था**—भारत में ब्रिटेन या अमेरिका की तरह द्विदल पद्धति नहीं, वरन् वहुदलीय पद्धति है। चौदहवीं लोकसभा में 40 से अधिक और राज्यों की विधानसभाओं में कुल मिलाकर 50 से अधिक राजनीतिक दल हैं। इनमें से कुछ को छोड़कर अन्य के पास कोई नीतिं अथवा कार्यक्रम नहीं है। कुछ राजनीतिक दलों का संगठन और स्वरूप केवल कहने के लिए है और इनका प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित है। भारत की बहुदलीय व्यवस्था में लगभग सदैव ही किसी एक राजनीतिक दल को प्रधानता की स्थिति प्राप्त रही है, लेकिन आज स्थिति यह है कि किसी एक राजनीतिक दल या दलीय गठबन्धन को प्रधानता की स्थिति प्राप्त नहीं है। लोकसभा में प्राप्त स्थानों की दृष्टि से कांग्रेस सबसे बड़ा दल है, लेकिन यह दल भी प्रधानता की स्थिति से बहुत दूर है।

1 भारत की दलीय व्यवस्था अत्यधिक अस्वस्थता की स्थिति में है और जिन्हें 'दलीय व्यवस्था की विशेषताएं' कहा जाता है, वस्तुतः वे दलीय व्यवस्था की विकृतियां या दोष हैं।

बहुदलीय व्यवस्था का वर्तमान में जो रूप है, उसके कारण लोकसभा चुनाव में **'खण्डित जनादेश' (Fractured Mandate)** ही प्राप्त हो पाता है। 'खण्डित जनादेश' का आशय है, **लोकसभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो।** ऐसी स्थिति में एकदलीय सरकार का नहीं, वरन् मिली-जुली सरकार का ही गठन हो पाता है।

(2) राजनीतिक दलों में बिखराव, विभाजन और दलीय व्यवस्था में अस्थायित्व—भारतीय राजनीति में न केवल अनेक दल हैं, वरन् इन राजनीतिक दलों में बिखराव, विभाजन और अस्थायित्व की स्थिति भी बनी हुई है। सर्वप्रमुख राजनीतिक दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का 1969 ई. में विभाजन हुआ और इस विभाजन से जन्म लेने वाले राजनीतिक दल सत्ता कांग्रेस का 1978 में 1978 के विभाजन से जिस 'कांग्रेस (आई)' का जन्म हुआ था, उसका विभाजन 1995 तथा 1999 ई. में हुआ। 1977 में सत्तारूढ़ जनता पार्टी कालान्तर में चार भागों में विभक्त हो गई। 'विभाजन और विलय' की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप 1988 में जनता दल की स्थापना हुई और कुछ समय के लिए इस दल ने एक बड़ी राजनीतिक शक्ति का रूप प्राप्त कर लिया, लेकिन नवम्बर '90 में जनता दल में विभाजन की स्थिति बनी तथा इसके बाद जनता दल में बिखराव और विभाजन की प्रक्रिया निरन्तर जारी है। न केवल तथाकथित राष्ट्रीय दल वरन् डी. एम. के., अकाली दल और केरल कांग्रेस जैसे क्षेत्रीय दल भी अनेक भागों में विभक्त हैं। स्थिति यह है कि आज एक राजनीतिक दल जन्म लेता है कल उसमें टूटन, समाप्ति या अन्य किसी दल में उसके विलय की स्थिति पैदा हो जाती है। इस प्रकार राजनीतिक दलों में कोई स्थायित्व नहीं है और राजनीतिक चित्र में अस्पष्टता बनी हुई है। भारत में दलीय व्यवस्था की निश्चित रूप से यह एक बड़ी विकृति है।

(3) अधिकांश राजनीतिक दलों में आन्तरिक लोकतन्त्र और अनुशासन का अभाव—राजनीतिक दलों के प्रसंग में एक खेदजनक तथ्य यह है कि अधिकांश राजनीतिक दलों में 'आन्तरिक लोकतन्त्र' का अभाव है और वे अनुशासनहीनता से पीड़ित हैं। अधिकांश राजनीतिक दलों में लम्बे समय से संगठनात्मक चुनाव नहीं हुए थे सब कुछ **'तदर्थ आधार'** (Adhoc basis) तथा मनोनयन की पद्धति के आधार पर चल रहा था, चुनाव आयोग के निर्देश के कारण पहली बार मई-जून 1997 में, दूसरी बार 2000 ई. में, तीसरी बार 2003 ई. में राजनीतिक दलों के संगठनात्मक चुनाव सम्पन्न हुए तथा चौथी बार मार्च-मई 2005 ई. में संगठनात्मक चुनावों की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है। लेकिन इन चुनावों में निश्चित रूप से अनेक कमियां रहीं। सामान्य स्थिति यह है कि दलों का निर्माण किन्हीं प्रक्रियाओं, मर्यादाओं, सिद्धान्तों या कानूनों के आधार पर नहीं होता है और दलों की आय-व्यय का कोई लेखा-जोखा सदस्यों के सामने प्रस्तुत नहीं किया जाता।

(4) संख्या बल की दृष्टि से शक्तिशाली, लेकिन विभाजित विपक्ष—1967-70 तथा 1977-79 के काल को छोड़कर भारतीय राजनीति में सामान्यतया कमजोर और विभाजित विपक्ष की स्थिति ही रही है, लेकिन नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनावों ने विपक्ष को संख्या बल की दृष्टि से शक्तिशाली बनाया है।

बारहवीं और तेरहवीं लोकसभा चुनाव के बाद भाजपा के नेतृत्व में मिली-जुली सरकार का गठन हुआ और मुख्य विपक्षी दल की स्थिति कांग्रेस ने प्राप्त की। बारहवीं तथा तेरहवीं लोकसभा में विपक्ष संख्या बल की दृष्टि से शक्तिशाली होते हुए भी एक कमजोरी से पीड़ित था और वह कमजोरी थी, विपक्ष का विभाजित होना। विपक्ष की इसी विभाजित स्थिति के कारण अप्रैल '99 में विपक्ष ने वाजपेयी सरकार तो गिरा दी, लेकिन वह देश को वैकल्पिक सरकार नहीं दे पाया। 14वीं लोकसभा में मुख्य विपक्षी दल की स्थिति भाजपा को प्राप्त है और विपक्षी गठबन्धन के रूप में 'राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन' है तथा इस प्रकार यह न केवल शक्तिशाली वरन् संगठित भी है। राज्य स्तर पर भी अधिकांश राज्यों में विपक्ष पर्याप्त शक्तिशाली है।

(5) क्षेत्रीय दलों की शक्ति में वृद्धि—नवीन संविधान लागू किए जाने के कुछ वर्ष बाद से ही भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का अस्तित्व रहा है। प्रमुख क्षेत्रीय दल रहे हैं—द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डी. एम. के.) अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (अन्ना डी. एम. के.) अकाली दल, मुस्लिम लीग, मुस्लिम मजलिस, केरल कांग्रेस, शिव सेना, तेलुगू देशम और नेशनल कान्फ्रेंस, आदि। इसके अतिरिक्त नगालैण्ड, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम,

अरुणाचल प्रदेश तथा सिक्किम में तो नगालैण्ड लोकतान्त्रिक दल, मणिपुर पीपुल्स पार्टी और सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रण्ट, आदि क्षेत्रीय दल ही प्रभावशाली हैं।

अब तक स्थिति यह थी कि क्षेत्रीय दल लोकसभा चुनाव में अपनी शक्ति और प्रभाव का सीमित परिचय ही दे पाते थे, लेकिन ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में क्षेत्रीय दलों की शक्ति में भारी वृद्धि हुई है। ग्यारहवीं लोकसभा में क्षेत्रीय दलों ने 125, बारहवीं लोकसभा में 170, तेरहवीं लोकसभा में कुल मिलाकर 190 से अधिक और चौदहवीं लोकसभा में क्षेत्रीय दलों और अन्य पंजीकृत दलों ने 171 स्थान प्राप्त किए हैं। 1996 से लेकर अब तक केन्द्र में जो भी सरकारें बनीं, उन सभी सरकारों के गठन तथा कार्यकरण में क्षेत्रीय दलों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस प्रकार क्षेत्रीय दलों या गुटों ने भारतीय राज व्यवस्था में निर्णयकारी स्थिति प्राप्त कर ली है।

(6) दलों में आन्तरिक गुटबन्दी—भारत की दल प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता विभिन्न दलों में आन्तरिक गुटबन्दी है। लगभग सभी राजनीतिक दलों में छोटे-छोटे गुट पाए जाते हैं : एक वह जो सत्ता या संगठन के पदों पर आसीन है और दूसरा असन्तुष्ट गुट। इन गुटों में पारस्परिक मतभेद इस सीमा तक पाया जाता है कि कभी-कभी चुनावों में एक गुट के समर्थन प्राप्त उम्मीदवारों को दूसरे गुट के सदस्य पराजित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। कांग्रेस और भाजपा सहित सभी राजनीतिक दलों में यही स्थिति है। विशिष्ट विचारधारा पर आधारित मार्क्सवादी दल और अन्य वामपंथी दल भी गुटबन्दी से मुक्त नहीं हैं। पश्चिमी देशों के राजनीतिक दलों की तुलना में भारत के राजनीतिक दलों में गुटबन्दी बहुत तीव्र है। शासक दल और अन्य दलों में गुटबन्दी की यह स्थिति भारतीय राजनीति का अभिशाप बनी हुई है।

(7) राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रम में स्पष्ट भेद का अभाव—भारत के राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों में स्पष्ट भेद का अभाव है और इसी कारण वे जनता के सम्मुख स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत करने में असफल रहे हैं। वस्तुतः राजनीतिक दलों की नीतियां और कार्यक्रम अत्यधिक अस्पष्ट और अनिश्चित हैं। कुछ राजनीतिक दलों के पास अपना कोई निश्चित कार्यक्रम न होने के कारण उनके द्वारा अनावश्यक रूप में आन्दोलनकारी राजनीति को अपनाया जाता है और विघटनकारी तत्वों को प्रोत्साहित किया जाता है। आज स्थिति यह है कि आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नहीं वरन् **'मन्दिर-मस्जिद विवाद'** और जातिवादी गठजोड़ सामान्य जन की भाषा में **'कमण्डल और मण्डल'** राजनीतिक दलों की पहचान बन गए हैं। वस्तुस्थिति यह है कि सत्ता ही सभी राजनीतिक दलों का असली धर्म है।

(8) राजनीतिक दल-बदल—भारत में दल-बदल की स्थिति सदैव से विद्यमान रही है, लेकिन 1967 से 70 और पुनः 1977-79 के वर्षों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक भीषण रूप में देखी गई। दलबदल राजनीतिक अस्थिरता का कारण और परिणाम, दोनों ही रहा है और इसने राजनीतिक वातावरण को दूषित करने का ही कार्य किया है। अतः लम्बे समय से दल-बदल पर रोक लगाने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी और जनवरी, 1985 में **भारतीय संविधान में 52वां संवैधानिक संशोधन कर दल-बदल पर कानूनी रोक लगा दी गई, लेकिन इस कानून में प्रावधान है कि एक राजनीतिक दल के विभाजन और एक राजनीतिक दल के दूसरे राजनीतिक दल में विलय को दल-बदल नहीं समझा जाएगा।** ऐसी स्थिति में विभाजन और विलय के नाम पर दल-बदल की स्थिति बनी रही। 91वें संवैधानिक संशोधन (2003) के आधार पर दल-बदल पर पूर्णतया रोक लगाने की चेष्टा की गई है, लेकिन अब भी एक राजनीतिक दल के दूसरे राजनीतिक दल में विलय के नाम पर दल बदल किया जा सकता है। वस्तुतः दल-बदल पर प्रभावी रोक तभी सम्भव है जबकि राजनीतिक दल विशिष्ट विचारधारा पर आधारित हों, संवैधानिक प्रावधानों के आधार पर उनकी संख्या को सीमित-नियन्त्रित किया जाए और सभी राजनीतिक दल आचार-संहिता को अपनावें।

(9) सभी राजनीतिक दलों और राजनीतिक अभिजन की कथनी और करनी में भारी अन्तर—सभी लोकतान्त्रिक देशों के राजनीतिक दलों और उनके नेताओं की कथनी और करनी में अन्तर देखा गया है, लेकिन भारत के राजनीतिक दलों और नेताओं की कथनी और करनी में जैसा भीषण अन्तर अभी हाल ही के वर्षों में देखा गया है, वैसा अन्यत्र और विशेष रूप से विकसित लोकतान्त्रिक देशों में देख पाना सम्भव नहीं है। सभी ने 'लोक लुभावन मुखौटे' ओढ़ रखे हैं, लेकिन वस्तुतः ये सत्ता के प्रति और केवल स्वयं के

प्रति समर्पित है। सभी दलों और नेताओं में ईमानदारी का घोर अभाव है, परिणामतया ये सभी जनता में विश्वसनीयता खोते जा रहे हैं, यह चिन्ताजनक स्थिति है।

'दलीय व्यवस्था की विशेषताएं' शीर्षक से जिन बातों का उल्लेख किया गया है, वे अधिकांश में राजनीतिक दलों की विकृतियां ही हैं। गत दो दशकों में दो अन्य विकृतियों ने अधिक प्रबलता प्राप्त कर ली है, ये हैं :

(10) 'मैं और मेरा परिवार' (वंशानुगत नेतृत्व) की प्रवृत्ति—भारत के अधिकांश राजनीतिक दलों में (वामपंथी दलों के अतिरिक्त सम्भवतया सभी दलों में) व्यक्ति की प्रधानता हो गई है, उनमें वंशानुगत नेतृत्व की प्रवृत्ति है और राजनीतिक दलों के छोटे-बड़े नेतागण अपने ही पारिवारिक सदस्यों को आगे बढ़ाने की चेष्टा में लगे हुए हैं। राजनीति एक पारिवारिक कार्य, पारिवारिक व्यवसाय बनता जा रहा है। परिणामतया जमीन से गहरे रूप से जुड़े और दो या तीन दशक से राजनीतिक तपस्या कर रहे सक्रिय कार्यकर्ता गहरी हताशा और निराशा का अनुभव कर रहे हैं। कांग्रेस में अपवादस्वरूप समय को छोड़कर चार पीढ़ी से वंशानुगत नेतृत्व है और भाजपा वाजपेयी और आडवाणी के अतिरिक्त कुछ सोच नहीं पा रही है। 2004 ई. में आडवाणी पांचवीं बार अध्यक्ष पद पर आसीन हुए हैं। राजद, समाजवादी पार्टी, शिव सेना, बसपा, लोक जनशक्ति पार्टी, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, लोकदल, नेशनल कॉन्फ्रेन्स, द्रमुक, अन्ना द्रमुक, शिरोमणि अकाली दल, पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी, पीएमके, एमडीएमके और राष्ट्रीय लोकदल आदि सभी राजनीतिक दल इस रोग से ग्रसित हैं।

(11) राजनीतिक दलों और राजनीतिक जीवन में अपराधी तत्वों और गतिविधियों में निरन्तर वृद्धि—भारत के राजनीतिक दलों और राजनीतिक जीवन की यह सबसे अधिक प्रमुख विकृति और भविष्य की दृष्टि से चिन्ताजनक स्थिति है। राजनीतिक दलों के लिए राजनीतिक जीवन की स्वच्छता-विशुद्धता ने अपना महत्व खो दिया है; एक ही उद्देश्य रह गया है **'येन केन प्रकारेण'** अपने प्रभाव में वृद्धि और सत्ता प्राप्ति।

परिणामतया राजनीतिक दलों में अपराधी तत्वों की संख्या, उनके प्रभाव और उनके वर्चस्व में निरन्तर वृद्धि हुई है। सभी राजनीतिक दलों में यह प्रवृत्ति है। राष्ट्रीय दलों की तुलना में क्षेत्रीय दलों में यह प्रवृत्ति अधिक है। अपराधी तत्वों ने दलीय संगठन में महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली है, संसद सहित सभी स्तर की प्रतिनिधि संस्थाओं में उनकी संख्या बढ़ रही है और केवल राज्य स्तर की मन्त्रिपरिषदों में ही नहीं, वरन् केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद में भी संदिग्ध चरित्र के व्यक्ति आसीन हैं। स्थिति पर नियन्त्रण तभी सम्भव है जबकि सभी राजनीतिक दल **'शुद्धि यज्ञ'** के मार्ग को पूरी सजगता, निष्पक्षता और आवश्यक कठोरता के साथ अपनावें।

राजनीतिक दलों और दलीय व्यवस्था का उद्देश्य होता है देश की जनता के सामने अपनी विचारधारा, नीति, कार्यक्रम और कार्य-योजना प्रस्तुत कर देश की जनता का विश्वास, दूसरे शब्दों में सत्ता प्राप्त करना तथा देश के हित को सर्वोच्च महत्व देते हुए अपनी नीति और कार्यक्रम को कार्यान्वित करना, लेकिन यह लम्बा रास्ता है। इस मार्ग को सही रूप में अपनाने के लिए कर्म निष्ठता, राजनीतिक तप-त्याग और जनता के प्रति समर्पण को अपनाना होता है। राजनीतिक दल और उनके नेता इस स्थिति के लिए तैयार नहीं हैं। न तो देश का हित उनके लिए सर्वोच्च है और न ही उन्होंने अपने मानस में किसी नीति अथवा कार्यक्रम को अपनाया है। उनका एकमात्र लक्ष्य सत्ता प्राप्त करना है। सत्ता प्राप्त करने के लिए निष्ठा, नीति और कार्यक्रम के लम्बे राजमार्ग पर चलने का धैर्य और साहस उनमें नहीं है।

वे घोर अवसरवादी हैं, उनमें से अधिकांश ने राजनीति को सेवा भावना के आधार पर नहीं, वरन् व्यवसाय और पारिवारिक व्यवसाय के रूप में अपनाया हुआ है। इस मानसिक पृष्ठभूमि में ये राजनीतिक दल और उनके नेता **'राजनीतिक शार्टकट'** तलाश रहे हैं। अपराधी हो, कोरा व्यवसायी हो या अन्य किसी श्रेणी का समाज कण्टक वे किसी के भी साथ जुड़ने के लिए तैयार हैं; आए दिन हड़तालों, रैलियों और यात्राओं का आयोजन उनका शगल है। भारत के राजनीतिक दलों की उपर्युक्त विकृतियों और समस्त स्थिति को देखकर हम यह सोचने और कहने के लिए बाध्य हैं कि **'ये सभी राजनीतिक दल अपने मूल उद्देश्य को**

भूल गए हैं', अपने मूल उद्देश्य से दूर, बहुत दूर भटक गए हैं, अनजाने में नहीं, वरन् जानबूझकर अपने नितान्त संकुचित स्वार्थों से प्रेरित-चालित होकर भटके हैं

1977 से भारतीय जन-जीवन का जो तत्व सबसे अधिक उभर कर सामने आया, वह था जन-जन की जागरूकता। आशा की गई थी कि इस जन-जागृति के परिणामस्वरूप भारत की दलीय व्यवस्था उत्तरोत्तर स्वस्थ दिशा प्राप्त करेगी, लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाया है। वस्तुतः सामान्य जनता ने तो 1952 से लेकर 2005 ई. के मध्य तक सदैव ही अपनी जागरूकता का परिचय दिया, लेकिन राजनीतिक दलों और इन दलों के नेताओं ने अपनी नासमझियों, संकीर्णताओं और कुटिलताओं से जनता के विवेक को पराजित कर दिया। **नार्मन डी. पामर** का यह कथन आज भी सत्य है कि, **"भारत में अब तक स्वस्थ दलीय व्यवस्था उभरकर नहीं आई है और निकट भविष्य में भी ऐसा हो सकना कठिन मालूम होता है।"** दलीय व्यवस्था के प्रसंग में स्थिति निरन्तर विकृति की ओर ही बढ़ रही है। **रजनी कोठारी** के शब्दों में 'भारत के राजनीतिक दलों में संगठन, मुद्दे और नेतृत्व राजनीतिक दलों के तीनों आधारों को आघात पहुंचा है[1] तथा 'सही अर्थों में अब कोई दलीय व्यवस्था शेष नहीं हैं।'[2]

विभिन्न राजनीतिक दलों की नीति तथा कार्यक्रम

1984 के अन्त तक राजनीतिक दल चुनाव चिह्न आवंटित करने के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में संवैधानिक और कानूनी व्यवस्था के अंग नहीं थे। 1985 के दल-बदल निषेध कानून के साथ राजनीतिक दल वैधानिक व्यवस्था के अंग बन गए। 1989 में व्यवस्था की गयी कि **'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम'** की धारा 29 के अनुसार सभी राजनीतिक दलों के लिए संविधान के प्रति और समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता तथा लोकतन्त्र के प्रति निष्ठा घोषित करना जरूरी है। इस प्रकार अब भारत में राजनीतिक दल वैधानिक व्यवस्था के अंग बन गए हैं। राजनीतिक दलों के लिए चुनाव आयोग में पंजीयन आवश्यक है। चुनाव आयोग ने राजनीतिक दलों की तीन श्रेणियां बनाई हैं—(1) **राष्ट्रीय दल या अखिल भारतीय दल**, (2) **राज्य स्तरीय दल**, और (3) **अमान्यता प्राप्त पंजीकृत दल।**

राष्ट्रीय दल

राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता का आधार—'चुनाव चिह्न (संरक्षण और आबण्टन) आदेश 1968' में चुनाव आयोग द्वारा 2 दिसम्बर, 2000 ई. को महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए थे, अब 14 मई, 2005 ई. को इसमें पुनः परिवर्तन किए गए हैं।[3] अब किसी दल को राष्ट्रीय दल की मान्यता तभी प्राप्त होगी, जबकि वह निम्न तीन में से कोई एक शर्त पूरी करता हो :

(1) गत लोकसभा चुनाव या राज्य विधानसभा चुनावों में सम्बन्धित दल के उम्मीदवार चार या अधिक राज्यों में से प्रत्येक में प्रयुक्त वैध मतों का कम-से-कम 6 प्रतिशत प्राप्त करें तथा इनमें से किसी एक राज्य या राज्यों से उसके कम-से-कम चार सदस्य लोकसभा के लिए निर्वाचित हों।

(2) गत आम चुनावों में वह दल लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के कम-से-कम दो स्थान प्राप्त कर ले, बशर्ते कि ये लोकसभा स्थान कम-से-कम तीन राज्यों से प्राप्त किए गए हों।

(3) यदि दल को कम-से-कम चार राज्यों में 'राज्य दल' की मान्यता प्राप्त हो।

चुनाव आयोग ने अपनी विज्ञप्ति में कहा है कि, 'इस विज्ञप्ति को 1 मार्च, 2004 ई. से कार्य रूप में लागू समझा जाए।

चौदहवीं लोकसभा के चुनाव परिणामों को दृष्टि में रखते हुए उपर्युक्त आधार पर 6 राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। ये दल हैं : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, मार्क्सवादी दल, भारतीय साम्यवादी दल, बहुजन समाज पार्टी और राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी।

1 Rajni Kothari, *Issues and Leadership*; Hindustan Times; Nov. 27, 1995.
2 "There is no party system any more."
—Rajni Kothari, *A Desperate Election*; The Hindustan Times; 2 May, 1996
3 *Election Commission of India, Notification* 14th May, 2005. No. 56/2005/JS-III.

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

1885 में जिस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई थी, उसके द्वारा 1968 ई. तक भारत के राजनीतिक रंगमंच की सबसे बड़ी शक्ति के रूप में कार्य किया गया, किन्तु स्वतन्त्रता के पूर्व कांग्रेस एक राजनीतिक दल नहीं, वरन् राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए कार्य करने वाला एक आन्दोलन था, जिसमें वे सभी व्यक्ति शामिल थे, जिनका लक्ष्य भारत के लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करना था। स्वतन्त्रता के पूर्व राष्ट्रीय कांग्रेस में सभी विचारधारा वाले व्यक्ति सम्मिलित थे और स्वतन्त्रता के वाद भी राष्ट्रीय कांग्रेस का वह स्वरूप वना रहा।

सन् 1948 में महात्मा गांधी तथा 1950 ई. में सरदार पटेल के देहावसान के बाद कांग्रेस पर पं. नेहरू का एकछत्र नेतृत्व स्थापित हो गया। 1964 में पं. नेहरू के निधन के बाद भी कांग्रेस ही भारत का सबसे प्रमुख दल वनी रही। 1969 में कांग्रेस का दो दलों—सत्ता कांग्रेस और संगठन कांग्रेस में विभाजन हुआ। संगठन कांग्रेस की शक्ति में उत्तरोत्तर कमी होती चली गई।

1978 ई. **में कांग्रेस विभाजन और इन्दिरा कांग्रेस की स्थापना**—1977 में सत्ताच्युत होने के बाद सत्ता कांग्रेस में गुटबन्दी पहले की तुलना में और भी बढ़ गयी थी। इस गुटबन्दी के परिणामस्वरूप जनवरी 1978 में सत्ता कांग्रेस का दो दलों में विभाजन हो गयाः रेड्डी कांग्रेस और इन्दिरा कांग्रेस। इस प्रकार यह विभाजन व्यक्तित्वों पर ही आधारित था और सत्ता राजनीति का एक अंग था, किन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित नहीं था। रेड्डी कांग्रेस का अस्तित्व लगभग चार-पांच वर्ष तक ही रहा। इन्दिरा कांग्रेस ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उत्तराधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित हुई, 1994 **में इन्दिरा कांग्रेस ने पुनः वैधानिक रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस नाम को धारण कर लिया।**

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस : नीति तथा कार्यक्रम—1977-79 तथा 1989-90 के अपवादस्वरूप समय को छोड़कर कांग्रेस 1996 के मध्य तक भारत का शासक दल रही है, लेकिन ग्यारहवीं लोकसभा के चुनावों (1996) में कांग्रेस ने सत्ता खो दी और बारहवीं तथा तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस दल की शक्ति में और कमी हुई। 1998 से अप्रैल 2004 तक कांग्रेस भारत का मुख्य विपक्षी दल था। चौदहवीं लोकसभा चुनावों के आधार पर कांग्रेस ने लोकसभा के सबसे बड़े दल और कांग्रेस गठबन्धन ने सबसे बड़े गठबन्धन की स्थिति प्राप्त का ली है। आज कांग्रेस केन्द्र में एक मिलीजुली सरकार **'संयुक्त प्रगतिशील गठवन्धन'** की सरकार का नेतृत्व कर रही है।

कांग्रेस की नीति तथा कार्यक्रम का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

राजनीतिक नीति और कार्यक्रम—देश की एकता और अखण्डता की रक्षा तथा सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ करना कांग्रेस ने सदैव ही अपना प्रमुख लक्ष्य बतलाया है। कांग्रेस द्वारा जारी किये गये घोषणापत्रों में पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए लगातार प्रयास करने का वचन दिया गया है। कांग्रेस ने दक्षिण एशियाई संसद बनाने तथा आणविक अप्रसार सन्धि में भारत की भागीदारी को पूरी तरह परमाणु निःशस्त्रीकरण से जोड़े रखने की बात भी कही है। कांग्रेस सदैव ही स्वयं को धर्मनिरपेक्षता का प्रबल समर्थक बतलाती रही है, लेकिन जब नरसिंह राव शासन (कांग्रेस सरकार) काल में 6 दिसम्बर, 1992 को हिन्दुत्ववादी तत्वों ने बाबरी मस्जिद ढहा दी; तब कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता या धर्मनिरपेक्षता की रक्षा करने की क्षमता पर संदेह खड़ा हो गया। इस स्थिति के सम्बन्ध में बारहवीं लोकसभा के लिए जारी घोषणापत्र में कहा गया कि "ऐसी घटनाएं भविष्य में नहीं होने दी जाएंगी तथा कांग्रेस अयोध्या के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का सम्मान करेगी"। तेरहवीं तथा चौदहवीं लोकसभा चुनावों के लिए जारी घोषणापत्रों में इस बात को दोहराया गया। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि '1991 में कांग्रेस शासन द्वारा पारित कानून के तहत सभी पूजा स्थलों की 15 अगस्त, 1947 के आधार पर यथास्थिति बनी रहेगी।

आर्थिक कार्यक्रम—कांग्रेस परम्परागत रूप से समाजवाद और मिश्रित अर्थव्यवस्था की समर्थक रही है लेकिन 1980 के बाद से ही कांग्रेसी शासन का झुकाव धीरे-धीरे उदारवादी अर्थव्यवस्था की ओर होता चला गया और दो वर्ष के अन्तराल के बाद 1991 में सत्ता प्राप्त करने के बाद आर्थिक संकट पर पार पाने के लिए स्पष्ट और खुले तौर पर 'उदारवादी अर्थव्यवस्था' को अपना लिया तथा उसी समय से घोषित अघोषित

रूप में कांग्रेस की यह नीति रही है। चौदहवीं लोकसभा के लिए जारी घोषणापत्र में 'आर्थिक उदारीकरण' और **'आर्थिक सुधारों को मानवीय स्वरूप के साथ'** लागू करने की बात कही गई है। इसके साथ ही कहा गया है कि गरीबी और बेरोजगारी हमारी मुख्य दुश्मन है। पार्टी गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को तत्परता से लागू करेगी, कृषि को उद्योग का दर्जा देगी तथा बुनियादी क्षेत्रों में पूंजी निवेश बढ़ाएगी। वित्तीय अनुशासन बनाए रखने के लिए सभी संभव उपाय किए जाएंगे। इसके साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य और पानी जैसी बुनियादी जरूरतों को उपलब्ध कराने का संकल्प किया गया। प्रतिवर्ष लगभग 1 करोड़ रोजगार अवसर सृजित कर पांच वर्ष में सबके लिए रोजगार का लक्ष्य प्राप्त करने की बात कही गई है। सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को सुदृढ़ किया जाएगा।

प्रशासनिक व्यवस्था—पार्टी स्थानीय निकायों के वित्तीय और अन्य अधिकारों में वृद्धि करेगी तथा न्यायिक प्रक्रिया को सरल बनाकर अदालतों में लम्बित सभी मुकदमे तीन वर्ष में निबटाने के उपाय करेगी। लोकपाल का गठन कर प्रधानमन्त्री तथा मुख्यमन्त्री भी उसके दायरे में लाए जाएंगे, भ्रष्टाचार को जन्म देनें वाले तत्वों का सफाया किया जाएगा। सी. बी. आई. को स्वायत्तता दी जाएगी और गोपनीयता की संस्कृति को समाप्त किया जाएगा। कांग्रेस अपने सभी जनप्रतिनिधियों की सम्पत्ति का विवरण देगी।

पार्टी प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन करेगी तथा व्यापक चुनाव सुधार विधेयक लायेगी। सूचना का अधिकार प्रदान करने के लिए भी विधेयक लाया जाएगा। पार्टी सत्ता में आने पर जनसंख्या नियोजन कार्यक्रमों को नई ताकत और संकल्प के साथ लागू करेगी।

अल्पसंख्यकों और समाज के कमजोर वर्गों के लिए नीति और कार्यक्रम—पार्टी का कहना है कि लोक सेवाओं और सरकारी एजेन्सियों में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के मुद्दे की जांच के लिए एक उच्च स्तरीय आयोग गठित किया जाना चाहिए तथा चौदहवीं लोकसभा के लिए जारी किए गए घोषणापत्र में वायदा किया गया कि पार्टी संविधान में संशोधन कर अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थाओं के लिए एक आयोग गठित करेगी तथा **'उपासना स्थल कानून, 1991' को प्रभावी ढंग से लागू करेगी।**

पार्टी का कहना है कि वह समस्त अनुसूचित जाति-जनजाति और अन्य पिछड़े वर्ग की लड़कियों के लिए स्कूल से विश्वविद्यालय तक मुफ्त शिक्षा, अनुसूचित जाति जनजाति के किसानों के लिए विशेष अदालतें, विशेष सिंचाई व्यवस्था एवं उन पर अत्याचारों से सम्बन्धित कानूनों को लागू करने के लिए विशेष अदालतें बनाएगी।

पार्टी संसद और विधानमण्डलों में महिलाओं के लिए एक-तिहाई सीटें आरक्षित करने हेतु संविधान में संशोधन करने के पक्ष में है तथा पार्टी ने वायदा किया है कि वह पुलिस बल, न्यायपालिका और प्राथमिक स्कूलों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ाएगी। उनके विरुद्ध अत्याचार और भेदभाव मिटाने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ करेगी, श्रमजीवी महिलाओं के लिए विशेष ऋण योजना लागू करेगी तथा विधवाओं की सहायता के लिए नई कानूनी और आर्थिक योजना लागू करेगी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संगठनात्मक ढांचा

कांग्रेस के संगठन का ढांचा कम-से-कम दिखावे में पूर्णरूपेण जनवादी है तथा इसकी इकाइयां देश के प्रत्येक क्षेत्र में विस्तृत हैं। **कांग्रेस की सदस्यता दो प्रकार की है : प्रारम्भिक और सक्रिय। कम-से-कम 18 वर्ष की आयु वाला कोई भी व्यक्ति, जो कांग्रेस के उद्देश्यों में आस्था रखता है, कांग्रेस का सदस्य बन सकता है, यदि वह किसी अन्य दल का सदस्य न हो।** वह व्यक्ति जो दो वर्षों तक लगातार कांग्रेस का प्राथमिक सदस्य रह चुका है तथा जिसकी आयु कम-से-कम 21 वर्ष है, **100 रुपयों का चन्दा देकर अथवा 25 प्राथमिक सदस्यों की भर्ती करके कांग्रेस की सक्रिय सदस्यता प्राप्त कर सकता है।** कांग्रेस का अध्यक्ष तथा उसकी कार्यकारिणी अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के प्रति उत्तरदायी होते हैं, जिनके सदस्य प्रान्तीय कांग्रेस समितियों द्वारा निर्वाचित होते हैं। **केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति कांग्रेस का सर्वोच्च अंग तथा 'सर्वोच्च नीति नियन्ता समिति' है।** दिसम्बर 1998 में किए गए संशोधन के अनुसार अब केन्द्रीय कार्यकारिणी में **कांग्रेस अध्यक्ष व संसदीय दल के नेता के अतिरिक्त 23 सदस्य होंगे।** कांग्रेस के संसदीय मण्डल तथा चुनाव समिति में अब 9 सदस्य होंगे। कांग्रेस का संसदीय मण्डल दल के संसदीय कार्यों का निर्देशन करता है तथा इसकी निर्वाचन समिति संसद

तथा राज्यों के विधानमण्डलों के लिए उम्मीदवारों का चयन करती है। **युवक कांग्रेस, महिला कांग्रेस और कांग्रेस सेवा दल** इसके सम्बद्ध संगठन हैं। मजदूर आन्दोलन के क्षेत्र में कांग्रेस के सहयोगी संगठन के रूप में **'इण्टक'** (INTUC—Indian National Trade Union Congress) कार्य करती है, जिसकी कुल सदस्यता लगभग 10 लाख है।

1998 में सोनिया गांधी कांग्रेस अध्यक्ष के पद पर आसीन हुईं तथा 2000 ई. में और 2003 ई. में वे इस पद पर पुनर्निर्वाचित हुई हैं। इसके साथ ही कांग्रेस दल के संविधान में संशोधन कर उन्होंने 'कांग्रेस संसदीय दल के अध्यक्ष' पद को भी धारण किया है। हाल ही के वर्षों में, विशेषतया 1984-2002 ई. के वर्षों में कांग्रेस की संस्कृति में भारी परिवर्तन आया है। आज कांग्रेस की संस्कृति कांग्रेस के परम्परागत मूल्यों से अलग हटकर है।

कांग्रेस दल के विधान में संशोधन और दल के संगठनात्मक ढांचे में आरक्षण की व्यवस्था

18 दिसम्बर, 1998 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के एक दिवसीय अधिवेशन में पार्टी संविधान में संशोधन कर निम्न व्यवस्थाएं की गई हैं :

1. पार्टी पदों में 33 प्रतिशत स्थान महिलाओं के लिए तथा कम से कम 20 प्रतिशत स्थान कमजोर वर्गों के लिए आरक्षित होंगे।

2. सभी स्तरों की कांग्रेस समितियों का कार्यकाल दो वर्ष से बढ़ाकर तीन वर्ष कर दिया गया है।

प्रस्ताव पारित किया गया कि पार्टी को सक्षम तथा गतिशील बनाने की दिशा में सभी सम्भव प्रयत्न किए जाएंगे। संगठन के स्तर पर निष्पक्ष चुनावों के लिए **'केन्द्रीय संगठनात्मक चुनाव अधिकरण'** की स्थापना की गई है।

कांग्रेस दल के विधान में महत्वपूर्ण संशोधन (मई 2004)—सामान्यतया प्रधानमन्त्री ही संसदीय दल का नेता होता है, लेकिन मई 2004 ई. में कांग्रेस दल के विधान में संशोधन के कारण यह स्थिति नहीं है। सोनिया गांधी पार्टी और कांग्रेस संसदीय दल की नेता हैं। कांग्रेस दल के **विधान के उपबन्ध** 5 में संशोधन कर दल की मुखिया (सोनिया गांधी) को एक नेता मनोनीत करने का अधिकार दिया गया है जो कि सरकार का गठन करेगा। सोनिया ने विधान में किए गए इस संशोधन के आधार पर मनमोहन सिंह को प्रधानमन्त्री पद पर मनोनीत किया है। इस आधार पर संसदीय इतिहास में पहली बार स्थिति यह है कि प्रधानमन्त्री अपने दल के सांसदों का निर्वाचित नेता नहीं वरन् दल की अध्यक्ष सोनिया गांधी द्वारा मनोनीत नेता है।

भारतीय जनता पार्टी

भारतीय जनता पार्टी की केन्द्रीय कार्यसमिति द्वारा दोहरी सदस्यता को अस्वीकार कर दिए जाने पर लालकृष्ण अडवाणी द्वारा दिल्ली में 5 **अप्रैल**, 1980 को जनता पार्टी के ऐसे सदस्यों का एक दो दिवसीय सम्मेलन बुलाया गया, जो दोहरी सदस्यता के प्रश्न को एक सही मुद्दा नहीं मानते थे। इस सम्मेलन में लगभग 4,000 प्रतिनिधि शामिल हुए। सम्मेलन में भूतपूर्व जनसंघ दल को पुनर्जीवित करने के स्थान पर एक नए दल भारतीय जनता पार्टी की स्थापना की गयी। **अटल बिहारी वाजपेयी को इस नवीन दल का अध्यक्ष** और लालकृष्ण अडवाणी, सिकन्दर बख्त और मुरली मनोहर जोशी को दल का महासचिव नियुक्त किया गया। पार्टी ने जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति तथा गांधीवादी अर्थ-दृष्टि को अपना आदर्श बनाया और 6 मई, 1980 को जारी किए गए अपने आधारभूत नीति वक्तव्य में पार्टी को 5 निष्ठाओं से प्रतिबद्ध किया। ये निष्ठाएं हैं : **राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय समन्वय, लोकतन्त्र, प्रभावकारी धर्म-निरपेक्षता, गांधीवादी समाजवाद और सिद्धान्तों पर आधारित साफ-सुधरी राजनीति।**

1981 से 1990 तक पार्टी की नीति, कार्यक्रम और स्थिति—भाजपा में प्रारम्भ से ही इस बात पर पर्याप्त विवाद था कि दल जनसंघ की परम्परागत नीतियों को बनाए रखे या 'प्रगतिशील जामा' पहने। 1981-85 के काल में दल ने 'गांधीवादी समाजवाद' का प्रगतिशील जामा पहना, लेकिन 1983-85 की राजनीति में अनुभव किया गया कि जनसंघ के परम्परागत समर्थकों का एक भाग भाजपा का समर्थन नहीं कर रहा है। अतः दल में नीति और संगठन पर पुनर्विचार की आवश्यकता अनुभव की गई। इस पुनर्विचार के परिणामस्वरूप पार्टी ने 1987 से 1996 के प्रारम्भिक महीनों तक शनैः-शनैः, किन्तु लगभग निरन्तर हिन्दुत्ववाद की दिशा

में आगे बढ़ने का कार्य किया। इस स्थिति के कारण पार्टी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद और अन्य हिन्दू धार्मिक संगठनों के साथ गहरे रूप में जुड़ गई।

1987 से ही कांग्रेस दल की लोकप्रियता में कमी और भाजपा की लोकप्रियता में निरन्तर बढ़ोतरी प्रारम्भ हुई। 1988 में पार्टी के आगरा अधिवेशन में निश्चित किया गया कि पार्टी अपने पृथक् अस्तित्व को बनाए रखते हुए सभी राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक दलों (मार्क्सवादी दल, भारतीय साम्यवादी दल और मुस्लिम लीग को छोड़कर अन्य दलों) के साथ चुनावी तालमेल की स्थिति को अपनाए। 1988 के अन्त तक इस पार्टी का प्रभाव शहरी मध्यम वर्ग तक सीमित था, लेकिन इसके बाद पार्टी ने समाज के निचले वर्गों के साथ जुड़ने में आंशिक सफलता प्राप्त कर ली। यह तथ्य है कि 1989 के मध्य से पार्टी देहातों में पहुंच गई।

दसवीं लोकसभा में भाजपा ने अपने लिए प्रमुख विपक्षी दल की स्थिति प्राप्त कर ली। इसके बाद एक प्रमुख घटना 6 दिसम्बर '92 को विवादास्पद धार्मिक स्थल बाबरी मस्जिद का ध्वस्त होना था। बाबरी मस्जिद को ध्वस्त करना भाजपा की नीति का अंग नहीं था, लेकिन यह तथ्य है कि इस कार्य में भाजपा समर्थक तत्वों की प्रमुख भूमिका थी।

बारहवीं लोकसभा के चुनाव और 'विखण्डित जनादेश'—बारहवीं लोकसभा के चुनावों के बाद भाजपा के नेतृत्व में एक मिली-जुली सरकार का गठन हुआ। इस मिली-जुली सरकार ने एक 'राष्ट्रीय एजेण्डा' के आधार पर कार्य करना तय किया। भाजपा के घोषणा-पत्र की कुछ बातें, विशेषतया राम मन्दिर का निर्माण, एक समान नागरिक संहिता, अनुच्छेद 370 का अन्त और गौ-वध निषेध हेतु कानून निर्माण भाजपा के सहयोगी दलों को स्वीकार नहीं थे, अतः इन बातों को 'राष्ट्रीय एजेण्डा' में सम्मिलित नहीं किया गया। इस मिली-जुली सरकार के लगभग 13 महीने के कार्यकाल के बाद अप्रेल 1999 में इस सरकार का पतन हो गया।

तेरहवीं लोकसभा के चुनाव : राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का चुनाव घोषणापत्र

तेरहवीं लोकसभा चुनाव के पूर्व ही 'राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन' का गठन कर लिया गया था। भाजपा इस गठबंधन का सबसे प्रमुख दल है और गठबंधन ने अटल बिहारी वाजपेयी को अपना नेता घोषित किया। **भाजपा सहित गठबंधन के भागीदार दलों ने अपने अलग-अलग घोषणा पत्र जारी करने के बजाय 'राजग' के घोषणापत्र के आधार पर चुनाव लड़े।** इस दृष्टि से राजग का घोषणापत्र ही 1999 में भाजपा का घोषणापत्र था। घोषणापत्र में भूख, भय और भ्रष्टाचार से मुक्त सुदृढ़ भारत बनाने का वायदा किया गया। घोषणापत्र में राष्ट्रीय सुरक्षा, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण, गतिशील कूटनीति, संकीय समरसता, आर्थिक आधुनिकीकरण, सेक्यूलरवाद, सामाजिक न्याय और शुचिता इन आठ बिन्दुओं पर विशेष जोर दिया गया तथा कहा गया है कि अगली सहस्राब्दि (सदी) में बांटने वाली बातों का त्याग कर आपसी विश्वास की भावनाओं और बातों पर बल दिया जाएगा। घोषणापत्र की कुछ प्रमुख बातें निम्न थीं :

1. संविधान की समीक्षा करते हुए राजनीतिक स्थिरता के लिए प्रयत्न किए जाएंगे।

2. राजग राष्ट्रीय सुरक्षा को और अधिक मजबूत करेगी तथा इस उद्देश्य से बजट में पर्याप्त राशि उपलब्ध करवाई जाएगी।

3. सच्ची धर्म निरपेक्षता लागू की जाएगी जिसमें नागरिक-नागरिक के बीच किसी भी प्रकार का भेद नहीं होगा। लोकपाल विधेयक पारित किया जाएगा, विधि आयोग और विविध समितियों के सुझावों को दृष्टि में रखते हुए चुनाव सुधार किए जाएंगे, राजनीतिक दल-बदल और राजनीतिक अपराधीकरण पर रोक लगाई जाएगी, राष्ट्रीय न्यायिक आयोग गठित किया जाएगा।

घोषणापत्र में अयोध्या में रामजन्म भूमि मन्दिर, संविधान के अनुच्छेद 370 और समान नागरिक संहिता का कोई जिक्र नहीं किया गया है। घोषणापत्र में सभी विवादास्पद मुद्दों पर रोक लगाने का प्रण करते हुए अल्पसंख्यकों से वायदा किया गया कि संविधान द्वारा दिए गए उनके अधिकारों की रक्षा की जाएगी।

घोषणा पत्र की कुछ अन्य बातें थीं : मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाते हुए मानवीय पहलू के साथ आर्थिक सुधार लागू किए जाएंगे, राजकोषीय और राजस्व घाटे को नियन्त्रित किया जाएगा, विदेशी निवेश को बढ़ावा, बेरोजगारी और गरीबी उन्मूलन तथा बहुत बड़े पैमाने पर 'आवास इकाइयां' (मकान) बनाने का कार्य किया

जाएगा। गंगा-कावेरी नदियों को जोड़ने, सभी जल-विवादों के कारगार हल और 'राष्ट्रीय जल नीति' वनाने की वात कही गई। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए कुछ राज्यों में चल रहे 50 प्रतिशत से अधिक आरक्षण को कानूनी संरक्षण, महिलाओं के लिए संसद और विधानसभाओं में 30 प्रतिशत आरक्षण, आदि बातें कही गईं।

चुनाव के बाद वाजपेयी के नेतृत्व में राजग की सरकार का गठन हुआ तथा इस सरकार ने राजनीतिक स्थायित्व के साथ आर्थिक विकास की दिशा में कुछ कदम आगे वढ़ाए। सरकार सामान्य रूप से अपना कार्य कर रही थी लेकिन शासक वर्ग ने यह सोचा कि लोकसभा समय से पहले ही भंग करवाकर नया जनादेश प्राप्त कर लिया जाना चाहिए। अतः 6 फरवरी 2004 ई. को तेरहवीं लोकसभा भंग कर दी गई तथा चुनाव आयोग ने अप्रैल-मई में 14वीं लोकसभा के चुनाव करवाने की घोषणा की।

चौदहवीं लोकसभा के चुनाव और भाजपा (राजग) का चुनाव घोषणापत्र—यह चुनाव घोषणापत्र 13वीं लोकसभा के चुनाव घोषणापत्र द्वारा अंकित की गई रेखाओं पर ही था। 8 अप्रैल को जारी घोषणापत्र में 'चतुर्दिक विकास' को सवसे प्रमुख मुद्दा बनाते हुए नदियों को परस्पर जोड़ने, दूसरी हरित क्रान्ति लाने और भारत को 'विश्व की नॉलेज केपीटल' वनाने की वात कही गई। घोषणापत्र में अनुत्पादक व्यय में कटौती और राज्यों के संसाधनों में वृद्धि, विजली, टैलीफोन और सड़कों की व्यवस्था का प्रत्येक गांव तक विस्तार करने और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक मन्त्रालय स्थापित करने की वात कही गई। ग्रामीण निर्धनता की स्थिति में क्रमशः सुधार करने की वात भी कही गई।

घोषणापत्र में जहां एक ओर हिन्दुओं और विशेषतया संघ परिवार की भावनाओं का ध्यान रखते हुए राम मन्दिर के मुद्दे को शामिल किया गया, वहीं अल्पसंख्यकों को लुभाने के लिए **'अल्पसंख्यक विकास एजेण्डा'** बनाने व प्रशासन और सार्वजनिक संस्थानों में अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व बढ़ाने की बात कही गई। इनके अतिरिक्त उच्च संवैधानिक पदों पर किसी विदेशी मूल के व्यक्ति को आसीन होने पर रोक लगाने के लिए कानून वनाने का वायदा भी राजग के चुनाव घोषणापत्र में किया गया।

चुनाव के बाद भाजपा की स्थिति—भाजपा ने ये चुनाव **'फील गुड'** और **'भारत उदय'** के बुलन्द स्वरों और भारी उत्साह के साथ लड़े थे, लेकिन जनता ने इन नारों और स्वरों का सम्मान नहीं किया। चुनाव परिणाम नितान्त अप्रत्याशित रहे, भाजपा और राजग ने सत्ता खो दी और भाजपा अब संसद के प्रमुख विपक्षी दल की स्थिति में आ गई है। ऐसी स्थिति में नीति, कार्यक्रम और संगठन सभी बातों के प्रसंग में गहरे आत्ममंथन और चिन्तन का दौर चल रहा है। भाजपा के सामने दो मार्ग हैं। **प्रथम,** स्पष्ट रूप से हिन्दुत्व का मार्ग अपनाना; **द्वितीय,** सभी वर्गों का विश्वास प्राप्त करने की प्रबल चेष्टा करते हुए उग्र हिन्दुत्व का परित्याग व उदारवादी मार्ग को अधिक दृढ़ता के साथ अपनाना। पार्टी दोनों ही मार्गों पर एक साथ चलने की चेष्टा भी कर सकती है। इन स्थितियों में नीति, मार्ग और कार्यक्रम के निर्धारण और संगठन सम्बन्धी प्रश्नों को हल करने में भाजपा को कुछ समय अवश्य ही लगेगा।

मई 2004 ई. में भाजपा ने भी अपने विधान में संशोधन कर संसदीय दल का नेता और लोकसभा में विपक्ष का नेता इन दो अलग-अलग पदों की व्यवस्था कर ली है। श्री वाजपेयी भाजपा संसदीय दल के नेता हैं तथा आडवाणी लोकसभा में विपक्ष के नेता। 14वीं लोकसभा चुनाव के समय आडवाणी भाजपा के अध्यक्ष थे। लोकसभा चुनावों में पराजय के साथ ही भाजपा में गुटबन्दी बढ़ गई। 2005 ई. के लगभग मध्य में आडवाणी जब पाकिस्तान यात्रा पर गए तो 'जिन्ना को धर्म निरपेक्ष नेता' बताने आदि से सम्बन्धित उनके कुछ वक्तव्यों के कारण पार्टी और संघ परिवार में आडवाणी के विरुद्ध भारी तूफान खड़ा हो गया। अन्ततोगत्वा दिसम्बर 2005 ई. के अन्तिम दिनों में आडवाणी ने अध्यक्ष पद से त्याग-पत्र दिया और 2 जनवरी, 2006 ई. को राजनाथ सिंह ने दल के अध्यक्ष का पद ग्रहण किया है। आज भाजपा गुटबन्दी और कलह रोग से गम्भीर रूप में ग्रस्त है।

संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन(संप्रग/ UPA) का गठन और साझा न्यूनतम कार्यक्रम

चौदहवीं लोकसभा में किसी एक राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त नहीं है, अतः कांग्रेस के नेतृत्व में 14 दलों का संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन बनाया गया है और आज देश में इस गठबन्धन की सरकार है।[1] गठबन्धन के इकाई दलों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

सरकार में शामिल दल—कांग्रेस, राजद, रांकापा, लोक जनशक्ति पार्टी, राष्ट्रीय तेलंगाना समिति, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, डीएमके और पीएमके आदि।

सरकार को बाहर से समर्थन देने वाले दल—वामपंथी मोर्चा (मार्क्सवादी दल, भारतीय साम्यवादी दल, फारवर्ड ब्लाक, क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी और एमडीएमके।

समाजवादी पार्टी, बसपा और राष्ट्रीय लोकदल ने इस सरकार को समर्थन देने की घोषणा की है, लेकिन संप्रग ने इन दलों को गठबन्धन की इकाई नहीं माना है।

संप्रग का साझा न्यूनतम कार्यक्रम (Common Minimum Programme)

गठबन्धन सरकार के कार्यक्रम हेतु एक साझा न्यूनतम कार्यक्रम तैयार किया गया है। साझा कार्यक्रम तैयार करने में विभिन्न घटक दलों के चुनाव घोषणापत्रों को आधार बनाया गया है। साझा न्यूनतम कार्यक्रम की घोषणा 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' से सम्बद्ध सभी राजनीतिक दलों के नेताओं की बैठक में व्यापक विचार-विमर्श के बाद 27 मई, 2004 को की गई है।

बुनियादी सिद्धान्त—साझा कार्यक्रम के निम्न 6 **बुनियादी सिद्धान्त** बतलाए गए हैं :

1. **सामाजिक सद्भाव**—सामाजिक सद्भाव को बनाए रखने और बढ़ावा देने के साथ सभी साम्प्रदायिक ताकतों से निबटने के लिए बिना किसी भय या पक्षपात के कानून को लागू किया जाएगा।

2. **रोजगार**—आर्थिक विकास की दर प्रतिवर्ष 7 से 8 प्रतिशत बनाए रखकर रोजगार के अवसर पैदा किए जाएंगे, ताकि प्रत्येक परिवार को जीवन-यापन का सुरक्षित अवसर मिल सके।

3. **किसानों की भलाई**—किसानों और खेतिहर मजदूरों की भलाई के अवसर बढ़ाए जाएंगे और हर दृष्टि से उन्हें सुरक्षित भविष्य देने की कोशिश की जाएगी।

4. **महिला सशक्तिकरण**—महिलाओं को शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक और कानूनी दृष्टि से मजबूत बनाया जाएगा।

5. **सबको समान अवसर**—समाज के दलितों, आदिवासियों, अन्य पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों को समानता के अवसर देने पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

6. **प्रतिभा को प्रोत्साहन**—उद्यमियों, व्यापारियों, वैज्ञानिकों और समाज के अन्य सभी विशेषज्ञों की सृजनशील क्षमता के इस्तेमाल के लिए कार्यक्रम बनेंगे।

न्यूनतम साझा कार्यक्रम की प्रमुख बातें

विदेश नीति—(i) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक देश के वर्चस्व का विरोध करते हुए स्वतन्त्र विदेश नीति, (ii) पाकिस्तान के साथ शान्ति प्रयास जारी रहेंगे, (iii) दक्षेस की मजबूती, (iv) चीन के साथ सीमा विवाद पर वार्ता को गम्भीरता के साथ जारी रखना, (v) पश्चिमी एशिया के साथ सम्बन्धों को नया बल।

आन्तरिक प्रशासन—(i) पोटा समाप्त किया जाएगा, (ii) साम्प्रदायिक हिंसा से निबटने के लिए आदर्श व्यापक कानून बनाया जाएगा, (iii) 1991 में बने **'धार्मिक पूजा स्थल कानून'** को लागू किया जाएगा तथा अल्पसंख्यक संस्थानों के लिए आयोग गठित होगा, (iv) पंचायती राज की मजबूती पर जोर दिया जाएगा, (v) कश्मीर में अनुच्छेद 370 का पालन होगा, (vi) अयोध्या पर अदालत के फैसले का सम्मान किया जाएगा तथा विवाद के हल हेतु बातचीत के प्रयास होंगे।

पृथक राज्य[2]—तेलंगाना राज्य के गठन की मांग पर विचार होगा। आवश्यक विचार-विमर्श व आम सहमति के बाद उचित समय पर फैसला।

---

1 सोनिया गांधी संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की अध्यक्ष हैं।

2 सरकार को बाहर से समर्थन दे रहे वामपंथी दलों ने तेलंगाना राज्य के गठन पर विचार की बात पर ऐतराज किया है।

आर्थिक मोर्चा—(i) विनिवेश मन्त्रालय समाप्त, मुनाफे वाले उपक्रमों का निजीकरण नहीं, (ii) सालाना 7-8 प्रतिशत विकास दर का लक्ष्य, रोजगार के अवसर बढ़ाने पर जोर, (iii) कृषि व उद्योग क्षेत्र पर अधिक ध्यान, (iv) आर्थिक ढांचे, उच्च तकनीक, निर्यात, ऊर्जा और तेल क्षेत्र में विदेशी निवेश को बढ़ावा, (v) सार्वजनिक उपक्रम मजबूत किए जाएंगे, (vi) राष्ट्रीय रोजगार गारण्टी कानून बनाया जाएगा, (vii) गरीब और कमजोर वर्गों की स्थिति में सुधार पर विशेष बल दिया जाएगा।

शिक्षा और स्वास्थ्य—(i) शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत खर्च होगा, (ii) शिक्षा हेतु संसाधन जुटाने के लिए केन्द्रीय करों पर सरचार्ज लगेगा, प्राप्त राशि शिक्षा पर खर्च होगी, (iii) अल्पसंख्यकों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाएगा, (iv) स्वास्थ्य पर सरकारी खर्च को सकल घरेलू उत्पाद के दो-तीन प्रतिशत तक ले जाया जाएगा, (v) गरीव परिवारों के लिए 'स्वास्थ्य बीमा की एक राष्ट्रीय योजना' लागू की जाएगी। जीवन रक्षक तथा अन्य दवाएं उचित मूल्य पर उपलब्ध करवाने के प्रयास होंगे।

महिला वर्ग—(i) लोकसभा तथा विधान सभाओं में एक-तिहाई सीटों पर महिला आरक्षण के लिए विधेयक पेश होगा, (ii) सभी क्षेत्रों में महिलाओं को पूर्ण कानूनी बराबरी दी जाएगी।

बिजली—(i) बिजली बोर्डों के पुनर्गठन की समय-सीमा बढ़ेगी, (ii) बिजली अधिनियम 2003 की समीक्षा होगी, (iii) सरकार बिजली के उत्पादन और वितरण में निजी क्षेत्र की भूमिका के प्रति कृत संकल्प है।

भारतीय साम्यवादी दल (C.P.I.)

भारतीय साम्यवादी दल, जिसकी स्थापना 1922 ई. में हुई थी, भारत-चीन सीमा विवाद और अन्य दलीय नीतियों के सम्बन्ध में मत-भिन्नता के कारण 1964 ई. में विधिवत रूप से दो दलों में बंट गया—भारतीय साम्यवादी दल (दक्षिणपंथी) और भारतीय साम्यवादी दल (वामपंथी या मार्क्सवादी)। इनमें से सामान्यतया प्रथम को **साम्यवादी दल** और द्वितीय को **मार्क्सवादी दल** कहा जाता है।

1978 ई. में साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल में आपसी विरोध की स्थिति समाप्त हो गई और अब भारतीय साम्यवादी दल ने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि देश के प्रगतिशील वामपन्थी तत्वों के द्वारा मिलकर एक ऐसा राष्ट्रीय विकल्प तैयार किया जाना चाहिए, जिसका उद्देश्य साम्प्रदायिकता, प्रतिक्रियावादिता और तानाशाही प्रवृत्तियों का विरोध करना हो। इस नीति के परिणामस्वरूप भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी दल एक-दूसरे के समीप आए और आगे के वर्षों में भी इनके बीच यह निकटता, लेकिन साथ ही दो पृथक-पृथक् दलों की स्थिति बनी रही।

ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनाव और भारतीय साम्यवादी दल—भारतीय साम्यवादी दल ने 1991-2003 के वर्षों में भारत सरकार की उदारवादी आर्थिक नीतियों का प्रबल विरोध किया और चुनाव के समय में जारी घोषणा-पत्र में कहा गया कि पार्टी निर्बाध उदारीकरण की नीति का त्याग कर देगी, सार्वजनिक क्षेत्र का निजीकरण रोक देगी और जीवन के लिए आवश्यक 14 वस्तुएं सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत लगभग 50 प्रतिशत कम मूल्य पर उपलब्ध कराएगी। चुनाव सुधार, भ्रष्टाचार निवारण, लोकपाल की स्थापना, अल्पसंख्यकों के जीवन तथा अधिकारों की रक्षा भूमि सुधार कानूनों की कमियों को दूर कर उन्हें लागू करने तथा केन्द्र में संसाधनों के अति केन्द्रीकरण को रोकने आदि बातें कही गईं। उद्योगों के प्रवन्ध में मजदूरों की भागीदारी सुनिश्चित करने और भूमि, सम्पत्ति तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में महिलाओं को पुरुषों के बराबर हक दिलाने की बात भी कही गई है।

चौदहवीं लोकसभा में भारतीय साम्यवादी दल ने मार्क्सवादी दल और अन्य वामपंथी दलों के साथ जुड़कर अपनी शक्ति में वृद्धि की है। अब इसे लोकसभा में 10 स्थान प्राप्त हैं। वामपंथी दलों ने सामूहिक रूप से निर्णय लिया कि केन्द्र सरकार में भागीदारी न करते हुए सरकार को बाहर से समर्थन दिया जाए। साम्यवादी दल इस निर्णय से जुड़ा है। वर्तमान में **ए. बी. बर्धन** इस दल के महासचिव हैं।

भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) यां मार्क्सवादी दल

मार्क्सवादी दल पुराने साम्यवादी दल का अपेक्षाकृत उग्रवादी पक्ष है। अपनी स्थापना के समय से ही कांग्रेस और श्रीमती गांधी का विरोध इस दल के कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग रहा है।

नौवीं लोकसभा के चुनाव तथा दसवीं लोकसभा के चुनाव के लिए जारी किए गए दल के चुनाव घोषणापत्र में कांग्रेस को पराजित करने और धर्मनिरपेक्ष, विपक्षी तथा वामपन्थी दलों के समर्थन पर टिकी सरकार गठित करने का जनता से आह्वान किया गया।

1996-99 के लोकसभा चुनाव (ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं लोकसभा) और मार्क्सवादी दल का चुनाव घोषणा पत्र—मार्क्सवादी दल ने इन लोकसभा चुनावों में जारी किए गए घोषणा पत्र में कहा कि वह सत्ता में आने पर 1991 में प्रारम्भ की गई 'निर्बाध उदारीकरण' की नीति को त्याग देगी, सार्वजनिक क्षेत्र का निजीकरण रोक देगी, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत जीवन के लिए आवश्यक 14 वस्तुएं 50 प्रतिशत कम कीमत पर उपलब्ध कराएगी, पांचवें वेतन आयोग की सिफारिशों को क्रियान्वित करेगी, संसद तथा विधानमण्डलों में महिलाओं के लिए एक-तिहाई स्थान आरक्षित कराएगी, सभी गांवों में पेयजल उपलब्ध कराएगी, राष्ट्रीय बजट का 10 प्रतिशत और राज्य के बजट का 30 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करेगी, रोजगार तथा आवास को मूल अधिकार का दर्जा देगी तथा धर्मान्तरण कर ईसाई बने दलितों को अनुसूचित जातियों को मिलने वाली सुविधाएं प्रदान करेगी और जम्मू-कश्मीर को अधिकतम स्वायत्तता देगी।

इसके साथ ही विदेशी निवेश को प्राथमिकता नहीं देने, सार्वजनिक क्षेत्र को स्वायत्तता देने, प्रबन्ध में मजदूरों की भागीदारी सुनिश्चित करने, सैन्य कर्मचारियों को एक पद के लिए एक वेतन देने, भूमि सुधार कानूनों की कमियों को दूर कर उन्हें सख्ती से साथ लागू करने, राज्यों को अधिक अधिकार देने और पंचायतों को अधिकार सम्पन्न बनाने का भी वायदा किया है। विदेश नीति के क्षेत्र में मार्क्सवादी दल ने गुट निरपेक्षता पर चलने, अमरीकी दबाव का विरोध करने और दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ाने का वायदा किया है।

चौदहवीं लोकसभा चुनाव के प्रसंग में नीति और चुनाव घोषणापत्र—एक लम्बे समय तक मार्क्सवादी दल भाजपा और कांग्रेस दोनों के प्रति **'समान दूरी की नीति'** पर बल देता रहा है, लेकिन 1998 से मार्क्सवादी दल ने 'समान दूरी की नीति का त्याग करते हुए भाजपा को सत्ता से दूर रखने के लिए कांग्रेस को समर्थन देने की नीति' घोषित कर दी तथा 1999 में ही यह भी घोषित कर दिया कि उन्हें 'सोनिया गांधी के प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने' पर कोई ऐतराज नहीं है। अप्रैल 2005 ई. में सम्पन्न 18वीं कांग्रेस में पार्टी ने भाजपा सहित साम्प्रदायिक ताकतों को दुश्मन न. 1 घोषित करके और कांग्रेस को धर्म निरपेक्ष बताकर अपनी राजनीतिक प्राथमिकताएं निर्धारित की हैं। पार्टी ने परोक्ष में यूपीए सरकार की आर्थिक नीतियों का समर्थन किया है।

चौदहवीं लोकसभा के प्रसंग में घोषित चुनाव घोषणापत्र में मार्क्सवादी दल ने तीन मुद्दों पर सबसे अधिक जोर दिया था : **प्रथम,** राजग को केन्द्रीय सत्ता से दूर करना, **द्वितीय,** केन्द्र में धर्म-निरपेक्ष सरकार का गठन करना और **तृतीय,** वाम दलों को शक्तिशाली बनाना।

तीनों ही मुद्दों पर वामपंथ के गढ़ तीन राज्यों पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा में जनता ने माकपा क अनुकूल जनादेश दिया है। आज माकपा को लोकसभा में 43 स्थान प्राप्त हैं और वाम मोर्चा के कुल सदस्यों की संख्या 61 है। स्वतन्त्र भारत के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ है। वामपंथी सरकार में भागीदारी नहीं कर रहे हैं, वे सरकार को 'वाहर से समर्थन' देंगे। 1997 तथा इसके पूर्व से ही मार्क्सवादी दल इस चेष्टा में संलग्न हैं कि अपने प्रभाव क्षेत्र को व्यापक किया जाय, लेकिन अव तक इसे इसमें कोई सफलता नहीं मिली है। 18वीं पार्टी कांग्रेस से लम्बे समय बाद दल के नेतृत्व में परिवर्तन आया है। अब वयोवृद्ध कामरेड सुरजीत के स्थान पर युवा प्रकाश कारत को दल का महासचिव बनाया गया है।

नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी (राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी)

कांग्रेस से निकाले गए तीन नेताओं (पवार, संगमा और तारिक अनवर) ने नई पार्टी का गठन कर अपनी पार्टी का नाम 'नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी रखा है। कांग्रेस से निकाले गए इन नेताओं का मुख्य मुद्दा था : राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री जैसे उच्च पदों पर आसीन होने का अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को होना चाहिए, जो भारत के 'जन्मतः नागरिक (मूल नागरिक) हैं। नई पार्टी के गठन के समय कहा गया है कि 'यह मुद्दा हमारी राष्ट्रीय पहचान और प्रतिष्ठा से जुड़ा है। इस पर किसी तरह का समझौता नहीं हो सकता।'

पार्टी के राष्ट्रीय एजेण्डा (21 सूत्रीय उद्देश्यों) की कुछ अन्य प्रमुख बातें हैं : भारतीय पहचान, भारतीय भावना और भारतीय प्रतिष्ठा को बनाए रखना, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को मजबूत करना, लोकतन्त्र को मजबूत बनाना, सामाजिक न्याय के संघर्ष को जारी रखना और देश के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को बनाए रखना, आदि। यह भी कहा गया है कि उनकी पार्टी भाजपा और कांग्रेस से समान दूरी बनाकर चलेगी। पार्टी धर्मनिरपेक्ष दलों से सहयोग कर सकती है। **शरद पवार इस पार्टी के अध्यक्ष हुए और संगमा तथा तारिक अनवर महासचिव।**

तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में **राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी ने चार राज्यों (महाराष्ट्र, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर और मेघालय) में चार प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त कर राष्ट्रीय दल का दर्जा पाने की शर्त पूरी कर दी; अतः 1999 के अन्त में चुनाव आयोग ने इस पार्टी को राष्ट्रीय दल का दर्जा दे दिया है।**

चौदहवीं लोकसभा के चुनाव : दल की मूल नीति में परिवर्तन और दल में विभाजन—व्यावहारिक राजनीति की बाध्यताएं दलों को अपनी मूल नीति में परिवर्तन के लिए बाध्य कर देती हैं, यह बात 2004 ई. में राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी पर लागू हुई। 2004 ई. तक आते आते शरद पवार ने इस विचार को अपना लिया कि 'हमारी पहली प्राथमिकता साम्प्रदायिकता का विरोध है, राजग को सत्ताच्युत किया जाना आवश्यक है। अतः विदेशी मूल के मुद्दे को एक तरफ करते हुए लोकसभा चुनाव में कांग्रेस के साथ गठबन्धन किया जाना चाहिए। शरद पवार द्वारा अपनाए गए इस दृष्टिकोण के कारण राकापा के संस्थापक तीन राजनीतिज्ञों में से एक **पी. ए. संगमा** राकापा से अलग हो गए। चुनाव आयोग ने राकापा का उत्तराधिकारी शरद पवार की पार्टी को माना और संगमा ने तृणमूल कांग्रेस के साथ जुड़कर 'राष्ट्रवादी तृणमूल कांग्रेस' बना ली।

शरद पवार और राकापा ने कांग्रेस के साथ गठबंधन के आधार पर चुनाव लड़े और लोकसभा के 9 स्थान प्राप्त किए हैं। राकापा कांग्रेस के नेतृत्व में गठित **'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन'** की सरकार में एक भागीदार है। राकापा का प्रभाव क्षेत्र महाराष्ट्र राज्य है।

बहुजन समाज पार्टी (बसपा : BSP)

इस पार्टी की स्थापना 14 अप्रैल, 1984 (अम्बेदकर जन्म दिवस) को उत्तर प्रदेश में हुई थी। उस समय से लेकर अब तक इस पार्टी के सबसे प्रमुख नेता हैं कांशीराम और मायावती। कांशीराम के अनुसार, "हमारा उद्देश्य सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में उच्च जातियों के प्रभुत्व को समाप्त करना और दलितों (85 प्रतिशत) को संख्या के अनुपात में सत्ता में भागीदारी दिलाना है।"

एक पार्टी के रूप में बसपा के पास न तो कोई शृंखलाबद्ध सांगठनिक ढांचा है और न ही कोई संविधान। इस बारे में **कांशीराम** कहते हैं : "मैं लोगों में अभी चेतना का निर्माण कर रहा हूं, जैसे-जैसे आवश्यकता होगी, मैं पार्टी को रूप देता जाऊंगा।" **कांशीराम** के अनुसार, **'मेरा एकमात्र उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना है पिछड़े वर्ग की शेष समस्याएं स्वतः ही हल हो जाएंगी।'**

दलितों को आरक्षण नहीं, अनुकम्पा नहीं, वरन् सत्ता में भागीदारी चाहिए। मूल बात यह है कि अब तक दलितों और पिछड़ों को आरक्षण देकर उन्हें ऊंचा उठाने का प्रयास किया गया है, लेकिन कांशीराम ने इस वर्ग में शासक बनने की ललक पैदा कर दी है।

बसपा में चुनावी नीति के रूप में एक परिवर्तन यह आया है कि 1998 तक कांशीराम और मायावती दलित हितों की पूरी प्रबलता के साथ नुमायन्दगी के अलावा 'सवर्ण हिन्दू वर्ग का खुला अपमानजनक विरोध' करने में जुटे हुए थे; लेकिन तेरहवीं लोकसभा के चुनाव तथा उसके बाद उत्तर प्रदेश विधानसभा के चुनाव (फरवरी 2002) अभियान में कांशीराम और विशेषतया मायावती ने 'सवर्ण हिन्दू वर्ग के प्रति खुले विरोध भाव' का त्याग कर दिया। चुनाव अभियान में मायावती ने **'सर्व समाज'** का नारा लगाया और विविध जातियों के बीच **'जाति जोड़ो अभियान'** और **'भाईचारा अभियान'** चलाने की बात कही। 2005 ई. में पार्टी तिलक (ब्राह्मण वर्ग), तराजू (वैश्य वर्ग) और तलवार (राजपूत वर्ग) इन तीनों जाति वर्गों को अपने निकट लाने के लिए अभियान चला रही है।

बसपा अपनी राजनीतिक शक्ति में निरन्तर वृद्धि कर रही है। बारहवीं लोकसभा में इसे 5 स्थान प्राप्त थे, तेरहवीं लोकसभा में इसने लोकसभा में 14 स्थान प्राप्त कर लिए। चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में अकेली

मायावती ने चुनाव अभियान चलाया और प्रतिकूल परिस्थितियों में लोकसभा के 19 स्थान प्राप्त किए। पार्टी सरकार से बाहर रहकर 'संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन' की सरकार को अपना समर्थन दे रही है।

उत्तर प्रदेश में पार्टी को ठोस समर्थन प्राप्त है तथा मध्य प्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, राजस्थान तथा बिहार में भी पार्टी को कुछ समर्थन प्राप्त है। **आज मायावती बसपा की न केवल अध्यक्ष, वरन् निर्विवाद रूप से सर्वोच्च और एकमात्र नेता हैं।**

राज्यस्तरीय दल या क्षेत्रीय दल[1]

राज्य दल (राज्यस्तरीय दल) की मान्यता का आधार[2]—चुनाव चिह्न (संरक्षण और आवण्टन) आदेश 1968 में चुनाव आयोग द्वारा 2 दिसम्बर, 2000 ई. को महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए थे, अब 14 मई, 2005 ई. को इसमें पुनः परिवर्तन किए गए हैं। इस आदेश के अनुसार राज्य दल की मान्यता तभी प्राप्त होगी, जबकि वह दल निम्न में से कोई एक शर्त पूरी करता हो :

(i) राजनीतिक दल विधानसभा के गत आम चुनाव में राज्य विशेष में कुल प्रयुक्त वैध मतों का कम-से-कम 6 प्रतिशत प्राप्त कर ले तथा उसे उस राज्य की विधानसभा में कम से कम दो स्थान प्राप्त हों।

(ii) उस राजनीतिक दल के उम्मीदवार लोकसभा के गत आम चुनाव में कुल प्रयुक्त वैध मतों का कम से कम 6 प्रतिशत प्राप्त कर लें तथा इसके साथ उस दल का कम से कम एक सदस्य उस राज्य से लोकसभा के लिए निर्वाचित हो।

(iii) वह राजनीतिक दल विधानसभा के गत आम चुनाव में विधानसभा के कम से कम 3 प्रतिशत स्थान या कम से कम तीन स्थान इन दोनों में से जो अधिक हो, वह प्राप्त कर ले।

यह भी उल्लेख किया गया है कि इस विज्ञप्ति को 1 मार्च, 2004 ई. से कार्य रूप मे लागू समझा जाए।

ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा चुनाव की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति राज्य दलों की शक्ति में भारी वृद्धि है। राष्ट्रीय दलों और क्षेत्रीय दलों की शक्ति में समय-समय पर भारी परिवर्तन होता रहा है और परिवर्तन होता रहेगा। आज जिस राजनीतिक दल को केवल एक राज्य में राज्य दल की स्थिति प्राप्त है, उसे आगे चलकर एक से अधिक राज्य में राज्य दल की स्थिति प्राप्त हो सकती है तथा इससे आगे बढ़कर वह राष्ट्रीय दल की स्थिति प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार निर्धारित मापदण्ड की दृष्टि से जन समर्थन में कमी आने पर राष्ट्रीय दल, राष्ट्रीय दल की स्थिति और राज्य दल, राज्य दल की स्थिति खो देता है।

क्षेत्रीय दलों (राज्य दलों) के लक्षण

1. इनकी शक्ति प्रमुख रूप से उस राज्य विशेष तक सीमित होती है जिस राज्य में उन्हें क्षेत्रीय या राज्य दल की मान्यता प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए जनता दल (यू.) का प्रमुख प्रभाव क्षेत्र बिहार राज्य और समाजवादी दल का प्रमुख प्रभाव क्षेत्र उत्तर प्रदेश राज्य है।

2. क्षेत्रीय दल नीति निर्धारण में उस राज्य विशेष के हितों को या उन राज्यों के हितों को विशेष रूप से ध्यान में रखते हैं, जिस राज्य में उन्हें क्षेत्रीय दल की स्थिति प्राप्त होती है, लेकिन इस बात का यह आशय नहीं लिया जा सकता कि वे राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करते हैं।

3. केन्द्रीय सत्ता में भागीदारी प्राप्त करने के लिए क्षेत्रीय दल, अन्य क्षेत्रीय दलों के साथ या किसी राष्ट्रीय दल के साथ सहयोग अथवा गठबन्धन की नीति और स्थितियों को अपनाते हैं। इस प्रसंग में समय-समय पर उनके द्वारा अपनी स्थिति में परिवर्तन किया जा सकता है।

4. भारतीय राजनीति में अनेक बार इस विचार को अपना लिया जाता है कि क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय एकता को कमजोर करते हैं। वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं है। विविधताओं से भरे भारत देश में अनेक बार क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने का कार्य राष्ट्रीय दलों की तुलना में भी अधिक अच्छे प्रकार से

1 डी. एम. के., अकाली दल, नेशनल कान्फ्रेन्स, शिव सेना, समाजवादी दल, राष्ट्रीय जनता दल आदि ये सभी दल राज्य स्तरीय दल हैं। ये अलग-अलग राज्यों में प्रभावशाली हैं न कि किसी क्षेत्र विशेष में। इस दृष्टि से इन्हें **राज्यस्तरीय दल ही कहा जाना चाहिए।** व्यावहारिक राजनीति और जन व्यवहार में क्षेत्रीय दल शब्द का प्रचलन हो गया है।

2 *Election Commission of India, Notification* 14th May, 2005 No. 56/2005/JS-III.

सम्पन्न कर पाते हैं। राष्ट्रीय दल हो या क्षेत्रीय दल कोई दल राष्ट्रीय एकता को मजबूत करेगा या कमजोर, यह बात दल की नीति और घोषित नीति की तुलना में भी अधिक सीमा तक उसके कार्यकरण पर निर्भर करती है।

आज की परिस्थितियों में भारतीय राजनीति में अनेक क्षेत्रीय दलों का अस्तित्व तथा उनकी निरन्तर वढ़ती हुई शक्ति नितान्त स्वाभाविक स्थिति है। इस स्थिति के लिए भारत के राष्ट्रीय दल, विशेष रूप से कांग्रेस और भाजपा दोनों ही राजनीतिक दलों की अपूर्णताएं, कमियां और दोष ही उत्तरदायी हैं।

क्षेत्रीय दलों की शक्ति में वृद्धि

नवीन संविधान लागू किए जाने के कुछ वर्ष बाद से ही भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का अस्तित्व रहा है। प्रमुख क्षेत्रीय दल रहे हैं—द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डी. एम. के.), अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (अन्ना डी. एम. के.) अकाली दल, मुस्लिम लीग, मुस्लिम मजलिस, केरल कांग्रेस, शिव सेना, तेलुगु देशम और नेशनल कान्फ्रेंस, आदि। इसके अतिरिक्त नगालैण्ड, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश तथा सिक्किम में तो नगालैण्ड लोकतान्त्रिक दल, मणिपुर पीपुल्स पार्टी और सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रण्ट, आदि क्षेत्रीय दल ही प्रभावशाली हैं।

अब तक स्थिति यह थी कि क्षेत्रीय दल लोकसभा चुनाव में अपनी शक्ति और प्रभाव का सीमित परिचय ही दे पाते थे, लेकिन ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में क्षेत्रीय दलों की शक्ति में भारी वृद्धि हुई है। ग्यारहवीं लोकसभा में क्षेत्रीय दलों ने 125, बारहवीं लोकसभा में 170, तेरहवीं लोकसभा में कुल मिलाकर 190 से अधिक और चौदहवीं लोकसभा में क्षेत्रीय दलों और अन्य पंजीकृत दलों ने 172 स्थान प्राप्त किए हैं। 1996 से लेकर अब तक केन्द्र में जो भी सरकारें बनीं, उन सभी सरकारों के गठन तथा कार्यकरण में क्षेत्रीय दलों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस प्रकार क्षेत्रीय दलों या गुटों ने भारतीय राज व्यवस्था में निर्णयकारी स्थिति प्राप्त कर ली है।

राज्य-स्तरीय दलों (क्षेत्रीय दलों) की शक्ति में वृद्धि के कारण

राज्यस्तरीय दलों की शक्ति में निरन्तर वृद्धि भारतीय राजनीति का एक तथ्य है तथा इन दलों के उदय और इनकी शक्ति में वृद्धि के कुछ विशेष कारण रहे हैं :

1. **कांग्रेस के प्रभाव और शक्ति में कमी तथा अन्य राष्ट्रीय दलों की असफलताएं**—1996 तक कांग्रेस को लगभग सम्पूर्ण भारत में भारी प्रभाव और शक्ति प्राप्त थी, अतः केवल कुछ ही क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ तथा वे क्षेत्रीय दल भी अपने प्रभाव का विस्तार नहीं कर पाए। विविध कारणों से 1966 से कांग्रेस की शक्ति में कमी आना प्रारम्भ हुआ। भारतीय संघ के कुछ राज्यों में यह कमी अधिक आई, राष्ट्रीय दल कहे जाने वाले अन्य दल इस रिक्तता को भर नहीं पाए और स्वाभाविक रूप से राज्यस्तरीय दलों ने जन्म लिया। आज भी स्थिति यही है। केन्द्र में सत्ता के दावेदार दो प्रमुख दल हैं—कांग्रेस और भाजपा, लेकिन उत्तर प्रदेश, बिहार तथा तमिलनाडु जैसे विशाल राज्यों और अनेक छोटे राज्यों में ये दल राज्यस्तरीय दलों से अलग रहकर सत्ता के सही दावेदार नहीं बन पाते हैं।

2. **कुछ प्रमुख राज्यस्तरीय नेता तथा उनके व्यक्तित्व का प्रभाव**—'व्यक्तित्व आधारित राजनीति' सदैव से ही भारतीय राजनीति का एक तत्व रहा है और भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में राज्य स्तर के प्रभावशाली व्यक्तियों ने राज्यस्तरीय दलों का गठन किया तथा अपने व्यक्तित्व के आधार पर दल की शक्ति को बढ़ाया। 1967 से सक्रिय राज्यस्तरीय दल—बंगला कांग्रेस (अजय मुखर्जी), भारतीय क्रान्ति दल (चरण सिंह), द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (अन्ना दुराई) और विशाल हरयाणा पार्टी (राव वीरेन्द्र सिंह) के व्यक्तित्व पर केन्द्रित थे। इसी प्रकार वर्तमान समय में समाजवादी पार्टी (मुलायम सिंह), राजद (लालू यादव), अकाली दल (प्रकाश सिंह वादल), डीएमके (करुणानिधि), अन्ना डीएमके (जयललिता), शिवसेना (बाल ठाकरे), नेशनल कान्फ्रेन्स (शेख अब्दुल्ला और तदुपरान्त फारुक अब्दुल्ला), तृणमूल कांग्रेस (ममता बनर्जी) और लोक जनशक्ति पार्टी (रामविलास पासवान) के व्यक्तित्व पर आधारित है। तेलुगु देशम् को एन टी आर ने जन्म दिया और चन्द्र बाबू नायडू के व्यक्तित्व ने उसकी स्थिति को बनाए रखा।

3. राष्ट्रीय दलों, विशेषतया कांग्रेस का मनमाना व्यवहार और क्षेत्रीय आकांक्षाएं—भारतीय राजनीति में अनेक बार यह देखा गया है कि राष्ट्रीय दलों, विशेषतया कांग्रेस ने मुख्यमन्त्री ऊपर से थोपे, ऐसे व्यक्तियों को मुख्यमन्त्री बनाया, जिन्हें बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं था, मुख्यमन्त्री बार-बार बदले और राज्य राजनीति में अनावश्यक तथा अनुचित रूप से हस्तक्षेप किए। आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में सातवें-आठवें दशक में इन्हीं स्थितियों को अपनाया गया। ऐसी स्थिति में एन. टी. रामाराव ने तेलुगु आत्मगौरव की रक्षा के नाम पर **'तेलुगु देशम'** की स्थापना की। उ. प्र., विहार और पंजाब जैसे राज्यों में भी कांग्रेस आला कमान ने अनुचित, अनावश्यक और मनमाने हस्तक्षेप किए, जिसके परिणामस्वरूप राज्य स्तर पर कांग्रेस कमजोर हुई और क्षेत्रीय दलों को वल मिला। भाजपा ने विशेष रूप से 1994-2005 ई. के वर्षों में उ. प्र. में यही भूल की और क्षेत्रीय दलों को बल मिला।

क्षेत्रीय आकांक्षाएं और कभी-कभी क्षेत्रीय आशंकाएं भी राज्यस्तरीय दलों की शक्ति में वृद्धि का कारण बनी हैं। द्रविड़ संस्कृति और आकांक्षाओं ने डीएमके को जन्म दिया और 'केन्द्र हम पर हिन्दी लाद देगा' इस आशंका ने डीएमके और अन्ना डीएमके की शक्ति को बढ़ाया। यह भी तथ्य है कि किसी विशेष मुद्दे पर केन्द्रीय सत्ता के विरोध और राज्य की स्वायत्तता का नारा लगाकर राज्यस्तरीय दल अपनी शक्ति में वृद्धि कर लेते हैं। पूर्वोत्तर राज्यों में नगालैण्ड, मेघालय, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम आदि में तो राज्यस्तरीय दल नितान्त स्वाभाविक हैं। केन्द्र इन राज्यों की परिस्थितियों, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को समझ ही नहीं पाता।

4. अवसरवादी राजनीति और राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक-राजनीतिक मुद्दों का अभाव—भारत के तथाकथित राष्ट्रीय दलों के पास सम्पूर्ण देश के 'आर्थिक उत्थान और सर्वांगीण विकास की कोई योजना हो, तो क्षेत्रीय दलों की शक्ति में कोई कमी आएगी, लेकिन अव विचारधारा, नीति, सिद्धान्तों और आदर्शों का अभाव है, सत्ता प्राप्ति एकमात्र लक्ष्य है तो क्षेत्रीय दलों का उदय तथा उनकी शक्ति में वृद्धि नितान्त स्वाभाविक है। आज स्थिति यह है कि कांग्रेस या भाजपा इन दोनों में से किसी को भी भारतीय संघ के सभी राज्यों या अधिकांश राज्यों में भारी समर्थन प्राप्त नहीं है इनमें से किसी के पास सम्पूर्ण अर्थों में राष्ट्रीय नेता नहीं हैं, ऐसे नेता जो पूरे देश की जनता को अपील कर सकें।

राज्यस्तरीय दलों का उदय तथा उनकी शक्ति में वृद्धि नितान्त स्वाभाविक और औचित्यपूर्ण (राज्यस्तरीय दल व क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय एकता को कमजोर नहीं करते)

एक अरब से अधिक जनसंख्या और भाषा, आचार-विचार और भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में भेद तथा विविधताएं राज्यस्तरीय दलों को जन्म दें, उनकी शक्ति में वृद्धि हो यह नितान्त स्वाभाविक है। प्रायः राज्यस्तरीय दलों की भूमिका को नकारात्मक दृष्टिकोण से देखने की हमारी आदत रही है और हम आसानी से कह देते हैं कि राज्यस्तरीय दल तथा केन्द्र सरकार में उनकी भागीदारी राष्ट्रीय एकता को कमजोर करते हैं। वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं है। भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्यस्तरीय दलों की 'महत्वपूर्ण सकारात्मक भूमिका' रही है तथा आज भी वे इस भूमिका को निभा रहे हैं।

राज्यस्तरीय दलों के अस्तित्व के कारण ही भारतीय संविधान के संघात्मक प्रावधानों के क्रियान्वयन का सफल परीक्षण हुआ है, केन्द्र की एकदलीय सरकार की निरंकुशता पर रोक लगाने का रचनात्मक कार्य सम्पन्न हुआ है तथा संविधान ने राज्यों को जो स्वायत्तता प्रदान की है, उसकी रक्षा सम्भव हो सकी है। राज्यस्तरीय दलों के कारण अनेक राज्यों में 'प्रतियोगी दलीय प्रणाली' सामने आई, जिससे संसदीय व्यवस्था का संचालन आसान हुआ है। इन दलों की सवसे बड़ी रचनात्मक भूमिका यह है कि इनके द्वारा राज्य विशेष के लिए अधिकतम आर्थिक सुविधाओं की मांग की गई, जिससे प्रादेशिक विषमता दूर हुई और भारत के समुचित सर्वांगीण विकास को गति मिली। राज्यस्तरीय दलों के कारण ही विकास की अनेक योजनाओं और कार्यक्रमों का क्रियान्वयन हुआ है।

इस प्रकार राज्यस्तरीय दलों ने संविधान द्वारा प्रदत्त राज्यों की स्वायत्तता की रक्षा की है, संसदीय व्यवस्था के सफल संचालन में सहायता की है तथा राज्यों के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उत्तर-पूर्वी भारत के विभिन्न राज्यों में सक्रिय क्षेत्रीय दलों ने भारत सरकार को इस बात के लिए प्रेरित किया

कि इन राज्यों की विशेष परिस्थितियों और आकांक्षाओं को समझें। ये सभी बातें राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने में सहायक हुई हैं। इस प्रकार राज्यस्तरीय दलों का अस्तित्व तथा उनकी शक्ति नितान्त स्वाभाविक और उचित है तथा इन दलों के कारण राष्ट्रीय एकता को कोई आघात नहीं पहुंचा, वरन् राष्ट्रीय एकता को बल मिला है।

आज की भारतीय राजनीति के कुछ प्रमुख क्षेत्रीय दलों का उल्लेख इस प्रकार है :

जनता दल

1987-88 में उस समय के राजनीतिक दलों ने विचार किया कि परस्पर विलय के आधार पर एक शक्तिशाली राजनीतिक दल का निर्माण कर जनता को कांग्रेस का विकल्प दिया जाना चाहिए। इस विचार के साथ अक्टूबर 1988 में जनता पार्टी, लोक दल (ब) और जन मोर्चा के विलय के आधार पर 'जनता दल' की स्थापना हुई और वी. पी. सिंह को इस दल का अध्यक्ष बनाया गया।

जनता दल की नीति और कार्यक्रम की कुछ प्रमुख बातें थीं—काम के अधिकार और सूचना के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची में शामिल करना, चुनाव सुधार, आकाशवाणी और दूरदर्शन को स्वायत्तता, प्रेस को स्वतन्त्रता, योजना आयोग को स्वायत्तता, बोफोर्स तोप सौदे में दलाली का पता लगाना और भ्रष्टाचार उन्मूलन, योजना की 50 प्रतिशत से अधिक राशि ग्रामीण क्षेत्रों में खर्च करना, छोटे-सीमान्त और भूमिहीन किसानों के 10 हजार रु. तक के ऋण माफ करना और मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करना आदि।

जनता दल : विभाजन-विलय और पुनः विभाजन की प्रक्रिया—विभाजन, विलय और पुनः विभाजन की स्थिति भारत के राजनीतिक दलों का स्वभाव और नियति रहा है। **'16 वर्ष के जीवन काल में बारह विभाजन'** के रूप में जनता दल ने विभाजन की प्रक्रिया को सर्वाधिक भोगा है। जनता दल में अब तक जो भी विभाजन हुए, वे नीति और कार्यक्रम के आधार पर नहीं, वरन् सत्ता राजनीति के अंग मात्र रहे हैं। जनता दल के विभाजन से जिन अलग-अलग राजनीतिक दलों ने जन्म लिया, वे सभी अक्टूबर '88 में जनता दल की स्थापना के समय जनता दल की घोषित नीति से सहमति व्यक्त करते हैं।

जनता दल (1999 में विभाजन)—जुलाई 1999 में जनता दल दो दलों में विभक्त हो गया—जनता दल-एकीकृत (शरद यादव गुट) और जनता दल-सेक्यूलर (देवगौड़ा गुट)। जनता दल का यह विभाजन भी नीति और कार्यक्रम पर आधारित नहीं, वरन् सत्ता राजनीति का एक अंग मात्र ही था। जनता दल (ए) और जनता दल (से.) में प्रमुख और सम्भवतया एकमात्र अन्तर 'राजग' के साथ सम्बन्धों को लेकर ही रहा है। 2003 ई. में जनता दल (ए) और समता पार्टी का विलय हो गया तथा नए दल को जनता दल (यू) का नाम देकर जार्ज फर्नाण्डीज को इसका अध्यक्ष बनाया गया।

चौदहवीं लोकसभा के चुनाव और जनता दल (यू) तथा जनता दल (एस)—चौदहवीं लोकसभा चुनाव जनता दल (यू) ने राजग के एक अंग के रूप में और जनता दल (एस) ने दोनों गठबन्धनों से अलग रहते हुए लड़े। अक्टूबर-नवम्बर 2005 ई. में बिहार विधानसभा चुनाव राजग ने नीतीश कुमार के नेतृत्व में लड़े और बहुमत प्राप्त कर लिया। 24 नवम्बर को नीतीश कुमार ने बिहार में राजग सरकार का गठन कर बिहार राज्य में जनता दल (यू) के भारी प्रभाव का परिचय दिया है।[1]

जनता दल (एस)—जनता दल (एस) का प्रभाव क्षेत्र कर्नाटक राज्य था। जनता दल (एस) कांग्रेस के साथ गठबन्धन कर कर्नाटक में सत्ता का भागीदार बना, लेकिन दिसम्बर 05 तक आते-आते जनता दल (एस) के एक बड़े भाग और कांग्रेस में भारी नाराजगी पैदा हो गई तथा जनता दल (एस) के इस बड़े भाग ने भाजपा के साथ मिलकर गठबन्धन सरकार बना ली। इस प्रकार जनता दल (सेक्यूलर) ने कर्नाटक राज्य में भी अपनी प्रभावशाली स्थिति खो दी है।

समाजवादी पार्टी

जनता दल (समाजवादी), जिसका गठन 1990 ई. में हुआ था, उसके तीन प्रमुख नेता थे—चन्द्रशेखर, देवीलाल और मुलायम सिंह। चन्द्रशेखर और मुलायम सिंह के बीच मतभेद हो जाने पर, मुलायम सिंह ने

1 अप्रैल 2006 में शरद यादव जनता दल (यू) के अध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं।

जनता दल (समाजवादी) से अलग होकर अक्टूबर 92 में समाजवादी पार्टी की स्थापना कर ली और 4 नवम्बर, '92 को लखनऊ सम्मेलन में इस पार्टी को औपचारिक रूप दे दिया गया। समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतन्त्र, इस दल के आदर्श हैं और मुलायम सिंह के शब्दों में, **'यह पार्टी डॉ. लोहिया के आदर्शों को पुनर्जीवित करेगी।'** यह पार्टी अपने आपको अल्पसंख्यकों का प्रबल पक्षधर बतलाती है और पार्टी का दावा है कि "भाजपा के नेतृत्व में सक्रिय हिन्दू साम्प्रदायिक तत्वों का मुकाबला करने में केवल यही पार्टी सक्षम है।" उत्तर प्रदेश इस पार्टी का प्रमुख कार्य-क्षेत्र रहा है।

11वीं, 12वीं, 13वीं तथा 14वीं लोकसभा के चुनाव और समाजवादी पार्टी की नीति तथा कार्यक्रम—समाजवादी पार्टी ने अपने 27 सूत्रीय चुनाव घोषणा-पत्र में बेरोजगारी दूर करने के लिए परिवार के कम-से-कम एक व्यक्ति को रोजगार देने, किसानों को उनकी उपज का वास्तविक मूल्य दिलाने, पूरे देश में किसान पेन्शन योजना लागू करने, दलित एवं अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने, देश में एक नई आर्थिक नीति लागू करने और पांच वर्ष में देश को विदेशी कर्ज से मुक्त करने का वायदा किया है। कृषि को उद्योग का दर्जा देते हुए अन्य उद्योगों के समान कृषि क्षेत्र के लिए भी छूट एवं सुविधाएं दी जाएंगी। पार्टी ने पूरे देश में पांच वर्ष में पेयजल उपलब्ध कराने, स्वच्छ प्रशासन देने तथा असहायों, विकलांगों व विधवाओं को पेन्शन देने का वायदा किया है।

अप्रेल '99 में समाजवादी पार्टी ने वाजपेयी सरकार का प्रबल विरोध करते हुए उसके पतन में योग दिया; लेकिन सरकार गठित करने के लिए सोनिया गांधी को सहयोग देने से इंकार कर दिया। समाजवादी पार्टी का कहना था कि वह कांग्रेस और भाजपा-दोनों का विरोध करने की पक्षधर है और विदेशी मूल के व्यक्ति को प्रधानमन्त्री बनाने की पक्षधर नहीं है।

चौदहवीं लोकसभा के चुनाव और समाजवादी पार्टी—चौदहवीं लोकसभा चुनाव के सन्दर्भ में दो गठबन्धन बने थे : **प्रथम,** भाजपा और वाजपेयी के नेतृत्व में राजग और **द्वितीय,** कांग्रेस गठबन्धन। समाजवादी पार्टी ने राजनीतिक रणनीति के रूप में अपने आपको दोनों ही गठबन्धनों से दूर रखा। लोकसभा चुनावों में उ. प्र. के 80 में से 36 स्थान प्राप्त कर समाजवादी पार्टी ने इस बात का परिचय दिया कि उ. प्र. की राजनीति में उसे ठोस समर्थन प्राप्त है। यादव लगभग एकजुट उसके साथ हैं, मुसलमानों का एक बड़ा भाग उसके साथ है और दलित जातियों सहित समाज के विभिन्न वर्गों में उसके समर्थक हैं।

समाजवादी पार्टी के नेता के रूप में जनता मुलायम सिंह (अध्यक्ष) और अमर सिंह को जानती है। जनवरी 2005 ई. में मुलायम सिंह पुनः समाजवादी पार्टी के अध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं। समाजवादी पार्टी उ. प्र. के बाहर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है, लेकिन उसे इसमें अब तक सफलता नहीं मिली है।

अकाली दल (शिरोमणि अकाली दल)

अकाली दल पंजाब का एक क्षेत्रीय दल है। अकाली दल संविधान के संघीय स्वरूप, राज्यों की स्वायत्तता और अल्पसंख्यकों (विशेषतया सिक्खों) के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषायी हितों की रक्षा के मुद्दों पर विशेष बल देता है। यह पंजाब और अन्य क्षेत्रों में गुरुमुखी भाषा और लिपि के अधिकाधिक प्रयोग का समर्थक है। भूमि सुधार, कृषि का आधुनिकीकरण और ग्रामीण तथा कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास इसकी प्रमुख नीतियां हैं।

अकाली दल द्वारा लोकसभा चुनाव के समय जारी किए गए चुनाव घोषणापत्र में संघीय व्यवस्था को सही रूप में अपनाने, किसानों को मुफ्त ट्यूबवैल कनैक्शन देने, नई सिंचाई परियोजनाएं बनाने, स्नातक स्तर तक लड़कियों को निःशुल्क शिक्षा देने और 1984 के सिख विरोधी दंगों के दोषियों को दण्डित करने की बातें शामिल हैं। पंजाब, पंजाबियत एवं सिखों के उचित अधिकारों का समर्थन भी इस दल के कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग है। अकाली दल ने ग्यारहवीं लोकसभा के चुनावों में अच्छी सफलता प्राप्त की। इसके बाद पंजाब विधानसभा के चुनाव और बारहवीं लोकसभा के चुनाव अकाली दल ने भाजपा के साथ सहयोग पूर्वक लड़े और भारी सफलता प्राप्त की। अकाली दल 18 दलों की मिलीजुली वाजपेयी सरकार का एक प्रमुख घटक रहा है। पंजाब विधानसभा चुनाव (फरवरी 2002) में अकाली दल ने राज्य में अपनी सत्ता खो दी है।

चौदहवीं लोकसभा के चुनाव अकाली दल ने लगभग एकजुट होकर प्रकाश सिंह बादल के नेतृत्व में और राजग की एक इकाई के रूप में लड़े और पंजाब के 11 में से 8 स्थान प्राप्त कर भारी जन समर्थन का परिचय दिया।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (D.M.K.)

1949 ई. में सी. एस. अन्नादुराई ने द्रविड़ कड़गम से अलग होकर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की स्थापना की थी। दल का उद्देश्य द्रविड़ परम्परा तथा संस्कृति को बनाए रखना तथा तमिल समुदाय को राजनीतिक क्षेत्र में प्रभाव एवं उच्चता की स्थिति प्रदान करना है। राज्यों के लिए स्वायत्तता सहित वास्तविक संघात्मक व्यवस्था और संविधान में इसके लिए आवश्यक संशोधन, सभी राजकीय भाषाओं के लिए सरकारी भाषाओं की स्थिति तथा तमिलनाडु के लिए विभिन्न विकास योजनाएं इस दल की नीति और कार्यक्रम के प्रमुख आधार रहे हैं। **'हिन्दी विरोध'** भी इस दल की एक पहचान बन गई है।

डीएमके और अन्ना डीएमके की एक दूसरे को चुनौती तमिलनाडु की राजनीति का सबसे प्रमुख तथ्य है। 1999 से 2003 ई. के वर्षों में डीएमके राजग की एक इकाई था, लेकिन विभिन्न कारणों से भाजपा अन्ना डीएमके के समीप आती गई और डीएमके से धीरे-धीरे दूर होती गई। 2003 ई. के अन्तिम महीनों में डीएमके ने राजग से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। चौदहवीं लोकसभा चुनाव के प्रसंग में डीएमके ने पहले तो तमिलनाडु के कुछ क्षेत्रीय दलों पीएमके और एमडीएमके के साथ चुनाव गठबन्धन स्थापित किया और फिर डीएमके गठबन्धन का कांग्रेस के साथ चुनावी समझौता हुआ। 2004 ई. के चुनावों में डीएमके गठबन्धन ने अन्ना डीएमके का सफाया कर दिया है। मई 2004 से ही वर्तमान तक डीएमके 'संयुक्त प्रगतिशील सरकार' का एक प्रमुख घटक है। एम. करुणानिधि इस दल के सर्वोच्च नेता और अध्यक्ष हैं। 2005 ई. में तमिलनाडु में डीएमके सरकार का गठन हुआ है।

अन्ना डीएमके (Anna D. M. K.)

1972 ई. में जी. रामचन्द्रन ने डीएमके से अलग होकर अन्ना डीएमके का गठन किया। इस क्षेत्रीय दल का प्रभाव क्षेत्र तमिलनाडु और पाण्डिचेरी है। डीएमके और अन्ना डीएमके में कोई नीतिगत भेद नहीं है। दल की कुछ प्रमुख नीतियां हैं—समाज में पिछड़े वर्गों के लिए समान अवसर, तमिल भाषा और संस्कृति का प्रचार-प्रसार तथा जबरन हिन्दी लादे जाने का विरोध और राज्यों के लिए स्वायत्तता एवं अधिक वित्तीय साधन आदि।

तमिलनाडु की राजनीति में जैसे उतार-चढ़ाव सामने आते हैं, वैसे भारी उतार-चढ़ाव की स्थिति सम्भवतया किसी भी अन्य राज्य में नहीं बनती। 14वीं लोकसभा के चुनावों में तमिलनाडु में अन्ना डीएमके का सफाया हो गया है। अन्ना डीएमके में जयललिता को निर्विवाद नेतृत्व की स्थिति प्राप्त है। जयललिता अन्ना डीएमके की महामन्त्री हैं।

डीएमके (एम) या एमडीएमके

डीएमके में विभाजन के फलस्वरूप तमिलनाडु में मई '94 में एक नए क्षेत्रीय दल डीएमके (एम) अर्थात् मुरालारची की स्थापना हुई। इसके नेता हैं, वी. गोपालास्वामी। अप्रैल 1998 में चुनाव आयोग ने इसे तमिलनाडु के एक क्षेत्रीय दल की मान्यता प्रदान की। डीएमके और एमडीएमके के बीच नीति और कार्यक्रम के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं है। चौदहवीं लोकसभा के चुनाव एमडीएमके ने डीएमके और कांग्रेस गठबन्धन की एक इकाई के रूप में लड़कर विशेष क्षेत्रों में अपने भारी जन समर्थन का परिचय दिया। एमडीएमके केन्द्र सरकार को बाहर से समर्थन दे रहा है।

पीएमके (PMK)

पीएमके तमिलनाडु और पाण्डिचेरी का एक अन्य क्षेत्रीय दल है, एस. रामदास इसके नेता हैं। डीएमके और पीएमके में नीति सम्बन्धी कोई अन्तर नहीं है। पीएमके 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' (UPA) सरकार में एक भागीदार है।

जम्मू-कश्मीर नेशनल कान्फ्रेंस

नेशनल कान्फ्रेंस जम्मू-कश्मीर राज्य का एक क्षेत्रीय दल है। इस दल के सर्वोच्च नेता शेख अब्दुल्ला तथा उनकी मृत्यु पर उनके पुत्र फारुख अब्दुल्ला रहे हैं। नेशनल कान्फ्रेंस भारतीय संघ में जम्मू-कश्मीर राज्य की विशेष स्थिति (भारतीय संविधान का अनुच्छेद 370) को बनाए रखने की समर्थक है और इस बात पर वल देती रही है कि जम्मू-कश्मीर राज्य को आज की तुलना में अधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए। 2003 ई. में फारुख अब्दुल्ला के पुत्र उमर अब्दुल्ला नेशनल कांफ्रेंस के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। नेशनल कांफ्रेंस ने लम्वे समय तक सत्ता में रहने के बाद 2002 ई. के विधानसभा चुनावों में अपनी सत्ता खो दी है। 2004 ई. के लोकसभा चुनाव नेशनल कांफ्रेंस ने राजग और कांग्रेस दोनों गठबन्धनों से अलग रहकर लड़े और कश्मीर घाटी में अपने अच्छे जन समर्थन का परिचय दिया।

तेलुगू देशम्

तेलुगू देशम् आन्ध्र प्रदेश का एक क्षेत्रीय दल है। 1982 के प्रारम्भिक महीनों में इस राजनीतिक दल की स्थापना में संस्थापक अध्यक्ष एन. टी. रामाराव, तेलुगू भाषा के समाचार-पत्र 'ई-नाडू' के सम्पादक रामोजी राव और पी. उपेन्द्र की भूमिका प्रमुख रही। अपनी स्थापना के समय और उसके बाद चुनावों में तेलुगू देशम् का सवसे प्रमुख नारा रहा, **'तेलुगू आत्मगौरव की रक्षा'** तेलुगू देशम् गुटवन्दी से पीड़ित थी और एन. टी. आर. के जीवनकाल में ही, 1995 के मध्य में तेलुगू देशम् दो भागों में बंट गई। एन. टी. आर. की मृत्यु के बाद इन दो गुटों को नाम मिले : तेलुगू देशम् (नायडू गुट) और तेलुगू देशम् (पार्वती गुट)। ग्यारहवीं लोकसभा के चुनावों में तेलुगू देशम् (नायडु गुट) ने लोकप्रियता का परिचय दिया। इस प्रकार जनता तथा चुनाव आयोग ने भी नायडू को तेलुगू देशम् का उत्तराधिकारी मान लिया।

तेलुगू देशम् अपनी स्थापना के समय से ही राज्यों के लिए स्वायत्तता का प्रबल समर्थक रहा है तथा 1988-2003 ई. में तेलुगू देशम् के सर्वोच्च नेता और आन्ध्र के मुख्यमन्त्री चन्द्रबाबू नायडू राज्यों के लिए स्वायत्तता, विशेषतया वित्तीय स्वायत्तता पर बल देते रहे हैं। चन्द्रबाबू ने 'आर्थिक उदारीकरण' और 'यान्त्रिकी विकास' के सवसे प्रबल पक्षधर के रूप में अपनी पहचान बनाई और लगभग दो दशक में आन्ध्र के चतुर्मुखी विकास की बात कहते हैं, लेकिन 'लोकलुभावन राजनीति' (Populist Politics) को भी अपनाए हुए हैं। एन. टी. आर. के नेतृत्व में ही तेलुगू को प्रदेश की भाषा के रूप में तथा हिन्दी को अन्य राज्यों तथा केन्द्र के साथ सम्पर्क भाषा के रूप में अपना लिया गया था। 1996-98 में तेलुगू देशम् संयुक्त मोर्चा सरकार का सहयोगी दल था तथा 1998-2003 ई. की राजनीति में इस दल ने सत्ता से वाहर रहकर 'वाजपेयी सरकार' को ठोस समर्थन दिया। सोचा यह जाता है कि तेलुगू देशम् को आन्ध्र में अच्छा जन समर्थन प्राप्त है, लेकिन 2004 ई. के लोकसभा और आन्ध्र विधानसभा चुनावों में इस दल को भारी पराजय का सामना करना पड़ा। किसानों के हितों की अनदेखी और अलग तेलंगाना राज्य की मांग इस स्थिति के लिए उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। वस्तुतः हाइटैक नायडू जमीनी राजनीति से दूर होकर हवा में उड़ रहे थे।

शिवसेना

शिवसेना महाराष्ट्र व दादरा नागर हवेली का एक क्षेत्रीय दल है, महाराष्ट्र जिसका प्रमुख कार्यक्षेत्र है। शिवसेना एक हिन्दुत्ववादी पार्टी है और महाराष्ट्र में भाजपा के साथ प्रारम्भ से ही उसके निकट के सम्बन्ध रहे हैं। 1988 के लगभग 'शिवसेना-भाजपा गठबन्धन' स्थापित हो गया और इस गठबन्धन ने 1994 में महाराष्ट्र में सत्ता प्राप्त की और ग्यारहवीं लोकसभा के चुनाव (1996) में भी इस गठबन्धन ने भारी सफलता प्राप्त की। चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में महाराष्ट्र में 'कांग्रेस-राकापा गठबन्धन' स्थापित हो जाने के बावजूद भाजपा-शिवसेना गठबन्धन ने महाराष्ट्र में अपने ठोस प्रभाव और जमीनी आधार का परिचय दिया। विदर्भ क्षेत्र में 'भाजपा-शिवसेना गठबन्धन' को विशेष सफलता प्राप्त हुई। शिवसेना के विधान में व्यवस्था है कि बाल ठाकरे आजीवन इस दल के अध्यक्ष रहेंगे। 2003 ई. में उद्धव ठाकरे को शिवसेना का कार्यकारी अध्यक्ष बनाया गया। शिवसेना में गुटबन्दी तो पहले से थी, 2003 ई. में उद्धव ठाकरे को शिवसेना का कार्यकारी अध्यक्ष, दूसरे शब्दों में बाल ठाकरे का राजनीतिक उत्तराधिकारी बनाए जाने के साथ ही यह गुटबन्दी उभर कर सामने आ गई। 2005 ई. में पहले तो शिवसेना के एक प्रभावशाली नेता नारायण राणे तथा उसके बाद

राज ठाकरे ने शिवसेना छोड़ दी। इन स्थितियों के कारण शिवसेना की शक्ति में निश्चित रूप से कमी आई है।

महाराष्ट्र नवनिर्माण सेवा—शिवसेना के एक नेता और बाल ठाकरे परिवार के सदस्य राज ठाकरे 2005 ई. के अन्तिम दिनों में शिवसेना से अलग हो गए और 2006 ई. के प्रारम्भ में उन्होंने एक पृथक् दल **'महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना'** का गठन किया है। सभी वर्गों के सहयोग से महाराष्ट्र का नव-निर्माण इस दल का लक्ष्य घोषित किया गया है।

मुस्लिम लीग

1906 में स्थापित यह दल देश के विभाजन के बाद भारत से लगभग समाप्त हो गया था, लेकिन 1970 ई. के बाद ही यह पहले केरल और बाद में तमिलनाडु में सक्रिय हो गया। महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तर भारत के अन्य राज्यों में भी इसके द्वारा अपने प्रभाव का विस्तार करने की चेष्टाएं की जा रही हैं। 1994 में लीग में विधिवत् विभाजन की स्थिति खड़ी हो गई तथा मुस्लिम लीग के एक प्रमुख नेता इब्राहीम सुलेमान सेठ इस दल से अलग हो गए।

इण्डियन नेशनल लीग

इण्डियन यूनियन मुस्लिम लीग से अलग हुए धड़े (सुलेमान सेठ और अन्य) ने अप्रेल, '94 में इण्डियन नेशनल लीग के नाम से एक राजनीतिक पार्टी का गठन किया है। इस दल ने प्रमुख रूप से दो मांगें की हैं : केन्द्रीय सरकार की सेवाओं में मुसलमानों के लिए आरक्षण और धार्मिक, भाषायी तथा सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों के लिए केन्द्रीय स्तर पर एक अलग मन्त्रालय की स्थापना।

'जमीयत उल उलेमा-ए-हिन्द', 'मुस्लिम मजलिस' और 'मजलिस इत्तहादुल मुस्लमीन'

उक्त दल मुसलमानों के अन्य संगठन हैं जो कभी कांग्रेस और कभी विपक्षी दलों के साथ सहयोग करते रहे हैं। इन सभी मुस्लिम दलों का सबसे प्रमुख उद्देश्य मुसलमानों के विशेष हितों—अलीगढ़ विश्वविद्यालय के मुस्लिम स्वरूप और मुसलमानों के विशेष सामाजिक कानूनों की रक्षा तथा उर्दू भाषा के लिए प्रोत्साहन है।

परिगणित जाति संघ या रिपब्लिकन दल (R.P.I.)

इस दल की स्थापना डॉ. अम्बेडकर ने 'परिगणित जाति संघ' के नाम से की थी, बाद में इसे ही **'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया'** का नाम दिया गया। इस दल का एकमात्र लक्ष्य अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा है। रिपब्लिकन पार्टी सदैव ही तीव्र गुटबन्दी से पीड़ित रही है और आज भी स्थिति यही है। इनमें रामदास अठावले गुट अधिक प्रभावशाली है, पार्टी के इस गुट ने महाराष्ट्र में कांग्रेस-राकापा गंठबन्धन की एक इकाई के रूप में चुनाव लड़कर सीमित सफलता प्राप्त की।

सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रण्ट

नेपाली भाषा के लिए राष्ट्रीय भाषा के रूप में मान्यता और नेपाली मूल के भारतीय व्यक्तियों के हितों की रक्षा इस दल के प्रमुख कार्यक्रम हैं। 1994 के विधानसभा चुनावों में इस दल ने सिक्किम संग्राम परिषद को पराजित कर सत्ता प्राप्त की और 1999 में यह दल विधानसभा में दो-तिहाई बहुमत प्राप्त कर सत्तारूढ़ है। **पवन कुमार चामलिंग** इस दल के प्रमुख हैं।

असम गण परिषद

1979-85 के वर्षों में **असम आन्दोलन** को संचालित करने वाले दो प्रमुख संगठन थे : **अखिल असम छात्र संघ और अखिल असम गण संग्राम परिषद।** 1985 में स्थापित राजनीतिक दल असम गण परिषद (अगप) इन दो संगठनों का ही राजनीतिक रूप था। अगस्त 1985 में सम्पन्न 'असम समझौते' के बाद असम में लोकतान्त्रिक पद्धति से सत्तारूढ़ इस दल का प्रमुख कार्यक्रम था : असम में अवैध रूप से प्रवेश करने वाले विदेशियों की रोकथाम, असमी भाषा, असमी संस्कृति और असमवासियों विशेषतया मूल निवासियों के हितों की रक्षा, आदि। दल ने अल्पसंख्यकों के जान-माल और हितों की रक्षा का आश्वासन भी दिया। एक क्षेत्रीय दल के रूप में असम के कुछ क्षेत्रों में इस दल को अब भी अच्छा प्रभाव प्राप्त है।

झारखण्ड मुक्ति मोर्चा (JMM)

यह बिहार और झारखण्ड राज्य का एक क्षेत्रीय दल है, जिसे बिहार के जनजाति क्षेत्रों में अच्छा समर्थन प्राप्त है। इस मोर्चे का प्रमुख उद्देश्य, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और पश्चिम बंगाल के जनजाति क्षेत्रों को मिलाकर एक अलग झारखण्ड राज्य की स्थापना है। यह मोर्चा सदैव ही भारी गुटबन्दी से ग्रस्त रहा है तथा इस दल में विभाजन और विलय का क्रम निरन्तर चलता रहता है। फरवरी 2000 ई. में सम्पन्न बिहार विधानसभा के चुनावों हेतु चुनाव आयोग ने 'झारखण्ड मुक्ति मोर्चा' (शिबू सोरेन) को क्षेत्रीय दल के रूप में मान्यता और झारखण्ड मुक्ति मोर्चे का चुनाव चिह्न प्रदान किया।

बीजू जनता दल

उड़ीसा के इस क्षेत्रीय दल के प्रमुख नेता नवीन पटनायक हैं। दिवंगत नेता बीजू पटनायक का नाम इस दल का प्रमुख आधार है। 1997 के अन्तिम महीनों से ही उड़ीसा में दो स्थितियां बन रही थीं—**प्रथम**, कांग्रेस दल के जन समर्थन में कमी और **द्वितीय**, प्रमुख विपक्षी दल जनता दल में भारी गुटबन्दी। ऐसी स्थिति में उड़ीसा में जनता दल के एक बड़े भाग ने जनता दल से अलग होकर नवीन पटनायक के नेतृत्व में बीजू जनता दल का गठन किया। उड़ीसा का विकास इस दल का प्रमुख कार्यक्रम और नारा है। अपनी स्थापना के समय (1997-98) से ही इस दल ने भाजपा के साथ गठबन्धन की नीति अपनाकर 'राज्य में सत्ता और केन्द्र की सत्ता में भागीदारी' प्राप्त की। 2004 ई. के लोकसभा और विधानसभा चुनावों में भी इस दल ने भाजपा के साथ गठबन्धन किया और भारी सफलता प्राप्त की।

इण्डियन नेशनल लोकदल

देवीलाल लगभग तीन दशक से हरयाणा की राजनीति का एक प्रमुख व्यक्तित्व रहा है, ओमप्रकाश चौटाला उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी हैं। 'इण्डियन नेशनल लोकदल' ओमप्रकाश चौटाला द्वारा गठित हरयाणा का एक क्षेत्रीय दल है। कृषकों के हितों की सभी सम्भव उपायों से रक्षा और वृद्धि दल का घोषित एवं सर्वोच्च लक्ष्य है। फरवरी 2005 ई. में सम्पन्न विधानसभा चुनावों में इस दल ने सत्ता खो दी है।

राष्ट्रीय जनता दल

बिहार के इस क्षेत्रीय दल का गठन बारहवीं लोकसभा चुनाव की घोषणा से पूर्व ही हो गया था। 1997 में लालू प्रसाद यादव और शरद यादव—ये दोनों नेता जनता दल का अध्यक्ष पद प्राप्त करने पर तुले थे। इस स्थिति ने जनता दल में विभाजन को जन्म दिया और लालू यादव ने जनता दल से अलग होकर '**राष्ट्रीय जनता दल**' की स्थापना की। '**सामाजिक न्याय**' इस दल का प्रमुख नारा और लालू की लोक-लुभावन शैली तथा जातिवादी गठजोड़ इस दल की प्रमुख सम्पत्ति है।

14वीं लोकसभा के चुनाव राजद, कांग्रेस और पासवान की लोक जनशक्ति पार्टी (लोजपा) ने आपसी गठबन्धन के आधार पर लड़कर भारी सफलता प्राप्त की थी और राष्ट्रीय जनता दल वर्तमान केन्द्रीय सरकार का एक प्रमुख घटक है, लेकिन फरवरी 2005 ई. के विधानसभा चुनावों में यह गठबन्धन टूट गया। पासवान और उनकी लोजपा ने पूरी शक्ति के साथ राजद का विरोध किया, मत विभाजन हुआ और बिहार में सम्पूर्ण अर्थों में एक 'त्रिशंकु विधानसभा' को जन्म मिला। चुनाव के बाद कोई भी दल या गठबन्धन बिहार में सरकार बनाने में असफल रहा। परिणामतया राष्ट्रपति शासन स्थापित हुआ।

गत लगभग एक वर्ष से धीरे-धीरे बिहार पर लालू की पकड़ कमजोर होती जा रही थी। अक्टूबर-नवम्बर 2005 ई. के बिहार विधानसभा चुनावों में राजद और लालू की शक्ति में भारी गिरावट आई और बिहार में राजग सरकार का गठन हो गया है।

तृणमूल कांग्रेस

पश्चिम बंगाल के इस क्षेत्रीय दल की प्रमुख नेता ममता बनर्जी हैं। ममता बनर्जी पश्चिम बंगाल में कांग्रेस दल की सबसे अधिक जुझारू नेता रही हैं। मार्क्सवादी दल तथा पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार का विरोध उनकी राजनीति का प्रमुख अंग रहा है और यह विरोध तथा पश्चिम बंगाल के समस्त निर्धन जन का सही हित चिन्तन इस दल के राजनीतिक कार्यक्रम का प्रमुख बिन्दु है। ममता बनर्जी को इस बात से

सदैव ही आक्रोश रहा कि कांग्रेस दल का एक भाग मार्क्सवादी सरकार का आवश्यक सक्रिय विरोध नहीं कर रहा है। इस स्थिति में 1998 के प्रारम्भिक दिनों में ममता बनर्जी ने कांग्रेस से सम्बन्ध तोड़कर 'तृणमूल कांग्रेस' की स्थापना की। तृणमूल कांग्रेस अपनी स्थापना के साथ ही भाजपा के साथ जुड़ गई थी। ममता बनर्जी और तृणमूल कांग्रेस का उद्देश्य, नीति और कार्यक्रम एक सूत्रीय रहा है : वामपंथी मोर्चे या मार्क्सवादी दल को पश्चिम बंगाल से सत्ताच्युत कर राज्य में अपनी सरकार का गठन। तृणमूल कांग्रेस 2006 ई. के विधानसभा चुनाव भाजपा के साथ गठबन्धन और राजग की एक इकाई के रूप में लड़े और असफल रही।

भारतीय राष्ट्रीय लोकदल

यह दल चौधरी चरणसिंह के राजनीतिक उत्तराधिकारी अजीत सिंह के नेतृत्व में पश्चिमी उत्तर प्रदेश में सक्रिय है और स्वयं को किसानों का प्रवक्ता कहता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इस दल को प्रभाव प्राप्त है। प. उत्तर प्रदेश को उत्तर प्रदेश राज्य से अलग कर 'पृथक् हरित प्रदेश' की स्थापना इस दल का एक प्रमुख घोषित लक्ष्य है।

लोक जनशक्ति पार्टी

नवम्बर 2000 ई. में जनता दल के विभाजन के फलस्वरूप रामविलास पासवान के नेतृत्व में एक राजनीतिक दल 'लोक जनशक्ति पार्टी' ने जन्म लिया है। दल का नारा है, 'दलितोद्धार'। पासवान के अनुसार यह पार्टी दस वर्ष का समयबद्ध कार्यक्रम चलाकर दलितों और पिछड़ों के आरक्षित पद भरवायेगी, ताकि दलितों, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों और कमजोर वर्गों को समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष लाया जा सके। इस पार्टी के कार्यक्रम की अन्य बातें हैं—अल्पसंख्यकों तथा महिलाओं के हितों की रक्षा और जनसंख्या नियन्त्रण। चौदहवीं लोकसभा के चुनाव इस पार्टी ने बिहार में राजद और कांग्रेस के साथ गठबन्धन के आधार पर लड़े तथा इस गठबन्धन से तीनों दलों को शक्ति मिली। रामविलास पासवान को बिहार के दलित वर्गों में अच्छा समर्थन प्राप्त है, यह बात फरवरी 2005 ई. के विधानसभा चुनावों में भी देखी गई। बिहार विधानसभा चुनावों के बाद चुनाव आयोग के द्वारा इस दल को बिहार के एक क्षेत्रीय दल के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। लोक जनशक्ति पार्टी बिहार में सत्ता की भागीदार तो नहीं बन पाई, लेकिन लालू और राजद की शक्ति को आघात पहुंचाने में सफल रही।

भारतीय जनशक्ति पार्टी

भाजपा के साथ कुछ मतभेदों के कारण 2005 ई. में पार्टी की एक नेता उमा भारती भाजपा से अलग हो गई तथा 2006 ई. में उन्होंने 'भारतीय जनशक्ति पार्टी' का गठन किया है।

जम्मू-कश्मीर राज्य के दो क्षेत्रीय दल

पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (PDP)

2002 ई. में विधानसभा चुनाव के पूर्व मुफ्ती मोहम्मद सईद तथा उनकी पुत्री महबूबा के नेतृत्व में इस पार्टी का गठन हुआ। पार्टी ने कश्मीर से जुड़े सभी पक्षों के साथ बातचीत के आधार पर कश्मीर में अमन चैन स्थापित करने और कश्मीरियों के जख्म भरने का वादा किया है। घाटी में इस पार्टी ने अच्छे समर्थन का परिचय दिया है। जम्मू-कश्मीर में यह पार्टी मिली-जुली सरकार का नेतृत्व कर रही है।

पैन्थर्स पार्टी

'जम्मू-कश्मीर पैन्थर्स पार्टी' के नेता हैं, प्रो. भीमसिंह। यह पार्टी जम्मू क्षेत्र के हितों की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध है तथा जम्मू क्षेत्र में इसे अच्छा समर्थन प्राप्त है।

तेलंगाना राष्ट्रीय समिति

2004 ई. में गठित इस राजनीतिक दल का सर्वोच्च लक्ष्य है : एक अलग राज्य के रूप में तेलंगाना की स्थापना। चौदहवीं लोकसभा के चुनाव इस दल ने कांग्रेस के साथ गठबन्धन के आधार पर लड़े और चुनाव परिणामों ने स्पष्ट कर दिया कि इस समिति और समिति की मांग या लक्ष्य को आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में भारी जन समर्थन प्राप्त है। तेलंगाना राष्ट्रीय समिति अपने लक्ष्य पृथक तेलंगाना राज्य की स्थापना में अब तक सफल नहीं हुई है। यह समिति भविष्य में किस गठबन्धन की इकाई होगी, कुछ भी निश्चित नहीं है।

अन्य राजनीतिक दल

उपर्युक्त के अतिरिक्त भी अन्य राजनीतिक दल विभिन्न राज्यों की राजनीति में रहे हैं और हैं। इन राजनीतिक दलों का क्षेत्रवार और राज्यवार उल्लेख उचित होगा :

आन्ध्र प्रदेश—मजलिस इत्तेहादुल मुस्लमीन।

बिहार—विहार में स्थानीय दलों की संख्या सबसे अधिक है।

बिहार पीपुल्स पार्टी—आनन्द मोहन सिंह के नेतृत्व में कार्यरत, जाति आधारित दल है, जिसे जनता ने पूर्णतया अस्वीकार कर दिया है।

इण्डियन पीपुल्स फ्रण्ट, मार्क्सवादी समन्वय समिति और भारतीय साम्यवादी दल—माले या मार्क्सवादी लेनिनवादी (CPI-ML) नक्सलवाद से जुड़े ऐसे लोगों के दल हैं, जिन्होंने अब नक्सलवाद को छोड़कर लोकतान्त्रिक मार्ग अपना लिया तथा चुनावी राजनीति में चरण रखा है। इनमें सबसे प्रमुख भाकपा (माले) है। फरवरी 2005 ई. में सम्पन्न विहार विधानसभा चुनावों में भाकपा (माले) ने बिहार राज्य के कुछ क्षेत्रों में अपने प्रभाव का परिचय दिया। चुनाव के बाद चुनाव आयोग ने इसे बिहार राज्य के एक क्षेत्रीय दल के रूप में मान्यता प्रदान की है। भाकपा (माले) को असम और त्रिपुरा में भी कुछ प्रभाव प्राप्त है।

उत्तर प्रदेश—जनता दल (राजाराम), अपना दल, आदि।

केरल—केरल कांग्रेस (जे) और केरल कांग्रेस (मणिपुर)।

पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी—इस साम्प्रदायिक दल के नेता हैं अब्दुल नासर मदनी।

महाराष्ट्र—किसान मजदूर महासंघ, भादिया बहुजन महासंघ, आर.पी.आई. के विभिन्न धड़े।

उत्तर-पूर्वी भारत के सात राज्य—मणिपुर रिपब्लिकन पार्टी, मणिपुर हिल यूनियन, नगालैण्ड राष्ट्रवादी संगठन, संयुक्त लोकतान्त्रिक दल, त्रिपुरा उपजाति समिति, मिजो नेशनल फ्रण्ट, अरुणाचल कांग्रेस, अरुणाचल पीपुल्स पार्टी आदि। इन राज्यों की विशेष परिस्थितियों के कारण इन क्षेत्रों तथा राज्यों में राष्ट्रीय राजनीतिक दलों का अधिक प्रभाव स्थापित नहीं हो पाया है।

पश्चिम बंगाल—फारवर्ड ब्लाक, सोशलिस्ट यूनिटी सेण्टर और क्रान्तिकारी समाजवादी दल। इन दलों को त्रिपुरा में भी कुछ प्रभाव प्राप्त है।

गोवा—महाराष्ट्रवादी गोमांतक दल, संयुक्त गोमांतक दल।

किसी भी अन्य समय की तुलना में आज भारत की दलीय व्यवस्था में अधिक अस्पष्टता, अधिक अनिश्चितता और अधिक जटिलता की स्थिति है। आज जनता के बहुत बड़े भाग में सभी राजनीतिक दलों के प्रति घोर निराशा की भावना है। इस स्थिति को भारतीय जन की ओर से सभी राजनीतिक दलों विशेषतया सबसे प्रमुख दलों कांग्रेस और भाजपा को गम्भीर चेतावनी समझा जाना चाहिए।

देश की जनता का एक भाग, सम्भवतया बड़ा भाग इस विचार को अपना रहा है कि बार-बार चुनावों की स्थिति लोकतान्त्रिक व्यवस्था और देश के हित में नहीं है। राजनीतिक स्थायित्व बहुत आवश्यक है तथा इसके लिए सभी संवैधानिक, संस्थात्मक और राजनीतिक प्रयत्न किये जाने चाहिए। राजनीतिक स्थायित्व की प्राप्ति के लिए राजनीतिक दलों की संख्या को सीमित किया जाना आवश्यक है तथा इसके लिए आवश्यक कानूनों का निर्माण भी किया जाना चाहिए।

प्रश्न

1. वर्तमान समय में भारत के कौन-कौन से मुख्य राजनीतिक दल हैं? उनके ध्येय और कार्यक्रम पर प्रकाश डालिए।
2. भारत की दल प्रणाली पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
3. भारत में कौन-कौन से प्रमुख राजनीतिक दल हैं? भारतीय दल प्रणाली की मुख्य विशेषताएं वताइए।
4. टिप्पणी लिखिए :
   (i) इन्दिरा कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस)
   (ii) भारतीय जनता पार्टी
   (iii) राष्ट्रीय जनता दल

(iv) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी
(v) वहुजन समाज पार्टी।
(vi) राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठवन्धन

5. आज की भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की वढ़ती हुई शक्ति पर एक निबन्ध लिखिए। क्या क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय एकता को कमजोर करते हैं?
6. 'भारत में राजनीतिक दल हैं, लेकिन दलीय व्यवस्था नहीं है' दलीय व्यवस्था की विकृतियों को दृष्टि में रखते हुए इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
7. भारत की दलीय व्यवस्था में उदित हो रही नवीन प्रवृत्तियां स्पष्ट कीजिए।
8. 'भारत में अव तक स्वस्थ दलीय व्यवस्था उभर कर नहीं आई है' (नार्मन डी. पामर) इस कथन के प्रकाश में भारत की दलीय व्यवस्था की कमियों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारतीय जनता पार्टी की स्थापना हुई :
   (अ) 1977 में (व) 1980 में (स) 1982 में (द) 1984 में
2. जनता पार्टी का गठन हुआ :
   (अ) 1962 में (व) 1977 में (स) 1982 में (द) 1980 में
3. जनता पार्टी के प्रथम अध्यक्ष थे :
   (अ) जयप्रकाश नारायण (ब) चन्द्रशेखर
   (स) मोरारजी देसाई (द) चौधरी चरण सिंह
4. भारत में किस प्रकार की दलीय व्यवस्था है?
   (अ) एक दलीय (व) द्वि-दलीय
   (स) वहुदलीय (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
5. भारतीय दलीय व्यवस्था की विशेषता है?
   (अ) राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रम में स्पष्ट भेद का अभाव है
   (व) विभिन्न दलों में तीव्र आन्तरिक गुटवन्दी है
   (स) सभी राजनीतिक दलों और राजनीतिक अभिजन की कथनी और करनी में भारी अन्तर
   (द) उपर्युक्त सभी विशेषताएं
6. किसी राजनीतिक दल को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता किसके द्वारा प्रदान की जाती है?
   (अ) राष्ट्रपति द्वारा (व) विधि मन्त्री द्वारा
   (स) निर्वाचन आयोग द्वारा (द) लोकसभा अध्यक्ष द्वारा
7. "दल एक संगठित विचार होता है, संगठित अवसरवादिता को दल नहीं कहा जा सकता।" यह कथन किसका है?
   (अ) नार्मन डी. पामर (व) डिजरैली
   (स) ब्राइस (द) फाइनर

[उत्तर—1. (व), 2. (व), 3. (व), 4. (स), 5. (द), 6. (स), 7. (व)।]

15

भारतीय राजनीति में जाति

[CASTE IN INDIAN POLITICS]

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के सम्मुख प्रमुख समस्याएं एवं प्रवृत्तियां—संविधान में भारतीय राज व्यवस्था के कुछ लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं। ये लक्ष्य हैं: लोकतांत्रिक गणतंत्रात्मक धर्म निरपेक्ष व्यवस्था, देश के सभी नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व; सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय; व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता। राज व्यवस्था इस दिशा में 1950 से ही आगे बढ़ रही है और इन दिशाओं में कुछ दूरियां भी तय की जा सकी हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था बनी हुई है और अब तक 14 आम चुनाव सम्पन्न हो चुके हैं। धर्म निरपेक्षता, राष्ट्र की एकता और अखण्डता बनी हुई है तथा स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व अब भी हमारे आदर्श बने हुए हैं, लेकिन यह कह पाना संभव नहीं है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था और राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता की दृष्टि से स्थिति पूर्णतया संतोषजनक है या हमने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के आदर्श को प्राप्त कर लिया है। वस्तुस्थिति यह है कि राज व्यवस्था के सम्मुख अनेक चुनौतियां और समस्याएं विद्यमान हैं। ऐसी कुछ प्रमुख समस्याएं और चुनौतियां हैं : जातिवाद, धर्म और साम्प्रदायिकता, भाषा का प्रश्न या भाषावाद और क्षेत्रीयतावाद आदि।

परम्परावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्भुत विशेषता है। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारम्भ होने के पश्चात् यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक संस्थाएं और लोकतन्त्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप परम्परागत संस्था—जातिवाद का अन्त हो जायेगा किन्तु स्वाधीनता के बाद की भारत की राजनीति में जाति का प्रभाव अनवरत रूप से वढ़ता गया। जहां सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जाति की शक्ति घटी है वहां राजनीतिक और प्रशासन पर इसके बढ़ते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञों, प्रशासनाधिकारियों और केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने स्वीकार किया है।

कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि लोकतान्त्रिक एवं प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था का भारत में लोप हो जाना चाहिए। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा थी कि जाति व्यवस्था परम्परागत शक्ति के रूप में कार्य करती है तथा राजनीतिक विकास एवं आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक है। लेकिन वस्तुतः ये मान्यताएं सही नहीं हैं। इस सम्बन्ध में रजनी कोठारी का अभिमत है कि—प्रथम, कोई भी सामाजिक तन्त्र कभी भी पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता, अतः यह प्रश्न करना कि क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है, अर्थ-शून्य है।[1] द्वितीय, जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रुकावट नहीं डालती बल्कि इसको बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।[2] **ग्रेनविल आस्टिन** लिखते हैं, "स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति में जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी देशों में दवाव गुट (Pressure Groups)।"[3] हमारे राजनीतिज्ञ एक अजीब असमंजस की स्थिति में हैं। जहां एक ओर वे जातिगत भेदभाव मिटाने की वात करते हैं वहीं दूसरी ओर जाति के आधार पर वोट बटोरने की कला में निपुणता हासिल करना चाहते हैं।

1 **Rajni Kothari, *Caste in Indian Politics* (Delhi, 1970), p. 4.**
2 **Rajni Kothari, *Politics in India*, p. 341.**
3 **Granville Austin, *The Indian Constitution—Cornerstone of a Nation* (Oxford, 1966), p. 47.**

जाति का परम्परागत अर्थ एवं रूप

जाति प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पायी जाती है, पर एक गम्भीर सामाजिक कुरीति के रूप में यह हिन्दू समाज की ही विशेषता है। वैसे इस्लाम और ईसाई समाज भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। यह एक अति प्राचीन व्यवस्था रही है। इसका अभिप्राय पेशे के आधार पर समाज को कई वर्गों में बांट देना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यों का सम्पादन करते थे। क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य सम्हालते थे तथा शूद्रों को अन्य तीन वर्णों की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू-शुरू में जाति प्रथा के बन्धन कठोर न थे और वह जन्म पर नहीं, अपितु कर्म पर आधारित थे। बाद में जाति-प्रथा में कठोरता आती गयी, वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अन्तःक्रिया असम्भव हो गयी। अपने मौलिक रूप में जाति प्रथा उपयोगी थी। चूंकि वह श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित थी, अतः उसने आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्व का समावेश किया। एक जाति का पेशा उसी जाति में होता था। बेटा बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सीखता था और प्रायः उसी को अपनी आजीविका के साधन के रूप में अपना लेता था। इस प्रथा ने एक जाति और बिरादरी के लोगों में भाई-चारे की भावना को बढ़ाया। एक जाति के लोग एक-दूसरे से भलीभांति परिचित होते थे तथा एक-दूसरे के सुख-दुख में काम आते थे।

जाति का राजनीति में सम्पर्क सूत्र

स्वाधीनता संग्राम के दौरान ऐसा दिखता था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और वयस्क मताधिकार व्यवस्था के देश में लागू कर दिये जाने के परिणामस्वरूप वह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित हुआ। वैसे राजनीति पर जातिगत प्रभाव प्रतिनिधि व्यवस्था के लागू होने के समय से ही शुरू हो गया था, किन्तु यह प्रभाव नगण्य ही था। इसके लिए उत्तरदायी थे ब्रिटिश प्रशासन, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सीमित मताधिकार। स्वतन्त्रता की प्राप्ति ने प्रथम दो कारणों का निराकरण कर दिया और नये संविधान में अपनायी गयी वयस्क मताधिकार व्यवस्था ने तीसरे का। फलतः जातियों के प्रभाव क्षेत्र में आशातीत वृद्धि हो गयी। आरम्भ में तो सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उच्च अथवा श्रेष्ठ जातियां ही राजनीति से प्रभावित रहीं और राजनीतिक लाभ उन्हीं तक सीमित रहे। समय के साथ-साथ मध्यम और निम्न समझी जाने वाली जातियां आगे आने लगीं और अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहने लगीं। **प्रो. रूडोल्फ** के शब्दों में, ''भारत के राजनीतिक लोकतन्त्र के सन्दर्भ में जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है। यथार्थ में यह एक ऐसा माध्यम बन गयी है कि इसके जरिये भारतीय जनता को लोकतान्त्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।''

जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया : सैद्धान्तिक आधार

भारत में जाति और राजनीति में किस प्रकार का सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध में चार प्रकार से विचार प्रस्तुत किए जाते रहे हैं :

सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था का संगठन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है और राजनीति केवल सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति मात्र है। सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है।

द्वितीय, राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति नया रूप धारण कर रही है। लोकतान्त्रिक राजनीति के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित जातीय संरचनाओं को इस प्रकार प्रयोग में लाती है जिससे सम्बद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन जुटा सकें तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकें। जिस समाज में जाति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगठन माना जाता है उसमें यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि राजनीति इस संगठन के माध्यम से अपने आपको संगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।

तृतीय, भारत में राजनीति 'जाति' के इर्दगिर्द घूमती है। जाति प्रमुखतम राजनीतिक दल है। यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया में ऊंचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ ही अपनी जाति को लेकर चलना होगा। भारत में राजनीतिज्ञ जातीय समुदायों को इसलिए संगठित करते हैं ताकि उनके समर्थन से उन्हें सत्ता तक पहुंचने में सहायता मिल सके।

चतुर्थ, जातियां संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग लेती हैं और इस प्रकार जातिगत भारतीय समाज में जातियां ही 'राजनीतिक शक्तियां' बन गयी हैं।

जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएं

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका की उभरती विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

प्रथम, जाति व्यक्ति को बांधने वाली कड़ी है। जातीय संघों और जातीय पंचायतों ने जातिगत राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाया है। जाति-पांति को समाप्त करने वाले आन्दोलन अन्ततोगत्वा नयी जातियों के रूप में मुखरित हुए, जैसे लिंगायत, कबीरपन्थी और सिक्ख आन्दोलन स्वयं नयी जातियां बन गयीं।

द्वितीय, शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण से जातियां समाप्त नहीं हुईं, अपितु उनमें एकीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला और उनको राजनीतिक भूमिका मिली।

तृतीय, राजनीति में प्रधान जाति (dominant caste) की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रधान जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही शक्तिशाली होती है, बल्कि संख्या में भी गांव या इलाके में ज्यादा होती है। प्रधान जाति अपने संख्या बल के आधार पर गांव और क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं जैसे पंचायतों की राजनीति में सक्रिय होती है। यदि किसी राज्य विशेष में किसी जाति की प्रधानता होती है तो राज्य राजनीति में जाति एक प्रभावक तत्व बन जाती है। आश्चर्य की बात यह है कि जाति की यह छूत हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं, मुसलमान भी उसकी गिरफ्त से नहीं वच सके हैं।''

चतुर्थ, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही जातिगत समुदायों का झुकाव राजनीति की ओर हो गया था जबकि ब्रिटिश शासन ने भारत में एक मजवूत प्रशासनिक व्यवस्था की नींव डाली थी। सबसे पहले इनका ध्यान जनगणना कार्यालय की ओर गया जहां जातीय समुदायों ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्ति के ध्येय से अपने संगठन का नामकरण कराना आवश्यक समझा। बाद में अपनी जाति के लोगों के हितों के संरक्षण के लिए जातीय संघों ने प्रस्ताव पारित किए और शासन को अपनी मांगों के लिए प्रभावित करना प्रारम्भ किया। यहां तक कि कुछ जातियों ने शैक्षणिक सुविधा, शिक्षण संस्थाओं में जातिगत आरक्षण और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की मांग की। मद्रास की वेनियर (Vanniyars) जाति के नेता पदायची (Padayachi) ने सी. राजगोपालाचारी के मन्त्रिमण्डल में शामिल होने से इंकार कर दिया क्योंकि उन्होंने उनकी जातीय मांगों को मानने से इंकार कर दिया था। बाद में वे कामराज मन्त्रिमण्डल में शामिल हो गए क्योंकि उन्होंने वेनियरों की मांगें स्वीकार कर ली थीं।

पंचम, निर्वाचनों के दिनों में जातिगत समुदाय प्रस्ताव पारित करके राजनीतिक नेताओं और दलों को अपने जातिगत समर्थन की घोषणा करके अपने हितों को मुखरित करते हैं।

षष्ठ, जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर उतनी नहीं है जितनी स्थानीय और राज्य राजनीति पर है।

सप्तम, जाति और राजनीति के सम्बन्ध स्थैतिक न होकर गतिशील हैं।

भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका

जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण दल है।' **हेरल्ड गोल्ड** के शब्दों में, 'राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्व है।' **प्रो. बी. के. एन. मेनन** का यह निष्कर्ष सही है कि ''स्वतन्त्रता के बाद भारत के राजनीतिक क्षेत्र में जाति का प्रभाव पहले की अपेक्षा बढ़ा है।''[1] **मॉरिस जोन्स** भी लिखते हैं कि, 'जाति के लिए राजनीति का महत्व और राजनीति के लिए जाति का महत्व पहले की तुलना में बढ़ गया है'[2] और विनोबा भावे के अनुसार, 'इसका एक प्रमुख कारण यह है कि 'नवीन संविधान में वयस्क मताधिकार को स्वीकार किया गया है।'

1 V. K. N. Menon's Article, 'Caste, Politics and Leadership in India', *Political Science Review*, Oct., 1964.

2 W. H. Morris Jones, *The Government and Politics of India*, p. 65.

जाति-व्यवस्था भारतीय समाज का एक परम्परागत पक्ष है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् संविधान और राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण से आधुनिक प्रभावों ने भारतीय समाज में धीरे-धीरे प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया। आधुनिक प्रभावों के फलस्वरूप वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन प्रारम्भ हुए और जातिगत संस्थाएं यकायक महत्वपूर्ण वन गयीं क्योंकि उनके पास भारी संख्या में मत थे और लोकतन्त्र में सत्ता प्राप्ति हेतु इन मतों का मूल्य था। जिन्हें सत्ता की आकांक्षा थी उन्हें सामान्य जनता के पास पहुंचने के लिए सम्पर्क सूत्र की भी आवश्यकता थी। सामान्य जनता को अपने पक्ष में मिलाने के लिए यह भी जरूरी था कि उनसे उस भाषा में वात की जाए जो उनकी समझ में आ सके। जाति-व्यवस्था इस बात को प्रकट करती थी। इस पृष्ठभूमि में जाति की भूमिका राजनीति में अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गयी। भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है :

(1) निर्णय प्रक्रिया में जाति की प्रभावक भूमिका—भारत में जातियां संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ, संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गए हैं जिनके कारण ये जातियां संगठित होकर सरकार पर दवाव डालती हैं कि इन सुविधाओं को और अधिक वर्षों के लिए बढ़ा दिया जाए। अन्य जातियां चाहती हैं कि आरक्षण समाप्त किया जाए अथवा इसका आधार सामाजिक-आर्थिक स्थिति हो अथवा उन्हें भी आरक्षित सूची में शामिल किया जाए ताकि वे इसके लाभ से वंचित न रह जाएं।

(2) राजनीतिक दलों में जातिगत आधार पर निर्णय—भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। प्रत्येक दल किसी भी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गणित का अवश्य विश्लेषण करते हैं। कोचेनेक द्वारा अपने अध्ययन के अन्तर्गत आन्ध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र व राजस्थान में कांग्रेस उम्मीदवारों के चयन में जातिगत आधार के अनेक उदाहरण दिए गए हैं। वस्तुतः यह स्थिति कम-अधिक रूप में सभी राज्यों में रही है और साम्यवादी दल सहित सभी राजनीतिक दलों द्वारा इसी व्यवहार को अपनाया गया है। सन् 1962 में गुजरात के चुनाव में स्वतन्त्र पार्टी की सफलता का राज उसका क्षत्रिय जाति के समर्थन में छिपा हुआ था। हरिजन-मुसलमान-ब्राह्मण शक्तिपुंज बनाकर ही 1971 का आम चुनाव कांग्रेस ने जीता था। कांग्रेस सहित सभी राजनीतिक दलों में जातीय आधार पर अनेक गुट पाए जाते हैं जिनमें प्रतिस्पर्द्धा की भावना विद्यमान रहती है।

(3) जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार—भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहा है उस निर्वाचन क्षेत्र में जातिवाद की भावना को प्रायः उकसाया जाता है ताकि सम्बन्धित प्रत्याशी की जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त कर सके। उत्तर प्रदेश के चुनावों में चरण सिंह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों की एकजुटता पर निर्भर रही है। उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह तथा बिहार में लालू प्रसाद यादव अपनी जाति के नेता के रूप में नवें दशक की राजनीति में उभरे तथा आगे चलकर वे कुछ सीमा तक अन्य पिछड़ी जातियों का समर्थन प्राप्त करने में सफल रहे। केरल के चुनावों में साम्यवादी और मार्क्सवादी दलों ने भी वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया है।

मतदान व्यवहार के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि चुनाव के अन्तर्गत कोई महत्वपूर्ण प्रश्न या समस्या सामने हो तो फिर जाति के तत्व का प्रभाव बहुत कम हो जाता है। 1971 के लोकसभा चुनाव, 1977 के लोकसभा चुनाव, 1980 के लोकसभा चुनाव तथा दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनाव में यही स्थिति थी। नवीं लोकसभा (1989) और दसवीं लोकसभा (1991) के चुनावों में देखा गया कि बिहार के अतिरिक्त अन्य किसी भी राज्य में जाति का तत्व अधिक या बहुत अधिक प्रभावशाली नहीं रहा, लेकिन इसके नितान्त विपरीत नवम्बर 1993 में उ. प्र. विधानसभा के चुनाव में जाति के तत्व की लगभग निर्णायक भूमिका रही। इन चुनावों में पिछड़ी जातियों और अनुसूचित जातियों के बीच गठबन्धन की स्थिति बन गई तथा इस गठबन्धन ने सत्ता प्राप्त कर ली। अन्य पिछड़ी जातियों के साथ अनुसूचित जातियों के गठबंधन की यह स्थिति अल्पकालीन ही रही।

ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनाव में उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे कुछ राज्यों में जाति के तत्व की भूमिका और कुछ निर्वाचन क्षेत्रों में प्रभावशाली भूमिका देखी गई; लेकिन इस

आधार पर यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि जनता ने राजनीति में जातिवादी सोच को अपना लिया है। इस स्थिति का एक बड़ा कारण यह है कि राजनीतिक दल जनता के सामने कोई मुद्दे प्रस्तुत नहीं कर पाये और चुनावी राजनीति जातिवादी सोच की दिशा में प्रेरित हुई, लेकिन इस सोच को अपनाना उचित नहीं होगा कि लम्बे समय तक यही स्थिति बनी रहेगी।

(4) मन्त्रिमण्डलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व—राजनीतिक जीवन में जातीयता का सिद्धान्त इतना गहरा धंस गया है कि राज्यों के मन्त्रिमण्डलों में प्रत्येक प्रमुख जाति का मन्त्री होना चाहिए। यह सिद्धान्त प्रान्तों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया है कि प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए। यहां तक कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में भी हरिजनों, जनजातियों, सिक्खों, मुसलमानों, ब्राह्मणों, जाटों और राजपूतों को किसी न किसी रूप में स्थान अवश्य दिया जाता है।

(5) जातिगत दबाव समूह—मेयर के अनुसार, "जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दवाव समूह के रूप में प्रवृत्त हुए हैं।" **प्रो. जे. सी. जौहरी** के अनुसार, "जातिगत दबाव समूह अपने निहित स्वार्थों एवं हितों की पूर्ति के लिए नीति-निर्माताओं को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं उससे तो उनकी तुलना यूरोप और अमरीका में पाए जाने वाले ऐच्छिक समुदायों से की जा सकती है।"

अनेक जातीय संगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु में नाडार जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासभा, बिहार में यादव सभा, आदि राजनीतिक मामलों में रुचि लेने लगते हैं और अपने-अपने संगठित बल के आधार पर राजनीतिक सौदेबाजी भी करते हैं। यद्यपि देश की सभी प्रमुख जातियों को इस प्रकार पूर्णतया संगठित नहीं किया जा सका है। मगर जो जातियां इस प्रकार संगठित नहीं हो सकीं, वे राजनीतिक सौदेबाजी में सफल नहीं रहीं और उनके सदस्यों को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोड़-फोड़ का सहारा लेना पड़ा।

(6) जाति एवं प्रशासन—लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है। केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियों एवं पदोन्नतियों के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है। मेडिकल एवं इंजीनियरिंग कॉलेजों में विद्यार्थी की भर्ती हेतु आरक्षण के प्रावधान मौजूद हैं। 8 सितम्बर 1993 से केन्द्र सरकार की सेवाओं में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण लागू हो गया है। ऐसा भी माना जाता है कि भारत में स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी निर्णय लेते समय अथवा निर्णयों के क्रियान्वयन में प्रधान और प्रतिष्ठित अथवा संगठित जातियों के नेताओं से प्रभावित हो जाते हैं।

(7) राज्य राजनीति में जाति—**माइकेल ब्रेचर** के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है।[1] यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों से अछूती नहीं रही है तथापि बिहार, उत्तर प्रदेश, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र राज्यों की राजनीति का अध्ययन तो विना जातिगत गणित के विश्लेषण के कर ही नहीं सकते। **उत्तर प्रदेश और बिहार तो जातिगत राजनीति की मिसाल बन चुके हैं।** बिहार की राजनीति में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजातियां प्रमुख प्रतिस्पर्धी जातियां रही हैं तथा गत पच्चीस वर्षों में तो बिहार की समस्त राजनीति अगड़ों और पिछड़ों के बीच तीव्र संघर्ष में परिणत हो गई है। राजनीतिक और आर्थिक हितों की यह प्रतिस्पर्धा अनेक बार खूनी संघर्षों को जन्म दे देती है। मुसलमानों में भी अगड़ों और पिछड़ों की स्थिति बन गई है। इसके साथ ही पिछड़े मुसलमानों के भी अलग-अलग संगठन बन गए हैं। पसमांदा मुस्लिम महाज और आल इण्डिया बैकवर्ड मुस्लिम मोर्चा—ऐसे कुछ प्रतिस्पर्धी मुस्लिम संगठन हैं, जिनमें समय-समय पर खूनी संघर्ष की स्थिति बन जाती है। केरल में साम्यवादियों की सफलता का राज यही है कि उन्होंने 'इजवाहा' जाति को अपने पीछे संगठित कर लिया। आन्ध्र प्रदेश की राजनीति काम्मा और रेड्डी जातियों के संघर्ष की कहानी है। महाराष्ट्र की राजनीति में मराठा, ब्राह्मणों और महारों में प्रतिस्पर्द्धा रही है। गुजरात की राजनीति में दो ही जातियां प्रभावी हैं—पाटीदार और क्षत्रिय। केरल की राजनीति अपने तीन समुदायों के इर्द-गिर्द घूमती रही है—हिन्दू, क्रिश्चियन और मुसलमान। केरल की राजनीति में अन्तिम दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों के रूप में सक्रिय हैं। कहने को तो वहां सभी प्रकार के राजनीतिक दल हैं, किन्तु उन्हें ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पता चलेगा कि वे सब जातीय संगठन हैं। मुस्लिम लीग मुसलमानों की है, दोनों केरल कांग्रेस के अधिसंख्य

1 **'Caste plays a major role in state and local politics but it is marginal at the all India level'**
—Michael Brecher : *Succession In India*, p. 230

सदस्य ईसाई हैं। रा. प्रा. मो. नायर लोगों की संस्था है। कांग्रेस (इ) और दोनों साम्यवादी दलों में एजवा जाति के अलावा हिन्दुओं के कुछ प्रमुख वर्गों का प्रभाव देखा जा सकता है। राजस्थान की राजनीति में जाट-राजपूत जातियों की प्रतिस्पर्द्धा प्रमुख रही है। संक्षेप में, राज्यों की राजनीति में 'जाति' का प्रभाव इतना अधिक हो रहा है कि टिंकर जैसे विद्वानों ने विचार व्यक्त किया है कि "भारत के बहुत बड़े भाग में आगे आने वाले अनेक वर्षों तक राज्यों की राजनीति जातियों की राजनीति बनी रहेगी।"[1]

एक विशेष बात यह है कि संविधान के अन्तर्गत जातिगत आधार पर आरक्षण और संरक्षणों की जो व्यवस्था की गयी है "उसने जाति को और प्रभावशाली बनाया है तथा राजनीति पर जाति की पकड़ और गहरी हो गयी है।" वस्तुतः जातियों को राजनीतिक आधार पर दिए गए सभी विशेष अधिकारों से वंचित कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि ये प्रतिबन्ध समतावादी समाज की धारणा को आघात पहुंचाते हैं। इस सम्बन्ध में जैसा कि श्रीनिवासन् ने कहा, "इन विशेष उपबन्धों से बहुत अधिक लाभ प्राप्त करने वाली जातियां पिछड़ेपन के विशेषाधिकार को छोड़ने की अनिच्छा प्रदर्शित करती हैं।" थोड़े समय के लिए इन व्यवस्थाओं की भले ही आवश्यकता रही हो, लेकिन और अधिक समय तक इन्हें जारी रखना भारतीय लोकतन्त्र के हित में नहीं होगा।

जाति की भूमिका : वरदान या अभिशाप

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कई लोग जाति को 'राजनीति का केन्सर' मानते हैं। जाति प्रथा को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक माना जाता है क्योंकि इससे व्यक्तियों में पृथकतावाद की भावना जाग्रत होती है। राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने जातिगत हितों को अधिक महत्व देने लगते हैं। जातिगत निष्ठाओं का सृजन कर यह प्रथा लोकतन्त्र के विकास मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। डी. आर. गाडगिल के अनुसार, 'क्षेत्रीय दबावों से कहीं ज्यादा खतरनाक बात यह है कि वर्तमान काल में जाति व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने में बाधक सिद्ध हुई।' प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवासन् का स्पष्ट मत है कि परम्परावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनीतिक संस्थाएं अपने मूलरूप में कार्य करने में समर्थ नहीं रही हैं।

दूसरी तरफ अमरीकी लेखकों **रूडोल्फ** एण्ड **रूडोल्फ** का मत है कि जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता के सांचे में ढालने का कार्य किया है। वे लिखते हैं, "अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में कृषक समाज में प्रतिनिधि लोकतन्त्र की सफलता तथा भारतीयों की आपसी दूरी कम करके उन्हें अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता दी है।"[2]

राजनीति में जाति के प्रभाव का एक अन्य पक्ष भी है। यदि एक ओर जाति ने समाज को टुकड़ों में बांटने वाले तत्व की भूमिका अदा की है तो दूसरी ओर इसने जोड़ने वाले तत्व का भी कार्य किया है, जिसकी ओर कम ध्यान दिया गया है। भारतीय समाज में जाति प्रभावदायक सम्पर्क सूत्र तथा नेतृत्व और संगठन का आधार प्रदान करती है और उन व्यक्तियों को भी प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया में भाग लेने की क्षमता प्रदान करती है जो परम्परागत दृष्टि से समाज के निचले स्तर पर हैं। एक अन्य तत्व यह है कि "जाति पर राजनीतिक व्यवस्था के प्रभाव के परिणामस्वरूप जाति व्यवस्था में अधिक विवेकात्मकता का संचार हुआ है।"[3] जाति व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही राजनीतिक शक्ति उन वर्गों या समूहों के हाथों में पहुंच सकी है, जो अब तक उससे वंचित थे। वस्तुतः अब तक राजनीति में जाति की भूमिका को गलत रूप में समझा गया और उसके सकारात्मक योगदान की अवहेलना की गयी है।

निष्कर्ष—भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका के प्रसंग में कुछ बातें निष्कर्ष रूप में कही जा सकती हैं : **प्रथम**, जाति प्रथा किसी न किसी रूप में विश्व के हर देश में पायी जाती है और विश्व के अन्य देशों

1 "......State politics will be Caste Politics throughout most of India for many years to come."
—*Tinker*

2 Llyod I. Roudolph and S.H. Roudolph, *'The Modernity of Tradition'* (Orient Longman, 1960), p. 11.

3 "Association of politics with caste has led to injection of greater rationality into the Caste System."
—Kinl's 'Caste as a Factor in State Politics' in Iqbal Narain (ed) : *State Politics in India*, p. 563.

की तुलना में भारत में जाति का तत्व अधिक प्रभावशाली स्थिति रखता है। आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप जाति का तत्व लगभग पूर्णतया समाप्त हो जाएगा, यह सोचने का कोई आधार नहीं है। कोई भी सामाजिक तन्त्र पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता। राजनीति में जाति के तत्व का प्रभाव बना ही रहेगा, क्योंकि राजनीति का खेल शून्य में नहीं खेला जा सकता, यह खेल सामाजिक जीवन में ही संचालित होता है। राजनीति में जाति के तत्व की भूमिका है और बनी रहेगी, आवश्यकता इस बात की है कि जाति का तत्व अपनी सीमाओं में रहे।

द्वितीय, राजनीति में जाति का तत्व वरदान है या अभिशाप, इस प्रकार के प्रश्न का कोई महत्व नहीं है। जाति की भूमिका एक स्वाभाविक तत्व है और जाति की भूमिका सम्पूर्ण अंशों में न तो वरदान है और न ही अभिशाप; जाति के तत्व का प्रभाव हितकारी होगा या अहितकारी, यह तो जातिगत तत्व की मात्रा और उसके स्वरूप पर निर्भर करता है। यदि जाति का तत्व अपने उदार रूप में है और कमजोर वर्गों को विकास के मार्ग पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है तो यह पूर्णतया वांछित स्थिति है, लेकिन यदि जाति का तत्व अपनी सीमाओं को लांघकर राजनीति का सर्वप्रमुख निर्धारक तत्व बन जाता है और अन्य जातियों के साथ टकराव की प्रेरणा देता है, तो इसमें अनौचित्य के अतिरिक्त क्या शेष रह जाता है? बुराई धर्म और जाति में नहीं है, बुराई तो **धार्मिक कट्टरता और जातीय कट्टरता** में है। यह जातीय कट्टरता जातीय हिंसा का कारण बनती है और न केवल राजनीति, वरन् समस्त सामाजिक जीवन को विषाक्त कर देती है। आज विहार, उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु आदि राज्यों में यही स्थिति है। बिहार में 'रणवीर सेना' (राजपूतों या जमींदारों की सेना) और माले (दलित वर्ग) या एम. सी. सी. के बीच खूनी जंग छिड़ी हुई है। उत्तर प्रदेश में विभिन्न जातियों के बीच, विशेषतया यादव आदि अन्य पिछड़ी जातियों और अनुसूचित जातियों के बीच आपसी विरोध की कोई सीमा नहीं रही हैं। जातियों ने अपने आपको सीधे ही राजनीतिक दलों के साथ जोड़ लिया है और अपराधी गिरोहों के साथ जुड़ी हुई दलीय राजनीति का अंग बनकर रह गई हैं। इसी प्रकार तमिलनाडु के दक्षिणी जिलों में अन्य पिछड़ी जातियों (थेवर और नाडार) के साथ दलित जातियों के संघर्ष की स्थितियों ने बहुत गंभीर रूप ले लिया है। आरक्षण की राजनीति ने भी जातिगत भेदों को और गहरा कर दिया है। ये जातीय संघर्ष लोकतंत्र की दृष्टि से बहुत घातक हैं।

प्रश्न यह है कि राजनीति में इस जातिगत विद्वेष के लिए उत्तरदायी कौन है? इस प्रसंग में सामान्य जन की तुलना में अभिजन का दायित्व अधिक है और मूल रूप से तो दलीय राजनीति और चुनावी राजनीति ही दोषी है। गत एक दशक से स्थिति यह है कि राजनीतिक दल आर्थिक विकास का कोई कार्यक्रम जनता के सामने प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। चुनावों में आर्थिक और राजनीतिक विकास के कोई मुद्दे नहीं हैं और राजनीतिक खेल धार्मिक भेदों तथा अगड़ों, पिछड़ों और दलितों को आपस में बांटकर खेला जा रहा है। राजनीतिक दल 'वोट राजनीति की प्रेरणा' से जातिगत विद्वेष का वातावरण बना रहे हैं। राजनीतिक दल विकास की ओर उन्मुख राजनीति को अपनावें, चुनावों में जनता के सामने आर्थिक विकास के वैकल्पिक कार्यक्रम प्रस्तुत करें तभी राजनीति में जाति की भूमिका को मर्यादित किया जा सकेगा और इस भूमिका को रचनात्मक दिशा दी जा सकेगी। आवश्यकता इस बात की है कि जाति का जो रूप ऊंच नीच का भेद उत्पन्न करने वाला और टकराव के लिए प्रेरित करने वाला है, उसे समाप्त किया जाय, लेकिन राजनीति में जाति की जो स्वस्थ उदारवादी और सम्पर्क सूत्र प्रदान करने वाली भूमिका है, उसे न केवल बनाये रखा जाना चाहिए, वरन् विकसित किया जाना चाहिए।

प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में जाति के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि 'जाति भारतीय राजनीति का सबसे प्रमुख निर्धारक तत्व है।'
2. "जातियां आधारभूत सामाजिक इकाइयां हैं और हमारे राजनीतिक जीवन में अभी भी प्रभावशाली हैं ......।" इस कथन के सन्दर्भ में भारत की राजनीति में जाति के योगदान का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
4. रजनी कोठारी तथा रूडोल्फ के विचारों के विशेष सन्दर्भ में भारत में जाति और प्रजातांत्रिक राजनीति के बीच प्रतिक्रिया की व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ''स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति में जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी देशों में दवाब गुट।'' यह कथन किसका है?
   (अ) ग्रेनविल ऑस्टिन (ब) रजनी कोठारी
   (स) मॉरिस जोन्स (द) हेरल्ड गोल्ड
2. सामान्यतया जाति प्रथा की उत्पत्ति कब से मानी जाती है?
   (अ) वैदिककाल से (ब) मौर्यकाल से
   (स) गुप्तकाल से (द) मुगलकाल से
3. 'कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स' (*Caste in Indian Politics*) पुस्तक के लेखक हैं :
   (अ) मॉरिस जोन्स (ब) रजनी कोठारी
   (स) ग्रेनविल ऑस्टिन (द) हेरल्ड गोल्ड
4. ''जाति भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण दल है।'' यह कथन किसका है :
   (अ) हेरल्ड गोल्ड (ब) मॉरिस जोन्स
   (स) जयप्रकाश नारायण (द) महात्मा गांधी
5. सितम्बर 1993 से केन्द्र सरकार की सेवाओं में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए कितने प्रतिशत आरक्षण लागू किया गया :
   (अ) 12 प्रतिशत (ब) 16 प्रतिशत
   (स) 21 प्रतिशत (द) 27 प्रतिशत
6. तमिलनाडु में 'द्रविड़ कड़गम' संगठन की स्थापना किसके द्वारा की गई थी :
   (अ) रामास्वामी नायकर (ब) सी. एन. अन्नादुराई
   (स) राजगोपालाचारी (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
7. 'राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्व है।' यह कथन किसका है?
   (अ) हेरल्ड गोल्ड का (ब) प्रो. वी. के. एन. मेनन का
   (स) मोरिस जोन्स का (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

[उत्तर—1. (अ), 2. (अ), 3. (ब), 4. (स), 5. (द), 6. (अ), 7. (अ)]

16

धर्म और साम्प्रदायिकता

[RELIGION AND COMMUNALISM]

संविधान द्वारा भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है फिर भी भारतीय राजनीति में धर्म की एक विशेष भूमिका है। हम धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना तो कर पाए हैं, किन्तु धर्मनिरपेक्ष समाज की नहीं। धार्मिक विभिन्नता के कारण समाज में विभिन्न प्रकार के तनाव पैदा होते हैं और इन तनावों को बढ़ाने में राजनीतिज्ञ भी भूमिका अदा करते हैं। इससे उनके स्वार्थ सिद्ध होते हैं। बी. जी. गोखले जैसें अनेक व्यक्तियों ने आशा व्यक्त की थी कि **'राजनीति से धर्म के अलग हो जाने से हिन्दू और मुसलमानों के पुराने विरोध फिर कभी उत्पन्न नहीं होंगे।'**[1] किन्तु पिछले 40 वर्षों में गुजरात, बिहार, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश, आदि राज्यों में हुई घटनाएं इस बात का सबल प्रमाण हैं कि साम्प्रदायिक वैमनस्य अभी भी विद्यमान है, जो छोटी-छोटी घटनाओं से भभक उठता है और भारत की राजनीति एवं शासन उससे आक्रान्त हो उठते हैं।

स्वाधीनता के बाद शुरू हुई चुनावों की राजनीति में धर्म और सम्प्रदाय के नकारात्मक महत्व को उभारा है। किसी ने लिखा है कि "पहले लोग समझते थे कि राजनीति धर्म और सम्प्रदाय का शोषण करती है पर अब हालत यह हो गई है कि धर्म और सम्प्रदाय राजनीति का शोषण करने लगे हैं।" एक तरह से सम्प्रदाय राजनीतिक दलों के लिए वोट बैंक बन गए हैं। राजनीतिक शक्ति के रूप में धर्म और सम्प्रदाय का खूब दुरुपयोग हो रहा है। राजनीतिक दल सम्प्रदाय एवं जाति की घटती-बढ़ती निष्ठा के खिलौने बनकर रह गए हैं।

धर्म और राजनीति में पारस्परिक क्रिया

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों में 'धर्म और साम्प्रदायिकता' अत्यन्त प्रभावशाली तत्व माना जाता है। धर्म का प्रयोग राजनीति में जहां एक ओर तनाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है वहीं दूसरी ओर प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का भी धर्म माध्यम मान लिया जाता है। जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी और जय गुरुदेव की राजनीतिक शक्ति की आधारशिला उनके अपने-अपने सम्प्रदायों के अनुयायियों का संख्या बल है। धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण होता है, चुनावों में समर्थन और मत प्राप्त करने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता है। जनता से की जाने वाली अपीलों, उन्हें दिए जाने वाले आश्वासनों, निर्वाचनों में प्रत्याशियों के चयन तथा मतदान व्यवहार में धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है। धर्मनिरपेक्ष संविधान अपनाए जाने के बाद भी धर्म और सम्प्रदाय भारतीय राजनीति के स्वरूप को निम्नलिखित ढंग से प्रभावित करते रहे हैं :

(1) **धर्म और राजनीतिक दल**—स्वाधीनता के बाद धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर भारत में राजनीतिक दलों का गठन हुआ है। मुस्लिम लीग, शिरोमणि अकाली दल, रामराज्य परिषद, हिन्दू महासभा, आदि राजनीतिक दलों के निर्माण में धार्मिक और साम्प्रदायिक तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी संक्रामक[2] तो इन दलों के शासन और राजनीति पर प्रभाव को सहज ही आंका जा सकता है। ये साम्प्रदायिक दल राजनीति में धर्म को प्रधानता देते हैं, धर्म के आधार पर चुनावों में प्रत्याशियों का चयन करते हैं और सम्प्रदाय के नाम पर वोट मांगते हैं। चुनावों में धार्मिक मुद्दों जैसे गौ-वध को बन्द

1 "The Muslims in India today constitute the largest single minority but as the problem of religion is withdrawn from the turmoil of Politics it is unlikely that the old antagonisms between the Hindus and the Muslisms will ever occur again."
—B. G. Gokhle, *The Making of the Indian Nation*, p. 243.

2 रामधारी सिंह दिनकर ने इसे संक्रामक रोग कहा है। **'संस्कृति के चार अध्याय'**, पृ. 638.

करवाने, आदि को उठवाने का प्रयत्न करते हैं। प्रो. मॉरिस जोन्स ने लिखा है, "यदि साम्प्रदायिकता को संकुचित अर्थ में लिया जाए अर्थात् कोई राजनीतिक पार्टी किसी विशेष धार्मिक समुदाय के राजनीतिक दावों की रक्षा के लिए बनी हो तो कुछ पार्टियां ऐसी हैं जो स्पष्ट रूप से अपने को साम्प्रदायिक कहती हैं जैसे मुस्लिम लीग जो भारत में सिर्फ दक्षिण भारत में रह गई है और जो मालावार मोपला समुदाय के बल पर केवल केरल में ही शक्तिशाली है, सिखों की अकाली पार्टी जो सिर्फ पंजाब में ही है, हिन्दू महासभा जिसका अब कोई प्रभाव क्षेत्र नहीं रहा।"

जनसंघ पर साम्प्रदायिक दल होने के आरोप लगाए जाते थे तथा 1991-97 के वर्षों में 'भारतीय जनता पार्टी' ने अपने आपको जिस प्रकार 'मन्दिर विवाद' के साथ जोड़ा है, उसके आधार पर इस पार्टी पर भी कुछ लोगों द्वारा साम्प्रदायिकता का आरोप लगाया जाता है। वस्तुतः कांग्रेस और साम्यवादी दल सहित अन्य राजनीतिक दल भी साम्प्रदायिकता से मुक्त नहीं हैं। केरल में ईसाई समुदाय के साथ कांग्रेस का ऐसा गठजोड़ रहा है कि इसे साम्प्रदायिक कहा जा सकता है। यहां तक कि साम्यवादियों ने भी कुछ जगहों पर और कतिपय प्रयोजनों के लिए साम्प्रदायिक क्षेत्र तैयार कर लिए हैं।[1]

(2) धर्म और निर्वाचन—भारत में अधिकांश राजनीतिक दल और उनके नेता चुनावों में धर्म और सम्प्रदाय की दलीलों के आधार पर वोट मांगते हैं। वोट बटोरने के लिए मठाधीशों, इमामों, पादरियों और साधुओं के साथ सांठ-गांठ की जाती है। मतदान के अवसरों पर मत मांगने वाले और मतदान करने वालों के आचरण पर धार्मिक तत्व छाए रहते हैं। मार्च 1977 और फ़रवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के दिनों में दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम की भूमिका के आधार पर आसानी से यह समझा जा सकता है कि धार्मिक नेता राजनीतिक दलों से मुस्लिम सम्प्रदाय के वोटों का किस प्रकार सौदा करते हैं? राजनीतिक नेता की भांति शाही इमाम ने चुनाव सभाओं में भाषण दिए और मुस्लिम सम्प्रदाय के मतदाताओं को किसी विशेष राजनीतिक दल के पक्ष में मतदान करने के लिए प्रेरित किया। किसी संवाददाता ने लिखा है, "सवाल उठता है कि समाजवाद और गणतन्त्र की बात करने वाले अगर इमाम के नाम से वोट पाना चाहेंगे तो हो सकता है कि बलराज मधोक जैसे लोग शंकराचार्य के नाम पर वोट मांगने लगें। फिर क्या इस देश को इमाम और शंकराचार्य के बीच चुनाव करना पड़ेगा।" 1989 के लोकसभा चुनावों में धार्मिक नेताओं और धार्मिक प्रश्नों की भूमिका रही और मई '91 में आयोजित दसवीं लोकसभा के चुनाव में साम्प्रदायिक प्रश्न छाए हुए रहे। ग्यारहवीं लोकसभा के चुनावों में साम्प्रदायिक प्रश्नों का कुछ प्रभाव रहा है, लेकिन यह प्रभाव दसवीं लोकसभा चुनावों की तुलना में निश्चित रूप से कम था। चौदहवीं लोकसभा के चुनाव भी धर्म और सम्प्रदाय के प्रश्नों से पूर्णतया मुक्त नहीं रहे, यद्यपि उनका प्रभाव सीमित ही रहा।

(3) राजनीति में धार्मिक दबाव गुट—धार्मिक संगठन भारतीय राजनीति में सशक्त दबाव समूहों की भूमिका अदा करने लगे हैं। ये धार्मिक गुट शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं और कभी-कभी अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवाते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं की आपत्ति और आलोचना के बावजूद 'हिन्दू कोड बिल' पास कर दिया गया, किन्तु दूसरे सम्प्रदायों के सम्बन्ध में ऐसा कोई साहसपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सका। स्वतन्त्रता के बाद अनेक मुस्लिम संगठनों जैसे जमीयत-उल-उलेमा-ए-हिन्द, जमायते शरिया, जमायते इस्लामी, आदि ने कम से कम तीन बातों के लिए सरकारी नीतियों को प्रभावित कर 'दबाव गुटों' की भूमिका अदा की है। ये तीन बातें हैं—उर्दू को संवैधानिक संरक्षण दिया जाए, अलीगढ़ विश्वविद्यालय का अल्पसंख्यक स्वरूप बनाए रखा जाए और मुस्लिम पर्सनल लॉ के बारे में कोई तब्दीली न की जाए। 1986 में मुस्लिम वर्ग के साम्प्रदायिक दबाव ने 'मुस्लिम महिला संरक्षण कानून' पारित करवाया, जिससे 'शाहबानो विवाद' में सर्वोच्च न्यायालय का प्रगतिशील निर्णय शून्य हो गया।

(4) मन्त्रिमण्डल के निर्माण में धार्मिक आधार पर प्रतिनिधित्व—केन्द्र और राज्यों में मन्त्रिमण्डल बनाते समय सदैव इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि प्रमुख सम्प्रदायों और धार्मिक विश्वासों वाले व्यक्तियों को उसमें प्रतिनिधित्व मिल जाए। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में अल्पसंख्यकों जैसे मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों को सदैव प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

[1] मॉरिस जोन्स, भारतीय शासन पद्धति (अनुवाद), पृ. 190.

(5) धर्म और राष्ट्रीय एकता—धर्म और साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता के लिए घातक माने जाते हैं। धार्मिक मतभेदों के परिणामस्वरूप ही हमारे देश का विभाजन हुआ और उसी के कारण आज भी विघटनकारी तत्व सक्रिय हैं।

(6) राज्यों की राजनीति में धर्म की प्रभावक भूमिका—धर्म और धार्मिक समुदायों का भारतीय राजनीति में कितना प्रभाव है, केरल और पंजाब राज्यों की राजनीति इसके लिए सन्दर्भ प्रस्तुत करती है।

केरल की राजनीति का ऊपरी आवरण चाहे वामपन्थी रंग से रंगा हुआ नजर आए, किन्तु उसका अन्तरंग धार्मिक और साम्प्रदायिक गुटों के गठजोड़ से बनता है।[1] राज्य राजनीति में दो प्रकार के दवाव समूह पाए जाते हैं—साम्प्रदायिक और व्यावसायिक। साम्प्रदायिक दवाव समूहों में नय्यर सर्विस सोसाइटी, श्री नारायण धर्म परिपालन युगम् और अनेक ईसाई संगठन प्रमुख हैं। जमींदार, धनिक वर्ग, व्यापारी, आदि इन्हीं संगठनों से जुड़े हुए हैं। अतः ये साम्प्रदायिक व धार्मिक गुट शासन की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। प्रगतिशील समझे जाने वाले साम्यवादी दल भी केरल में धार्मिक दबाव गुटों से अपना तालमेल बिठाकर चुनावी राजनीति का खेल खेलते हैं।

धर्म और राजनीति की अन्तःक्रिया को समझने के लिए पंजाब राज्य की राजनीति विशिष्ट महत्व रखती है। पंजाव की राजनीति अकाली दलों की आन्तरिक राजनीति तथा सशक्त और समृद्ध शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के निर्वाचनों के इर्द-गिर्द घूमती रही है। अधिक दूर न जाकर पिछले दो-तीन वर्षों की राजनीतिक घटनाओं का विश्लेषण करें तो धर्म की राजनीतिक भूमिका का अनुमान लगाया जा सकता है।

"शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के चुनाव प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करते हैं और अकाली दल पंजाब की राजनीति को। सिख जाति के सर्वोच्च धार्मिक नेताओं द्वारा अकाल तख्त से जारी किए गए फरमान ने अकाली दल के प्रधान का चुनाव रोक दिया।"[2] स्वर्ण मंदिर के सामने स्थित अकाल तख्त की स्थापना गुरु गोविन्दसिंह ने एक राजनीतिक शक्ति के रूप में की थी। पंजाब की राजनीति में अकाल तख्त का स्वरूप एवं भूमिका एक समानान्तर सरकार की भांति है जिस पर समकालीन सरकार के आदेश लागू नहीं होते। अनेक बार धार्मिक विवादों के साथ-साथ राजनीतिक विवादों के बारे में भी फैसले अकाल तख्त करता है। समय-समय पर और विभिन्न क्षेत्रों में मन्दिर और मस्जिद भी राजनीतिक भूमिका के केन्द्र बन जाते हैं।

अभी 1998-99 में साम्प्रदायिकता की समस्या एक नये रूप में सामने आई है। समस्या का नया रूप है: हिन्दू धार्मिक समुदाय और ईसाई धार्मिक समुदाय के बीच धर्मान्तरण और पुनर्धर्मान्तरण को लेकर विवाद। यह विवाद विशेष रूप से गुजरात, उड़ीसा और मध्य प्रदेश आदि राज्यों अर्थात् जनजाति बहुल राज्यों और क्षेत्रों में देखा गया है। इस विवाद और समस्या का हल प्रारंभिक स्तर पर ही हो जाय, सभी सम्बद्ध पक्षों द्वारा इस दिशा में प्रयत्न किये जाने चाहिए। इस सत्य को हृदयंगम करने की आवश्यकता है कि उदारता, सहिष्णुता और मानवीयता धर्म, धार्मिक जीवन और धार्मिक आस्था के अनिवार्य अंग हैं।

साम्प्रदायिकता का अर्थ

साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएं व क्रियाकलाप आ जाते हैं **जिनमें किसी धर्म अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाए, उन हितों को राष्ट्रीय हितों से भी अधिक प्राथमिकता दी जाए तथा उस समूह में पृथकता की भावना उत्पन्न की जाए या उसको प्रोत्साहन दिया जाए।** पारसियों, बौद्धों, जैनों तथा ईसाइयों के अपने-अपने संगठन हैं, साथ ही वे अपने सदस्यों के हितों की साधना में लिप्त रहते हैं, परन्तु ऐसे संगठनों को सामान्यतः साम्प्रदायिक नहीं कहा जाएगा क्योंकि वे किसी पृथकता की भावना से प्रेरित नहीं हैं। इसके विपरीत, मुस्लिम लीग, मुस्लिम मजलिस, हिन्दू महासभा, बजरंग दल और अन्य कुछ संगठनों को साम्प्रदायिक कहा जाएगा क्योंकि वे धार्मिक अथवा भाषा समूहों के अधिकारों तथा हितों को राष्ट्रीय हितों के भी ऊपर रखते हैं। **बिन्सेण्ट स्मिथ के शब्दों में,** "एक साम्प्रदायिक व्यक्ति या व्यक्ति समूह वह है जो कि प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषाई समूह को एक ऐसी पृथक सामाजिक तथा राजनीतिक इकाई मानता

1 दिनमान, 16-22 दिसम्बर, 1979, पृ. 22.

2 रजनी कोठारी, भारत में राजनीति (अनुवाद), पृ. 227.

है, जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते हैं और उनके विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समूह की विचारधारा को सम्प्रदायवाद या साम्प्रदायिकता कहा जाएगा।''

सामान्यतः एक सम्प्रदायवादी का दृष्टिकोण समाज विरोधी होता है। उसको समाज विरोधी इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि वह अपने समूह के संकीर्ण हितों को पूरा करने के लिए अन्य समूहों के और सम्पूर्ण देश के भी हितों की अवहेलना करने से पीछे नहीं हटता। साम्प्रदायिक संगठनों का उद्देश्य शासकों के ऊपर दबाव डालकर अपने सदस्यों के लिए अधिक सत्ता, प्रतिष्ठा तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना होता है।

जब एक समुदाय समझ-बूझकर धार्मिक-सांस्कृतिक भेदों के आधार पर राजनीतिक मांगें रखने का निर्णय करता है तब सामुदायिक चेतना सम्प्रदायवाद के रूप में एक राजनीतिक सिद्धान्त बन जाती है। राजनीतिक स्वायत्तता को तब सांस्कृतिक स्वायत्तता सुरक्षित रखने की अनिवार्य शर्त घोषित कर दिया जाता है। **'बहुसंस्कृतीय समाज में सामाजिक तनाव तथा टकराहट वास्तव में विभिन्न समूहों के बीच चल रहे सत्ता द्वन्द्व के लक्षण हैं। इस पारस्परिक द्वन्द्व को सैद्धान्तिक स्तर पर धर्म की शिला पर खड़ा करना एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में सम्प्रदायवाद का मूल सार है।''**[1]

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का उदय

मानव इतिहास में धर्म के नाम पर सदैव विवाद उठते रहे हैं और भारत में भी यह स्थिति रही है। स्वाधीनता आन्दोलन के समय अंग्रेजों ने भारत में अपना शासन बनाए रखने के लिए धार्मिक भेदभावों का विशेष लाभ उठाया। अंग्रेजी शासन में साम्प्रदायिक भावनाओं को राजनीतिक रूप मिलने का एक कारण यहां प्रतिनिधि या निर्वाचित संस्थाओं की स्थापना थी। अंग्रेज लोग भारत में प्रतिनिधित्व का अर्थ अलग-अलग समूहों, वर्गों, हितों, क्षेत्रों, संस्थाओं और सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व समझते थे। उन्होंने भारत के अनेक सम्प्रदायों और जातियों की समस्या को इनके स्वाभाविक अस्तित्व बोध और एक-दूसरे की आपसी वैमनस्यता की समस्या समझा और उसका उपाय अलग-अलग धार्मिक समूहों को पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व देने में समझा।

भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या ब्रिटिश शासन की समकालिक है। अंग्रेजों ने भारत में 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति अपनाई ताकि वे हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाते रहें और भारत पर अपनी हुकूमत चलाते रहें। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के निर्माण एवं विकास में जितना अंग्रेजों की कूटनीतिक चाल का हाथ रहा उतना ही हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच राजनीतिक संघर्षों का भी। वास्तव में, समस्या यह थी कि भारत में बसने वाले विभिन्न वर्गों—हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई, आदि के राजनीतिक सत्ता में हिस्सा लेने की मांग को कैसे सन्तुलित किया जाए? भारतीय राजनीति में ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस तथा लीग का एक त्रिभुज बन गया जिसने साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर नए-नए गुल खिलाए। **मेहता और पटवर्द्धन** के शब्दों में, ''अंग्रेजी शासकों ने अपने आपको हिन्दू और मुसलमानों के मध्य खड़ा करके ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुज की रचना का निश्चय किया जिसके आधार बिन्दु वे स्वयं रहे।''

भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का विकास

अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में हिन्दू-मुस्लिम शासकों और नवाबों के हाथों में सत्ता थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी उनसे डरती थी। फलतः उन्होंने हिन्दुओं की सहायता और सहानुभूति प्राप्त करने की कोशिश की। प्लासी के युद्ध के बाद जब कम्पनी के हाथ में शासन-सत्ता आने लगी तो उसने मुसलमानों के प्रति सौतेला व्यवहार किया और हिन्दुओं को नौकरियों में प्रोत्साहन देकर मुसलमानों के प्रति उपेक्षा की नीति अपनाई। **'वहाबी आन्दोलन'** के रूप में मुस्लिम असन्तोष व्यक्त हुआ। सन् 1857 की क्रान्ति में हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर अंग्रेजों का विरोध किया लेकिन अंग्रेज इसे मुस्लिम विद्रोह मानते थे, जिसके माध्यम से मुसलमानों ने मुगल शासन की स्थापना करने की चेष्टा की थी। अतः उन्होंने मुसलमानों के विरोध और दमन की नीति अपनाई, लेकिन कुछ समय बाद हिन्दुओं के विकास, उन्नति और आधुनिकीकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति से अंग्रेज अब हिन्दुओं से डरने लगे। अब उन्होंने मुसलमानों से मित्रता की चातुर्यपूर्ण नीति अपनाई। इसके फलस्वरूप 1893 ई. में **'मोहम्मडन ऐंग्लो ओरियण्टल डिफेन्स ऐसोसिएशन'** की स्थापना हुई। मुसलमानों को खुश करने एवं उनकी राजभक्ति प्राप्त करने के लिए सन् 1905 में कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया।

1 प्रभा दीक्षित, **साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक सन्दर्भ, मैकमिलन, 1980, भूमिका।**

बंगाल का विभाजन 'फूट डालो और शासन करो' की कुटिल नीति का ही परिणाम था। भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य अधिकारों की रक्षा के नाम पर 1906 में ढाका में **'आल इण्डिया मुस्लिम लीग'** की स्थापना हुई। 1906 से ही लीग ने मुसलमानों को आबादी से अधिक स्थान दिए जाने की मांग की। 1909 के मॉर्ले-मिण्टो सुधारों में साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् चुनावों की व्यवस्था का समावेश कर दिया गया। 1916 के लखनऊ पैक्ट के अन्तर्गत मुसलमानों के लिए प्रतिनिधि संस्था के रूप में लीग का अस्तित्व साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा मुसलमानों के लिए प्रतिनिधित्व में गुरुता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, जो एकदम गलत था। 1919 के एक्ट में साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को न केवल मुसलमानों के लिए कायम रखा गया वरन् सिखों, यूरोपियनों और आंग्ल भारतीय समुदायों के लिए भी इसे अपना लिया गया। सन् 1932 के बाद जिन्ना साम्प्रदायिक राजनीति के नायक और भारतीय राजनीति के खलनायक बन गए। सन् 1935 के अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार किया गया। सन् 1940 में जिन्ना ने 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया और अन्त में 1947 में साम्प्रदायिकता के आधार पर भारत का विभाजन हुआ। भारत की संविधान निर्मात्री सभा का शुरू में गठन (1946) प्रान्तों की विधानसभाओं के सदस्यों के साम्प्रदायिक समूहों द्वारा अप्रत्यक्ष रीति से हुआ था।

साम्प्रदायिकता की समस्या के कारण—यह प्रश्न विशेष महत्व का है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी भारत में साम्प्रदायिकता के तत्व क्यों दिखलाई देते हैं? स्वाधीनता से पूर्व अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई थी, किन्तु देश के विभाजन और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पश्चात् भी साम्प्रदायिकता का रंग क्यों दिखलाई देता है? इसके निम्न कारण हैं :

1. **मुसलमानों में पृथक्करण की भावना**—मुसलमानों के एक भाग में पृथक्करण की भावना आज भी विद्यमान है और वे अपने को राष्ट्रीय धारा में शामिल नहीं कर पाए। अनेक मुस्लिम नेताओं ने स्वाधीनता के बाद इस बात का प्रचार किया कि उन्हें मुख्य राष्ट्रीय प्रवाह में शामिल होने के लिए ऐसे राजनीतिक दलों को सहयोग देना चाहिए जिनका विश्वास धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद तथा आर्थिक न्याय में है, परन्तु इन विचारों का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा और अनेक मुस्लिम नेताओं और संगठनों ने इस बात का प्रचार किया कि मुस्लिम सम्प्रदाय के हितों की सुरक्षा के लिए उन्हें राजनीति में एक पृथक इकाई के रूप में भाग लेना चाहिए। 'जमायत-ए-इस्लाम' ने मुसलमानों को सलाह दी कि उन्हें आम चुनावों में भाग नहीं लेना चाहिए। ऐसे ही एक दूसरे संगठन 'जमीयत-उल-उलेमा-ए-हिन्द' ने भी मुसलमानों को राष्ट्रीय राजनीति से पृथक् रहने की सलाह दी। 1948 में मुस्लिम लीग ने पृथक् प्रतिनिधित्व की मांग की। 1961 में 'अखिल भारतीय मुस्लिम लीग' की स्थापना की गई और यह प्रचार किया गया कि भारत में मुस्लिम लीग ही मुस्लिम हितों का संरक्षण कर सकती है। सन् 1971 में मध्यावधि चुनावों के समय नई दिल्ली में देश के अधिकांश भागों के मुस्लिम प्रतिनिधियों ने अखिल भारतीय राजनीतिक सम्मेलन आयोजित किया। इसके पीछे जमायत-ए-इस्लाम का हाथ था। इस प्रकार धर्मान्ध मुस्लिम संगठनों ने सम्प्रदायवाद का स्वतन्त्रता के बाद भी कभी उन्मूलन नहीं होने दिया।

2. **मुसलमानों का आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ापन**—यह बात सच है कि अंग्रेजी काल से ही मुसलमान आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए रहे हैं। स्वाधीनता के बाद भी उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं हो पाई। शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण सरकारी नौकरियों, व्यापार एवं उद्योग-धन्धों में उनकी स्थिति नहीं सुधर पाई। आज भी उनका आधुनिकीकरण नहीं हो पाया है। इससे उनमें असन्तोष बढ़ा और उनका मनोबल भी गिरा है। कभी-कभी यह असन्तोष उग्र रूप ले लेता है और कभी-कभी यह असन्तोष हिंसा के रूप में प्रकट हो जाता है। मुस्लिम वर्ग के इस आर्थिक और शैक्षणिक पिछड़ेपन का सबसे प्रमुख कारण यही है कि इस वर्ग में सामान्यतः विकास की ओर बढ़ने की तीव्र इच्छा जन्म नहीं ले पाई। वस्तुतः तथाकथित मुस्लिम धार्मिक नेताओं ने अपने निहित स्वार्थों के कारण मुसलमानों को शैक्षणिक और आर्थिक विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ने दिया। अब तक जो नेता और जो पार्टियां मुस्लिम राजनीति के केन्द्र में रही हैं, उन्होंने मुसलमानों को पृथक कानून और बाबरी मस्जिद जैसे गैर जरूरी और प्रतिगामी मुद्दों और मदरसों तथा मजहबी शिक्षा के मकड़जाल से बाहर निकलने ही नहीं दिया। यह तथ्य है कि मदरसों ने मुसलमानों को विशिष्ट पहचान देने की कोशिश में हिन्दू-मुसलमान के बीच खाई बढ़ाने का ही कार्य किया है। मदरसों ने मुस्लिम बच्चों में संकीर्ण मानसिकता को जन्म देकर उनके बीच आधुनिकता और शिक्षा को फैलने ही नहीं दिया।

3. पाकिस्तानी प्रचार और षड्यन्त्र—जब कभी भारत में हिन्दू-मुस्लिम तनाव की कोई छुट-पुट घटना भी हो जाती है तो पाकिस्तानी रेडियो तथा समाचार-पत्र इसको राजनीतिक तूल देने का प्रयास करते हैं। वे भारत सरकार की आलोचना करते हैं और ऐसी घटनाओं को हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों का जातिवध (genocide) कहकर पुकारते हैं। पाकिस्तान ऐसा इसलिए करता है जिससे वह साम्प्रदायिक भावनाओं को उत्तेजित कर सके। भारत में गरीब और अशिक्षित मुसलमान भी यह मान बैठते हैं कि पाकिस्तान उनके हितों की रक्षा के लिए कह रहा है। 1981-93 के वर्षों में तो पाकिस्तान ने हिन्दुओं और सिखों के बीच भी साम्प्रदायिक विद्वेष की स्थिति खड़ी करने और बनाये रखने का प्रत्येक संभव प्रयत्न किया।

नवें और अन्तिम दशक में तो पाकिस्तान ने प्रचार की स्थिति से बहुत आगे बढ़कर भारत में साम्प्रदायिक आधार पर गृह युद्ध खड़ा करने के लिए आपराधिक षड्यन्त्रों की स्थिति को अपनाया है। अब यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो गई है; कि मार्च '93 में मुम्बई में बम-विस्फोट की जो घटनाएँ हुईं; वह पाकिस्तानी षड्यन्त्र का परिणाम थीं तथा इन बम-विस्फोटों का वास्तविक उद्देश्य तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच बड़े पैमाने पर खूनी संघर्ष को जन्म देना ही था। 2003-04 के वर्षों से इस सम्बन्ध में पाकिस्तान के दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य ही आया है।

4. संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद—हिन्दू धर्म मूलतः उदारता और सहिष्णुता प्रधान रहा है; लेकिन मुस्लिम साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया और चुनावी राजनीति के छल फरेबों ने कुछ अंशों में संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद की स्थिति को जन्म दे दिया। इस स्थिति से सम्बद्ध कुछ तत्वों द्वारा कहा जाने लगा कि भारत हिन्दुओं का देश है। संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद मुस्लिम साम्प्रदायिकता और ईसाई साम्प्रदायिकता, आदि को बढ़ावा देने का ही कार्य करता है, लेकिन यह संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद हिन्दुत्व की मूल धारा नहीं है, इसे हिन्दू जनसंख्या के बहुत थोड़े भाग ने अपनाया है तथा इस धारा का विस्तार हो पायेगा; ऐसा सोचने का कोई सबल आधार नहीं है।

5. सरकार की उदासीनता—सरकार और प्रशासन की उदासीनता के कारण भी कभी-कभी साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। सामान्य-सी घटना प्रशासन की असावधानी के कारण कई बार साम्प्रदायिक दंगों का रूप ले लेती है। जून 1984 में महाराष्ट्र के भिवण्डी और मुम्बई में जो साम्प्रदायिक दंगे हुए और मई से जुलाई 1987 तक मेरठ में जो 'साम्प्रदायिक ताण्डव' देखा गया और 1993 के प्रारम्भ में मुम्बई तथा अन्य क्षेत्रों में साम्प्रदायिक उपद्रवों की जो स्थिति बनी, उसका एक प्रमुख कारण प्रशासनिक अक्षमता रहा है। मार्च-अप्रैल 2002 ई. में अहमदाबाद तथा गुजरात राज्य के अन्य स्थानों पर लम्बे समय तक साम्प्रदायिक दंगों की जो स्थिति बनी रही और दंगों ने जो गम्भीर रूप लिया, उसका एक कारण प्रशासनिक क्षमता का अभाव अवश्य ही रहा है।

6. दलीय राजनीति, गुटीय राजनीति और चुनावी राजनीति—आज की परिस्थितियों में साम्प्रदायिकता की समस्या का एक बहुत बड़ा कारण संकुचित तथा निहित स्वार्थों से प्रेरित दलीय राजनीति और चुनाव राजनीति है। यह तथ्य है कि भारत के विविध राजनीतिक दल और गुट चुनावी राजनीति को दृष्टि में रखते हुए न केवल साम्प्रदायिकता को स्वीकार करते, वरन् उसे उभारने का कार्य भी करते हैं। इन राजनीतिक दलों ने मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन 'मुस्लिम लीग' को केरल की राजनीति में गले लगाया और ये कभी हिन्दू साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित करते हैं और कभी मुस्लिम साम्प्रदायिकता को। 1950 से लेकर अब तक जो साम्प्रदायिक दंगे हुए, उनमें से अनेक का परोक्ष कारण दलीय राजनीति, गुटीय राजनीति और चुनाव राजनीति रहा है। बार-बार और अनियमित रूप से होने वाले चुनाव साम्प्रदायिकता के विष को तीव्रतर करने का ही कार्य करते हैं। वरिष्ठतम पत्रकार **निखिल चक्रवर्ती** के इन शब्दों में गहरी सच्चाई है : **"सभी दंगों का मूल कारण राजनीतिक होता है और ये दंगे अपने स्वार्थों के लिए राजनीतिज्ञों द्वारा करवाये जाते हैं।"**[1]

इन सबके अतिरिक्त वर्तमान समय में **'मन्दिर-मस्जिद विवाद'** साम्प्रदायिकता के एक बड़े कारण और परिणाम के रूप में सामने आया है। इस विवाद ने 1992-93 के वर्षों में तो हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में ऐसे तनाव की स्थिति को जन्म दे दिया है, जैसी स्थिति 1947 के बाद सम्भवतया कभी भी नहीं थी।

1 *The Times of India*, 8 June, 1991.

साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का उत्तरदायित्व किस पर डाला जाए? यह दूसरा प्रश्न है, पर समस्या यह है कि इस साम्प्रदायिकता के कारण भारतीय जन कल्याण, राष्ट्रीय एकता और संगठन को आज कितना भयंकर खतरा पैदा हो गया है जिसका लाभ हमारे पड़ोस के दुश्मन तक उठाने की ताक में बैठे हैं। अपने उग्र रूप में यह साम्प्रदायिकता कितनी भयंकर हो सकती है, वह तो विभक्त भारत मां अपने कटे अंगों सहित हर पल दिखा रही है और अपनी मर्म व्यथा को मर्मान्तक मूक शब्दों में व्यक्त कर रही है। देश विभाजन की वह महान् क्षति आज भी पूरी नहीं हो पाई है जबकि कुछ समय पहले कश्मीर, रांची, वाराणसी, अलीगढ़, जमशेदपुर, भिवण्डी, हैदरावाद और मेरठ के साम्प्रदायिक दंगों ने उस घाव पर और भी नमक छिड़क दिया है। भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम इस प्रकार रहे हैं :

(1) **आपसी द्वेष**—साम्प्रदायिकता से विभिन्न वर्गों में आपसी द्वेष को बढ़ावा मिलता है। केवल बढ़ावा ही नहीं, वरन् आपसी द्वेष का एक बहुत बड़ा कारण ही साम्प्रदायिकता है। जब हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने हितों के लिए एक-दूसरे से लड़ते हैं तो आपस में द्वेष, वैमनस्य हो जाना स्वाभाविक ही है। यही द्वेष कभी भयंकर रूप धारण कर आतंक फैला देता है, यही द्वेष समाज की शान्ति भंग कर देता है और यही द्वेष समाज के सदस्यों में मार-काट फैला देता है।

(2) **आर्थिक हानि**—साम्प्रदायिकता के कारण आर्थिक हानि भी होती है, न जाने कितनी दुकानें लूटी जाती हैं, न जाने कितनी राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट की जाती है और न जाने कितने व्यक्ति कार्य नहीं कर पाते। इतना ही नहीं, साम्प्रदायिक संस्थाओं पर न मालूम कितना धन व्यय किया जाता है। 1985-87 के वर्षों में गुजरात राज्य में साम्प्रदायिक तनाव और व्यापक दंगों की जो स्थिति खड़ी हुई, उसके सम्बन्ध में अनुमान है कि इन दंगों ने अकेले अहमदाबाद नगर में दो हजार करोड़ रुपए की हानि पहुंचाई। फरवरी-मार्च 2002 ई. में दंगों ने भी गुजरात राज्य में इसी स्थिति को जन्म दिया।

(3) **प्राण हानि**—साम्प्रदायिकता के कारण प्राण हानि भी अत्यधिक होती है। शायद ही कोई ऐसा साम्प्रदायिक दंगा हुआ हो जिसमें कुछ व्यक्तियों की जानें न गई हों। रांची, श्रीनगर, वाराणसी, अलीगढ़, भिवण्डी, हैदराबाद, मेरठ और मुम्बई, आदि के साम्प्रदायिक दंगों का उदाहरण सामने है। इन दंगों में अनेक व्यक्तियों की जानें तो गईं ही अनेक व्यक्ति घायल अवस्था में जीवन और मृत्यु के बीच झूलते रहे।

(4) **राजनीतिक अस्थिरता**—साम्प्रदायिकता का एक दुष्परिणाम राजनीतिक अस्थिरता भी है। साम्प्रदायिकता वह परिस्थितियां उत्पन्न कर देती है, या उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने में सहायक होती है, जिससे कि देश में राजनीतिक अस्थिरता आ जाती है।

(5) **राष्ट्रीय एकता में बाधा**—साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता की गम्भीर शत्रु है। राष्ट्रीय एकता का तात्पर्य है, सभी लोग आपस में एक होकर रहें, सबके हित को अपना हित मानें। जबकि साम्प्रदायिकता इसके विल्कुल विरुद्ध है। इसकी मूल धारणा है कि विभिन्न सम्प्रदाय के व्यक्ति अपने-अपने हितों के लिए संघर्ष करें।

(6) **राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा**—भारत एक बहु सम्प्रदायी देश है। इसमें अनेक अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक व्यक्ति निवास करते हैं और इन्हीं अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के बीच जो साम्प्रदायिक झगड़े और तनाव पैदा होते हैं, उनमें भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को गम्भीर खतरा पैदा हो सकता है।

उपर्युक्त दुष्परिणामों के अतिरिक्त साम्प्रदायिकता से देश में आर्थिक उन्नति व औद्योगिक विकास में भी बाधा पड़ी है। अन्य राष्ट्रों से भारत के सम्वन्धों पर भी साम्प्रदायिकता से बुरा प्रभाव पड़ता है। साम्प्रदायिकता के दुष्परिणामों को दृष्टि में रखते हुए **डॉ. रामधारी सिंह दिनकर** लिखते हैं : **'साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी संक्रामक।'**[1]

साम्प्रदायिकता को दूर करने के सुझाव

साम्प्रदायिकता मानवता के लिए गम्भीर अभिशाप है और भारत जैसे देश में तो यह और भी घातक है। साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए कुछ सुझाव निम्नलिखित हैं :

(1) सरकार को सदैव ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा ऐसा कोई भी कार्य न हो पाये, जिसके द्वारा साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता हो।

1 डॉ. रामधारीसिंह दिनकर : **संस्कृति के चार अध्याय**; पृष्ठ 638.

(2) सर्वत्र इस भावना को प्रोत्साहन दिया जाए कि सब धर्मों के लोग मिल-जुलकर रोज मौन प्रार्थना करें। सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत स्थानों पर जहां प्रार्थना, आदि के कार्यक्रम होते हैं, साम्प्रदायिकता के विरोध का वातावरण बनाया जाए।

(3) शिक्षा में नैतिक या आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश किया जाए। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, इस कारण किसी धर्म-विशेष से जुड़ी हुई शिक्षा को अनुचित समझा जा सकता है, लेकिन नैतिक या आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा धर्मनिरपेक्ष राज्य में भी वहुत अधिक आवश्यक है। अतः इसकी तत्काल व्यवस्था की जानी चाहिए।

(4) सार्वजनिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में बहुमत के आधार पर कोई प्रवृत्ति पैदा न की जाए। सारा कार्य ऐसे ढंग से हो कि अल्पसंख्यकों को अपने अल्पसंख्यक होने का भान ही न रहे।

(5) सरकार को सदैव ही इस प्रकार के कानूनों का निर्माण करना चाहिए, जो कि हर व्यक्ति पर समान रूप से लागू होते हों। कानून लागू होने में किसी प्रकार का जाति, लिंग, धर्म, भाषा एवं सम्प्रदाय सम्बन्धी भेदभाव नहीं होना चाहिए।

(6) भारत में विभिन्न समयों पर अनेक सम्प्रदाय सरकार में उनके विशेष प्रतिनिधित्व की मांग करते हैं। सरकार को इन सबके इस प्रस्ताव को केवल साम्प्रदायिकता के आधार पर ठुकराना होगा और उन्हें 'एक राष्ट्र' का सबक देना होगा क्योंकि विशेष प्रतिनिधित्व की स्थिति से भी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है।

(7) भाषा के सम्बन्ध में भी भारत सरकार को अपनी नीति ठीक करनी होगी। यह भी भारत में साम्प्रदायिकता का एक कारण रहा है तथा आज भी है।

(8) साम्प्रदायिकता का एक वहुत प्रमुख कारण दलीय राजनीति और चुनाव राजनीति है। आवश्यकता इस वात की है कि राजनीतिक दल व्यापक दृष्टिकोण अपनावें और चुनावी राजनीति के एक साधन के रूप में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण न अपनाया जाए। **'वोट बैंक की राजनीति'** से मुक्ति प्राप्त करने पर ही साम्प्रदायिकता को नियन्त्रित कर पाना सम्भव है। साम्प्रदायिक उपद्रवों को नियंत्रित करने के लिये एक प्रमुख सुझाव यह है कि पुलिस बल को सभी प्रकार के राजनीतिक दबाव से मुक्त रखा जाना चाहिये तथा सभी सम्भव उपायों से प्रशासन को अधिक क्षमतावान बनाया जाना चाहिये। इस प्रसंग में कुछ पक्षों द्वारा यह सुझाव दिया जाता है कि साम्प्रदायिक दलों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए, लेकिन ऐसा करने से कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है। इस प्रसंग में कानून और घोषणाओं की अपेक्षा आचरण अधिक महत्वपूर्ण है।

हमें इस बात का गर्व है कि हमारे देश में अनेक धर्मों को मानने वाले और अनेक जातियों के लोग बसते हैं। शायद ही कोई धर्म या जाति के लोग हों जो भारत में न पाए जाते हों। नए भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया, जिसका तात्पर्य यह था कि धर्म को राजनीति से हटा लिया जाए, लेकिन व्यावहारिक रूप से धर्म का प्रभाव भारतीय जनता के मस्तिष्क से नहीं मिटा है और आज भी राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में धर्म के आधार पर भेदभाव किया जाता है। राजनीतिज्ञ और राजनीतिक दल धर्म एवं सम्प्रदाय को राजनीतिक सफलता के लिए एक साधन के रूप में अपनाते रहे हैं। मन्त्रिमण्डल के निर्माण में तथा चुनावों के समय टिकिट के बंटवारे के लिए धार्मिक आधार पर प्रतिनिधित्व की मांग की जाती रही है। कुछ धर्मनिरपेक्षीय हिन्दू नेताओं ने यदि मतदाताओं के रूप में मुसलमानों की हैसियत समाप्त करके उन्हें महज वोटों में बदल दिया है तो सम्प्रदायवादी मुस्लिम नेताओं ने इस वोट शक्ति को अपने संकुचित लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन बना लिया है। राजनीतिक दल इस डर से साम्प्रदायिकता से बचने की कोशिश करते हैं कि वे दूसरे सम्प्रदायों के वोट खो देंगे, परन्तु उनके स्थानीय संगठन स्थानीय झगड़ों का लाभ उठाने के प्रलोभन में पड़ जाते हैं। साम्प्रदायिक झगड़े भले ही छिटपुट और स्थानीय हों, लेकिन उनसे देश की बदनामी होती है और उनका लोकतन्त्री धर्मनिरपेक्ष स्वरूप कलंकित होता है।

संक्षेप में, भारतीय राजनीति में धर्म एवं साम्प्रदायिकता का प्रभाव बढ़ने से धर्मनिरपेक्ष राजनीति के विकास का मार्ग अवरुद्ध हुआ है। साम्प्रदायिकता की राजनीति के अपने तर्क होते हैं, उसका मुख्य ध्येय संकुचित हितों की रक्षा करना होता है। यह दायित्व राष्ट्रीय नेताओं का है कि वे समुदाय के सीमित तथा राष्ट्र के वृहत्तर हितों के बीच सन्तुलन स्थापित करें, समुदाय के प्रति लगाव और भक्ति की राष्ट्र के प्रति लगाव

और भक्ति में वदलें। यह आशा की जा सकती है कि राजनीतिक चेतना की वृद्धि और लोकतान्त्रिक मूल्यों के परवान चढ़ने के साथ धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप भी निखरता जाएगा।

प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में धर्म अथवा साम्प्रदायिकता की क्या भूमिका रही है? उदाहरणों के साथ स्पष्ट कीजिए।
2. साम्प्रदायिकता की समस्या के कारण और साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम स्पष्ट कीजिए।
3. स्वतन्त्रता के बाद भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या पर एक लेख लिखिए।
4. भारतीय राजनीति में जाति एवं साम्प्रदायिकता की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
5. 'साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी संक्रामक' विवेचना कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. "साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी संक्रामक" यह कथन किसका है :
   (अ) रामधारी सिंह 'दिनकर' (ब) रजनी कोठारी
   (स) महात्मा गांधी (द) बी. जी. गोखले
2. 'दी प्राव्लम ऑफ मिनारिटीज (1939)' पुस्तक के लेखक कौन हैं :
   (अ) के. वी. कृष्ण (ब) रजनी कोठारी
   (स) विनसेण्ट स्मिथ (द) रामधारी सिंह 'दिनकर'
3. 'मुहम्मडन ऐंग्लो ओरियण्टल ऐसोशिएशन' की स्थापना कब की गई थी :
   (अ) 1890 में (ब) 1891 में (स) 1893 में (द) 1895 में
4. सन् 1905 में वंगाल का विभाजन किसने किया :
   (अ) लार्ड वेवल (ब) लार्ड कर्जन (स) सर स्टैफर्ड क्रिप्स (द) माउण्टबेटन
5. भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य अधिकारों की रक्षा के नाम पर 1906 में किस संगठन की स्थापना की गई :
   (अ) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (ब) ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग
   (स) मुस्लिम मजलिस (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
6. साम्प्रदायिक आधार पर पृथक चुनावों की व्यवस्था कब प्रारम्भ की गई थी :
   (अ) 1909 के मार्ले-मिण्टो सुधारों के द्वारा (ब) 1919 के अधिनियम द्वारा
   (स) 1935 के अधिनियम द्वारा (द) 1947 के अधिनियम द्वारा
7. जिन्ना ने 'द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त' का प्रतिपादन कब किया :
   (अ) 1940 में (ब) 1906 में (स) 1947 में (द) 1919 में
8. साम्प्रदायिकता की समस्या का प्रमुख कारण है :
   (अ) मुसलमानों में पृथक्करण की भावना
   (ब) मुसलमानों का आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ापन
   (स) संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद
   (द) उपर्युक्त सभी कारण
9. निम्नलिखित में से किस राजनीतिक दल के निर्माण में धार्मिक और साम्प्रदायिक तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है :
   (अ) मुस्लिम लीग (ब) शिरोमणि अकाली दल
   (स) हिन्दू महासभा (द) उपर्युक्त सभी में
10. भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का दुष्परिणाम है :
   (अ) आपसी द्वेष (ब) प्राण हानि (स) राजनीतिक अस्थिरता (द) उपर्युक्त सभी

[उत्तर—1. (अ), 2. (अ), 3. (स), 4. (ब), 5. (ब), 6. (अ), 7. (अ) 8. (द), 9. (द), 10. (द)]

17

भारतीय राजनीति में भाषा
[LANGUAGE IN INDIAN POLITICS]

प्रो. मॉरिस जोन्स लिखते हैं, "क्षेत्रवाद और भाषा के सवाल भारतीय राजनीति के इतने ज्वलन्त प्रश्न रहे हैं और भारत के हाल के राजनीतिक इतिहास की घटनाओं के साथ इनका इतना गहरा सम्बन्ध रहा है कि अक्सर ऐसा लगता है कि यह राष्ट्रीय एकता की सम्पूर्ण समस्या है।"[1]

भारत एक बहुभाषी देश है। सन् 1902 की एक गणना के अनुसार भारत में 179 भाषाएं एवं 544 स्थानीय भाषाएं (Dialects) थीं और सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत में 771 भाषाएं एवं स्थानीय भाषाएं विद्यमान थीं। 1961 और 1971 की जनगणनाओं ने मातृभाषाओं के रूप में 1652 भाषाओं की गणना की थी। यदि हम स्थानीय और क्षेत्र विशेष की भाषाओं को छोड़ भी दें तो भारत में प्रमुख रूप से प्रचलित भाषाओं की संख्या 22 है, जिनके अन्तर्गत देश की 90 प्रतिशत से अधिक जनता आ जाती है। प्रारम्भ में हमारे संविधान में 14 भाषाओं को स्वीकार किया गया जिनके नाम हैं—असमी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, तमिल, तेलुगू, संस्कृत एवं उर्दू। बाद में सिन्धी भाषा को भी संविधान में सम्मिलित कर लिया गया। अतः संख्या 15 हो गयी। अगस्त 1992 में हुए 71वें संविधान संशोधन के अनुसार कोंकणी, मणिपुरी व नेपाली को और सम्मिलित कर लिया गया, **तब यह संख्या 18 हो गयी;** 92वें संवैधानिक संशोधन (2003 ई.) के आधार पर बोदो, डोगरी, मैथिली और संथाली को भी संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार अब इन भाषाओं (प्रादेशिक भाषाओं) की संख्या 22 हो गई है। भौगोलिक दृष्टि से भारत के पूर्वी तट की चार भाषाएं क्रमशः तमिल, तेलुगू, उड़िया और बंगला पश्चिमी तट की चार भाषाएं क्रमशः मलयालम, कन्नड़, मराठी एवं गुजराती, ठेठ उत्तर में कश्मीरी एवं उत्तर-पश्चिम में पंजाबी और मध्य क्षेत्र की भाषा हिन्दी है। हिन्दी से सम्बन्धित राज्य हैं—हरियाणा, राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश एवं केन्द्रशासित दिल्ली, चण्डीगढ़, आदि। उर्दू, संस्कृत तथा सिन्धी भाषा से सम्बन्धित कोई विशेष भाग नहीं हैं, परन्तु थोड़ी-बहुत मात्रा में इनका सर्वत्र प्रयोग होता है।

भाषागत विविधता (Diversity of Languages)—भाषा की विविधता भारतीय समाज की विलक्षणता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की जनता भिन्न-भिन्न भाषा बोलती है। इन भाषाओं में तथा इनकी लिपियों में बहुत अधिक अन्तर है। उत्तर भारत का निवासी दक्षिण की भाषा नहीं समझ पाता और न ही दक्षिण का निवासी उत्तर की भाषा। एक राजस्थानी के लिए बंगाली भाषा-भाषी भाषा के सन्दर्भ में विदेशी ही है। भाषागत विविधता कोई खराब बात नहीं है। भाषागत विविधता से एकता बढ़ाने में थोड़ी कठिनाई अवश्य होती है, किन्तु यदि एक ऐसी सम्पर्क भाषा हो जो विविध भाषा-भाषी व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधे रख सके तो इस कठिनाई का आसानी से निवारण हो सकता है।

संविधान सभा में विचार-विमर्श (Discussions in Constituent Assembly)—संविधान सभा में जब इस प्रश्न पर वाद-विवाद हुआ कि देश की राजभाषा क्या हो तो वहां बहुत सी भाषा सम्बन्धी हठधर्मी देखी गयीं और उत्तेजनापूर्ण दृश्य सामने आए। राजभाषा के रूप में किसी एक देशी भाषा को मान्यता देने की संविधान-निर्माताओं की आकांक्षा 'राजभाषा आयोग' के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है—"हम देश के सांस्कृतिक जीवन की अनन्यता को दृढ़ करने वाले तत्वों की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम की खोज करते हैं।

1 मॉरिस जोन्स : भारतीय शासन एवं राजनीति (अनुवाद), पृ. 102.

सदियों के बाद पुनः प्राप्त इस राजनीतिक एकता के साथ-साथ भाषायी एकता भी हम पाना चाहते हैं। इस एकता की प्राप्ति हम अंग्रेजी भाषा का स्थानापन्न किसी देशी भाषा को बनाना चाहते हैं—तथा सभी प्रादेशिक भाषाओं में हिन्दी को राष्ट्रभाषा इसलिए चुना गया है कि इसके बोलने वालों की संख्या सबसे अधिक है।''

संघ की भाषा (The Language of the Union)—संविधान के अनुच्छेद 343, 344 में संघ की भाषा के सम्बन्ध में प्रावधान इस प्रकार हैं—(1) देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी संघ की राजभाषा होगी। (2) संविधान के आरम्भ में 15 वर्ष तक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग संघ के सरकारी कार्यों में यथापूर्व जारी रहेगा, परन्तु इस अवधि के भीतर ही राष्ट्रपति हिन्दी के साथ-साथ प्रयोग किए जाने का अधिकार प्रदान कर सकते हैं। (3) पन्द्रह वर्षों के उपरान्त भी संसद किन्हीं विशिष्ट प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग जारी रखने की अनुमति दे सकती है, परन्तु 1963 में ही संविधान के अनुच्छेद 343(3) के अधीन राजभाषा अधिनियम प्रस्तुत किया गया जिसके अनुसार 1965 के बाद भी अंग्रेजी अनिश्चित काल तक बनी रहेगी। (4) संविधान के अंगीकृत होने के पांच वर्ष बाद राष्ट्रपति एक भाषा आयोग की स्थापना करेंगे जो हिन्दी भाषा के प्रयोग में क्रमिक वृद्धि, अंग्रेजी के प्रयोग को धीरे-धीरे कम करने तथा तत्सम्बन्धी अन्य प्रश्नों व समस्याओं के सम्बन्ध में सिफारिशें करेगा। संविधान के अंगीकृत होने के दस वर्ष बाद राष्ट्रपति इसी प्रयोजन के लिए आयोग की स्थापना करने को बाध्य हैं। आयोग सिफारिश करते समय भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के निवासियों के सरकारी पदों के लिए न्यायोचित दावों व हितों को भी ध्यान में रखेगा। (5) इस आयोग की सिफ़ारिशों पर विचार करने के लिए एक संसदीय समिति आनुपातीय प्रतिनिधित्व के आधार पर बनायी जाएगी जिसमें लोकसभा के 20 सदस्य तथा राज्यसभा के 10 सदस्य होंगे। यह संसदीय समिति आयोग की सिफारिशों पर अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करेगी। राष्ट्रपति इस प्रतिवेदन के आधार पर निर्देश जारी कर सकते हैं।

संसदीय समिति ने आयोग के प्रतिवेदन की जांच कर कहा कि संघ तथा राज्यों में अंग्रेजी के स्थान पर धीरे-धीरे हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए।

प्रादेशिक भाषाएं (Regional Languages)—संविधान के अनुच्छेद 345 के अनुसार प्रत्येक राज्य के विधानमण्डल को यह अधिकार है कि वह राज्य के समस्त अथवा सरकारी कार्यों के लिए एक या अधिक भाषाएं अंगीकार कर ले, किन्तु राज्यों के परस्पर सम्बन्धों में तथा संघ और राज्यों के परस्पर सम्बन्धों में संघ की राजभाषा ही प्राधिकृत भाषा मानी जाएगी। कुछ राज्यों में अल्पसंख्यकों के भाषा सम्बन्धी हितों की रक्षा के लिए संविधान में कुछ विशेष उपवन्ध रखे गए हैं।

उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों और विधानमण्डलों की भाषा (Language of the Courts and Legislature)—जब तक संसद कानून द्वारा अन्यथा निर्धारित न करे, तब तक उच्चतम न्यायालय तथा प्रत्येक उच्च न्यायालय की सब कार्यवाहियां तथा केन्द्रीय और राज्य के विधानमण्डलों के विधेयकों, कानूनों, आदेशों, नियमों तथा अध्यादेशों का पाठ अंग्रेजी भाषा में होगा। किसी राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की अनुमति से उच्च न्यायालय की कार्यवाही राज्य की राजभाषा में होने की अनुमति दे सकता है, लेकिन न्यायालय का फैसला, डिक्री या आदेश अंग्रेजी में ही होगा। यदि किसी राज्य का विधानमण्डल विधेयकों, कानूनों, नियमों तथा आदेशों के लिए अंग्रेजी के बदले अन्य कोई भाषा निर्धारित करता है, तो उनका अंग्रेजी भाषा में राज्यपाल द्वारा अधिकृत अनुवाद अधिकृत पाठ समझा जाएगा।

अल्पसंख्यकों के लिए संरक्षण (Safeguards for the Minorities)—प्रत्येक राज्य में स्थानीय अधिकारियों का यह प्रयास होगा कि वह भाषायी अल्पसंख्यकों के बालकों की शिक्षा प्राथमिक चरण में मातृभाषा में देने के लिए आवश्यक व्यवस्था करे। भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रपति एक विशेष पदाधिकारी भी नियुक्त करेगा। इस विशेष पदाधिकारी का कर्तव्य होगा कि संविधान के अधीन भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए जो विशेष रक्षण और सुविधाएं उपलब्ध हैं, उनसे सम्बद्ध सब विषयों के सम्बन्ध में, जैसे राष्ट्रपति निर्दिष्ट करे, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे। राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा तथा सम्बन्धित राज्यों की सरकारों को भी भेजेगा। संविधान में यह भी व्यवस्था की गयी है कि संघ अथवा किसी भी राज्य में प्रयोग होने वाली भाषा के सम्बन्ध में यदि किसी व्यक्ति को कोई शिकायत करनी है, तो वह संघ तथा राज्य के उपयुक्त अधिकारी से कर सकता है।

भारत में राजनीति और भाषा : अन्तःक्रिया
(INTERACTIONS BETWEEN POLITICS AND LANGUAGE)

भाषा का प्रश्न राजनीतिक प्रश्न बन गया। भाषा के आधार पर राजनीतिक दलों एवं राजनीतिज्ञों ने जनता को उत्तेजित करने का प्रयास किया। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगा कि कहीं भाषा का सवाल हमारी राष्ट्रीय एकता को खण्डित न कर दे। भारत की राजनीति में भाषा से जुड़ी हुई राजनीतिक समस्याएं इस प्रकार हैं :

(1) **हिन्दी के विरोध की राजनीति**—राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त आयोग के बंगला तथा तमिलभाषी सदस्यों—डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी और डॉ. पी. सुब्बानारायण ने अपने विमत टिप्पणी (Minutes of dissent) में समन्वय अथवा मेल-जोल के दृष्टिकोण से अत्यन्त दूर के विचार प्रकट किए। इनका यह दृष्टिकोण था कि अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिस्थापित करने में जल्दी करने का परिणाम "अहिन्दी भाषी जनता पर हिन्दी थोपना" होगा और उससे सार्वजनिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाएगा। इन दोनों का यह दृढ़ मत था कि जब तक सरकारी भाषा अर्थात् हिन्दी पूर्णतः विकसित नहीं हो जाती, अंग्रेजी भाषा प्रयुक्त होती रहे।

(2) **भाषायी आधारों पर राज्यों का पुनर्गठन**—भाषावार राज्यों के पुनर्गठन की समस्या भारत में जितनी गम्भीर रही है उतनी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों में सम्भवतः अन्यत्र कहीं नहीं रही है। स्वाधीनता के कुछ ही समय बाद इस बात के लिए जोरदार राजनीतिक दबाव दिए जाने लगे कि भारत के राज्यों के बीच की सीमाएं भाषाओं के आधार पर बनायी जाएं। सन् 1952 में विशेषतः तेलुगू भाषी लोगों में आन्दोलन बहुत ही तीव्र हो उठा। एक प्रतिष्ठित तेलुगू नेता पोट्टी श्री रामुलु ने उन क्षेत्रों को लेकर जहां तेलुगूभाषियों का बहुमत था, एक अलग राज्य बनाने की मांग मनवाने के लिए आमरण अनशन का तरीका अपनायां। अनशन के परिणामस्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी और इससे इतने जोर का हंगामा उठ खड़ा हुआ कि नेहरूजी को भाषा के आधार पर राज्य का निर्माण करने के लिए झुकना पड़ा। एक बार तेलुगू भाषाभाषियों की मांग पर सरकार के झुक जाने के बाद देश के विभिन्न भागों में उसी तरह भाषा के आधार पर राज्य बनाने की मांगें बढ़ने लगीं। इन मांगों की जांच-पड़ताल करने और नए राज्यों की सीमाएं निर्धारित करने के लिए राज्य पुनर्गठन आयोग नियुक्त किया गया। राज्य पुनर्गठन आयोग के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने के बाद भी बम्बई के नए राज्य में भाषा के प्रश्न को लेकर निरन्तर असन्तोष बना रहा, अतः सन् 1960 में इसे दो राज्यों—गुजरात और महाराष्ट्र में बांटना पड़ा। आगे चलकर 1966 में पंजाब को भाषा के आधार पर ही—हरियाणा और पंजाब में विभाजित करना पड़ा। इस तरह के अलगाव के लिए सिक्खों द्वारा बहुत जोरदार आन्दोलन चलाया गया। मास्टर तारासिंह ने कहा कि "यह प्रान्त केवल भाषा पर आधारित होगा और इसे पंजाबी सूबा नाम दिया जा सकेगा।"

(3) **भाषायी राज्यों के विवाद**—भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने से राज्यों में राजनीतिक विवाद अत्यन्त उग्र हो गए। ऐसी समस्या चण्डीगढ़ में उत्पन्न हो गयी। इस प्रकार की समस्या महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमा पर बेलगांव व अन्य क्षेत्रों के विवाद के रूप में चली। महाराष्ट्र सरकार बेलगांव नगर पर अपना अधिकार जमाना चाहती थी क्योंकि 1961 की जनगणना के अनुसार यहां मराठी भाषी लोगों की संख्या 51.2 प्रतिशत थी। इसके विपरीत, कर्नाटक सरकार का दावा था कि इस नगर में सभी भाषाओं और जातियों के लोग रहते हैं और जो कुछ बहुमत मराठी भाषा का था वह भी अब समाप्त हो गया है। बेलगांव चूंकि सम्पूर्ण बेलगांव तालुके का मुख्य केन्द्र है, इसलिए प्रशासनिक दृष्टि से उसे कर्नाटक में ही रहने दिया जाना चाहिए। असम में बंगाली और असमी भाषा के प्रश्न को लेकर सन् 1972 में उग्र विवाद उत्पन्न हो गया। कुछ अन्य प्रान्तों में भी लोग भाषा के आधार पर अलग राज्यों के निर्माण का नारा लगाते रहते हैं। इस प्रकार भाषायी आधार पर राज्यों के गठन का आंदोलन चलाया गया।

(4) **भाषा के आधार पर उत्तर और दक्षिण भारत की संकुचित भावनाएं**—भाषा के आधार पर भारत में उत्तर और दक्षिण भारत की संकुचित मनोवृत्तियां पनपने लगीं। दक्षिण भारत ने हिन्दी का जोरदार विरोध किया। दक्षिण भारत में 'हिन्दी साम्राज्य' के विरुद्ध जोरदार आवाजें उठीं। हिन्दी के उत्साही समर्थकों के लिए यह मुश्किल था कि वे चुपचाप बैठे रहें। इस प्रकार भाषा के आधार पर भारत दो टुकड़ों में विभाजित-सा प्रतीत होने लगा—उत्तर और दक्षिण।

(5) भाषा के आधार पर राजनीति में नए दबाव गुटों का उदय—भारतीय राजनीति में भाषागत दबाव गुटों का उदय हुआ। उदाहरणार्थ, भाषा के आधार पर महाराष्ट्रियनों और गुजरातियों ने अपने संगठन **संयुक्त महाराष्ट्र समिति और महागुजरात जनता परिषद्** बनाए थे, उन्होंने लगभग पूरी तरह से राजनीतिक पार्टियों की जगह ले ली। इन संगठनों में शुरू में वामपन्थी लोग थे, लेकिन जल्दी ही इन्हें गैर-राजनीतिक लोगों का समर्थन प्राप्त हो गया।[1]

(6) अन्य भाषाओं की मान्यता का प्रश्न—भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में देश की 14 प्रमुख भाषाओं को मान्यता प्रदान की गयी है, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। बाद में सिन्धी, कोंकणी, मणिपुरी व नेपाली भाषा को भी मान्यता दे दी गयी तथा 92वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर 2003 ई. में बोदो, डोगरी, मैथिली और संथाली को भी संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल कर प्रादेशिक भाषा की मान्यता प्रदान कर दी गई, परन्तु अब भी समय-समय पर देश में कुछ अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की मान्यता की आवाज भी लगायी जाती रही है। उदाहरण के लिए, राजस्थान में राजस्थानी भाषा को मान्यता दिलाने की मांग लम्बे समय से की जा रही है। सन् 1961 की गणना के अनुसार राजस्थानी बोलने वालों की संख्या 1 करोड़ 49 लाख थी। इसी तरह ब्रज, छत्तीसगढ़ी, आदि भाषाओं की मान्यता का प्रश्न भी जब-तब उठाया जाता रहा है और इन क्षेत्रीय भाषाओं के आधार पर प्रान्तों के निर्माण की बात भी की जाती रही है यद्यपि भारत सरकार ने इन मांगों को अब तक दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया है।

(7) उर्दू भाषा के सवाल को चुनावी मसला बनाना—राजनीतिक दल उर्दू भाषा के सवाल को चुनावी मसला बनाने में नहीं हिचकिचाते। अल्पसंख्यक मुस्लिम मतदाताओं को प्रभावित करने के लिए कांग्रेस (आई) के 1980 के घोषणापत्र में आश्वासन दिया गया था, जो इस प्रकार है......"उर्दू भाषा को उसके ऐतिहासिक, सामाजिक महत्व के अनुरूप उचित स्थान दिलाया जाएगा.....उर्दू को कुछ राज्यों में खास-खास क्षेत्रों में सरकारी कामकाज में व्यवहार के लिए दूसरी भाषा के रूप में मान्यता दी जाएगी।"[2] जनवरी 1980 के चुनावों से पूर्व उत्तर-प्रदेश की लोकदल सरकार ने तीसरी भाषा के रूप में स्कूलों में उर्दू को पढ़ाया जाना अनिवार्य कर दिया था। नवम्बर 1989 के लोकसभा चुनावों से पूर्व उत्तर-प्रदेश में उर्दू को दूसरी राज भाषा बनाए जाने के फैसले को लेकर बदायूं में दंगे हुए और दो दर्जन लोगों की जानें गयीं। हास्यास्पद स्थिति यह है कि एक वोट बैंक को खुश करने के लिए यहां तक कहा जा जाने लगा कि उर्दू हमारे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम की भाषा रही है।

(8) भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या—नये भाषायी राज्यों के निर्माण के उपरान्त भी भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या बनी हुई है, जो शासन से अनेकानेक प्रकार के संरक्षणों की मांग कर रहे हैं। उत्तर प्रदेश में उर्दू का सवाल, कर्नाटक में मराठी भाषा-भाषियों का सवाल, पंजाब में हिन्दी भाषा-भाषियों की स्थिति भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्याएं उत्पन्न करती है। कर्नाटक में बसे मलयालियों और तमिलों में अब असुरक्षा की भावना पैर जमाने लगी है। कन्नडिगाओं का गुस्सा धीरे-धीरे सुलग रहा है और 1982 के हिंसक आन्दोलन में तो जैसे ज्वालामुखी फट ही पड़ा।[3]

(9) सर्वमान्य शिक्षा नीति के निर्माण में कठिनाइयां—भाषा सम्बन्धी समस्याओं का ही परिणाम है कि हम स्वतन्त्रता प्राप्ति के 55 वर्षों के उपरान्त भी किसी ऐसी शिक्षा नीति (Education Policy) का निर्माण नहीं कर सके जिसे हम अपना कह सकें; शिक्षा के क्षेत्र में आज भी प्रयोग हो रहे हैं और इससे जीवन के हर क्षेत्र पर दूरगामी प्रभाव पड़ रहा है। माध्यमिक और उच्च शिक्षा के बारे में शिक्षाशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों के बीच निरन्तर नोंक-झोंक चलती रही। कई फार्मूले आते और खण्डित होते रहे और जब कभी ऐसा लगता था कि एक पक्ष की जीत हो गयी तो उसे लागू करने की विधि के सम्बन्ध में मतभेद पैदा हो जाता था। सरकार फूंक-फूंककर कदम रखती हुई 'तीन भाषा फार्मूले' तक पहुंची। इसका मतलब यह था कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में माध्यमिक शिक्षा के किसी स्तर पर क्षेत्रीय भाषा के अलावा कोई अन्य भारतीय भाषा भी पढ़ायी जाएगी। इस प्रकार दो भाषाएं हो जाएंगी। तीसरी भाषा अंग्रेजी या अन्य कोई विदेशी भाषा होगी। इस प्रकार माध्यमिक

1 मॉरिस जोन्स : भारतीय शासन एवं राजनीति (सम्पादित), पृ. 96.
2 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इ) चुनाव घोषणापत्र, 1980.
3 इण्डिया टुडे, 30 सितम्बर, 1987, पृ. 46-47.

स्तर पूरा होते-होते तीन भाषाएं आ जाएंगी। शुरू में उत्तर भारत के कुछ भागों में इसका पालन नहीं किया गया—यहां तमिल या ऐसी कोई भाषा पढ़ाने के बजाय संस्कृत भाषा को लिया गया, लेकिन जब 1967 से मद्रास (तमिलनाडु) में हिन्दी के कट्टर विरोधी द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की सरकार बन गयी, तो सबसे पहला काम यह किया कि द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी की पढ़ाई रोक दी। मद्रास (तमिलनाडु) विधानसभा के प्रस्ताव में प्रावधान था कि मद्रास राज्य के विद्यार्थियों में केवल अंग्रेजी व तमिल भाषाएं पढ़ायी जाएं तथा हिन्दी को पाठ्यक्रम से बिल्कुल निकाल दिया जाए।

(10) भाषायी आधार पर राजनीतिक आन्दोलन—सरकार की भाषा नीति से हिन्दी के समर्थकों एवं विरोधियों दोनों में ही बड़ा रोष फैला। पहले उत्तरी राज्यों—उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र में अंग्रेजी विरोधी प्रदर्शन व उपद्रव हुए और भीड़ ने, जिसमें अधिकतर छात्र होते थे, अराजकता एवं हिंसापूर्ण कृत्य किए। दिसम्बर 1967 में मद्रास राज्य (तमिलनाडु) में छात्रों ने हिन्दी विरोधी आन्दोलन आरम्भ किए जो शीघ्र ही आन्ध्र और कर्नाटक तक जा पहुंचे।

(11) स्थानीयता की संकीर्ण भावना का उदय—भाषागत राजनीति के परिणामस्वरूप "धरती के पुत्रों को ही" (The Sons of the Soils) अर्थात् केवल उन्हीं लोगों को जो प्रादेशिक भाषा बोलते हैं, सरकारी व गैर-सरकारी पदों पर नियुक्त कर देना चाहिए, धारणा का प्रचलन हुआ। महाराष्ट्र में शिवसेना ने केरल एवं कर्नाटकवासियों को इसलिए तंग किया और उनके साथ मारपीट की थी कि केरलवासियों की भाषा मलयालम तथा कर्नाटक वालों की भाषा कन्नड़ थी।

निष्कर्ष—भाषा विषयक तनावों ने भारत की राष्ट्रीय एकता को बहुत अधिक प्रभावित किया है। आज एक-भाषाभाषी व्यक्ति अपने आपको अन्य भाषाभाषियों से भिन्न एक स्वतन्त्र समुदाय मानने लगे हैं तथा अपने लिए एक अलग राज्य अथवा अलग प्रशासनिक इकाई की मांग करने लगे हैं। अनेक अवसरों पर राजनीतिक दलों ने भाषायी समस्या से राजनीतिक लाभ उठाने के प्रयत्न किए हैं और वर्तमान समय में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति जारी है। प्रत्येक चुनाव में राजनीतिक दल और उनके नेताओं द्वारा दक्षिण के लोगों को आश्वासन दिया जाता है कि जब तक वे न चाहें, तब तक समस्त भारत में हिन्दी को राजभाषा के रूप में नहीं अपनाया जाएगा। अल्पसंख्यक वर्ग के मत प्राप्त करने के लिए किन्हीं राज्यों में उर्दू को दूसरी भाषा और किन्हीं राज्यों में तीसरी भाषा के रूप में अपनाने की बात कही जाती है। वर्तमान शासक दल इस प्रकार के आश्वासन देने में किसी अन्य दल से पीछे नहीं है। ये आश्वासन तात्कालिक राजनीतिक लाभ भले ही प्रदान करते हों, इन्होंने भाषा समस्या को सुलझाने के बजाय उसमें जटिलता उत्पन्न करने का ही कार्य किया है। 'हिन्दी को भारतीय संघ की राजभाषा के रूप में अपनाया जाना है' इस पर दो मत नहीं हो सकते और न ही होने चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विविध राजनीतिक दलों, भाषाओं और क्षेत्रों के प्रतिनिधियों का व्यापक आधार पर एक गोलमेज सम्मेलन बुलाकर शान्त वातावरण में भाषा समस्या पर आवश्यक गम्भीरता के साथ विचार कर इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय लिया जाए। भारत राष्ट्र की एकता, अखण्डता और शिक्षा व्यवस्था के हितों में भाषा के प्रश्न को दलीय राजनीति से अलग रखना होगा।

भारत में भाषा समस्या इतनी व्यापक और उलझी हुई है कि इसका कोई तत्कालीन हल नहीं ढूंढा जा सकता है। इसके लिए हमें बहुत धैर्य रखने एवं रचनात्मक कार्य करने की आवश्यकता है। भाषा समस्या के हल की दिशा में हमें निम्न बातों की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है :

(1) ऐतिहासिक तथ्यों और आंकड़ों से यह स्पष्ट हो चुका है कि इस देश की राजभाषा और सम्पर्क भाषा हिन्दी ही हो सकती है। अहिन्दी भाषी प्रदेशों को इन तथ्यों को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

(2) हिन्दी भाषी लोगों को अहिन्दी भाषी लोगों की कठिनाइयों की ओर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। दोनों ही पक्षों को भाषायी उग्रता से बचना चाहिए।

(3) प्रान्तीय शासन और सभी स्तरों पर शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाओं को बनाया जाना चाहिए। इस हेतु प्रादेशिक भाषाओं के विकास के लिए पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

(4) हिन्दी भाषा को सरल और लोकप्रिय बनाने के लिए ठोस रचनात्मक कार्य करना चाहिए। इस हेतु सरल हिन्दी में मूल पुस्तकें लिखी जाएं और उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद किया जाए और कम से कम मूल्य में उन्हें अहिन्दी भाषियों में वितरित किया जाए।

(5) अंग्रेजी का प्रयोग सीमित किया जाए, परन्तु उसे समूल नष्ट नहीं किया जाए।

(6) त्रि-भाषा सूत्र को पूर्ण निष्ठा से लागू किया जाए।

(7) शैक्षणिक भ्रमण, व्याख्यान, सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से भारतीय भाषाओं में निकट सम्पर्क स्थापित किया जाए।

(8) अन्त में, भाषा को राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम बनाने से रोका जाए।

बीसवीं सदी के सातवें दशक (1961-70) में भाषा समस्या और विवाद ने भारतीय राजनीति को अपने घेरे में ले लिया, लेकिन 1970 ई. के वाद क्रमशः भाषा विवाद धीमा पड़ गया। इसके बाद समय-समय पर किसी विशेष क्षेत्र में भाषा का प्रश्न भले ही विवाद का विषय बन गया हो, लेकिन भाषा-विवाद की उग्रता निश्चित रूप से समाप्त हो गई। इस स्थिति का एक विशेष कारण यह था कि 'सहभाषा अधिनियम, 1963' पारित हो जाने से दक्षिण भारत विशेषतया मद्रास राज्य (तमिलनाडु) में 'हिन्दी लादे जाने की आशंकाएं कमजोर पड़ गईं तथा हिन्दी विरोध का आधार समाप्त हो गया। इसके साथ ही हिन्दी भाषियों का हिन्दी के प्रति अति उत्साह भी नियन्त्रित हो गया। उस समय से यह स्थिति लगभग बनी हुई है। भारतीय राज व्यवस्था के लिए यह निश्चित रूप से उचित स्थिति है। आवश्यकता इस वात की है कि सभी राजनीतिक दल और अन्य सम्बन्धित पक्ष इस सम्बन्ध में संतुलित और संयमित दृष्टिकोण अपनावें।

प्रश्न

1. भारत में राजभाषा और प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध में संवैधानिक प्रावधान क्या हैं?
2. भारतीय राजनीति और भारतीय जीवन में भाषा के प्रश्न को लेकर क्या विवाद रहे हैं और क्या स्थितियां बनी हैं, विवेचना कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. प्रारम्भ में हमारे संविधान में कितनी भाषाओं को स्वीकार किया गया था :
   (अ) 8 (ब) 11 (स) 14 (द) 18
2. निम्नलिखित में से किस भाषा को संविधान में वाद में सम्मिलित किया गया :
   (अ) असमी (ब) वंगाली (स) गुजराती (द) सिन्धी
3. निम्नलिखित में से किस भाषा को 71वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान में सम्मिलित किया गया है :
   (अ) कोंकणी (ब) मणिपुरी (स) नेपाली (द) उपर्युक्त सभी को
4. वर्तमान समय में हमारे संविधान में कितनी भाषाओं को स्वीकार किया गया है :
   (अ) 14 (ब) 15 (स) 22 (द) 21
5. निम्नलिखित में से किस भाषा को संविधान में स्वीकार नहीं किया गया है :
   (अ) राजस्थानी (ब) गुजराती (स) सिन्धी (द) असमी
6. शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग करने को कब तक की अनुमति प्रदान की गई है :
   (अ) 2005 तक (ब) 2008 तक (स) 2009 तक (द) अनिश्चित काल के लिए
7. भारत के संविधान की किस अनुसूची में देश की प्रमुख भाषाओं को मान्यता प्रदान की गई है?
   (अ) पहली अनुसूची (ब) तीसरी अनुसूची (स) आठवीं अनुसूची (द) दसवीं अनुसूची
8. श्री एम. सी. छागला ने सरकार की किस नीति के विरोध में मन्त्री पद से त्याग-पत्र दे दिया था?
   (अ) धर्म सम्बन्धी नीति (ब) भाषा नीति
   (स) मजदूरों के सम्बन्ध में नीति (द) किसानों के सम्बन्ध में नीति

[उत्तर—1. (स), 2. (द), 3. (द), 4. (स), 5. (अ), 6. (द), 7. (स), 8. (ब)।]

18

क्षेत्रीयतावाद

[REGIONALISM]

विकासशील समाजों की एक महत्वपूर्ण समस्या राष्ट्रीय एकीकरण की रही है। राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया इन देशों की राजनीतिक प्रक्रिया से जुड़ी हुई है। राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया के सन्दर्भ में ही विकासशील देशों के राजनीतिक विकास को समझा जा सकता है। राष्ट्रीय एकीकरण के भावात्मक तत्वों की जब हम खोज करते हैं तो हमारा ध्यान उन जातीय, भाषागत, धार्मिक, क्षेत्रीयता पर आधारित 'परम्परागत निष्ठाओं' की ओर जाता है जो संकीर्ण क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा देती हैं।

क्षेत्रीयतावाद का अर्थ

क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य एक देश में या देश के किसी भाग में उस छोटे-से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक, आदि कारणों से अपने पृथक् अस्तित्व के लिए जागरूक है।

'क्षेत्र' शब्द के बहुत सारे अर्थ हैं। मूल रूप से किसी क्षेत्र को जोड़ने वाली कड़ी 'सांस्कृतिक समानता' है। किसी भौगोलिक प्रदेश को भी 'क्षेत्र' के आधार पर सम्बोधित किया जा सकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपने निवास के आसपास की भूमि से उसका भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तथा कालान्तर में अपने पूरे क्षेत्र के प्रति उसकी निष्ठा विकसित हो जाती है। इस दृष्टि से 'क्षेत्र' एक तरह से **समाजशास्त्रीय अवधारणा है जिसे विविध सामाजिक हितों की अभिव्यक्ति की धुरी कहा जा सकता है।**[1] किसी भी भू-भाग को क्षेत्र कहने के लिए कतिपय तत्वों का होना आवश्यक है, किन्तु आज तक उन तत्वों का ठीक तरह से निर्धारण नहीं हो सका।[2] अनेक तत्वों जैसे भूगोल, जलवायु, धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, राजनीतिक और आर्थिक विकास, ऐतिहासिक अनुभव, रहन-सहन के तरीके, आदि की अन्तःक्रियाओं से किसी क्षेत्र (Region) का निर्माण हो सकता है। प्रो. श्रीराम माहेश्वरी का मत है कि क्षेत्र इनसे भी कुछ अधिक होता है, क्षेत्र के लोगों में साथ रहने की भावात्मक एकता होती है और दूसरों से अपने को पृथक् मानने की इच्छा। यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है कि वह विदर्भ क्षेत्र का निवासी है तो इसका साफ मतलब है कि वह अपने को महाराष्ट्रियनों से थोड़ा भिन्न मानता है चाहे सभी महाराष्ट्रियन यह महसूस करते हों कि अन्य राज्यों से महाराष्ट्र के लोग भिन्न हैं। ऐसी भावनाएं सांस्कृतिक वास्तविकताएं हैं और उनसे कोई भी आसानी से मुक्त नहीं हो सकता।[3]

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीयतावाद से अभिप्राय है—**राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रान्त की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या विशेष आकर्षण दिखाना। इस दृष्टि से क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीयता की वृहद भावना का विलोम है और इसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होता है।** भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में यह ऐसी धारणा है जो भाषा, धर्म, क्षेत्र, आदि पर आधारित है और जो विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती हैं। क्षेत्रीयता की भावना सारे देश में व्याप्त है जो प्रायः सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित आन्दोलनों तथा अभियानों के रूप में प्रकट होती है।

1 **A region is a profound sociological fact neglected in its being treated as the nucleus of social aggregation for multiple purpose.**
—**Dr. Shri Ram Maheshwari, *State Governments in India* (Macmillan 1979), p. 185.**

2 *Ibid.*, p. 185.

3 *Ibid.*, p. 186.

भारत में क्षेत्रीयतावाद : ऐतिहासिक विरासत

भारत न केवल भौगोलिक दृष्टि से एक विशाल देश है अपितु वैचारिक परम्परा, धर्म और संस्कृति से भी इसकी विशालता प्रकट होती है। विदेशी ताकतों ने भारत की इस सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता का शोषण किया। स्वतन्त्रता की बेला पर भारत दो भागों में विभक्त था—ब्रिटिश भारत के प्रान्त एवं देशी रियासतें। ब्रिटिश भारत में राजनीतिक चेतना तो जाग्रत हुई, किन्तु ब्रिटिश भारत के प्रान्तों का विभाजन अंग्रेजों ने तार्किक आधार पर नहीं किया अपितु अपने निहित स्वार्थों को ध्यान में रखकर किया। देशी रियासतों में थोड़ी-बहुत आन्तरिक स्वायत्तता थी। राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाने के लिए अंग्रेजों ने इन रियासतों का सहयोग प्राप्त किया। स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व के सामने सबसे बड़ी चुनौती राजनीतिक एकीकरण की थी। इस सन्दर्भ में प्रारम्भिक रूप से दो समस्याएं सामने आयीं—राज्यों का भारतीय संघ में विलीनीकरण और भारतीय संघ के अन्तर्गत केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का निर्धारण। इन दोनों समस्याओं के सन्दर्भ में विभिन्न क्षेत्रों का भारतीय मानचित्र में पुनर्सीमांकन एक चुनौती थी। इस तरह क्षेत्रीयतावाद का उदय ब्रिटिश शासन की विरासत है।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के कारण

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं :

(1) **भौगोलिक**—भौगोलिक दृष्टि से भारत के कई राज्य आज भी बहुत बड़े हैं। इन बड़े राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, आंध्र प्रदेश और राजस्थान में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जो भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण इकाई बन सकते हैं। राजस्थान में मारवाड़ और मेवाड़ का क्षेत्र, आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना का क्षेत्र, आदि को यदि पृथक् राज्यों का दर्जा दे दिया जाए तो भी वे केरल, नगालैण्ड से तो बड़े राज्य ही बनेंगे।

(2) **सांस्कृतिक**—कुछ राज्यों में कई भाषाभाषी एवं संस्कृति के लोग रहते हैं। उन्हें अपनी भाषा एवं संस्कृति पर गर्व है। इसी आधार पर कुछ क्षेत्र अपने लिए विशेष स्थिति की मांग करते हैं।

(3) **ऐतिहासिक**—राज्य पुनर्गठन के बाद कई पुरानी रियासतों को राज्यों में मिला दिया गया था। आज भी इन रियासतों के लोग यह महसूस करते हैं कि यदि उनकी रियासत का ही पृथक् राज्य होता तो वे अधिक लाभ की स्थिति में होते। केवल ऐतिहासिक सम्बन्धों के आधार पर ही पुराने क्षेत्रों की चर्चा की जाती है।

(4) **आर्थिक कारण**—भारत के कुछ राज्यों के कुछ क्षेत्रों में अधिक आर्थिक विकास हुआ और आर्थिक विकास की दृष्टि से कुछ क्षेत्र पिछड़ गए। इससे इन पिछड़े क्षेत्रों में असन्तोष फैलने लगा और क्षेत्रीयतावाद की भावना फैलने लगी। उदाहरणार्थ, आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना का क्षेत्र, राजस्थान में दक्षिण-पूर्वी राजस्थान, और महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में तीव्र गति से विकास नहीं हो पाया और वे अपने लिए पृथक् राज्य की मांग करने लगे।

(5) **भाषा**—भारत में भाषागत विविधता रही है। उत्तर और दक्षिण की भाषा एक-दूसरे से भिन्न रही है। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी। भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण के राज्यों में हिंसात्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गयी।

(6) **जाति**—जाति के आधार पर भी क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिन क्षेत्रों में किसी एक जाति की प्रधानता रही वहां क्षेत्रीयतावाद की उग्र प्रवृत्ति दिखलायी देती है। हरियाणा और महाराष्ट्र में क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति फैलाने में जाति **प्रभावक तत्व** रहा है।

(7) **राजनीतिक कारण**—राजनीतिक कारणों से भी प्रादेशिकता की मांग बढ़ी है। राजनीतिज्ञ यह सोचते हैं कि यदि पृथक् राज्य बन जायेंगे तो उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी। प्रादेशिक दलों जैसे—डी. एम. के. और अकाली दल, आदि ने भी राजनीतिक कारणों से प्रादेशिकता की अग्नि प्रज्वलित की है। आज की परिस्थितियों में क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति को प्रबल बनाने में इस राजनीतिक कारण की भूमिका बहुत बढ़ गई है।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद : विश्लेषण
(REGIONALISM IN INDIAN POLITICS : ANALYSIS)

प्रो. रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स इन इण्डिया'[1] में क्षेत्रीयतावाद की चर्चा करते हुए लिखा है कि—(1) देश के सामने एक खतरा राज्यों के संघ से अलग हो जाने का था। (2) कुछ लोगों ने आशंका प्रकट की थी कि प्रान्तीयता की भावना या प्रदेश के लिए अधिक अधिकार या स्वायत्तता की मांग बढ़ती गयी तो इससे या तो देश अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बंट जाएगा या यहां तानाशाही कायम हो जाएगी। (3) पृथकता की भावना उनमें ज्यादा बलवान और खतरनाक है, जहां ऐसी आर्येतर जातियां हैं, जो भारतीय संस्कृति की धारा में पूरी तरह नहीं मिल पायी हैं, जैसे उत्तर-पूर्व की जनजातियों का इलाका। (4) कुछ क्षेत्रों में अभी भी असन्तोष है—जैसे बिहार में छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश में जनजातीय इलाके और गुजरात व उड़ीसा में जनजाति क्षेत्रों के निवासियों का स्वायत्तता का आन्दोलन। (5) राज्यों के भीतर विशिष्ट क्षेत्रों के अलगाव के आन्दोलन उठ रहे हैं। दबे हुए वर्गों और समूहों के राजनीतिक क्षेत्र में आने से अधिकार के लिए उनकी आकांक्षाओं से नयी समस्याएं खड़ी हो रही हैं।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर की जा सकती है :

(1) क्षेत्रीयतावाद और पृथक् राज्यों की मांग। (2) क्षेत्रीयतावाद बनाम अन्तर-राज्यीय झगड़े। (3) क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की मांग। (4) क्षेत्रीयतावाद और केन्द्र-राज्य संघर्ष। (5) क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में उत्तर और दक्षिण की भावनाएं। (6) क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में भाषावाद। (7) क्षेत्रीयतावाद और भारतीय संघ से पृथक् होने की प्रवृत्ति।

1. क्षेत्रीयतावाद और पृथक राज्यों की मांग

क्षेत्रीयतावाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक् राज्य की मांग रही है। आर्थिक पिछड़ेपन, जाति, भाषा, धर्म को लेकर विभिन्न क्षेत्रों द्वारा पृथक् राज्य की मांग समय-समय पर उठायी गयी तथा क्षेत्रीय आन्दोलनों की शुरूआत की गयी। पृथक् राज्यों की मांग के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष संघीय क्षेत्रों द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने की मांग है। इसी मांग के तहत हिमाचल प्रदेश को 1970 में और 1986-87 में मिजोरम प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश और गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया। जनवरी 1972 में त्रिपुरा एवं मणिपुर को भी पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। दिल्ली के लोग भी पूर्ण राज्य की मांग करते रहे हैं। देश की राजधानी होने के कारण दिल्ली को पूर्ण राज्य का दर्जा तो नहीं दिया जा सका, लेकिन इस संघीय क्षेत्र को 1993 ई. में विधानसभा और मंत्रिपरिषद के रूप में लोकप्रिय सरकार दे दी गई है।

इसके अतिरिक्त पृथक् राज्यों की मांग को निम्नलिखित सन्दर्भ में देखा जा सकता है :

राज्यों का पुनर्गठन—सन् 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राज्यों के पुनर्गठन का मुख्य कारण भाषायी राज्यों की मांग ही थी। भाषागत राज्यों की मांगों ने राष्ट्रव्यापी असन्तोष को जन्म दिया। इसके द्वारा क्षेत्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रवादी लोगों में यह आशंका पैदा हुई कि इससे देश छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाएगा और राष्ट्रीय एकता का अन्त हो जाएगा।

बम्बई राज्य का विभाजन—बम्बई राज्य के विभाजन की मांग तीव्रतर होने लगी। यह मांग की जाने लगी कि गुजराती और मराठी भाषा के आधार पर राज्य को दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिए। सन् 1960 में महाराष्ट्र और गुजरात राज्य की स्थापना हुई।

पृथक् विदर्भ राज्य की मांग—सन् 1960 के आस-पास पृथक् विदर्भ राज्य की मांग की जाने लगी। नागपुर के लोगों का कहना था कि महाराष्ट्र की स्थापना से नागपुर का महत्व कम हो गया क्योंकि उससे पूर्व नागपुर मध्य प्रान्त (C. P.) की राजधानी था।

पंजाब राज्य का पुनर्गठन—सन् 1966 में पंजाब राज्य का पुनर्गठन किया गया। परिणामतः पंजाब, हरियाणा—दो राज्य एवं चण्डीगढ़ का संघीय प्रदेश बनाया गया। हिमाचल प्रदेश एक राज्य बन गया है। इस पुनर्गठन का उद्देश्य इस क्षेत्र के सभी राज्यों का तेजी से आर्थिक विकास करना और वहां की जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करना था।

[1] Rajni Kothari, *Politics in India*, pp. 330-332.

असम राज्य का पुनर्गठन—सितम्बर 1968 में असम के पुनर्गठन की एक योजना घोषित की गयी थी। इस योजना में राज्य के पहाड़ी क्षेत्रों की पर्याप्त मात्रा में स्वायत्त शासन की व्यवस्था थी जिससे पहाड़ी लोगों की आकांक्षाएं पूरी हों और विकास सम्बन्धी क्रिया-कलाप बढ़ सके। 'असम पुनर्गठन (मेघालय) बिल' दिसम्बर 1968 में पारित होकर कानून बन गया और असम राज्य के अन्तर्गत 'मेघालय' का स्वायत्तशासी राज्य स्थापित हो गया। आगे चलकर मणिपुर, त्रिपुरा, मिजोरम प्रदेश और अरुणाचल प्रदेश को भी भारतीय संघ में राज्य की स्थिति प्रदान की गयी।

आन्ध्र राज्य के विभाजन की मांग—आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना की समस्या काफी जटिल बन गयी। विकास, रोजगार के अवसरों और शिक्षा-विषयक सुविधाओं के मामले में तेलंगाना क्षेत्र के लिए 1967 में **'पब्लिक एम्प्लायमेण्ट एक्ट'** में संरक्षणों की व्यवस्था की गयी। उसी वर्ष सर्वोच्च न्यायालय ने एक्ट की उस व्यवस्था को असंवैधानिक करार दे दिया, जिनका तेलंगाना क्षेत्र को मिलने वाले संरक्षणों से सम्बन्ध था। संरक्षणों के कार्यान्वयन के ढंग से असन्तोष था और तेलंगाना एवं आन्ध्र प्रदेश के अन्य भागों में गम्भीर आन्दोलन शुरू हो गये। हिंसात्मक आन्दोलन से बड़ी गम्भीर परिस्थिति पैदा हो गयी जिससे राज्य के संगठन को ही खतरा पैदा हो गया। आन्ध्र प्रदेश के लोगों में पूरी-पूरी भावात्मक एकता लाने के लिए बड़े भारी धैर्य, सूझ-बूझ और कुशलता की आवश्यकता थी। 1967 में शुरू की गयी इस बड़ी नाजुक कार्यवाही का परिणाम 6-सूत्रीय फार्मूला था जो 1973 में घोषित किया गया।

पृथक तेलंगाना के समर्थकों का कहना था कि अन्य क्षेत्रों का विकास तेलंगाना के मूल्य पर किया जा रहा है। तेलंगाना आन्दोलन को देखते हुए शंका व्यक्त की गयी कि तेलंगाना की समस्या भारत के कई भागों में उपक्षेत्रीयतावाद की उदीयमान शक्तियों का संकेत देती प्रतीत होती है।

1991-2001 ई. में पृथक राज्यों की मांग और तीन नवीन राज्यों का गठन

1991 से ही उत्तराखण्ड, झारखण्ड, बोडोलैण्ड, गोरखालैण्ड, पूर्वांचल, बुन्देलखण्ड, छत्तीसगढ़, विदर्भ राज्य और तेलंगाना आदि राज्यों की स्थापना के लिए मांग की जाने लगी। इनमें से उत्तराखण्ड, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ की मांग ने तो 1996-97 तक प्रबल आन्दोलन की स्थिति प्राप्त कर ली तथा इन राज्यों के गठन को लेकर प्रमुख राजनीतिक दलों के बीच आम सहमति भी बन गई। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों (पहाड़ी क्षेत्र के आठ जिलों) के लिए पृथक राज्य के रूप में उत्तराखण्ड (उत्तरांचल) की मांग की जा रही थी। इस मांग का प्रमुख आधार आर्थिक पिछड़ापन था। इस सन्दर्भ में भौगोलिकता का तत्व भी था, क्योंकि इन पहाड़ी क्षेत्रों के विकास की समस्याएं मैदानी भागों से भिन्न और अधिक जटिल हैं। विहार, प. बंगाल, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों को मिलाकर पृथक झारखण्ड राज्य की मांग बुलन्द की गई। इस मांग को लेकर लम्बे समय से आन्दोलन किया जा रहा था। बिहार के जनजातीय क्षेत्रों को मिलाकर झारखण्ड राज्य की स्थापना की बात पर तो 1998 में राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन के सभी दलों ने अपनी सहमति दे दी थी। इसी प्रकार मध्य प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों के विकास की मांग को लेकर मध्य प्रदेश से अलग छत्तीसगढ़ राज्य की स्थापना की मांग भी उठने लगी। 1998 का अन्त होते होते तत्कालीन शासक वर्ग राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन ने उत्तराखण्ड (उत्तरांचल), झारखण्ड और छत्तीसगढ़ इन तीन राज्यों की स्थापना को अपनी सहमति दे दी। अतः 2000 ई. में इन तीन राज्यों के गठन की प्रक्रिया प्रारम्भ की गई और नवम्बर 2000 ई. में उत्तरांचल, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ के रूप में इन तीन राज्यों की विधिवत् स्थापना हो गई।

लेकिन इन तीन राज्यों के अतिरिक्त भी कुछ राज्यों के गठन की मांग की जाती रही है। दक्षिणी गुजरात के जनजातीय क्षेत्र और लोग अपने लिए पृथक राज्य की मांग कर रहे हैं। असम में एक अलग बोडो राज्य 'बोडोलैण्ड' की स्थापना की मांग की जा रही है। इसी प्रकार गोरखालैण्ड, पूर्वांचल, बुन्देलखण्ड, विदर्भ राज्य और तेलंगाना आदि राज्यों की स्थापना के लिए मांग की जा रही है। उत्तरांचल, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ राज्य की स्थापना का औचित्य रहा है लेकिन अब किसी अन्य राज्य की स्थापना बहुत अधिक सोच विचार के बाद ही की जानी चाहिए।

2. क्षेत्रीयतावाद बनाम अन्तर्राज्यीय झगड़े

क्षेत्रीयतावाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष विभिन्न राज्यों के आपसी झगड़े हैं। राज्यों के बीच सीमा विवादों एवं नदी पानी विवादों को लेकर राज्यों में उग्र मतभेद एवं तनाव बढ़े हैं। राष्ट्रीय स्रोतों के वितरण पर राज्यों

के बीच कई बार सहमति नहीं हो पायी और राज्यों में कई बार अधिकतम स्रोत प्राप्त करने की होड़-सी दिखलाई देने लगी। मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के जल के वितरण को लेकर उत्पन्न विवाद पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान के बीच नहरी पानी के बंटवारे को लेकर विवाद, राजस्थान और पंजाब के बीच भाखड़ा-नंगल बांध से उत्पन्न बिजली के बंटवारे को लेकर विवाद, और आंध्र तथा कर्नाटक के बीच कृष्णा विवाद प्रमुख हैं। इस प्रसंग में पंजाब राज्य ने तो ऐसे उग्र क्षेत्रीयतावाद को अपनाया, जिसका अन्य कोई उदाहरण ही नहीं है। पंजाब विधानसभा ने 12 जुलाई, 2004 ई. को 'पंजाब टर्मिनेशन ऑफ एग्रीमेण्ट बिल' (Punjab Termination of Agreement Bill) पारित कर दिया, जिसके तहत 31 दिसम्बर, 1981 को हुए समझौते सहित रावी-व्यास नदियों के पानी के बंटवारे को लेकर पड़ोसी राज्यों-हरियाणा और राजस्थान के साथ हुए सभी समझौतों को रद्द कर दिया गया। इस विधेयक ने एक नए संवैधानिक संकट और भारी कानूनी विवाद को जन्म दे दिया। महाराष्ट्र तथा कर्नाटक और पंजाब तथा हरियाणा के बीच सीमा विवाद राज्यों के बीच सीमा विवाद के मुख्य उदाहरण हैं। इन विवादों के कारण क्षेत्रीयता की संकुचित प्रवृत्ति उग्र रूप धारण कर लेती है और संघवाद तथा भारतीयता डगमगाती प्रतीत होती है। अन्तर-राज्य विवाद के रूप में एक विवाद 'कावेरी जल विवाद' गत 40 वर्षों से चला आ रहा था और 1993-97 के वर्षों में इस विवाद ने गंभीर रूप ले लिया था लेकिन 1998 में केन्द्र सरकार ने सभी पक्षों के साथ बातचीत कर आम सहमति के आधार पर इस विवाद को हल कर लिया लेकिन अब भी **समझौते की क्रियान्विति को लेकर समय-समय पर मतभेदों की स्थितियां जन्म ले लेती हैं।**

3. क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की मांग

भारतीय संविधान द्वारा ऐसे संघवाद की स्थापना की गयी है जिसमें स्वाभाविक रूप से केन्द्र शक्तिशाली है। विगत कुछ वर्षों से यह मांग की जाती रही है कि भारतीय संविधान के संघवाद से सम्बन्धित प्रावधानों पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए तथा राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक निर्भरता को कम कर दिया जाना चाहिए। यह मांग की गयी है कि राज्यों को अधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए। स्वायत्तता की मांग के साथ-साथ यदा-कदा पृथकतावादी नारे भी दिए जाते हैं। स्वायत्तता की यह मांग उन दिनों बड़ी प्रबल हो जाती है, जबकि केन्द्र एवं राज्यों में पृथक्-पृथक् राजनीतिक दलों की सरकारें होती हैं। पंजाब में मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में अकाली दल द्वारा सिक्खों के स्वायत्त राज्य की मांग उठायी गयी थी। पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने बार-बार राज्यों की स्वायत्तता की मांग दुहरायी है। द्रमुक और अन्नाद्रमुक दलों ने भी राज्य स्वायत्तता की मांग का समर्थन किया है। 1991 में उड़ीसा के नेता बीजू पटनायक ने 'राज्यों के लिए स्वायत्तता' की बात कही और 1990-91 में सिक्खों के एक वर्ग द्वारा बहुत अधिक उग्रवादी दृष्टिकोण अपना लिया गया। 1996-2005 के वर्षों में भी 'राज्यों के लिए स्वायत्तता' की मांग की जा रही है। स्वायत्तता की मांग पर तर्कसंगत दृष्टि से और भारतीयता को सर्वोच्च महत्व देते हुए विचार किया जा सकता है।

4. क्षेत्रीयतावाद और केन्द्र-राज्य संघर्ष

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की अभिव्यक्ति केन्द्र व राज्यों के बीच हुए विवादों में भी हुई है। राज्यों ने कई बार केन्द्र के सुझावों और निर्देशों को मानने से इन्कार कर दिया और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय दिया है। 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का सामना करने के लिए केन्द्र ने राज्यों को निर्देश दिए। केरल की वामपन्थी सरकार के मुख्य मन्त्री नम्बूदरीपाद ने केन्द्रीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया। सन् 1968 में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिसे राज्य सरकार ने राज्य के मामले में केन्द्र के हस्तक्षेप की संज्ञा दी। केन्द्र द्वारा राज्यों में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेजने का राज्यों ने अनेक बार विरोध किया है। जनता पार्टी के शासन काल में गौ-हत्या प्रतिबन्ध के विषय पर केन्द्र तथा तमिलनाडु, केरल व पश्चिमी बंगाल की सरकारों के बीच विवाद उत्पन्न हुए। केन्द्र से अधिकतम वित्तीय स्रोतों को प्राप्त करने के लिए भी राज्यों ने केन्द्र के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार राज्यों द्वारा केन्द्र की नीति का विरोध करना तथा केन्द्र के निर्देशों का पालन न करना क्षेत्रीयतावाद की नीति के द्योतक हैं। 2000-05 के वर्षों में भी केन्द्र और राज्यों के बीच अकाल राहत, वित्तीय अनुदान और विकास योजनाओं की स्वीकृति, आदि विषयों को लेकर समय-समय पर छोटे-बड़े विवाद जन्म लेते रहे हैं।

5. क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में उत्तर-दक्षिण की भावनाएं

भारत में उत्तर और दक्षिण के सन्दर्भ में सोचने की प्रवृत्ति भी कुछ अंशों में पायी जाती है। दक्षिण के लोग यह महसूस करते हैं कि उत्तरी भारत के लोगों ने सदैव हर मामले में उनकी उपेक्षा की है। दक्षिण के चार राज्यों—तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, केरल और कर्नाटक जहां द्रविड़ भाषाएं बोली जाती हैं—का विचार है कि राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत को वे लाभ नहीं मिले जो मिलने चाहिए थे। यह कहा जाता रहा है कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल, योजना आयोग तथा केन्द्रीय सचिवालय में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के लोग ही छाये हुए हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में 2,240 करोड़ रुपए की राशि में से दक्षिण भारत को मात्र 521 करोड़ रुपए ही दिए गए। इस्पात के सभी बड़े कारखाने—रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर उत्तरी भारत में ही हैं। दक्षिण की अपेक्षा उत्तरी भारत में उद्योगों का जाल विछा हुआ है। दक्षिण के राज्यों ने केन्द्रीय सरकार की भाषा नीति का डटकर विरोध किया है। दक्षिणी राज्य यह मानते हैं कि हिन्दी उत्तरी भारत की भाषा है और उन पर हिन्दी जबर्दस्ती थोपने की एक चाल है। वे मानते हैं कि अन्य प्रादेशिक भाषाओं की भांति हिन्दी भी मात्र एक प्रादेशिक भाषा है। अन्य द्रविड़ भाषाओं, जैसे तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड़ से हिन्दी, इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से अधिक समृद्ध नहीं है। दक्षिण के राज्य चाहते हैं कि प्रशासन की भाषा के रूप में हिन्दी के वजाय अंग्रेजी को चलाया जाना चाहिए।[1] हिन्दी को वे उत्तरी भारत की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का परिचायक मानते हैं, लेकिन इन सवके वावजूद देश के बहुत बड़े वर्ग की सोच यह है कि उत्तर-दक्षिण के प्रश्न को महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। 1950-70 के वर्षों में उत्तर-दक्षिण विवाद तीव्र रूप में प्रकट हुआ, लेकिन उसके बाद यह विवाद मंद पड़ता गया तथा 1980-2003 के वर्षों में उत्तर-दक्षिण विवाद लगभग शांत हो गया है।

6. क्षेत्रीयतावाद के सन्दर्भ में भाषावाद

स्वाधीनता के तुरन्त वाद मुख्य प्रश्न यह था कि देश की राष्ट्र भाषा और उसकी लिपि क्या हो तथा भाषायी अल्पसंख्यकों को किस प्रकार संरक्षण दिया जाए। संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया। भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण एवं पुनर्गठन हुआ। दक्षिण के लोग हिन्दी भाषा का विरोध करने लगे। वे राजभाषा के रूप में हिन्दी को पसन्द नहीं करते थे। उनका कहना था कि हिन्दी इस स्थिति में नहीं है कि वह भारत की राजभाषा बन सके। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी। भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण के राज्यों में हिंसात्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गयी। मॉरिस जोन्स लिखते हैं, ''दक्षिण भारत ने हिन्दी का जोरदार विरोध किया, वंगाल ने उससे कुछ कम विरोध किया और देश के अन्य भागों के शिक्षित वर्ग के लोगों ने सीमित रूप से इसका विरोध किया।''

असम में भाषा की राजनीति असम आन्दोलन की प्रेरणा स्रोत रही है। जनगणना के आंकड़ों के अनुसार 1951 व 1971 के वीच राज्य में 61-62 प्रतिशत लोग ही असमिया भाषा बोलते थे। राज्य के हिन्दू जो लगभग 72 प्रतिशत हैं ऐसा सोचते हैं कि असमिया भाषा बोलने वाले 62 प्रतिशत लोगों में 25 प्रतिशत लोग वांग्लादेश के मुसलमान हैं। उनका यह मानना है कि इन मुसलमानों ने केवल इसलिए असमिया भाषा बोलना शुरू किया ताकि उन्हें पहचाना न जा सके कि वे विदेशी हैं। असम के लोगों को भय है कि एक वार स्थिति सामान्य हुई और वांग्लादेश से आये मुसलमान अपनी मूल भाषा बंगाली का प्रयोग शुरू कर देंगे और ऐसी स्थिति में असमिया बोलने वालों का प्रतिशत 36-37 रह जाएगा।

दूसरी ओर बंगला भाषी लोग जो इस समय असम की जनसंख्या के 20 प्रतिशत हैं, उनकी संख्या में 25 प्रतिशत वृद्धि हो जाएगी। इस प्रकार राज्य में बंगला भाषाभाषियों का प्रतिशत 45 हो जाएगा, जो असमिया बोलने वालों के प्रतिशत से आठ-नौ प्रतिशत ज्यादा होगा। इससे ''असली'' असमवासी भयभीत हो जाते हैं। इन लोगों का कहना है कि बंगाली अच्छे-अच्छे पदों पर हैं और असमिया भाषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं।

1 "The Hindi Policy of India under its present leadership is, in the opinion of the South, sheer imperialism and as Hindi imperialism it is denounced on the plateform and in the press."
—M. Ruthnaswamy, *Regionalism*—Seminar (23), July 1961.

7. सम्पूर्ण उत्तर-पूर्वी भारत में उग्र क्षेत्रीयतावाद

उत्तर-पूर्वी भारत के भारतीय संघ के 7 राज्य (असम, नगालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश) हैं तथा इनमें से अधिकांश राज्यों में क्षेत्रीयतावाद की भावना बहुत प्रबल है जो व्यवहार में कभी भी उग्र क्षेत्रीयतावादी आचरण को जन्म दे देती है। सामान्यतया एक राज्य में केवल विदेशियों के ही प्रवेश और बसने पर प्रतिबन्ध होता है, लेकिन उत्तर-पूर्वी राज्यों में शेष भारत के लोगों पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। यह व्यवस्था 'Inner Line Permit' के रूप में है अर्थात परमिट (अनुमति) लेना आवश्यक है। जो हिन्दी भाषी पहले से उत्तर-पूर्वी भारत के राज्यों में बसे हुए हैं उनके साथ कभी भी हिंसक व्यवहार अपना लिया जाता है। अभी 2004 ई. के उत्तरार्द्ध में 'उल्फा' सहित कम से कम 7 उग्रवादी संगठनों ने हिन्दी भाषियों को असम छोड़ने की चेतावनी दी। 2004 ई. में ही रेलवे भर्ती को लेकर बिहारियों के साथ जो घटनाएं हुई, उसमें अनेक निहत्थे, निर्दोष बिहारियों को मार डाला गया। असम में बिहारियों के घर जला दिए गए।

इन 7 राज्यों में परस्पर भी भारी विरोध की स्थिति है। नगालैण्ड का उग्रवादी संगठन 'नेशनल काउंसिल ऑफ नगालैण्ड' (इसाक-मुइवा) नागा समस्या के शान्तिपूर्ण हल के लिए **'वृहत्तर नगालैण्ड'** (Greater Nagaland) की मांग कर रहा है, जिसका आशय है : उत्तर-पूर्वी भारत के जिन क्षेत्रों में नगा लोग पर्याप्त संख्या में रहते हैं, उन्हें सम्बन्धित राज्य से पृथक कर नगालैण्ड में शामिल करते हुए 'वृहत्तर नगालैण्ड' की स्थापना। ऐसा पूर्वोत्तर के राज्यों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण के आधार पर ही सम्भव है तथा पूर्वोत्तर के अन्य राज्य इसके लिए सहमत नहीं हैं। इस प्रकार का कोई प्रयत्न अनेक नई समस्याओं को जन्म दे देगा। वस्तुतः समूचे दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है तथा इसके लिए सभी पक्षों की ओर से प्रयत्न किए जाने की आवश्यकता है।

क्षेत्रीयतावाद और पृथकतावादी आन्दोलन

क्षेत्रीयतावाद का सबसे अधिक गम्भीर और उग्र रूप पृथकतावादी आन्दोलन है, जिसके आधार पर कोई राज्य या राज्य का कोई भाग भारतीय संघ से पृथक होने की मांग तथा आन्दोलन करें। सर्वप्रथम, इस प्रकार की मांग तत्कालीन मद्रास राज्य के तमिल मुनेत्र कड़गम द्वारा की गई थी, लेकिन थोड़े समय में ही इस मांग और आन्दोलन ने अपनी शक्ति खो दी। छठे-सातवें दशक में नगालैण्ड और मिजोरम में इस प्रकार की स्थितियां बनीं और नवें दशक में पंजाब तथा जम्मू कश्मीर राज्य में इस प्रकार के आन्दोलन खड़े हो गये; लेकिन कालान्तर में भारतीय जनता और भारतीय राज व्यवस्था ने इन सभी पृथकतावादी आन्दोलनों को असफल कर दिया। भविष्य में भी भारत टूट नहीं सकता, यह सोचने का पर्याप्त आधार बनता है। जहां तक कानून का सम्बन्ध है, **16वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर व्यवस्था की गई है कि कोई भी व्यक्ति या संगठन भारत की अखण्डता के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता।**

पृथकतावादी आन्दोलन के प्रसंग में वर्तमान स्थिति—वर्तमान समय में उग्र क्षेत्रवादी आन्दोलन और अलगाव की दृष्टि से उत्तर-पूर्वी भारत के अनेक क्षेत्रों (असम, नगालैण्ड और मणिपुर) में गम्भीर स्थिति है। असम में उल्फा और बोदो उग्रवादियों ने हिंसात्मक आन्दोलन की स्थिति अपनाई हुई है। 1989 के अन्तिम महीनों से ही असम में एक उग्रवादी संगठन 'उल्फा' (ULFA) खड़ा हो गया। इस संगठन ने अपना लक्ष्य घोषित किया है, 'भारतीय संघ से अलग सम्प्रभु असम राज्य की स्थापना।' 1990 से लेकर 2000 ई. तक उल्फा के उग्रवाद से उत्पन्न स्थिति में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं।

इसके अतिरिक्त 1990 से ही असम के बोडो क्षेत्र में अलग बोदो राज्य 'बोडोलैण्ड' की स्थापना को लेकर आन्दोलन चला तथा इस आन्दोलन में भी उग्रवादी गतिविधियों को अपना लिया गया। 1996-98 में बोदो क्षेत्र में उग्रवादी गतिविधियां पहले से बढ़ गईं। नगालैण्ड और मणिपुर में भी क्षेत्रवादी प्रवृत्तियों ने उग्रवादिता का मार्ग अपना लिया है। समय-समय पर पाकिस्तान इन अलगाववादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता रहा है और बांग्लादेश तथा म्यांमार (बर्मा) भी समय-समय पर इस स्थिति को अपना लेते हैं।

उत्तर-पूर्वी भारत के सम्बन्ध में सुखद तथ्य यह है कि गत लगभग तीन वर्षों से भारत सरकार ने उत्तर-पूर्वी भारत के प्रति अधिक सजगता की स्थिति को अपनाया है। भारत सरकार ने अब पूरे उत्तर-पूर्वी भारत के आर्थिक विकास के लिए पूरी शक्ति के साथ प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये हैं। सरकार ने उत्तर-पूर्वी भारत

के उग्रवादियों से भारतीय संविधान के तहत बिना शर्त बातचीत की पेशकश की है, साथ ही यह स्पष्ट कर दिया है कि 'पृथकता की अवधारणा किसी भी कीमत पर स्वीकार्य नहीं होगी।' वस्तुतः पूरे उत्तर-पूर्वी भारत में स्थिति गम्भीर है, लेकिन पूरे मन से और धैर्य के साथ कार्य करने पर शान्ति के लक्ष्य को प्राप्त कर पाना सम्भव है। क्षेत्रवाद की उग्र प्रवृत्तियों और अलगाववाद पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक सैनिक कार्यवाही के साथ-साथ हमें इस क्षेत्र की जनता को, उनके दिलों को जीतना होगा।

जम्मू-कश्मीर में अलगाववाद—जम्मू-कश्मीर में अलगाववाद के बीज किसी न किसी रूप में तो 1948 से ही थे, लेकिन 1985 तक स्थिति पर प्रभावी नियन्त्रण बना हुआ था। विभिन्न प्रशासनिक और राजनीतिक कारणों से 1986 ई. से स्थिति निरन्तर बिगड़ती चली गई। अनेक उग्रवादी संगठन खड़े हो गये, जिनमें एक प्रमुख संगठन था, अमानुल्ला खां के नेतृत्व में 'जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रन्ट' (J.K.L.F.) इन उग्रवादी संगठनों और तत्वों द्वारा हत्या, आगजनी, अपहरण और निर्दोष व्यक्तियों की सामूहिक हत्या आदि आतंकवादी तौर-तरीके अपनाये जाते रहे हैं।

अलगाववाद की स्थिति को समाप्त करने का एक तरीका यही हो सकता था कि इस क्षेत्र में लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को अपनाया जाय, लोकसभा तथा विधानसभा के चुनाव हों और जम्मू-कश्मीर में लोकप्रिय सरकार का गठन हो। अतः नवम्बर '96 में जम्मू-कश्मीर विधानसभा के चुनाव हुए, जनता ने उत्साहपूर्वक चुनावों में भाग लिया और फारुक अब्दुल्ला के नेतृत्व में लोकप्रिय सरकार का गठन हुआ। 1997-98 में इस सरकार ने आतंकवाद को नियन्त्रित करने में पर्याप्त सीमा तक सफलता प्राप्त की लेकिन 1999 के प्रारम्भ से ही जम्मू-कश्मीर में आतंकवाद ने पुनः गम्भीर रूप ले लिया और 2002 ई. के मध्य तक स्थिति निरन्तर बिगड़ती चली गई। जम्मू-कश्मीर का यह आतंकवाद 'पाक प्रायोजित आतंकवाद' है। सितम्बर-अक्टूबर 2002 ई. में जम्मू कश्मीर राज्य की विधानसभा के चुनाव हुए तथा इन चुनावों के परिणामस्वरूप 'पीडीपी-कांग्रेस' की सरकार स्थापित हुई है। सरकार आतंकवाद के अन्त और शान्ति की स्थापना तथा जम्मू कश्मीर राज्य के सभी क्षेत्रों के सन्तुलित विकास के लिए प्रतिबद्ध है, केन्द्र सरकार इस राज्य सरकार को पूरा सहयोग दे रही है तथा अन्तर्राष्ट्रीय दबाव और कुछ अन्य कारणों से पाकिस्तान के रवैये में भी थोड़ परिवर्तन आया है। आतंकवाद पर थोड़ा नियन्त्रण स्थापित हुआ है, किन्तु आतंकवादी तत्व अब भी सक्रिय हैं, अतः शान्तिवादी नीति अपनाते हुए भी सीमाओं पर निरन्तर सतर्कता बरती जाने की आवश्यकता है। जम्मू-कश्मीर राज्य की जनता जानती है कि उसका भविष्य भारत के साथ है, आम जनता शान्ति चाहती है। आशा की जानी चाहिए कि साहस, धैर्य, सद्भावना और आपसी सूझ-बूझ के आधार पर इस क्षेत्र में आतंकवाद और अलगाववाद पर प्रभावी नियन्त्रण प्राप्त करने में सफलता मिलेगी।

भूमि-पुत्र की धारणा
(THE SONS OF THE SOIL DOCTRINE)

उपर्युक्त के अतिरिक्त क्षेत्रीयतावाद की एक अन्य प्रवृत्ति 'भूमि पुत्र की धारणा' के रूप में देखी गयी है। 'भूमि-पुत्र'[1] की धारणा का आशय यह है कि **किसी राज्य अथवा क्षेत्र के निवासियों द्वारा उस राज्य में बसने और रोजगार प्राप्त करने, आदि के सम्बन्ध में विशेष संरक्षण की मांग की जाय।** इस मांग के साथ यह बात जुड़ी है कि जब तक उस राज्य या क्षेत्र के सभी मूल निवासियों को रोजगार प्राप्त न हो जाए, तब तक उस राज्य या क्षेत्र में बाहरी व्यक्तियों को रोजगार की सुविधा नहीं दी जानी चाहिए। 'भूमि-पुत्र' की धारणा का उदय इस सदी के छठे दशक में ही हो गया था और शिव सेना जैसे संगठन के द्वारा इसे महाराष्ट्र में अपनाया गया था, लेकिन समय-समय पर इस प्रवृत्ति को बहुत अधिक प्रबल होते देखा गया।

1979 के मध्य से असम राज्य में विदेशियों के विरुद्ध जो व्यापक आन्दोलन किया गया, उसे कुछ सीमा तक भूमि-पुत्र की धारणा पर आधारित कहा जा सकता है। अन्य कुछ राज्यों में भी सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर इस प्रकार की प्रवृत्तियां देखी गयी हैं। वर्तमान समय में पूरा उत्तर-पूर्वी भारत उग्र क्षेत्रीयतावाद की भावना से पीड़ित है। मिजोरम, नगालैण्ड और अरुणाचल प्रदेश में Inner Line Permit' अर्थात 'राज्य में प्रवेश के लिए अनुमति की आवश्यकता' की स्थिति है। मेघालय ने अक्टूबर '95 में 'Work Permit System' को अपनाया है। अभी 2004 ई. के उत्तरार्द्ध में असम और मुम्बई में 'रेलवे की भर्ती' को लेकर

1 A. G. Noorani, *The Sons of the Soil Doctrine*, Indian Express, 20 April, 1980, p. 6.

बिहारियों के साथ जो घटनाएं हुईं, वे 'भूमि पुत्र की धारणा' का ही परिणाम थीं। इन घटनाओं में अनेक निहत्थे, निर्दोष बिहारियों को मार डाला गया।

यह बात तो उचित प्रतीत होती है कि 'सरकारी और गैर-सरकारी उद्योगों में अकुशल श्रमिक का कार्य स्थानीय व्यक्तियों को ही दिया जाए' लेकिन भूमि-पुत्र की धारणा को व्यापक स्तर पर और प्रबलता के साथ अपनाने के परिणाम राष्ट्रीय एकता के लिए घातक हो सकते हैं। यह धारणा विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास में भी निश्चित रूप से बाधक होगी। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी द्वारा 'भूमि-पुत्र' की धारणा को अस्वीकार करते हुए इसे 'राष्ट्रीय एकता के लिए घातक और विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास में बाधक' बतलाया गया था।[1] वस्तुतः राष्ट्रीय एकता के हित में भूमि-पुत्र की धारणा पर अंकुश रखना होगा।

ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनाव परिणाम तथा क्षेत्रीयतावाद—1996-2004 ई. के वर्षों में सम्पन्न इन लोकसभा के चुनावों के परिणामों ने दो विशेष स्थितियों को जन्म दिया है : **प्रथम**, कोई भी राजनीतिक दल लोकसभा में स्पष्ट बहुमत के समीप भी नहीं पहुंच पाया है और **द्वितीय**, क्षेत्रीय दलों की शक्ति में भारी वृद्धि हुई है। इस स्थिति के आधार पर यह आशंका व्यक्त की जा रही है कि क्षेत्रवादी प्रवृत्तियां पहले से अधिक शक्तिशाली होंगी, लेकिन क्षेत्रीयतावाद और राष्ट्रवाद के बीच कोई सीधा विरोधाभास नहीं है और यह भी सम्भव हो सकता है कि क्षेत्रवादी प्रवृत्तियां भारतीय राज व्यवस्था में सन्तुलनकारी स्थिति को जन्म देकर अपने दीर्घकालीन प्रभाव के रूप में राष्ट्रवाद को शक्ति प्रदान करें।

क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम

क्षेत्रीयता की भावना जन-जीवन में जड़ पकड़ने के कारण आज हमारा देश अनेक क्षेत्रों में बंट गया है और प्रत्येक क्षेत्र के लोग दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का बीड़ा उठा चुके हैं। क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम निम्न प्रकार हैं :

(1) विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष और तनाव—संकीर्ण क्षेत्रवाद का जो प्रथम दुष्परिणाम हमें भारत में देखने को मिलता है, वह यह है कि इसके कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक यहां तक कि मनोवैज्ञानिक संघर्ष और तनाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्षेत्र अपने स्वार्थों या हितों को सर्वोच्च स्थान दे बैठता है और उसे यह चिन्ता नहीं होती कि उससे दूसरे क्षेत्रों को कितना नुकसान होगा।

(2) राज्य तथा केन्द्रीय सरकार के बीच सम्बन्धों का विकृत होना—भारत में क्षेत्रीयता के कारण केन्द्रीय सरकार तथा राज्य के बीच का सम्बन्ध कभी-कभी अत्यन्त कटु रूप धारण कर लेता है। प्रत्येक क्षेत्र के हित समूह, क्षेत्रीय नेतागण, बड़े-बड़े उद्योगपति या राजनीतिज्ञ अपने-अपने क्षेत्र के स्वार्थों को प्राथमिकता देते हैं और केन्द्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। केन्द्रीय सरकार जिसकी तरफ भी थोड़ा-सा झुक गयी वही विवाद का विषय बन जाता है और केन्द्र तथा राज्य सरकारों का पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण नहीं रह पाता है।

(3) स्वार्थी नेतृत्व व संगठन का विकास—क्षेत्रीयता का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि इसके फलस्वरूप अलग-अलग क्षेत्र में इस प्रकार के नेतृत्व व संगठनों का विकास हो जाता है जो कि जनता की भावनाओं को उभारकर अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं। इस प्रकार के नेताओं व संगठनों को न तो क्षेत्रीय हितों और न ही राष्ट्रीय हितों का तनिक भी ख्याल रहता है, उनका समस्त ख्याल तो अपनी लोकप्रियता को बढ़ाकर अपने ही स्वार्थों को सिद्ध करने पर केन्द्रित हो जाता है। ये नेतागण कभी तो भाषा के प्रश्न को लेकर हंगामा मचाते हैं और कभी केन्द्रीय सरकार के पक्षपातपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध नारा लगाने के लिए सामने आ खड़े होते हैं, चाहे इनमें से कोई भी समस्या वास्तविक हो या केवल काल्पनिक।

(4) भाषा की समस्या का अधिक जटिल होना—क्षेत्रीयता का एक और बुरा प्रभाव यह होता है कि क्षेत्रीय वफादारी (regional loyalty) भाषा की समस्या को सुलझाने में सहायक होने के स्थान पर उसे और भी जटिल बनाने का कारण बनती है। क्षेत्रीय वफादारी का सीधा सम्बन्ध क्षेत्रीय या प्रादेशिक भाषा के प्रति विशेष लगाव से होता है जिसके कारण प्रादेशिक भाषा को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान करने की गलती उस क्षेत्र के लोग कर बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि अन्य किसी भाषा के प्रति सहिष्णुता की

1 *Ibid.*

भावना बिल्कुल नहीं रह जाती और विभिन्न भाषाभाषी क्षेत्रों के बीच भाषा के प्रश्न को लेकर कटुता बढ़ती चली जाती है। क्षेत्रीयता का यह परिणाम जनकल्याण और राष्ट्रीय प्रगति के दृष्टिकोण से अत्यन्त घातक सिद्ध होता है।

(5) राष्ट्रीय एकता को चुनौती—संकीर्ण क्षेत्रीयता राष्ट्रीय एकता के लिए एक चुनौती बन जाती है। क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के बीच जो तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है वह राष्ट्रीय एकता की समस्त धारणाओं और भावनाओं पर तुषारापात करती है, क्योंकि क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में कभी क्षेत्रीय स्वार्थों को लेकर, कभी राजनीतिक स्वशासन या पृथक् राज्य के प्रश्न को लेकर तो कभी प्रादेशिक भाषा के प्रश्न को लेकर जो झगड़े या मनमुटाव खड़े हो जाते हैं वे राष्ट्रीय एकता के लिए घातक सिद्ध होते हैं। क्षेत्रीयतावाद की बढ़ती हुई प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए वरिष्ठ राजनीतिज्ञ ज्योति बसु कहते हैं : 'समय बीतने के साथ-साथ मैं भारतीयता को कमजोर होते हुए देख रहा हूं।'[1] इस प्रकार की चिन्ता निराधार नहीं है तथा इस चिन्ता का अपना औचित्य है।

क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपाय

राष्ट्रीय जीवन के लिए क्षेत्रीयता कोई अच्छी चीज नहीं है। इसे नियंत्रित करना ही उचित है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपायों को सुझाया जा सकता है :

(1) केन्द्रीय सरकार की नीति कुछ इस प्रकार की होनी चाहिए कि सभी उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों (sub-cultural regions) का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो जिससे कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम से कम हो।

(2) सभी क्षेत्रों के लोगों को समान आर्थिक सुविधाएं प्रदान की जाएं जिससे कि अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा व ईर्ष्या की भावना न पनप सके।

(3) भाषा सम्बन्धी झगड़ों का हल शीघ्र ही ढूंढ़ लिया जाए। इस सम्बन्ध में सबसे उचित हल यह है कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान मान्यता प्रदान की जाए।

(4) हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्रीय समूह पर जबरदस्ती लादा न जाए। अपितु इस भाषा का प्रचार व विस्तार इस ढंग से किया जाए कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वतः ही इसे सम्पर्क भाषा (Link language) के रूप में स्वीकार कर लें।

(5) प्रचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के सांस्कृतिक लक्षणों के विषय में लोगों के सामान्य ज्ञान को बढ़ाया जाए जिससे कि एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के प्रति अधिक सहनशीलता की भावना को अपना सकें।

(6) केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों के नेताओं का सन्तुलित प्रतिनिधित्व हो जिससे कि क्षेत्रीय पक्षपातपूर्ण नीतियों का खण्डन हो सके और केन्द्रीय सरकार के इरादों पर किसी को भी सन्देह न रहे।

(7) जहां तक सम्भव व व्यावहारिक हो उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों की उचित आकांक्षाओं की पूर्ति की जाए, यदि उनका कोई बुरा प्रभाव राष्ट्रीय जीवन व संगठन पर न पड़ता हो।

(8) केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को अधिकाधिक सौहार्दपूर्ण बनाने के लिए दोनों ही पक्षों को इस प्रकार की नीति तथा आचार-संहिता को अपनाना चाहिए कि पारस्परिक विश्वास टूट न जाए और ऐसे अवसर कभी न आएं कि उन्हें एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने की आवश्यकता हो। संकीर्ण मनोभाव वाले स्वार्थी नेतागण इसी प्रकार के अवसरों की राह ताकते रहते हैं और मौका मिलते ही क्षेत्रीयता की भावना को भड़काने का प्रयत्न करते हैं। राज्य सरकारों और विशेषकर केन्द्रीय सरकार के द्वारा क्षेत्रीय नेताओं को इस प्रकार का मौका कभी नहीं दिया जाना चाहिए।

क्षेत्रीयतावाद : आलोचनात्मक मूल्यांकन

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जन मानस में नवीन आकांक्षाएं उठने लगीं। राज्य के नीति निर्देशक तत्व, पंचवर्षीय योजनाएं, आदि कार्यक्रम आदर्श थे, लेकिन व्यवहार में गरीबी और आर्थिक विषमता ही बढ़ती गयी। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय एकता और हितों की अपेक्षा क्षेत्रीयतावाद को

1 'I find less and less Indianness, as the days go by'
—Jyoti Basu on Almati Dam Dispute (Quoted in *The Times of India*; 13 Dec.

बढ़ावा मिलने लगा। असन्तोष के इस वातावरण में विभिन्न वर्गों द्वारा शक्ति के लिए संघर्ष की शुरूआत हुई। ऐसे नवीन राजनीतिक दलों का उदय होने लगा, जो कि क्षेत्रीय हितों को लेकर शक्ति अर्जित करने लगे। क्षेत्रीयता के आधार पर राज्य केन्द्र से सौदेबाजी करने लगे और अपनी जड़ों को मजबूत करने के लिए राजनीतिक दल प्रादेशिकता की भावना का प्रचार करने लगे। प्रादेशिकता के आधार पर चुनावों में उम्मीदवारों का मनोनयन किया जाने लगा। सरकार के गठन में क्षेत्रीयता को मानदण्ड बनाया जाने लगा।

क्षेत्रीयतावाद का भारतीय राजनीति की शैली पर काफी प्रभाव पड़ा तथा आन्दोलनात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला। क्षेत्रीय आन्दोलनों को चलाने के लिए आर्थिक विषमता, धर्म, जाति और भाषा का सहारा लिया गया। यथार्थ में, क्षेत्रीयता की समस्या आज भारत की राष्ट्रीय एकता के मार्ग में कंटक बन गयी है। संघर्षात्मक प्रादेशिकता की भावना को समाप्त कर उदार सहयोगी प्रादेशिकता की भावना के प्रसार की आवश्यकता है।

डॉ. रशीदउद्दीन खां ने क्षेत्रीयतावाद के सकारात्मक पक्ष की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह धारणा गलत साबित हुई है कि क्षेत्रीयतावाद के कारण भारतीय संघ छिन्न-भिन्न हो जाएगा[1] अपितु यह मत अधिक सही साबित हुआ कि क्षेत्रीयतावाद और राष्ट्रवाद में सहअस्तित्व सम्भव है।[2]

भारत जैसे देश में क्षेत्रवाद को समाप्त कर पाना सम्भव नहीं है, आवश्यकता इस बात की है कि क्षेत्रवादी प्रवृत्तियां संयमित और नियन्त्रित रूप में रहें तथा क्षेत्रवाद और राष्ट्रवाद में सामंजस्य की स्थिति सम्पूर्ण अंशों में बनी रहे।

प्रश्न

1. क्षेत्रवाद से आप क्या समझते हैं? क्षेत्रवाद के प्रमुख प्रकार बतलाइए और भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद की भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. "देश की अपेक्षा तथा कुछ परिस्थितियों में उस राज्य की अपेक्षा, जिसका कि वह प्रदेश भू-भाग है किसी क्षेत्र-विशेष से अधिक निष्ठा रखने का दूसरा नाम क्षेत्रीयता है" उक्त वक्तव्य की व्याख्या कीजिए तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में क्षेत्रीयतावाद द्वारा धारण किए गए विभिन्न रूपों की विवेचना कीजिए।
3. भारत में क्षेत्रवाद की प्रकृति एवं भूमिका को दर्शाइए। क्षेत्रवाद ने किस सीमा तक राष्ट्रीय एकीकरण को अवरुद्ध किया है, उदाहरण सहित विवेचना कीजिए।
4. भारत में क्षेत्रवाद की प्रकृति एवं भूमिका का परीक्षण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राज-व्यवस्था के सम्मुख प्रमुख चुनौती या समस्या है :

   (अ) साम्प्रदायिकता (ब) क्षेत्रीयता
   (स) जातिवाद (द) उपर्युक्त सभी

2. भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद का प्रमुख कारण है :

   (अ) भौगोलिक (ब) भाषागत विविधता
   (स) जाति (द) उपर्युक्त सभी कारण

3. 'पॉलिटिक्स इन इण्डिया' पुस्तक के लेखक हैं :

   (अ) रजनी कोठारी (ब) महात्मा गांधी
   (स) बाल गंगाधर तिलक (द) गोपाल कृष्ण गोखले

4. राज्यों का पुनर्गठन कब किया गया :

   (अ) 1950 (ब) 1952 (स) 1955 (द) 1956

5. महाराष्ट्र एवं गुजरात राज्य की स्थापना कब हुई थी?

   (अ) 1956 (ब) 1958 (स) 1960 (द) 1967

1 डॉ. रशीदउद्दीन खां, दि रीजनल डाइमेन्सन, सेमिनार नं. 169, 1974.

2 मॉरिस जोन्स, "लेंग्वेज एण्ड रीजन विदिन इंडियन यूनियन", फिलिप मेसन (सम्पादित) इण्डिया एण्ड सिलोन : यूनिटी एण्ड डायवर्सिटी, 1967.

6. तेलंगाना की समस्या किस राज्य से सम्बन्धित है :

(अ) राजस्थान (ब) मध्य प्रदेश
(स) आन्ध्र प्रदेश (द) हरियाणा

7. निम्नलिखित में से किस राज्य की स्थापना नवम्बर 2000 ई. में की गई है :

(अ) उत्तरांचल (ब) झारखण्ड
(स) छत्तीसगढ़ (द) उपर्युक्त तीनों राज्यों की

8. कृष्णा विवाद किन-किन राज्यों के मध्य है :

(अ) आन्ध्र प्रदेश तथा कर्नाटक (ब) पंजाब तथा हरियाणा
(स) राजस्थान तथा गुजरात (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

9. किस संवैधानिक संशोधन के आधार पर व्यवस्था की गई है कि कोई भी व्यक्ति या संगठन भारत की अखण्डता के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता :

(अ) प्रथम संशोधन (ब) 9वें संशोधन
(स) 12वें संशोधन (द) 16वें संशोधन

10. 'राजीव-लोंगोवाल' समझौता कब हुआ था?

(अ) जुलाई 1980 में (ब) जुलाई 1982 में
(स) जुलाई 1985 में (द) जुलाई 1988 में

[उत्तर—1. (द), 2. (द), 3. (अ), 4. (द), 5. (स), 6. (स), 7. (द), 8. (अ), 9. (द), 10. (स)।]

19

निर्धनता निवारण
[POVERTY ALLEVIATION]

"भारत एक समृद्ध राष्ट्र है जहां निर्धन जनता बसती है" यह कथन भारत के योजनाबद्ध विकास के 55 वर्षों बाद भी सटीक एवं सही प्रतीत होता है। यद्यपि भारत की पंचवर्षीय योजनाएं इस लक्ष्य से प्रेरित रही हैं कि आर्थिक विकास का अधिकाधिक लाभ समाज के अपेक्षाकृत गरीब एवं पिछड़े वर्गों को मिले और गरीबी का निराकरण किया जा सके, पर फिर भी आज भारत की लगभग 26% जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रही है।

निर्धनता/गरीबी की धारणा एवं परिभाषाएं
(THE CONCEPT OF POVERTY AND ITS DEFINITONS)

गरीबी का अभिप्राय उस सामाजिक अवस्था से है जिसमें समाज का एक तबका अपने जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं से भी वंचित रहे और वे न्यूनतम जीवन-स्तर से भी नीचे जीवन जियें। निर्धनता की धारणा एक सापेक्षिक धारणा है जो अच्छे जीवन-स्तर के मुकाबले निम्न जीवन-स्तर के आधार पर गरीबी की कल्पना करती है। भारत में निर्धनता की परिभाषा उचित जीवन-स्तर की अपेक्षा **'न्यूनतम जीवन-स्तर'** को ही आधार मानती है, क्योंकि देश में व्याप्त दरिद्रता में एक अच्छे अथवा उचित जीवन-स्तर की बात एक उपहास लगती है, अतः भारत के सन्दर्भ में केवल उन्हीं लोगों को गरीब/निर्धन माना जाता है जो निर्धारित न्यूनतम जीवन-स्तर से भी नीचे जीवनयापन कर रहे हैं। निरपेक्ष रूप में भूखे, नंगे, निरक्षर, बीमारी से त्रस्त एवं अपाहिज करोड़ों लोग जो जीवन की बुनियादी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए तरस रहे हैं, अभाव, निराशा एवं अपमान का जीवन जी रहे हैं।

भारत में गरीबी को सापेक्षिक रूप में परिभाषित करने का प्रयास रहा है और निर्धारित न्यूनतम जीवन-स्तर से भी नीचे जीवनयापन करने वालों को, जो बुनियादी आवश्यकताओं से भी वंचित हैं उन्हें गरीब एवं निर्धन माना गया है। न्यूनतम जीवन-स्तर किसे माना जाए और उसके लिए प्रति व्यक्ति उपभोग स्तर अथवा आय स्तर क्या हो? विद्वानों में मतभेद होने के कारण भारत में दरिद्रता/गरीबी रेखा (Poverty Line) के बारे में प्रमुख दृष्टिकोण इस प्रकार है :

भारत में निर्धनता/गरीबी रेखा के दृष्टिकोण (निर्धन कौन है?)

संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) के प्रथम निदेशक लार्ड बॉयड ओर्र (Lord Boyad Orr) के मतानुसार 2300 कैलोरी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन से कम उपभोग स्तर को गरीबी रेखा कहा जा सकता है।

भारतीय योजना आयोग ने ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति उपभोग 2400 कैलोरी तथा शहरी क्षेत्रों में 2100 कैलोरी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन के आधार पर दरिद्रता रेखा को परिभाषित किया है।

'गरीब किसे कहा जाए' योजना आयोग इसका विश्लेषण व्यक्ति की आय के आधार पर भी करता रहा है। केन्द्रीय ग्रामीण विकास मन्त्रालय की घोषणानुसार गरीबी रेखा अब विभिन्न राज्यों में 13,900 रु. से 16,990 रुपए वार्षिक तक होगी। पांच सदस्यों वाला परिवार यदि अपने सम्बन्धित राज्य के लिए निर्धारित आलोच्य धनराशि से कम वार्षिक आय प्राप्त करता है तो उस परिवार को 'गरीबी रेखा से नीचे' (Below the Poverty Line BPL Family) माना जाएगा।

भारत में निर्धनता/गरीबी का आकार, अनुमान एवं अध्ययन

भारत में आय वितरण तथा उपभोग स्तर सम्बन्धी आंकड़ों का नितान्त अभाव होने से निर्धनता के आकार का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है, फिर भी कई विद्वानों एवं सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन से भारत में व्याप्त गरीबी के स्वरूप तथा आकार के बारे में मोटा अनुमान लगाया जा सकता है।

अब तक जिन विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनुमान लगाए हैं; उनमें कुछ प्रमुख हैं—**पी. डी. ओझा, डाकोस्टा, दाण्डेकर** एवं **दथ** और **प्रो. बी. एस. मिन्हास** आदि। इनके अतिरिक्त सातवें वित्त आयोग और विश्व बैंक द्वारा भी अनुमान लगाए गए हैं। अब तक जो अनुमान लगाए गए, उनमें **डी. टी. लकड़ावाला** का अनुमान ही सर्वाधिक मान्य है। योजना आयोग तथा भारत सरकार के स्तर पर अब यह निश्चित हो चुका है कि निर्धनता के आधार पर राज्यों को दी जाने वाली समस्त केन्द्रीय सहायता के लिए निर्धनों की संख्या का निर्धारण अब आगे से '**लकड़ावाला फार्मूले**' के आधार पर ही किया जाएगा। **लकड़ावाला फार्मूले** के अनुसार, देश में लगभग 30 करोड़ व्यक्ति 'गरीबी की सीमा रेखा के नीचे' रहते हुए अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

एक अन्य आधिकारिक अनुमान '**राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन**' (NSSO) का है। 'राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन' द्वारा अपने 55वें दौर के सर्वेक्षण के अनुसार, 'गरीबी अनुपात ग्रामीण क्षेत्रों में 27.1 प्रतिशत, शहरी क्षेत्रों में 23.6 प्रतिशत और समग्र रूप से देश के लिए 26.10 प्रतिशत अनुमानित है।[1]

भारतीय संघ के जिन राज्यों में निर्धनता औसत से अधिक, 30 प्रतिशत से भी अधिक है, वे राज्य हैं—उत्तर प्रदेश (31.15), नगालैण्ड (32.67), अरुणाचल प्रदेश (33.47), मेघालय (33.87), त्रिपुरा (34.44), असम (36.09), सिक्किम (36.55), मध्य प्रदेश (37.43), बिहार (42.60), उड़ीसा (41.0)।[2]

भारत में गरीबी/निर्धनता के प्रमुख कारण

भारत एक समृद्ध राष्ट्र है, किन्तु उसमें गरीब जनता एक विरोधाभास एवं कटु सत्य है। योजनाबद्ध विकास एवं गरीबी निवारण के विभिन्न कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के बावजूद 26.1 प्रतिशत जनसंख्या अभी भी गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करती है। भारत में गरीबी के इस अभिशाप के कई कारण हैं। भारतीय योजना आयोग के मतानुसार गरीबी के दो प्रमुख कारण-अल्प विकास एवं असमानता हैं। कुछ लोग गरीबी के कारणों में बेरोजगारी, निम्न उत्पादकता, जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि, प्राकृतिक प्रकोप, पूंजी की कमी तथा सामाजिक बाधाओं का समावेश करते हैं। संक्षेप में भारत में व्याप्त गरीबी के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :

1. **अल्प विकास**—यह निर्धनता का प्रमुख कारण है। यद्यपि भारत प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से सम्पन्न है, किन्तु अल्प विकास के कारण उन साधनों का पर्याप्त विदोहन न होने से उत्पादन, आय, रोजगार तथा उपभोग का स्तर बहुत नीचा है और गरीबी का बोलबाला है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद योजनाबद्ध विकास से भारत स्वयं-स्फूर्त अर्थव्यवस्था में पहुंच गया है, फिर भी विकास की गति जनसंख्या की विस्फोटक वृद्धि के कारण काफी धीमी है।

अमर्त्य सेन के अनुसार, "स्वाभाविक ही है कि दो या तीन प्रतिशत वार्षिक विकास दर से रेंगती हुई अर्थव्यवस्था (1970-90 के वर्षों की औसत विकास दर) की तुलना में उस देश में गरीबी उन्मूलन अधिक सहज होगा, जहां वार्षिक विकास दर लगभग 7.5 प्रतिशत है (1998-2000 ई. के वर्षों में पूर्वी एशिया के देश) और हर दस वर्ष में आय का स्तर दुगना हो रहा है।"[3]

2. **आर्थिक असमानता**—आर्थिक असमानता भारत में व्याप्त गरीबी का दूसरा महत्वपूर्ण कारण है। जो कुछ विकास देश में हुआ उसका अधिकांश लाभ समृद्ध वर्ग को मिला है। धनी अधिक धनी और गरीब अधिक गरीब हुआ है। यद्यपि पिछले दशक से ही 20-सूत्रीय कार्यक्रम, पिछड़े को पहले, समन्वित ग्रामीण विकास, अनुसूचित एवं जनजाति विकास कार्यक्रमों और गरीबी निवारण कार्यक्रमों से आय की असमानता को कम

1 आर्थिक समीक्षा, 2002-03, पृष्ठ 213.
2 दसवीं पंचवर्षीय योजना, खण्ड तृतीय पृष्ठ 42.
3 अमर्त्य सेन (नोबल पुरस्कार से सम्मानित) ज्यां द्रीज : 'भारत-विकास की दिशाएं', 2000 ई. पृष्ठ 68.

करके गरीबी को कम किया गया है, फिर भी धन एवं सम्पत्ति की असमानता, अवसर की असमानता, प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय असमानताओं ने गरीबी को बढ़ाने में सहयोग दिया है।

3. जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि (Population Explosion)—भारत में जनसंख्या में 2% वार्षिक दर से विस्फोटक वृद्धि ने विकास के परिणामों को समाप्त कर दिया है। जनसंख्या में इतनी ऊंची दर से वृद्धि और गरीबों के और अधिक सन्तानों ने उन्हें और अधिक गरीब बनाया है। प्रति व्यक्ति आय एवं उपभोग स्तर बहुत नीचा है। यही कारण है कि लोगों को न्यूनतम जीवन-स्तर भी उपलब्ध नहीं हो पाने से वे गरीबी रेखा के नीचे जीवन जी रहे हैं।

4. बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेकारी—भारत में बेकारी एवं अर्द्ध-बेकारी दोनों ही गरीबी का एक प्रमुख कारण है। योजनाबद्ध विकास के अन्तर्गत नए रोजगार के लगभग 16.5 करोड़ अतिरिक्त रोजगार अवसर बढ़ने के बावजूद देश में निरन्तर बढ़ती बेकारी एवं अर्द्ध-बेकारी ने गरीबी को बढ़ाया है। जहां 1960-61 में बेरोजगारों की संख्या 60 लाख थी, वर्तमान में यह बढ़कर 4 करोड़ से अधिक हो गई है अर्थात् लगभग सात गुना बढ़ गई।

5. अशिक्षा, विशेषतया प्राथमिक शिक्षा का अभाव—भारत में आज भी 50 प्रतिशत से अधिक नर-नारी ऐसे हैं, जिन्होंने पूरी प्राथमिक शिक्षा भी प्राप्त नहीं की है तथा जिन्हें किसी भी आधार पर शिक्षित कह पाना सम्भव नहीं है। यह अशिक्षा भी निर्धनता का एक प्रमुख कारण है। प्रमुख समाजशास्त्री **अमर्त्य सेन** लिखते हैं, "देश का विशाल जन समुदाय प्राथमिक शिक्षा से वंचित है—शिक्षा का यह अभाव भारी अकुशलता का रूप धारण कर लेता है और यह विशाल जनसमुदाय बाजार-आधारित विकास के आर्थिक सुयोगों का लाभ उठा पाने से पूर्णतया वंचित रह जाता है।"

अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक **'भारत विकास की दिशाएं'** में अपने विद्वतापूर्ण विश्लेषण में सर्वाधिक प्रमुख रूप में इस बात पर बल दिया है कि प्राथमिक शिक्षा का अभाव भारत की निर्धनता तथा इस देश के पिछड़ेपन का सबसे अधिक प्रमुख कारण है।

6. उत्पादन की निम्न प्रौद्योगिकी—भारत में उत्पादन की परम्परागत और निम्न प्रौद्योगिकी का वर्चस्व भी गरीबी के लिए उत्तरदायी है। नवीन एवं आधुनिकतम तकनीक के अभाव में उत्पादन और आय में धीमी गति से वृद्धि लोगों को निर्धन बनाए रखने के लिए काफी है। यद्यपि अब योजनाबद्ध विकास के अन्तर्गत आधुनिक प्रौद्योगिकी को बढ़ावा दिया जा रहा है, किन्तु पूंजी विनियोग में कमी, श्रमिकों के विरोध तथा कुशल एवं प्रशिक्षित श्रम की कमी इसकी बाधा है।

7. पूंजी निर्माण की धीमी गति—देश में अल्प विकास के कारण पूंजी निर्माण की धीमी गति तथा पूंजी के अभाव में औद्योगीकरण तेजी से नहीं हो पाया और न उत्पादन की नवीनतम प्रौद्योगिकी को बल मिला। उत्पादन के नीचे स्तर, आय और रोजगार की कमी ने बचतों को हतोत्साहित किया है और पूंजी निर्माण न होने से गरीबी बढ़ी है। यद्यपि पिछले तीन दशकों में आर्थिक विकास ने पूंजी निर्माण की गति तेज की है। जहां 1950-51 में भारत में पूंजी निर्माण की दर राष्ट्रीय आय का 5 प्रतिशत थी वह बढ़कर वर्ष 2004-05 में 30.1 प्रतिशत हो गई, फिर भी गरीबी व्याप्त है।

8. प्राकृतिक प्रकोप एवं अकाल—"भारतीय अर्थव्यवस्था मानसून के साथ खेला गया जुआ है।" यह कथन आज भी अधिकांशतया सत्य है। भारत की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था और मानसून की अनिश्चितता, अपर्याप्तता, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, भूचाल एवं अन्य प्राकृतिक प्रकोपों ने ग्रामीण जनसंख्या को पंगु एवं आश्रित बना रखा है। उनकी समृद्धि एवं गरीबी प्रकृति की कृपा पर है। यही कारण है कि भारत में ग्रामीण जनसंख्या की बढ़ती गरीबी में प्राकृतिक प्रकोप सबसे मुख्य कारण है।

9. बढ़ती मुद्रा-स्फीति एवं आवश्यक वस्तुओं की अप्राप्यता—भारत में बढ़ती महंगाई और आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति में कमी से भी गरीबी को बढ़ावा मिला है। लोग अपनी सीमित आय से अपने वांछित न्यूनतम जीवन-स्तर को भी प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। 1960 के मुकाबले औद्योगिक श्रम उपभोग सूचकांक अक्टूबर, 1988 में 806 पहुंच गया था। यही नहीं, 1970-71 के आधार वर्ष से भी सामान्य थोक मूल्यों का सूचकांक लगभग चौगुना था। 1974-75 में मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। आजकल पुनः दालों, खाद्य-तेलों आदि में भारी तेजी का रुख स्थिर आय वाले लोगों को गरीबी के गर्त में धकेल रहा है। 1972-73

तक कीमत 7 प्रतिशत औसत वार्षिक दर से बढ़ी, जबकि 1973-74 तथा 1974-75 में क्रमशः 30 प्रतिशत तथा 25 प्रतिशत बढ़ी। अब कीमतों में वार्षिक वृद्धि 5 प्रतिशत से 6 प्रतिशत है, पर 1993-94 के आधार पर वर्ष 2004-05 में थोक मूल्य सूचकांक 196.2 रहा।

देश में खाद्य तेलों, दालों, शक्कर जैसी अनिवार्य वस्तुओं की उपलब्धता कम होने से इनके मूल्य कई वार निर्धन व्यक्ति की पहुंच से बाहर हो जाते हैं तथा देश के एक भाग के जीवन स्तर में गिरावट आ जाती है।

10. सामाजिक बाधाएं (Social Obstacles)—भारत में सामाजिक रूढ़िवादिता एवं धार्मिक अन्धविश्वास ने कई कुरीतियों को जन्म दिया है। विवाहोत्सवों, मृत्युभोजों आदि कार्यों पर अनुत्पादक फिजूलखर्ची ने भारतीय ग्रामीण जनसंख्या को ऋणग्रस्तता में डुबोया है। बच्चों के जन्म को भगवान की देन मानने से जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि हुई है। जातिवाद, भाग्यवादिता ने लोगों को अकर्मण्य बनाया है। संयुक्त परिवार प्रथा ने व्यक्ति की उधमी प्रवृत्ति को हतोत्साहित कर उन्हें पराश्रित बनाने में योग दिया है। श्रम की गतिशीलता में कमी तथा कार्यकुशलता का नीचा स्तर भारत में गरीबी को बढ़ाने में सहायक रहे हैं। धीरे-धीरे शिक्षा के प्रसार, सामाजिक उत्थान एवं बढ़ती जागरूकता से लोग दरिद्रता के कुचक्र से बाहर निकल रहे हैं।

11. विविध (Miscellaneous)—इनके अतिरिक्त निम्न जीवन-स्तर से कमजोर एवं बीमार स्वास्थ्य के कारण उत्पादकता एवं आय का नीचा स्तर भी गरीबी का मुख्य कारण है। प्रादेशिक असमानताओं के कारण भी बिहार, उड़ीसा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, उत्तरांचल, मध्य प्रदेश, जम्मू-कश्मीर और उत्तर-पूर्वी भारत के 7 राज्यों व राजस्थान की जनता अधिक गरीब है। प्राकृतिक विपदाओं ने उन्हें और अधिक गरीब बनाने में योग दिया है। बचत एवं विनियोग का नीचा स्तर, लोगों में औद्योगिक साहस की कमी, कार्यकुशलता का नीचा स्तर आदि भी उनकी गरीबी के मुख्य कारण बने हैं आदि-आदि।

इन सबके अतिरिक्त 'राजनीतिक इच्छा शक्ति का अभाव' गरीबी उन्मूलन के मार्ग की एक बड़ी बाधा है। हमारे सभी राजनीतिक नेताओं ने किसी-न-किसी रूप में सदैव ही 'गरीबी हटाओ' की बात कही है; लेकिन इस कार्य के लिए जिस प्रकार की स्पष्ट सोच और गहरी कर्मठता की आवश्यकता होती है, उसके दर्शन कभी नहीं हो पाते हैं।

भारत में पंचवर्षीय योजनाएं और निर्धनता निवारण

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं का एक प्रमुख उद्देश्य आर्थिक विकास की गति तेजकर लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि रहा है। योजना आयोग ने भी आर्थिक विकास का अधिकाधिक लाभ समाज के अपेक्षाकृत गरीब एवं पिछड़े वर्गों को देने तथा गरीबी हटाओ के अपने संकल्प को कई बार दोहराया है। इस लक्ष्य की पूर्ति और संकल्प को मूर्त रूप देने के लिए योजनाबद्ध विकास के 56 वर्षों में कई कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया गया है, जिनसे गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों के प्रतिशत में उल्लेखनीय कमी आई है; लेकिन जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होने के कारण देश के समस्त निर्धन व्यक्तियों की संख्या में बहुत थोड़ी कमी ही आ सकी है।

"गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की प्रतिशतता के रूप में व्यक्त की गई गरीबी के विस्तार में वर्ष 1973-74 में 54.9 प्रतिशत से निरन्तर गिरावट होकर यह वर्ष 1993-94 में 36 प्रतिशत तक तथा 1999-2000 ई. में 26.1 प्रतिशत तक हो गई तथा यह 2006-07 में 19.3 प्रतिशत तक रह जाने का अनुमान है।[1] यद्यपि गरीबी के अनुपात में निरन्तर गिरावट आई, तथापि जनसंख्या में बराबर वृद्धि के कारण पूरे दो दशकों (1973-1993) की लम्बी अवधि के लिए गरीबों की संख्या लगभग 32 करोड़ पर स्थिर रही। वर्ष 1999-2000 ई. के लिए लगाए गए अद्यतन अनुमानों ने गरीबों की संख्या में महत्वपूर्ण कमी दिखाई, जो घटकर 97 करोड़ की कुल जनसंख्या (1999 में देश की जनसंख्या) में लगभग 26 करोड़ हो गई।"[2]

यह निर्विवाद सत्य है कि भारत में पिछले दो दशकों में गरीबी में कमी हुई है, किन्तु यह कमी पर्याप्त नहीं है। 'गरीबी निवारण' के प्रसंग में अधिक ठोस कार्य किए जाने की आवश्यकता है।

1 दसवीं पंचवर्षीय योजना खण्ड I पृष्ठ 47.
2 आर्थिक समीक्षा, 2002-2003: पृष्ठ 213.

भारत में 'गरीबी हटाओ' की सरकारी नीतियां एवं उपचार

भारतीय नियोजकों की प्रारम्भ में यह धारणा थी कि आर्थिक विकास के द्वारा राष्ट्रीय आय में वृद्धि, प्रगतिशील करारोपण तथा सार्वजनिक कल्याणकारी व्यय स्वतः ही देश में व्याप्त गरीबी को मिटा देगा, किन्तु उनकी यह धारणा मिथ्या सिद्ध हुई और कालान्तर में उन्होंने महसूस किया कि उत्पादन, वितरण एवं सार्वजनिक व्यय परस्पर इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि अर्थव्यवस्था में आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तनों के बिना गरीबी मिटाना कठिन है। गरीबी मिटाने के लिए बहुपक्षीय व्यूहरचना बहुत जरूरी है। अतः उसके लिए विकास की गति तेज करने, उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि, धन एवं आय के वितरण में समानता, जनसंख्या पर प्रभावी नियन्त्रण, प्रगतिशील करारोपण, सन्तुलित आर्थिक विकास, रोजगार में वृद्धि, उत्पादन की आधुनिकतम तकनीक, बचत, विनियोग एवं पूंजी निर्माण को बढ़ावा, मुद्रा-स्फीति पर प्रभावी नियन्त्रण, आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि, भूमि सुधारों को मूर्तरूप देना तथा ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी निवारण के विशेष कार्यक्रमों का सफल क्रियान्वयन देश में **'गरीबी हटाओ'** कार्यक्रम के आधारभूत स्तम्भ हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

(1) **आर्थिक विकास दर में वृद्धि**—देश में गरीबी मिटाने और आर्थिक समृद्धि के लिए आर्थिक विकास की दर में वृद्धि के प्रयास किए जा रहे हैं। छठी योजना में विकास की औसत दर 5.5 प्रतिशत रही और सातवीं योजना में भी 6.0 प्रतिशत विकास दर रही। कृषि विकास दर 4 प्रतिशत तथा औद्योगिक विकास दर 8 प्रतिशत विकास की दिशा में आगे बढ़ने के प्रयास हैं। आठवीं योजना में औसत विकास दर 6.7 प्रतिशत वार्षिक रही। नवीं योजना में आर्थिक विकास दर 5.4 प्रतिशत रही है और दसवीं योजना में आर्थिक विकास दर 8 प्रतिशत रहने का अनुमान है। इस प्रकार गत पांच वर्षों में विकास दर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

(2) **धन एवं आय के वितरण में समानता स्थापित करना**—इसके लिए जहां एक ओर प्रगतिशील करारोपण से वितरण में समानता का प्रयास किया जाता है वहां दूसरी ओर भूमि और शहरी सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारण कर अतिरिक्त को जनकल्याण कार्यों में लगाया जाता है। आय की असमानता को दूर करने के लिए रोजगार वृद्धि की नीति प्रभावी है।

(3) **जनसंख्या पर प्रभावी नियन्त्रण**—भारत की जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि ने विकास की उपलब्धियों को निष्फल कर दिया है। अतः निर्धनता निवारण के लिए तेज रफ्तार से बढ़ती हुई जनसंख्या पर प्रभावी नियन्त्रण आवश्यक है। भारत में जन्म दर 24.8 प्रति हजार होने तथा मृत्यु दर घटकर 8.0 प्रति हजार हो जाने से भारत की जनसंख्या में प्रति वर्ष एक करोड़ 80 लाख व्यक्तियों की वृद्धि हो रही है। अतः ऐसी स्थिति में परिवार नियोजन कार्यक्रमों में तेजी लाना नितान्त आवश्यक है। इस बात को समझ लेना होगा कि जनसंख्या पर प्रभावी नियन्त्रण स्थापित किए बिना 'निर्धनता निवारण' सम्भव नहीं है।

(4) **भूमि सुधारों में तेजी**—ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक गरीबी का कारण भूमि के वितरण में असमानता तथा दोषपूर्ण व्यवस्था जिससे भूमिहीन कृषि श्रमिकों तथा छोटे कृषकों का शोषण होता है। सरकार ने कृषकों को भूस्वामित्व अधिकार ही नहीं दिए, वरन् काश्तकारी अधिनियमों के द्वारा भूधारण की सुरक्षा, बेदखली और ऊंचे लगान पर नियन्त्रण लगाया है। भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारण से अतिरिक्त भूमि के गरीबों में बांटने की व्यवस्था गरीबी निवारण की दिशा में उपयुक्त कदम है।

(5) **मुद्रा-स्फीति पर प्रभावी नियन्त्रण**—देश में मुद्रा-स्फीति ने गरीबी की समस्या को और अधिक विकट बनाया है; इससे भ्रष्टाचार, काले धन और आर्थिक असमानता की समस्याएं पनपीं और गरीब और अधिक गरीब हुआ। इसी कारण सरकार ने मुद्रा-स्फीति को प्रभावी ढंग से नियन्त्रित करने के लिए हीनार्थ प्रबन्ध पर नियन्त्रण, फिजूलखर्च पर रोक, बचतों को प्रोत्साहन, सस्ते गल्ले की दुकानों के विस्तार के साथ-साथ आवश्यक वस्तुओं की सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारु रूप से बढ़ाया है। इसी कारण पिछले पांच वर्षों में मुद्रा-स्फीति की दर काफी कम रही है।

(6) रोजगार वृद्धि—अल्प रोजगार एवं बेरोजगारी गरीबी के प्रमुख कारण हैं। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त बेकारी एवं अर्द्ध-बेकारी, मौसमी बेकारी, आदि ने गरीबी को बनाए रखा है। यद्यपि अब सरकार द्वारा रोजगार वृद्धि की गई विशिष्ट योजनाएं राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना, स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना, स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना, प्रधानमन्त्री रोजगार योजना, प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना आदि द्वारा रोजगार देकर गरीबी निवारण का प्रयास किया गया है।

(7) आवश्यक वस्तुओं की उचित मूल्यों पर उपलब्धि—गरीबी रेखा का मापदण्ड न्यूनतम एवं वांछित जीवन-स्तर है। अतः देश में गरीबों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने के लिए आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति उचित बाजार मूल्यों पर करने के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सक्षम बनाने का प्रयास किया गया है।

(8) बचत, विनियोग एवं पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन—योजनाबद्ध विकास के लिए बचतों को प्रोत्साहन देकर उन्हें उत्पादक कार्यों में प्रवाहित करना ही पूंजी निर्माण है। जहां एक ओर सरकार ने अल्पबचतों को प्रोत्साहन देने के लिए आकर्षक योजनाएं, करों में छूट, बैंकों के राष्ट्रीयकरण द्वारा सुरक्षा प्रदान की गई है। वहां दूसरी ओर विनियोगों को बढ़ावा दिया गया है। पूंजी निर्माण की दर जो 1950-51 में 5 प्रतिशत थी वह वर्ष 2004-05 में बढ़कर राष्ट्रीय आय का लगभग 30.1 प्रतिशत हो गई।

(9) क्षेत्रीय विकास कार्यों को बढ़ावा तथा क्षेत्रीय असमानता को दूर करने की सरकारी नीति भी देश के विभिन्न राज्यों एवं क्षेत्रों में व्याप्त गरीबी को दूर करने में सहायक रही है, फिर भी काफी विषमता अब भी विद्यमान है।

(10) आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण पर रोक—देश में अमीर और गरीब की खाई को पाटने के लिए सरकार ने औद्योगिक लाइसेन्स नीति द्वारा औद्योगिक सत्ता के केन्द्रीकरण पर रोक लगाई है। नए साहसियों को प्रोत्साहन दिया जाता है। एकाधिकार एवं प्रतिवन्धात्मक व्यापार विधियां कानून द्वारा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण पर रोक का प्रयास किया गया है। प्रगतिशील करारोपण से अथाह सम्पत्ति के अर्जन को हतोत्साहित किया है।

(11) विशिष्ट गरीबी निवारण कार्यक्रम—सरकार ने गरीबी हटाने के लिए कई विशिष्ट कार्यक्रम प्रारम्भ किए जैसे : (i) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (छठी पंचवर्षीय योजना से प्रारम्भ), (ii) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (छठी पंचवर्षीय योजना से प्रारम्भ), (iii) ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम (1983 से लागू), (iv) जवाहर रोजगार योजना (अप्रैल 1989 से प्रारम्भ), (v) सूखा राहत क्षेत्र कार्यक्रम, (vi) न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम, (vii) नेहरू रोजगार योजना, (viii) शिक्षित बेरोजगार युवक स्वरोजगार योजना, (ix) प्रधानमन्त्री रोजगार योजना, (x) रोजगार एश्योरेन्स योजना (Employment Assurance Scheme) आदि।

लेकिन इन कार्यक्रमों में कहीं-कहीं दुहरापन था अतः इनको नवीन कार्यक्रमों/योजनाओं में मिला दिया है। वर्तमान में प्रमुख रूप से निम्न कार्यक्रम/योजनाएं लागू हैं :

(1) स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (SJGSY)

(2) स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना (SJSRY)

(3) प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना (PMGY)

(4) प्रधानमन्त्री रोजगार योजना (PMRY)

(5) अन्नपूर्ण योजना

(6) अन्त्योदय अन्य योजना

(7) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना

(8) इन्दिरा आवास योजना

(9) भारत निर्माण कार्यक्रम।

निर्धनता निवारण : कुछ सुझाव

निर्धनता निवारण की दिशा में अब तक बहुत कुछ किया गया है; लेकिन अब भी लगभग (26 करोड़ से 32 करोड़ व्यक्ति) गरीबी की सीमा रेखा के नीचे रहते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वस्तुतः निर्धनता निवारण तभी सम्भव है, जबकि इस दिशा में बहुत अधिक ठोस प्रयत्न किए जाएं। इस प्रकार के वांछित प्रयत्नों में कुछ अधिक प्रमुख हैं :

1. निर्धनता निवारण की नीतियों और कार्यक्रमों की सही क्रियान्विति हो।

2. जनसंख्या विस्फोट पर प्रभावी नियन्त्रण लगाया जाए। आवश्यकता इस बात की है कि सभी सम्भव उपाय अपनाकर जन्म-दर को क्रमशः कम करते हुए 2020 ई. तक स्थिर-जनसंख्या की स्थिति को प्राप्त कर लिया जाए। शासन के स्तर पर उठाए गए कदमों के साथ-साथ इस सम्बन्ध में जन चेतना और जन आन्दोलन को अपनाए जाने की आवश्यकता है।

3. धनी और निर्धन के बीच की दूरी, सम्पत्ति और आय की विषमता को यथासम्भव कम किया जाए। खेदजनक तथ्य यह है कि लगभग एक दशक से जिस 'बाजार अर्थव्यवस्था' को अपनाया गया, उसने सम्पत्ति और आय की विषमता को कम करने के बजाय बढ़ाया है।

4. उत्पादन की उच्च प्रौद्योगिकी को अपनाया जाए तथा पूंजी निर्माण की गति को और अधिक तीव्र किया जाए। इन उपायों को अपनाने से उत्पादन में वृद्धि होगी।

5. शिक्षा (विशेषतया प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षा) के प्रचार-प्रसार की दिशा में बहुत अधिक तीव्र गति से प्रयत्न किए जाने की आवश्यकता है। जब व्यक्ति शिक्षित होंगे, तो उनमें चेतना आएगी, यह चेतना उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि करेगी तथा व्यक्ति जीवन स्तर में सुधार करने की दिशा में तेजी से प्रवृत्त होंगे।

6. यह भी नितान्त आवश्यक है कि व्यावहारिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए भूमि सुधार कानून बने तथा इन कानूनों की सही रूप में क्रियान्विती हो। स्थिति यह है कि निर्धन जनता का एक बड़ा भाग गांवों में निवास करता है, कृषि उनका प्रमुख आर्थिक कार्य है, लेकिन भूमि सुधारों के अभाव में निरन्तर शोषण का शिकार होते हैं। भूमि सुधार का कार्य केवल कुछ ही राज्यों; प. बंगाल और केरल में ही उचित रूप में हो पाया है, अन्य राज्यों में इस दिशा में ठोस कार्य की आवश्यकता है।

7. पूरे देश में कुटीर उद्योग-धन्धों का जाल बिछाए जाने की आवश्यकता है।

निर्धनता निवारण के लिए उपर्युक्त के अतिरिक्त भी बहुत कुछ किया जाना है। इस प्रसंग में नारेबाजी की नहीं, वरन् ठोस संकल्प और पूरे सोच-विचार के बाद बनाए गए सारभूत कार्यक्रमों की सही रूप में क्रियान्विति की आवश्यकता है।

प्रश्न

1. भारत में गरीबी की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। भारत में निर्धनता के विभिन्न अनुमानों पर प्रकाश डालिए।
2. भारत में निर्धनता के प्रमुख कारण बतलाइए। क्या भारत में गरीबी का उन्मूलन हो रहा है?
3. 'भारत में निर्धनता' विषय पर एक लघु निबन्ध लिखिए।
4. भारत में 'गरीबी हटाओ की सरकारी नीतियां एवं उपचार' की विवेचना कीजिए। गरीबी हटाने के लिए अब तक किन कार्यक्रमों को अपनाया गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. आज भारत की लगभग कितने प्रतिशत जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रही है :

   (अ) 10 प्रतिशत　　(ब) 20 प्रतिशत

   (स) 26 प्रतिशत　　(द) 50 प्रतिशत

2. निम्नलिखित में से किस राज्य में निर्धनता औसत से (30 प्रतिशत से) भी अधिक है :

   (अ) अरुणाचल प्रदेश　　(ब) असम

   (स) बिहार　　(द) उपर्युक्त सभी में

3. 'भारत : विकास की दिशाएं' पुस्तक के लेखक हैं :

(अ) अमर्त्य सेन (ब) रजनी कोठारी
(स) विनोवा भावे (द) डॉ. श्रीराम माहेश्वरी

4. भारत में व्याप्त गरीबी का प्रमुख कारण है :

(अ) अल्प विकास (ब) आर्थिक असमानता
(स) जनसंख्या में वृद्धि (द) उपर्युक्त सभी कारण

5. दसवीं योजना में आर्थिक विकास की दर कितने प्रतिशत करने का लक्ष्य था?

(अ) 8 प्रतिशत (ब) 9 प्रतिशत
(स) 7 प्रतिशत (द) 10 प्रतिशत

6. भारत में गरीबी मिटाने के लिए जरूरी है :

(अ) आर्थिक विकास दर में वृद्धि
(ब) धन एवं आय के वितरण में समानता स्थापित करना
(स) जनसंख्या पर नियन्त्रण
(द) उपर्युक्त सभी प्रयास जरूरी हैं

7. सरकार ने मुद्रा-स्फीति पर प्रभावी नियन्त्रण के लिए क्या प्रयास किए हैं?

(अ) फिजूलखर्ची पर रोक (ब) बचतों को प्रोत्साहन
(स) हीनार्थ प्रवन्ध पर नियन्त्रण (द) उपर्युक्त सभी प्रयास

8. सरकार ने गरीबी हटाने के लिए कौन-सा विशिष्ट कार्यक्रम प्रारम्भ किया है?

(अ) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना
(ब) स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना
(स) प्रधानमन्त्री रोजगार योजना
(द) उपर्युक्त सभी कार्यक्रम

[उत्तर—1. (स), 2. (द), 3. (अ), 4. (द), 5. (अ), 6. (द), 7. (द), 8. (द)]

20

भारत में पंचायती राज व्यवस्था

[PANCHAYATI RAJ SYSTEM IN INDIA]

पंचायत राज

भारत गांवों का देश है। गांवों की उन्नति और प्रगति पर ही भारत की उन्नति और प्रगति निर्भर करती है। भारत के संविधान-निर्माता भी इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे, अतः हमारे संविधान में यह निर्देश दिया गया कि "राज्य ग्राम पंचायतों के निर्माण के लिए कदम उठाएगा और उन्हें इतनी शक्ति और अधिकार प्रदान करेगा जिससे कि वे (ग्राम-पंचायतें) स्वशासन की इकाई के रूप में कार्य कर सकें।" वस्तुतः हमारा जनतन्त्र इस बुनियादी धारणा पर आधारित है कि शासन के प्रत्येक स्तर पर जनता अधिक-से-अधिक शासन कार्यों में हाथ बंटाए और अपने पर, राज करने की जिम्मेदारी स्वयं झेले। भारत में जनतन्त्र का भविष्य इस वात पर निर्भर करता है कि ग्रामीण-जनों का शासन से कितना अधिक प्रत्यक्ष और सजीव सम्पर्क स्थापित हो पाता है? दूसरे शब्दों में, ग्रामीण भारत के लिए पंचायत राज ही एकमात्र उपयुक्त योजना है। पंचायतें ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की रीढ़ हैं।

पंचायत राज की संकल्पना

भारत में ग्राम पंचायतों का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीनकाल में आपसी झगड़ों का फैसला पंचायतें ही करती थीं, परन्तु अंग्रेजी राज के जमाने में पंचायतें धीरे-धीरे समाप्त हो गयीं और सब काम प्रान्तीय सरकारें करने लगीं। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद राज्यों की सरकारों ने पंचायतों की स्थापना की ओर विशेष ध्यान दिया है। इसकी शुरुआत का श्रेय पं. जवाहरलाल नेहरू को है। पं. नेहरू का कहना था कि "गांवों के लोगों को अधिकार सौंपना चाहिए। उनको काम करने दो चाहे वे हजारों गलतियां करें। इससे घबराने की जरूरत नहीं। पंचायतों को अधिकार दो।"

नेहरू को लोकतान्त्रिक तरीकों में अटूट विश्वास था। सन् 1952 में उन्हीं की पहल पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। यह समझा गया कि इस कार्यक्रम में जनता की ओर से सक्रिय रूप से भाग लिया जाएगा, किन्तु यह कार्यक्रम सरकारी तन्त्र और ग्रामीण जनता के बीच की दूरी कम करने के उद्देश्य में विफल रहा। परिणाम यह हुआ कि गांवों के उत्थान के लिए खुद प्रयत्न करने के वजाय ग्रामीण जनता सरकार का मुंह ताकने लगी।

बलवन्त राय मेहता समिति प्रतिवेदन

सामुदायिक विकास कार्यक्रम पर काफी खर्च हो चुकने और इसकी सफलता के लम्बे-चौड़े दावों के वाद इसकी जांच के लिए एक अध्ययन दल 1957 में नियुक्त किया गया। इस अध्ययन दल के अध्यक्ष श्री बलवन्त राय मेहता थे। इस दल ने सरकार को वतलाया कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम की बुनियादी त्रुटि यह है कि जनता का इसमें सहयोग नहीं मिला। अध्ययन दल की रिपोर्ट में यह कहा गया कि जब तक स्थानीय नेताओं को जिम्मेदारी और अधिकार नहीं सौंपे जाते, संविधान के निदेशक सिद्धान्तों का राजनीति और विकास सम्बन्धी लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। 'मेहता अध्ययन दल' ने 1957 के अन्त में अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सफल बनाने

हेतु पंचायत राज संस्थाओं की तुरन्त शुरुआत की जानी चाहिए। अध्ययन दल ने इसे **'लोकतान्त्रिक-विकेन्द्रीकरण'** का नाम दिया।

इस प्रकार लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और विकास कार्यक्रमों में जनता का सहयोग लेने के उद्देश्य से **'पंचायत राज'** की शुरुआत की गई। 'पंचायत राज' व्यवस्था की तीन सीढ़ियां रही हैं : ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, खण्ड स्तर पर पंचायत समिति या जनपद पंचायत और जिला स्तर पर जिला परिषद् या जिला पंचायत।

पंचायत राज पर अमल और कठिनाइयां एवं समस्याएं—पंचायत राज़ की उक्त योजना का उद्घाटन सबसे पहले 2 अक्टूबर, 1959 को प्रधानमन्त्री पं. नेहरू द्वारा राजस्थान राज्य के नागौर जिले में किया गया। इसके तुरन्त बाद इसे आन्ध्र प्रदेश में तथा क्रमशः अन्य राज्यों में अपनाया गया। 1963 तक भारतीय संघ के सभी राज्यों में 'पंचायत राज' की स्थापना हो गई। लगभग एक दशक तक पंचायत राज की यह व्यवस्था उचित रूप में चली, लेकिन इसके बाद स्थिति सन्तोषजनक नहीं रही।

जनता की भागीदारी पंचायत राज की समस्त व्यवस्था का मूल तत्व है और पंचायत राज को लोकतन्त्र का मूल आधार तभी कहा जा सकता है, जबकि इन संस्थाओं का गठन एवं समस्त कार्य संचालन लोकतन्त्रीय आधार पर हो। भारतीय संघ के अधिकांश राज्यों, विशेषतया उत्तर भारत के राज्यों में, इस व्यवस्था में अनेक समस्याओं ने घर कर लिया। कुछ राज्यों में तो व्यवहार में एक दशक से भी अधिक समय तक, पंचायत राज संस्थाओं के चुनाव ही नहीं हुए।

ऐसी स्थिति में केन्द्रीय सरकार के स्तर पर यह सोचा गया कि पंचायत राज की व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा दिया जाना चाहिए ताकि पंचायत राज की व्यवस्था उचित रूप में कार्य कर सके और राज्य सरकारें इन संस्थाओं के चुनाव नियमित रूप से करवाने के लिए बाध्य हो जाएं। इस प्रसंग में प्रथम प्रयत्न 1989 ई. में किया गया, लेकिन तत्सम्बन्धी संविधान संशोधन विधेयक को राज्यसभा में आवश्यक बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। दसवीं लोकसभा चुनाव के बाद स्थापित केन्द्रीय सरकार द्वारा पुनः इस दिशा में प्रयत्न किए गए तथा 1993 ई. में पंचायत राज या ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन के सम्बन्ध में **73वां संवैधानिक संशोधन अधिनियम** पारित किया गया।

73वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1993—इस संशोधन द्वारा संविधान में एक नया भाग, **भाग 9** तथा नयी अनुसूची **ग्यारहवीं अनुसूची** जोड़ी गई है और 'पंचायत राज व्यवस्था' को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। इस संवैधानिक संशोधन के आधार पर पंचायत राज के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से निम्न व्यवस्थाएं की गई हैं :

संरचना

गांव सभा—इस अधिनियम में प्राथमिक स्तर पर गांव सभा की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक गांव के सभी वयस्क नागरिकों से मिलकर बनने वाली सभा को गांव सभा का नाम दिया गया है। इस प्रकार यह ग्रामीण क्षेत्र में स्थानीय स्वशासन की प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय संस्था है। यह गांव सभा गांव के स्तर पर ऐसी शक्तियों का प्रयोग करेगी और ऐसे कार्यों को करेगी, जो राज्य विधानमण्डल विधि बनाकर निश्चित करे।

त्रिस्तरीय ढांचा—इस अधिनियम में गांव सभा के अतिरिक्त **'त्रिस्तरीय पंचायत राज संस्थाओं'** की व्यवस्था की गई है। पंचायत राज व्यवस्था के तीन स्तर हैं : ग्राम के स्तर पर ग्राम पंचायत, विकास खण्ड या मध्यवर्ती स्तर पर खण्ड समिति, क्षेत्र समिति या पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद्। लेकिन जिन राज्यों या संघीय राज्य क्षेत्रों की जनसंख्या 20 लाख से कम है, उन्हें स्वयं अपने सम्बन्ध में इस बात पर निर्णय लेना होगा कि मध्यवर्ती स्तर पर पंचायत राज संस्था रखी जाए या नहीं।

चुनाव की विधि—पंचायत स्तर पर सभी ग्राम पंचायतों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होगा और जिला परिषद् के स्तर पर अप्रत्यक्ष चुनाव होगा। मध्यवर्ती स्तर की संस्था के अध्यक्ष का चुनाव प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष यह बात सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा निश्चित की जाएगी।

आरक्षण—ग्राम पंचायतों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या जनसंख्या के अनुपात में होगी। महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था पहली बार की गई है और अब ग्राम पंचायतों में कम-से-कम 30 प्रतिशत पद महिलाओं के लिए आरक्षित हैं। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की जो संख्या होगी उनमें भी 30 प्रतिशत स्थान उन जातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे।

अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और स्त्रियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था ग्राम पंचायतों में अध्यक्ष पद (सरपंच) के लिए भी की गई है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सम्बन्ध में अध्यक्ष पद के लिए उसी अनुपात में स्थान आरक्षित होंगे, जिस अनुपात में उस क्षेत्र में उनकी जनसंख्या है। ग्राम पंचायतों में अध्यक्ष पदों की कुल संख्या के 1/3 स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। प्रत्येख खण्ड में ग्राम पंचायत के अध्यक्ष पद पर महिलाओं के लिए यह आरक्षण '**चक्रानुक्रम**' (By rotation) से आवंटित किया जाएगा।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए यह आरक्षण उस अवधि तक प्रभावी रहेगा, जिस अवधि तक अनुच्छेद 334 के अधीन उन्हें आरक्षण प्राप्त है। 79वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार वर्तमान समय में यह अवधि 25 जनवरी, 2010 ई. तक है। महिलाओं के लिए आरक्षण की कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं की गई है।

राज्य विधानमण्डल को यह अधिकार होगा कि यदि वह उचित समझे तो ग्राम पंचायत में अध्यक्ष पद पर अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था कर सके। अनुसूचित जातियां, जनजातियां या महिलाएं; जिनके लिए आरक्षित स्थानों की व्यवस्था की गई है, उन्हें सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों से भी चुनाव लड़ने का अधिकार होगा।

सदस्यों की योग्यताएं—पंचायत का सदस्य निर्वाचित होने के लिए निम्न योग्यताएं आवश्यक होंगी :

(क) नागरिक ने 21 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली हो।

(ख) वह व्यक्ति प्रवृत्त विधि के अधीन राज्य विधानमण्डल के लिए निर्वाचित होने की योग्यता (आयु के अतिरिक्त अन्य योग्यताएं) रखता हो।

(ग) वह सम्बन्धित राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि के अधीन पंचायत का सदस्य निर्वाचित होने के योग्य हो।

कार्यकाल—पंचायत राज संस्थाओं का कार्यकाल 5 **वर्ष** होगा। किसी पंचायत के गठन के लिए चुनाव (क) पांच वर्ष की अवधि के पूर्व और (ख) विघटन की तिथि से 6 माह की अवधि समाप्त होने के पूर्व करा लिया जाएगा।

पंचायतों के निर्वाचन—पंचायतों के लिए निर्वाचक नामावली तैयार करने और पंचायतों के सभी निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा। इस कार्य के लिए राज्य में एक 'राज्य निर्वाचन आयुक्त' की नियुक्त की जा सकती है।

शक्तियां, प्राधिकार और दायित्व—इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा पंचायतों को ऐसी शक्तियां और प्राधिकार प्रदान कर सकता है जो उन्हें स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में कार्य करने योग्य बना सकें। ग्यारहवीं अनुसूची में कुल 29 **विषयों** का उल्लेख है, जिन पर पंचायतों को विधि बनाने की शक्ति प्रदान की गई है। कुछ प्रमुख विषय हैं : कृषि एवं कृषि विस्तार, भूमि सुधार, चकबन्दी, लघु सिंचाई, पशु पालन, पेयजल, ईंधन, चारा, प्राइमरी और माध्यमिक विद्यालय, परिवार कल्याण, स्त्री और बाल विकास, आदि।

वित्त आयोग की नियुक्ति—इस अधिनियम की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अब प्रत्येक पांच वर्ष बाद राज्य स्तर पर एक 'वित्त आयोग' का गठन होगा। यह वित्त आयोग राज्य सरकार और पंचायती राज

संस्थाओं के बीच धन के बंटवारे के सम्बन्ध में सिफारिशें करेगा। आयोग यह तभी तय करेगा कि राज्य के संचित कोष से पंचायतों को कितना धन दिए जाएगा।

73वें संवैधानिक संशोधन के उपबन्ध संघ राज्य क्षेत्रों पर भी लागू होंगे, लेकिन ये उपबन्ध उत्तर-पूर्वी भारत के कुछ राज्यों और प. बंगाल राज्य के दार्जिलिंग जिले के पर्वतीय क्षेत्र पर लागू नहीं होंगे।

उत्तर प्रदेश में पंचायत राज व्यवस्था : उत्तर प्रदेश पंचायत विधि अधिनियम, 1994

1993 में भारतीय संविधान में जो 73वां संवैधानिक संशोधन किया गया, मूलभूत रूप में उसे दृष्टि में रखते हुए राज्य सरकारों को अपने-अपने राज्य के लिए पंचायती राज की व्यवस्था करनी है। उत्तर प्रदेश राज्य में यह व्यवस्था **'उत्तर प्रदेश पंचायत विधि अधिनियम, 1994'** के आधार पर की गई है। इस अधिनियम द्वारा पंचायत राज के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई है, उसका एक संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

ग्राम सभा की रचना—ग्राम सभा पंचायत राज व्यवस्था की मूलभूत इकाई है। 'पंचायत विधि अधिनियम, 94' के अनुसार एक पंचायत क्षेत्र के लिए एक ग्राम सभा होगी।

राज्य सरकार यथासम्भव एक हजार की जनसंख्या पर एक 'पंचायत क्षेत्र' का गठन करेगी। यदि किसी ग्राम की जनसंख्या एक हजार से कम है, तब ग्रामों के एक समूह को 'पंचायत क्षेत्र' घोषित किया जाएगा। ऐसी स्थिति में ग्रामों के उस समूह में सबसे अधिक जनसंख्या वाले ग्राम का नाम ही उस पंचायत क्षेत्र तथा उस ग्राम सभा का नाम घोषित किया जाएगा।

ग्राम सभा ग्राम के स्तर पर प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की स्थिति है। ग्राम में उसे वही स्थिति प्राप्त है, जो स्थिति राज्य की समस्त व्यवस्था में व्यवस्थापिका को प्राप्त होती है। ग्राम के सभी वयस्क व्यक्ति, जिनका नाम ग्राम की निर्वाचक सूची में सम्मिलित है, ग्राम सभा के सदस्य होंगे।

प्रधान और उप-प्रधान—ग्राम सभा अपने सदस्यों में से एक प्रधान और एक उप-प्रधान चुनती है। प्रधान का कार्यकाल 5 वर्ष व उप-प्रधान का एक वर्ष होता है, परन्तु नव-निर्वाचित प्रधान और उप-प्रधान के कार्य-भार सम्भालने तक ये अपने पदों पर कार्य करते रहेंगे। ग्राम सभा अपनी विशेष बैठक में उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से प्रधान या उप-प्रधान को हटा सकती है। विशेष बैठक की सूचना 15 दिन पहले देना आवश्यक होता है। प्रधान या उप-प्रधान के रिक्त पद को नए चुनाव द्वारा भर दिया जाता है।

प्रधान ग्राम सभा की वैठकों की अध्यक्षता करता है। उसकी अनुपस्थिति में यह कार्य उप-प्रधान करता है। **प्रधान या उप-प्रधान वही हो सकता है, जिसने 21 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली हो।**

कार्य—ग्राम सभा निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन करेगी :

(क) सामुदायिक कल्याण कार्यक्रमों के लिए स्वैच्छिक श्रम और अंशदान जुटाना

(ख) ग्राम से सम्बन्धित विकास योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए हिताधिकारी की पहचान

(ग) ग्राम से सम्बन्धित विकास योजनाओं के क्रियान्वयन में सहायता पहुंचाना।

इसके अतिरिक्त, ग्राम सभा निम्नलिखित मामलों पर विचार करेगी और ग्राम पंचायत और अपनी सिफारिशें तथा सुझाव देगी :

(क) ग्राम पंचायत के खातों का वार्षिक विवरण, पूर्ववर्ती वित्तीय वर्ष की प्रशासन की रिपोर्ट और अन्तिम लेखा परीक्षा टिप्पणी और उस पर दिए गए उत्तर, यदि कोई हों

(ख) पूर्ववर्ती वर्ष से सम्बन्धित ग्राम पंचायत के विकास कार्यक्रमों और चालू वित्तीय वर्ष के दौरान लिए जाने के लिए प्रस्तावित विकास कार्यक्रमों की रिपोर्ट

(ग) ग्राम में समाज के सभी वर्गों के बीच एकता और समन्वय में अभिवृद्धि

(घ) ग्राम के भीतर प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम

(ङ) ऐसे अन्य मामले, जो नियत किए जाएं।

ग्राम पंचायत ग्राम सभा की सिफारिशों और सुझावों पर सम्यक् विचार करेगी।

त्रिस्तरीय ढांचा—अधिनियम के आधार पर पंचायत राज व्यवस्था में त्रिस्तरीय ढांचे को अपनाया गया है। ये तीन स्तर हैं :

ग्राम के स्तर पर ग्राम पंचायत, विकास खण्ड या मध्यवर्ती स्तर पर क्षेत्र पंचायत, जिला स्तर पर जिला पंचायत।

ग्राम पंचायत

ग्राम सभा की बैठक तो सामान्यतया वर्ष में दो बार होती है, इसलिए ग्राम के दैनिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक कार्यकारिणी की आवश्यकता होती है। अतः एक कार्यकारिणी की व्यवस्था की गई है और इसे 'ग्राम पंचायत' कहते हैं।

ग्राम पंचायत का गठन (रचना)—प्रत्येक ग्राम पंचायत में एक प्रधान तथा 9 से लेकर 15 तक सदस्य होंगे। **सदस्यों की संख्या के सम्बन्ध में निम्न व्यवस्था है :**

ग्राम की जनसंख्या एक हजार होने पर 9 सदस्य; एक हजार से अधिक, किन्तु दो हजार से कम होने पर 11 सदस्य; दो हजार से अधिक, किन्तु तीन हजार से कम होने पर 13 सदस्य; तीन हजार से अधिक हो तो 15 सदस्य।

प्रत्येक ग्राम को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों (वार्डों) में विभाजित किया जाएगा, जितने सदस्य निर्वाचित होने हैं। इन सदस्यों को सम्बन्धित निर्वाचन क्षेत्र के समस्त मतदाताओं द्वारा साधारण बहुमत की पद्धति से प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचित किया जाएगा।

ग्राम पंचायत की सदस्यता के लिए योग्यता—ऐसा कोई भी व्यक्ति ग्राम पंचायत का सदस्य निर्वाचित हो सकेगा, जो राज्य विधानमण्डल का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता है। इस प्रसंग में अन्तर केवल यह है कि राज्य विधानसभा की सदस्यता के लिए 25 वर्ष की आयु प्राप्त होना आवश्यक है, लेकिन ग्राम पंचायत की सदस्यता के लिए केवल 21 वर्ष की आयु प्राप्त होना ही आवश्यक है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह किसी ग्राम पंचायत या न्याय पंचायत का वैतनिक सेवक नहीं हो तथा वह किसी स्थानीय प्राधिकारी के अधीन लाभ का पद धारण न करता हो। निम्न श्रेणियों के व्यक्ति भी ग्राम पंचायत के प्रधान या सदस्य निर्वाचित होने के अयोग्य होंगे—(क) संसद या राज्य विधानमण्डल के सदस्य, (ख) किसी क्षेत्र पंचायत (क्षेत्रीय समिति) का प्रमुख या उप-प्रमुख (ग) किसी जिला पंचायत का अध्यक्ष या उपाध्यक्ष (घ) किसी सहकारी समिति का अध्यक्ष या उपाध्यक्ष। इसके अतिरिक्त, कोई व्यक्ति एक साथ ग्राम पंचायत का सदस्य व न्याय पंचायत का पंच नहीं होगा।

ग्राम पंचायत का प्रधान ग्राम के सभी मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाएगा।

आरक्षण—ग्राम पंचायतों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अन्य पिछड़े वर्गों तथा महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित होंगे। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या, ग्राम पंचायत की समस्त जनसंख्या में इन जातियों के अनुपात के आधार पर निश्चित होगी। अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित पदों की संख्या भी, ग्राम पंचायत क्षेत्र की जनसंख्या में इन वर्गों की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर निश्चित होगी, प्रतिबन्ध यह है कि किसी भी ग्राम पंचायत में पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण 27 प्रतिशत से अधिक नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, ग्राम पंचायत के कुल पदों में से एक-तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए जो आरक्षित पद हैं, उनमें भी कम-से-कम एक-तिहाई पद इन जातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे।

प्रधान पद के लिए आरक्षण—आरक्षण की उपर्युक्त समस्त व्यवस्था ग्राम पंचायत के प्रधान पद पर भी लागू की गई है। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए ग्राम पंचायतों के प्रधान के पद उतनी संख्या में आरक्षित होंगे, जो अनुपात समस्त राज्य की जनसंख्या में इन वर्गों का है। प्रतिबन्ध यह है कि पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण प्रधान के पदों की कुल संख्या के 27 प्रतिशत से अधिक

नहीं होगा। प्रधान के पदों की कुल संख्या के कम-से-कम एक-तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित हैं। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़ें वर्गों के लिए जो आरक्षित पद हैं उनमें भी एक-तिहाई पद इन जातियों और वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। इसके अतिरिक्त, यह भी व्यवस्था है कि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अन्य पिछड़े वर्गों के व्यक्तियों और महिलाओं को 'अनारक्षित' (Unreserved) स्थानों से चुनाव लड़ने से नहीं रोका जाएगा।

पदाधिकारी—ग्राम पंचायत का एक प्रधान और एक उप-प्रधान होगा, जो क्रमशः इसके अध्यक्ष और उपाध्यक्ष होंगे। प्रधान ग्राम पंचायत का सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है। ग्राम पंचायत की बैठकें बुलाने, बैठक में की जाने वाली कार्यवाही का नियन्त्रण रखने व ग्राम पंचायत के प्रस्तावों को क्रियान्वित करने का कार्य उसी के द्वारा किया जाता है। प्रधान की अनुपस्थिति में ये कार्य उप-प्रधान करता है।

प्रत्येक ग्राम पंचायत में **'पंचायत सेवक'** तथा कुछ अन्य कर्मचारी भी होते हैं। पंचायत सेवक हाईस्कूल तथा अन्य कर्मचारी कम-से-कम मिडिल परीक्षा पास होने चाहिए।

प्रधान, उप-प्रधान और सदस्यों के भत्ते—ग्राम पंचायत का प्रधान और उप-प्रधान ऐसे भत्ते और मानदेय, जैसा कि नियत किया जाए, प्राप्त करेगा। ग्राम पंचायत के अन्य सदस्य भी, ऐसे भत्तों को, जैसा नियत किया जाए, प्राप्त करेंगे।

कार्यकाल—ग्राम पंचायत और सभी पंचायत राज संस्थाओं का कार्यकाल 5 वर्ष है। उस समय लागू किसी विधि के अधीन इससे पूर्व भी उनका विघटन किया जा सकता है। किसी पंचायत के गठन के लिए चुनाव (क) पांच वर्प की अवधि से पूर्व और (ख) विघटन की तिथि से 6 माह की अवधि समाप्त होने से पूर्व करा लिए जाएंगे।

प्रधान की पदावधि ग्राम पंचायत के कार्यकाल के साथ समाप्त होगी। इसके अतिरिक्त, प्रधान या उप-प्रधान को ग्राम पंचायत की बैठक में उपस्थित और मतदान में भाग लेने वालें सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से हटाया जा सकता है लेकिन इस प्रकार की कार्यवाही के लिए 15 दिन पूर्व नोटिस दिया जाना आवश्यक है। प्रधान या उप-प्रधान का पद रिक्त हो जाने पर नए चुनाव द्वारा भर दिया जाएगा।

ग्राम पंचायत के कार्य—'उत्तर प्रदेश पंचायत विधि, 1994' के अधीन ग्राम पंचायत के कार्यक्षेत्र को बहुत व्यापक कर दिया गया है। ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जैसी सरकार समय-समय पर निश्चित करे, प्रत्येक ग्राम पंचायत निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन करेगी :

1. कृषि और कृषि विस्तार—कृषि और बागवानी का विकास तथा उन्नति, बंजर भूमि और चरागाह भूमि का विकास तथा उनके अनधिकृत अधिग्रहण एवं प्रयोग की रोकथाम करना।
2. भूमि विकास, भूमि सुधार का कार्यान्वयन, चकवन्दी और भूमि संरक्षण—भूमि विकास, भूमि सुधार और भूमि संरक्षण में सरकार तथा अन्य एजेन्सियों की सहायता करना, भूमि चकबन्दी में सहायता करना।
3. लघु सिंचाई और जल व्यवस्था का विकास—लघु सिंचाई परियोजनाओं से जल वितरण में प्रबन्ध और सहायता करना लघु सिंचाई परियोजनाओं के निर्माण मरम्मत और रक्षा तथा सिंचाई के उद्देश्य से जलापूर्ति का विनियमन।
4. पशुपालन, दुग्ध उद्योग, कुक्कुट पालन की उन्नति तथा अन्य पशुओं की नस्लों का सुधार करना।
5. गांवों में मत्स्य पालन का विकास।
6. सामाजिक और कृषि वानिकी, रेशम उत्पादन का विकास और उन्नति, वृक्षारोपण और वृक्षों की रक्षा।
7. लघु वन उत्पादों की उन्नति और विकास।
8. लघु उद्योगों के विकास में सहायता करना, स्थानीय व्यापार की उन्नति।
9. कुटीर और ग्रामीण उद्योगों के विकास में सहायता करना।

10. ग्रामीण आवास कार्यक्रमों का क्रियान्वयन।
11. पेय जल और अन्य कार्यों के लिए जल प्रवन्ध हेतु सार्वजनिक कुओं, तालाबों और पोखरों का निर्माण, मरम्मत और रक्षा।
12. ईंधन की व्यवस्था और चारा भूमि से सम्बन्धित घास एवं पौधों का विकास।
13. ग्राम की सड़कों, पुलियों, पुलों, नौका घाटों और जल मार्गों का निर्माण, रक्षा तथा सार्वजनिक स्थानों पर से अतिक्रमण को हटाना।
14. सार्वजनिक मार्गों तथा अन्य स्थानों पर प्रकाश उपलब्ध कराना तथा उनकी रक्षा करना।
15. गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों के कार्यक्रमों का विकास तथा रक्षा।
16. गरीबी दूर करने के कार्यक्रमों की उन्नति और कार्यान्वयन।
17. शिक्षा के बारे में सार्वजनिक चेतना पैदा करना, प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयों की व्यवस्था करना।
18. प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा की उन्नति।
19. ग्रामीण कला का विकास और शिल्पकारों की उन्नति।
20. पुस्तकालयों और वाचनालयों की स्थापना और रक्षा।
21. खेलकूद और सांस्कृतिक क्रियाकलापों का विकास, ग्रामीण क्लबों की स्थापना और उनका प्रबन्ध।
22. पंचायत क्षेत्रों में बाजार, मेलों और हाट का प्रबन्ध।
23. चिकित्सा और स्वच्छता—ग्रामीण स्वच्छता की व्यवस्था, महामारियों के विरुद्ध रोकथाम, मनुष्य और पशु टीकाकरण के कार्यक्रम, जन्म-मृत्यु और विवाह का पंजीकरण।
24. परिवार कल्याण कार्यक्रमों का विकास और क्रियान्वयन।
25. ग्राम पंचायत क्षेत्र के आर्थिक विकास के लिए योजना तैयार करना।
26. ग्राम पंचायत स्तर पर महिला (प्रसूति) एवं बाल विकास कार्यक्रमों का क्रियान्वयन।
27. वृद्धावस्था और विधवा पेन्शन योजनाओं में सहायता करना, विकलांगों और मानसिक रूप से मन्द व्यक्तियों के कल्याण सहित सभी समाज कल्याण कार्यक्रमों में भाग लेना।
28. अनुसूचित जातियों, जनजातियों और समाज के अन्य कमजोर वर्गों के लिए विशिष्ट कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में भाग लेना सामाजिक न्याय के लिए योजनाओं की तैयारी एवं क्रियान्वयन।
29. अत्यावश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का प्रबन्ध करना।
30. सामुदायिक आस्तियों का परीक्षण और अनुरक्षण।

अन्य कार्य

विकास योजना तैयार करना—ग्राम पंचायत प्रतिवर्ष पंचायत क्षेत्र के लिए एक विकास योजना तैयार करेगी और उसे सम्बन्धित क्षेत्र पंचायत को प्रेषित करेगी।

राज्य सरकार द्वारा ग्राम पंचायत को कार्य सौंपना—राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा और कुछ शर्तों के अधीन निम्नलिखित में से कोई कार्य ग्राम पंचायत को सौंप सकती है :

(क) पंचायत क्षेत्र में स्थित किसी वन की व्यवस्था और रक्षा
(ख) पंचायत क्षेत्र के भीतर स्थित सरकार की बंजर भूमि, चरागाह भूमि या खाली पड़ी भूमि की व्यवस्था
(ग) किसी कर या भू-राजस्व का संग्रह और सम्बन्धित अभिलेखों का अनुरक्षण।

ग्राम पंचायतों की बैठकें और कार्य पद्धति—ग्राम पंचायत की बैठक सामान्यतया प्रत्येक मास में कम-से-कम एक बार होगी। कानून में व्यवस्था है कि दो बैठकों के बीच दो मास का अन्तर नहीं होना चाहिए।

ग्राम पंचायत अपने कार्यों के उचित सम्पादन हेतु निम्नलिखित समितियों का गठन कर सकती है—समता समिति, विकास समिति, शिक्षा समिति और लोकहित समिति।

प्रत्येक समिति में एक सभापति तथा 2 से लेकर 4 तक सदस्य होंगे। ग्राम पंचायत का प्रधान विकास समिति, लोकहित समिति और ग्राम शिक्षा समिति का पदेन सदस्य एवं सभापति होगा। उप-प्रधान समता समिति का पदेन सदस्य एवं सभापति होगा। समिति के अन्य सदस्य ग्राम पंचायत के सदस्यों द्वारा अपने में से, नियम रीति से, निर्वाचित किए जाएंगे।

ग्राम पंचायत का बजट—प्रत्येक ग्राम पंचायत वित्तीय वर्ष के लिए ग्राम पंचायत की अनुमानित प्राप्तियों और व्यय का विवरण तैयार कर, ग्राम पंचायत की बैठक में रखेगी, जिसे उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से पारित किया जाएगा। ऐसी बैठक के लिए गणपूर्ति ग्राम पंचायत के कुल सदस्यों के आधे से अधिक होगी।

ग्राम पंचायतों के अधिकार—ग्राम पंचायतें अपने कार्यों को कर सकें, इसके लिए इन्हें कुछ अधिकार दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) अपने क्षेत्र के तालाब, कुएं तथा जमीन पर पंचायत का अधिकार होता है और पंचायत के द्वारा इसमें आवश्यक परिवर्तन किए जाते हैं। ग्राम पंचायत के द्वारा सार्वजनिक स्थानों के उपयोगों के सम्वन्ध में नियमों का निर्माण किया जा सकता है।

(2) पंचायत द्वारा निजी कुओं और स्थानों के मालिकों को उनकी सफाई, मरम्मत, आदि के आदेश दिए जा सकते हैं।

(3) प्राथमिक पाठशालाओं पर इसका नियन्त्रण होता है।

(4) अपने क्षेत्र के किसी भी पदाधिकारी के कार्य की जांच करने तथा उनके सम्वन्ध में शासन की रिपोर्ट देने का पंचायत को अधिकार होता है।

(5) पंचायत के अन्तर्गत कार्य करने वाले सचिव तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति और उनके वेतन निर्धारण का उसे अधिकार प्राप्त होता है।

आय के साधन—ग्राम पंचायत के कोष को **'गांव निधि'** कहते हैं। इसमें निम्नलिखित रकमें जमा होती हैं :

(1) पंचायतों द्वारा जमीन के लगान या इमारतों पर लगाए गए करों से प्राप्त राशि।

(2) किसी अदालत की आज्ञा से गांव निधि में जमा राशि।

(3) किसी अपराध के सम्बन्ध में राजीनामा होने से प्राप्त धनराशि।

(4) पंचायत कर्मचारियों द्वारा इकट्ठा किए गए कूड़े, गोवर, खाद तथा मृत जानवरों की लाशें बेचने से प्राप्त धनराशि।

(5) नजूल की जमीन के लगान से प्राप्त धनराशि।

(6) ऋण या दान के रूप में प्राप्त धनराशि।

(7) शासन, जिला परिषद या अन्य संस्था से सहायता के रूप में प्राप्त धनराशि।

चुनाव की व्यवस्था—ग्राम पंचायत के प्रधान, उप-प्रधान व सदस्यों के चुनाव के संचालन का अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण राज्य चुनाव आयोग में निहित होगा। राज्य चुनाव आयोग के पर्यवेक्षण और नियन्त्रण के अधीन रहते हुए जिला मजिस्ट्रेट जिले की सभी ग्राम पंचायतों के प्रधान, उप-प्रधान और सदस्यों के सभी चुनावों के संचालन का पर्यवेक्षण करेगा।

क्षेत्र पंचायत (क्षेत्र समिति)

राज्य सरकार गजट में अधिसूचना द्वारा प्रत्येक खण्ड के लिए एक क्षेत्र पंचायत स्थापित करेगी, जिसका नाम खण्ड के नाम पर होगा।

क्षेत्र पंचायत की रचना—क्षेत्र पंचायत एक प्रमुख और निम्न सदस्यों से मिलकर बनेगी :

(क) खण्ड की सभी ग्राम पंचायतों के प्रधान।

(ख) निर्वाचित सदस्य—राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा किसी खण्ड को इतनी संख्या के निर्वाचन क्षेत्र में इस प्रकार निर्वाचित करेगी, जिससे कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या यथासम्भव दो हजार हो तथा प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र एक-सदस्यी निर्वाचन क्षेत्र होगा।

(ग) लोकसभा और राज्य की विधानसभा के ऐसे सदस्य, जो उन निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें पूर्णतया या अंशतया ये खण्ड समाविष्ट हैं।

(घ) राज्यसभा और राज्य की विधानपरिषद के वे सदस्य, जो खण्ड के भीतर निर्वाचकों के रूप में पंजीयत हैं।

उपर्युक्त में से (क), (ग) और (घ) में उल्लेख किए गए क्षेत्र पंचायत के सदस्यों को प्रमुख या उप-प्रमुख के चुनाव तथा उनके विरुद्ध अविश्वास के मामलों को छोड़कर क्षेत्र पंचायत की अन्य सभी कार्यवाहियों में भाग लेने और उसकी बैठकों में मत देने का अधिकार होगा।

स्थानों का आरक्षण—प्रत्येक क्षेत्र पंचायत में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए क्षेत्र पंचायत की समस्त जनसंख्या में उनके अनुपात को दृष्टि में रखते हुए स्थान आरक्षित होंगे। इस सम्बन्ध में प्रतिबन्ध यह है कि क्षेत्र पंचायत में पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण कुल निर्वाचित स्थानों की संख्या के 27 प्रतिशत से अधिक नहीं होगा। ये आरक्षित स्थान क्षेत्र पंचायत में भिन्न-भिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों को चक्रानुक्रम से ऐसे क्रम में, जैसा नियत किया जाए, आबण्टित किए जा सकेंगे।

अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या के कम-से-कम एक-तिहाई स्थान इन जातियों और वर्गों की स्त्रियों के लिए आरक्षित रहेंगे।

क्षेत्र पंचायत में निर्वाचित स्थानों की कुल संख्या के कम-से-कम एक-तिहाई स्थान, स्त्रियों के लिए आरक्षित रहेंगे। ये आरक्षित स्थान किसी क्षेत्र पंचायत में भिन्न-भिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों को चक्रानुक्रम से ऐसे क्रम में जैसा नियत किया जाए, आबण्टित किए जा सकेंगे।

क्षेत्र पंचायत के पदाधिकारी : प्रमुख और उप-प्रमुख—क्षेत्र पंचायत में निर्वाचित सदस्यों द्वारा अपने में से ही **एक प्रमुख, एक ज्येष्ठ उप-प्रमुख** तथा **एक कनिष्ठ उप-प्रमुख** चुने जाएंगे।

राज्य में क्षेत्र पंचायतों के प्रमुखों के पद अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित रहेंगे। ऐसे आरक्षित प्रमुखों की संख्या का अनुपात ऐसे पदों की कुल संख्या से यथासम्भव वही होगा, जो अनुपात राज्य की कुल जनसंख्या में इन जातियों और वर्गों का है। ये आरक्षित स्थान भिन्न-भिन्न क्षेत्र पंचायतों को चक्रानुक्रम से आबण्टित किए जा सकेंगे। प्रतिबन्ध यह है कि पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण राज्य में प्रमुखों के पदों की कुल संख्या के 27 प्रतिशत से अधिक नहीं होगा।

अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए प्रमुख पदों में आरक्षित स्थानों की जो संख्या है, उनमें कम-से-कम एक-तिहाई स्थान इन जातियों और वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे।

समस्त राज्य में प्रमुखों के पदों की कुल संख्या के कम-से-कम एक-तिहाई स्थान, महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे। ऐसे पदों को चक्रानुक्रम से राज्य में भिन्न-भिन्न क्षेत्र पंचायतों के लिए आबण्टित किया जा सकेगा।

कार्यकाल—क्षेत्र पंचायत का कार्यकाल अपनी प्रथम बैठक के लिए नियत दिनांक से पांच वर्ष की अवधि तक होगा। क्षेत्र पंचायत के गठन के लिए चुनाव (क) पांच वर्ष की अवधि से पूर्व और (ख) पांच वर्ष की अवधि से पूर्व विघटित किए जाने पर विघटन की तिथि से 6 माह की अवधि समाप्त होने से पूर्व करा लिए जाएंगे।

प्रमुख, उप-प्रमुख या क्षेत्र पंचायत का कोई निर्वाचित सदस्य अपने हस्ताक्षरित पत्र द्वारा पद त्याग कर सकता है। प्रमुख के द्वारा इस प्रकार का पत्र जिला पंचायत के अध्यक्ष को और अन्य के द्वारा क्षेत्र पंचायत के प्रमुख को सम्बोधित होगा।

क्षेत्र पंचायत का सदस्य चुने जाने के लिए योग्यता—ऐसा कोई भी व्यक्ति क्षेत्र पंचायत का सदस्य निर्वाचित हो सकेगा जिसका नाम क्षेत्र पंचायत के किसी प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र की निर्वाचक नामावली में सम्मिलित है और जो राज्य विधानमण्डल का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता है, लेकिन इस आधार पर कोई भी व्यक्ति अयोग्य नहीं होगा कि उसकी आयु 25 वर्ष से कम है, यदि उसने 21 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली हो। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह 'संयुक्त राज्य पंचायत अधिनियम, 1947' की धारा 42 के अधीन स्थापित किसी न्याय पंचायत के अधीन कोई लाभ का पद धारण न करता हो।

प्रमुख या उप-प्रमुख की पदच्युति—यदि राज्य सरकार की राय में किसी क्षेत्र पंचायत का कोई प्रमुख या उप-प्रमुख इस अधिनियम के अधीन अपने कर्तव्यों या कार्यों का पालन जान-बूझकर नहीं करता या पालन करने से इन्कार करता है या अपने में निहित अधिकारों का दुरुपयोग करता है या मानसिक अथवा शारीरिक रूप से अपने कर्तव्यों के पालन में असमर्थ हो गया है तो राज्य सरकार, यथास्थिति, प्रमुख या ऐसे उप-प्रमुख को स्पष्टीकरण या समुचित अवसर देने के पश्चात् ऐसे प्रमुख या उप-प्रमुख को आदेश द्वारा पद से हटा सकती है। राज्य सरकार का ऐसा आदेश अन्तिम होगा तथा उस पर किसी विधि न्यायालय में आपत्ति नहीं की जा सकेगी।

इस प्रकार से अपने पद से हटाया गया प्रमुख या उप-प्रमुख, पद से हटाए जाने के दिनांक से तीन वर्ष की अवधि तक प्रमुख या उप-प्रमुख के रूप में पुनः निर्वाचन का पात्र न होगा।

क्षेत्र पंचायत के अधिकारी—**'खण्ड विकास अधिकारी'** क्षेत्र पंचायत का सबसे मुख्य अधिकारी होता है। इस अधिकारी को शासन द्वारा नियुक्त किया जाता है तथा यह प्रमुख के अधीन रहते हुए अपना कार्य करता है। क्षेत्र पंचायत के समस्त प्रस्तावों को क्रियान्वित करना खण्ड विकास अधिकारी का उत्तरदायित्व होता है तथा क्षेत्र पंचायत के अन्य अधिकारी खण्ड विकास अधिकारी के अधीन रहते हुए अपना कार्य करते हैं।

क्षेत्र पंचायत के अधिकार और कार्य—'उत्तर प्रदेश पंचायत विधि अधिनियम, 1994' में क्षेत्र पंचायत के कार्यों की विस्तृत विवेचना करते हुए उसके 32 कार्य गिनाए गए हैं। क्षेत्र पंचायत का कार्य **'ग्रामीण क्षेत्रों का सम्पूर्ण विकास'** है और अध्ययन की सुविधा के लिए क्षेत्र पंचायत के कार्यों का उल्लेख निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत और निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(1) कृषि, भूमि विकास, भूमि सुधार और लघु सिंचाई—इसके अन्तर्गत क्षेत्र पंचायत कृषि का विकास, कृषि उत्पादन में वृद्धि तथा इस हेतु भूमि विकास और भूमि सुधार के सभी कार्य करेगी। कृषि में नई प्रणालियों के प्रयोग, बीज गोदाम स्थापित करना, चकबन्दी कार्यक्रम के क्रियान्वयन में सरकार और जिला परिषद की सहायता करना इसका दायित्व होगा। सिंचाई के साधनों का विकास इसका एक प्रमुख कार्य है। इस हेतु क्षेत्र पंचायत के द्वारा पोखरों-तालाबों, बांधों और पानी की निकासी के साधनों की मरम्मत, नए बांध बनवाना तथा छोटी-छोटी सिंचाई योजनाओं को क्रियान्वित किया जाएगा। क्षेत्र पंचायत बागवानी के विकास तथा सब्जियों, फलों और पुष्पों की खेती के विकास हेतु भी सम्भव प्रयत्न करेगी।

(2) पशुपालन—इसके अन्तर्गत पशु चिकित्सालयों की स्थापना और प्रवन्ध, पशु मेलों की व्यवस्था, पशुओं की नस्ल में सुधार, मुर्गी पालन और मत्स्य पालन, चारे की फसलें उगाना, दुग्ध उद्योग का विकास तथा पशुओं की लाशों के उपयोग, आदि के कार्य किए जाते हैं।

(3) सार्वजनिक निर्माण—क्षेत्र पंचायत सड़क, पुलिया, पुलों, नौका घाट, जल मार्ग तथा संचार के अन्य साधनों की व्यवस्था करेगी। इसके द्वारा क्षेत्र पंचायत की अचल सम्पत्ति के प्रबन्ध का कार्य भी किया जाता है।

क्षेत्र पंचायत ग्रामीण विद्युतीकरण के लिए प्रयत्न करेगी तथा गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों के प्रयोग को बढ़ावा देने तथा उन्हें विकसित करने का कार्य किया जाएगा।

पर्यावरण की रक्षा पंचायत का एक प्रमुख दायित्व है। इस हेतु सड़कों और सार्वजनिक भूमि के किनारों पर वृक्षारोपण तथा उनकी रक्षा का कार्य किया जाएगा। क्षेत्र पंचायत ग्रामीण आवास कार्यक्रम में सहयोग देगी तथा उसका कार्यान्वयन करेगी।

(4) कुटीर और ग्राम उद्योग तथा लघु उद्योगों का विकास—क्षेत्र पंचायत कृषि उद्योगों के विकास के लिए सामान्य जानकारी एकत्रित करेगी तथा जनता को देगी। कुटीर और ग्राम उद्योग तथा लघु उद्योगों के विकास हेतु ऋण देगी, निर्मित वस्तुओं के विक्रय हेतु बाजार का सर्वेक्षण करेगी तथा व्यवस्था करेगी। उद्योगों के विकास हेतु क्षेत्र पंचायत तकनीकी प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करेगी।

(5) स्वास्थ्य—प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना व प्रबन्ध, परिवार नियोजन, छूत की बीमारियों तथा अन्य कुछ बीमारियों की रोकथाम के लिए टीके की व्यवस्था तथा पीने के लिए शुद्ध जल की व्यवस्था की जाएगी। सफाई और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान का प्रचार भी किया जाएगा।

(6) शिक्षा, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य—प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का विकास क्षेत्र पंचायत का एक प्रमुख दायित्व है। इसके साथ ही तकनीकी प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा की उन्नति हेतु प्रयत्न किए जाएंगे तथा प्रौढ़ एवं अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। महिला शिक्षा के विकास हेतु विशेष प्रयत्न किए जाना अपेक्षित है।

सांस्कृतिक विकास हेतु पुस्तकालयों और वाचनालयों की स्थापना, ग्रामीण खेलकूद को बढ़ावा, क्षेत्रीय लोक गीतों और नृत्यों के विकास तथा सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना एवं विकास का कार्य किया जाएगा। क्षेत्र पंचायत स्वास्थ्य, सफाई, कृषि, व्यापार, उद्योग और पशुओं की नस्ल सुधारने के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान का प्रचार भी करेगी।

(7) दलित कल्याण कार्य—क्षेत्र पंचायत कमजोर वर्गों और विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के कल्याण हेतु सभी सम्भव प्रयत्न करेगी। सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं तैयार की जाएंगी तथा कार्यक्रमों का क्रियान्वयन होगा।

(8) समाज कल्याण कार्य—क्षेत्र पंचायत समाज कल्याण कार्यक्रमों, जिसके अन्तर्गत विकलांगों तथा मानसिक रूप से मन्द व्यक्तियों का कल्याण भी है, में भाग लेगी। इसके साथ ही वृद्धावस्था पेन्शन और विधवा पेन्शन योजनाओं को हाथ में लिया जाएगा। आवश्यक वस्तुओं के वितरण हेतु सार्वजनिक वितरण प्रणाली को अपनाया जाएगा।

(9) प्राकृतिक आपदाओं में सहायता देना।

(10) नियोजन और आंकड़े—'पंचायत विधि अधिनियम, 1994' में क्षेत्र पंचायत के इस कार्य को बहुत महत्व दिया गया है। इस प्रसंग में क्षेत्र पंचायत निम्न कार्य करेगी :

(क) आर्थिक विकास के लिए योजनाएं तैयार करना,

(ख) ग्राम पंचायत की योजनाओं का पुनर्विलोकन, समन्वय तथा एकीकरण,

(ग) खण्ड तथा ग्राम विकास योजनाओं के निष्पादन को सुनिश्चित करना,

(घ) योजना के प्रसंग में सफलताओं तथा लक्ष्यों की समयबद्ध समीक्षा,

(ङ) खण्ड योजना के कार्यान्वयन से सम्बन्धित विषयों पर सामग्री एकत्रित करना तथा आंकड़े रखना।

(11) ग्राम पंचायतों पर पर्यवेक्षण—क्षेत्र पंचायत का एक प्रमुख कार्य अपने क्षेत्र की ग्राम पंचायतों का पर्यवेक्षण है। क्षेत्र पंचायत (क) नियत प्रक्रिया के अनुसार ग्राम पंचायतों को अनुदानों का वितरण करेगी, तथा (ख) ग्राम पंचायत की गतिविधियों पर नियमों के अनुसार सामान्य पर्यवेक्षण करेगी।

प्रमुख समितियां—क्षेत्र पंचायत अपने कार्यों के उचित सम्पादन हेतु विभिन्न समितियां स्थापित करेगी। इनमें प्रमुखतया चार समितियां हैं :

(क) कार्य समिति, (ख) वित्त एवं विकास समिति, (ग) शिक्षा समिति और (घ) समता समिति।

क्षेत्र पंचायत द्वारा करारोपण—क्षेत्र पंचायत, कानून में दी गई रीति के अनुसार (क) जलकर, (ख) विद्युत् कर, तथा (ग) कोई ऐसा अन्य कर, जिसे संविधान के अनुसार राज्य में आरोपित करने का अधिकार राज्य विधानमण्डल को प्राप्त है तथा जिसके सम्बन्ध में राज्य सरकार ने क्षेत्र पंचायत को प्राधिकृत कर दिया है, लगा सकती है।

जिला पंचायत

राज्य सरकार गजट में अधिसूचना द्वारा प्रत्येक जिले के लिए एक 'जिला पंचायत' स्थापित करेगी। इस जिला पंचायत का नाम जिले के नाम पर होगा तथा प्रत्येक जिला पंचायत एक 'निगमित निकाय' होगी।

जिला पंचायत की रचना—जिला पंचायत एक अध्यक्ष, जो उसका पीठासीन होगा और निम्नलिखित से मिलकर वनेगी :

(क) जिले की समस्त क्षेत्र पंचायतों के प्रमुख।

(ख) **निर्वाचित सदस्य**—राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा किसी जिला पंचायत के क्षेत्र को इतनी संख्या के निर्वाचन क्षेत्रों में तथा इस प्रकार निर्वाचित करेगी कि प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या यथासम्भव50 हजार हो। इस प्रकार का प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होगा तथा ये सदस्य प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाएंगे।

(ग) लोकसभा के सदस्य और राज्य की विधानसभा के सदस्य, जो उन निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें जिला पंचायत क्षेत्र का कोई भाग समाविष्ट है।

(घ) राज्यसभा और राज्य की विधानपरिषद के वे सदस्य, जो उस जिला पंचायत के क्षेत्र के भीतर निर्वाचकों के रूप में पंजीयत हैं।

उपर्युक्त में से (क), (ग) तथा (घ) में उल्लेख किए गए जिला पंचायत के सदस्यों को अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के निर्वाचन तथा उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव के मामलों को छोड़कर जिला पंचायत की सभी कार्यवाहियों में भाग लेने तथा उसकी बैठकों में मंत देने का अधिकार होगा।

स्थानों का आरक्षण—प्रत्येक जिला पंचायत में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए जिला पंचायत क्षेत्र की समस्त ज़नसंख्या में उनके अनुपात को दृष्टि में रखते हुए स्थान आरक्षित किए जाएंगे। इस सम्बन्ध में प्रतिबन्ध यह है कि पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण कुल निर्वाचित स्थानों की संख्या के 27 प्रतिशत से अधिक नहीं होगा। अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या के कम-से-कम एक तिहाई स्थान इन जातियों और वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षिल रहेंगे।

जिला पंचायत में निर्वाचित स्थानों की कुल संख्या के कम-से-कम एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे। ये आरक्षित स्थान किसी जिला पंचायत से भिन्न-भिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों को चक्रानुक्रम से आवण्टित किए जा सकेंगे।

जिला पंचायत का सदस्य निर्वाचित होने के लिए योग्यता—ऐसे सभी व्यक्ति, जिनका नाम उस जिला पंचायत के किसी प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के लिए निर्वाचक नामावली में सम्मिलित है और जो राज्य विधानमण्डल का सदस्य चुने जाने के लिए आयु सीमा के अतिरिक्त अन्य सभी योग्यताएं रखता है जिला पंचायत के किसी पद के लिए चुना जा सकेगा, यदि उसने 21 वर्ष की आयु पूरी कर ली हो।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष—जिला पंचायत के निर्वाचित सदस्यों द्वारा अपने में से ही एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष चुने जाएंगे। जिला पंचायत के निर्वाचित सदस्यों के पदों में किसी रिक्ति के होते हुए भी, अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के लिए चुनाव किया जा सकेगा।

अध्यक्षों के पदों के लिए आरक्षण—राज्य में जिला पंचायतों के अध्यक्षों के पद अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित रहेंगे।

ऐसे आरक्षित अध्यक्षों की संख्या का अनुपात राज्य में ऐसे पदों की कुल संख्या से यथासम्भव वही होगा, जो अनुपात राज्य की कुल जनसंख्या में इन जातियों और वर्गों का है। प्रतिबन्ध यह है कि पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण राज्य में जिला पंचायतों के अध्यक्षों के पदों की कुल संख्या के 27 प्रतिशत से अधिक नहीं होगा।

अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए अध्यक्ष पदों में आरक्षित स्थानों की जो संख्या है, उनमें कम-से-कम एक तिहाई स्थान इन जातियों और वर्गों की महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे।

समस्त राज्य में जिला पंचायतों के अध्यक्षों के पदों की कुल संख्या के कम-से-कम एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे। ऐसे पदों को चक्रानुक्रम से राज्य में भिन्न-भिन्न जिला पंचायतों के लिए आबण्टित किया जा सकेगा।

जिला पंचायत के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तथा क्षेत्र पंचायत के प्रमुख और उप-प्रमुख का निर्वाचन गुप्त मतदान द्वारा नियमों में दी गई रीति से किया जाएगा। इन चुनावों के अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण का अधिकार 'राज्य निर्वाचन आयोग' में निहित होगा।

जिला पंचायत तथा उसके सदस्यों का कार्यकाल—प्रत्येक जिला पंचायत यदि धारा 232 के अन्तर्गत उसे पहले ही विघटित नहीं कर दिया जाता है, तो अपनी प्रथम बैठक के लिए निश्चित दिनांक से, पांच वर्ष की अवधि तक के लिए बनी रहेगी। यदि किसी जिला पंचायत को धारा 232 के अन्तर्गत विघटित कर दिया गया है, तो नई जिला पंचायत के चुनाव, विघटन के दिनांक से 6 मास पूर्व करा लिए जाएंगे। जिला पंचायत के सदस्य, अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का कार्यकाल भी जिला पंचायत के साथ ही समाप्त होगा। इस प्रकार सामान्यतया यह **कार्यकाल 5 वर्ष होगा।**

मानदेय और भत्ते—जिला पंचायत के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तथा क्षेत्र पंचायत के प्रमुख और उप-प्रमुख ऐसे मानदेय और ऐसे भत्ते प्राप्त करेंगे, जैसा नियत किया जाए। जिला पंचायत के अन्य सदस्य तथा क्षेत्र पंचायत के अन्य सदस्य ऐसे भत्ते प्राप्त करेंगे, जैसा नियत किया जाए।

जिला पंचायत के कार्य—'पंचायत विधि अधिनियम, 1994' में जिला पंचायत के कार्यों का विस्तार के साथ उल्लेख करते हुए उसके 31 कार्य गिनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) **कृषि**—कृषि उत्पादन बढ़ाने के उपाय, गोदामों की स्थापना तथा उनका अनुरक्षण।
(2) सरकार द्वारा सौंपे गए भूमि सुधार, भूमि संरक्षण तथा चकबन्दी कार्यक्रमों की योजनाओं का कार्यान्वयन।
(3) लघु सिंचाई योजनाओं का निर्माण और अनुरक्षण, जल वितरण का प्रबन्ध और भूमिगत जल का विकास।
(4) पशुपालन, पशु चिकित्सा सेवाओं की स्थापना, नस्लों का सुधार, दुग्ध उद्योग, मुर्गीपालन और सूअर पालन का विकास।
(5) मत्स्य पालन का विकास तथा मछुआरा कल्याण कार्यक्रमों का क्रियान्वयन।
(6) सामाजिक और फार्म वानिकी, ईंधन-वृक्षारोपण, रेशम उत्पादन का विकास और बंजर भूमि का विकास।
(7) लघु वन उत्पाद के कार्यक्रमों की उन्नति और क्रियान्वयन।
(8) लघु उद्योग और खाद्य प्रसम्भरण इकाई की उन्नति।
(9) कुटीर एवं ग्रामीण उद्योग में प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना एवं अनुरक्षण तथा जिला स्तर पर पंचायत उद्योगों की स्थापना।
(10) ग्रामीण आवास—ग्रामीण आवास कार्यक्रमों का विकास, सामुदायिक केन्द्रों और विश्राम-गृहों का निर्माण, ग्राम पंचायतों और क्षेत्र पंचायतों द्वारा किए गए ग्रामीण आवास कार्यक्रम का निरीक्षण।
(11) पेय जल की व्यवस्था, जल प्रदूषण की रोकथाम तथा नियन्त्रण।
(12) ईंधन और चारा कार्यक्रमों का विकास, ग्राम पंचायतों तथा क्षेत्र पंचायतों द्वारा इस प्रसंग में किए गए कार्यक्रमों का निरीक्षण।

(13) जिले की ग्रामीण सड़कों, पुलियों, पुलों और जल मार्गों का विकास तथा रक्षा, सड़कों पर और सार्वजनिक स्थानों पर अतिक्रमण हटाने में मदद करना।

(14) ग्रामीण विद्युतीकरण में ग्राम पंचायतों तथा क्षेत्र पंचायतों की सहायता करना, ग्रामीण क्षेत्रों में प्रकाश के वितरण में मदद करना।

(15) गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों का विकास, ग्राम पंचायतों और क्षेत्र पंचायतों द्वारा इस प्रसंग में अपनाए गए कार्यक्रमों में सहायता करना।

(16) गरीबी उपशमन कार्यक्रमों की योजना तथा उनका पर्यवेक्षण।

(17) जिले में प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयों का निर्माण, प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का सर्वेक्षण और पर्यवेक्षण, जिले में सभी के लिए शिक्षा उपलब्ध कराना।

(18) तकनीकी और व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना तथा विकास।

(19) प्रौढ़ साक्षरता और अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रमों का नियोजन और कार्यान्वयन।

(20) पुस्तकालयों और वाचनालयों का निर्माण एवं अनुरक्षण।

(21) सांस्कृतिक क्रियाकलापों का विकास, विशेष अवसरों पर लोक सांस्कृतिक क्रियाकलापों की व्यवस्था।

(22) ग्रामीण बाजारों और मेलों का पर्यवेक्षण तथा इस सम्बन्ध में ग्राम पंचायतों और क्षेत्र पंचायतों द्वारा किए गए कार्यों का पर्यवेक्षण और नियन्त्रण।

(23) चिकित्सा और स्वच्छता—महामारियों की रोकथाम एवं नियन्त्रण में क्षेत्र पंचायतों को वित्तीय एवं अन्य सहायता देना, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों एवं औषधालयों की स्थापना तथा प्रबन्ध, पेय जल की सुविधा उपलब्ध कराना।

(24) परिवार कल्याण कार्यक्रमों का क्रियान्वयन एवं पर्यवेक्षण।

(25) प्रसूति एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रमों का क्रियान्वयन।

(26) वृद्धावस्था और विधवा पेन्शन योजना विकलांग और मानसिक रूप से मन्द व्यक्तियों के कल्याण सहित समाज कल्याण कार्यक्रम।

(27) अनुसूचित जातियों और जनजातियों की सामाजिक अन्याय और शोषण से रक्षा, छात्रावासों की स्थापना एवं प्रबन्ध, सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं तैयार करना तथा उनका क्रियान्वयन।

(28) ग्रामों में उपयोग की वस्तुओं के वितरण की समुचित व्यवस्था।

(29) सामुदायिक आस्तियों का परीक्षण और अनुरक्षण।

(30) नियोजन और आंकड़े—आर्थिक विकास के लिए योजना तैयार करना क्षेत्र पंचायतों की योजनाओं का पुनर्विलोकन, समन्वय और एकीकरण खण्ड और ग्राम स्तर पर योजनाओं के निष्पादन को सुनिश्चित करना जिले के भीतर योजना के कार्यान्वयन के सम्बन्ध में समस्त विषयों पर सामग्री और आंकड़े एकत्रित करना।

(31) अकाल और अन्य परिस्थितियों में आवश्यक सहायता की व्यवस्था करना निर्धन-गृहों, अनाथालयों, बाजारों और विश्राम-गृहों की स्थापना, प्रबन्ध और निरीक्षण।

प्रमुख समितियां—जिला पंचायत अपने कार्यों के उचित सम्पादन हेतु विभिन्न समितियां स्थापित करेगी। इनमें प्रमुख समितियां ये हैं—**वित्त समिति, शिक्षा एवं जन स्वास्थ्य समिति, कृषि उद्योग एवं निर्माण समिति, समता समिति।**

पंचायत राज के समान ही पिछले लगभग दो दशक से नगरीय क्षेत्र में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था भी ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर रही थी, अतः 74वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा नगरीय क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन व्यवस्था को भी संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया।

प्रश्न

1. पंचायती राज के सिद्धान्त और व्यवहार के विशेष सन्दर्भ सहित भारत में स्थानीय शासन पर आलोचनात्मक निवन्ध लिखिए।
2. भारत में पंचायती राज से सम्बन्धित राजनीति का विश्लेषण कीजिए।
3. पंचायती राज की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
4. 'उत्तर प्रदेश पंचायत विधि अधिनियम, 1944' के आधार पर उत्तर प्रदेश में पंचायती राज की जो व्यवस्था की गई है, उसकी विवेचना कीजिए।

बहुविकल्पी प्रश्न

1. नया संविधान लागू किए जाने के वाद पंचायत राज की योजना सर्वप्रथम प्रस्तुत करने वाली समिति का नाम है :
   (अ) योजना आयोग (व) सादिक अली समिति
   (स) वलवन्त राय मेहता समिति (द) दिनेश गोस्वामी समिति
2. 'पंचायत राज व्यवस्था' (लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना) का उद्घाटन किया गया था :
   (अ) 2 अक्टूवर, 1950 को (ब) 30 जनवरी, 1960 को
   (स) 2 अक्टूवर, 1959 को (द) 2 अक्टूवर, 1957 को
3. 73वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं :
   (अ) $\frac{1}{4}$ स्थान (ब) एक-तिहाई स्थान
   (स) 20 प्रतिशत स्थान (द) स्थान आरक्षित नहीं किए गए
4. 73वें संवैधानिक संशोधन में पंचायत राज संस्थाओं का कार्यकाल निश्चित किया गया है :
   (अ) 3 वर्ष (व) 4 वर्ष
   (स) 5 वर्ष (द) 6 वर्ष
5. पंचायती राज से सम्बन्धित संस्थाओं के कार्यों का विवरण संविधान की अनुसूची में किया गया है :
   (अ) आठवीं अनुसूची में (व) दसवीं अनुसूची में
   (स) ग्यारहवीं अनुसूची में (द) बारहवीं अनुसूची में

[उत्तर—1. (स), 2. (स), 3. (ब), 4. (स), 5. (स)।]